हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

१९३१

हिंदुस्तानी एकेडेमी
संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

लेख-सूची

राजा बीरबर

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग १ } जनवरी १९३१ { अंक १

राजा बीरबर

[लेखक—डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी एम्० ए०, डी० एस्-सी० (लंदन)]

भारत के मोगल सम्राटों में अकबर गुण-ग्राहकता के लिए प्रसिद्ध है। वीरों, विद्वानों, कवियों, चित्रकारों और अन्य ललित कलाओं के सेवियों का उसके दरबार में संगम रहता था। गुणियों का उसे आदर करते देख अन्य राजे, राव, नवाब और मनसबदार भी तद्वत् आचरण करने की सदा चेष्टा करते रहते थे। यद्यपि नवाबी के कवि बेनी के इस कथन में

> "बाजी के सुपीठ पै चढ़ायो पीठि आपनी दै,
>
> कवि हरिनाथ को कछोहा मान सादरै।
>
> चक्कवै दिली के जे अथक अकबर सोऊ,
>
> नरहरि पालकी को आपने कँधा धरै।"

अत्युक्ति अवश्य है किंतु इससे अनुमान किया जा सकता है कि वह ज़माना कैसा था, और उस ज़माने के लोग कैसे थे। वे दिल और वे तबीयतें ही और थीं। तभी तो होलराय ने कहा है कि

> 'नवो खंड सात दीप सातहू समुद्र पार,
>
> है है ना अलाउद्दीन शाह अकबर से।'

ऐसे गुणग्राहक के गुणिगणसेवित दरबार में नव उत्कृष्ट रत्नों का एक अपूर्व रत्न समूह था। उसमें बीरबर चमक दमक और आब ताब मे सब से चढ़े बढ़े हुए थे। अपनी विलक्षण बुद्धि, सभा-चतुरता और वाक्-चतुरता से दरबार मे ऐसा सिक्का जमा रक्खा था कि सब दंग थे। जिस दरबार में अबुलफ़ज़्ल, फ़ैज़ी, रहीम ख़ानख़ानान, शाह फ़तह उल्ला शीराज़ी ऐसे गुणी और विद्वान् थे वहाँ बीरबर का सर्वोपरि सम्मान होना कोई साधारण बात न थी। इसी से यह स्पष्ट है कि बीरबर असाधारण व्यक्ति थे जिन्होंने अकबर ऐसे गंभीर और दूरदर्शी सम्राट् के हृदय पर अपूर्व अधिकार प्राप्त कर लिया था।

बीरबर के जन्मस्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कारण यह जान पड़ता है कि बदायूनी ने एक स्थान पर लिखा है कि बीरबर कालपी से अकबरी दरबार में आया। इस कथन को ब्लाकमैन ने ज्यों का त्यों ले लिया और उनसे फिर कई लेखकों ने लिया, यहाँ तक कि बीरबर का जन्मस्थान कालपी ही मान लिया गया। किंतु बदायूनी के कथन से यह कहीं भी स्पष्ट नहीं है कि उनका जन्म कालपी ही में हुआ था अथवा कालपी उनकी जन्मभूमि थी। सरोजकार ने उनका जन्म ज़िला हमीरपूर के किसी गाँव में लिखा है किंतु इसका उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। संभव है कि बीरबर के संबंध में सरोजकार के अन्य कथन जैसे भ्रम-मूलक हैं वैसे ही यह भी हो। मातादीन मिश्र ने कवित्व-रत्नाकर में बारा अकबरपुर को जो कानपुर से दक्षिण ओर यमुना-तट पर है उनका निवास स्थान लिखा है। मिश्रबंधु आदि अनेक आधुनिक विद्वान् बीरबर का जन्म तिकवाँपुर ज़िला कानपुर में मानते हैं। इसके प्रमाण में वे भूषण के निम्न लिखित दोहों का आश्रय लेते हैं।

"द्विज कनौज कुल कस्यपी, रत्नाकर सुत धीर।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा, तरनितनूजा तीर॥
बीर बीरबर से जहाँ, उपजे कवि अरु भूप।
देव विहारीश्वर जहाँ, विश्वेश्वर तद्रूप।"

यद्यपि उपर्युक्त दोहों में 'कवि' और 'भूप' शब्दों से राजा बीरबर का ही संकेत प्रतीत होता है किंतु देव और बिहारीश्वर आदि शब्दों के प्रयोग से कुछ

संदेह पैदा होता है। इसके अतिरिक्त भूषण ने बीरबर की मृत्यु के क़रीब सत्तर या अस्सी वर्ष के बाद वे दोहे रचे होंगे। उस समय उनको ठीक ठीक पता मिला होगा या नहीं इसका कोई विशेष प्रमाण नहीं है। बीरबर का कानपूर ज़िले के अकबरपुर बीरबल में रहना तो अबुलफ़ज़्ल के कथन से सिद्ध है। संभवतः वहाँ उनका घर भी था। क्योंकि 'बुनगाह' शब्द के अतिरिक्त 'ख़ाना' शब्द का भी उसी वाक्य में प्रयोग किया गया है। यह स्थान कालपी से एक दिन की यात्रा की दूरी पर था। यह स्थान संभवतः पहले कालपी सरकार के अंतर्गत था और शाहपुर परगने में था। यदि यह धारणा ठीक है तो बीरबर का जन्म-स्थान सरकार कालपी था। कालपी सरकार को काट छाँट कर जालौन, हमीरपुर और कानपुर ज़िलों के अंतर्गत कर लिया गया है। अतएव बदायूनी, सरोजकार और मिश्रबंधु के भिन्न भिन्न ज़िलों को बीरबर का जन्मस्थान लिखने के कारण पर कुछ प्रकाश पड़ जाता है। बदायूनी और अकबरनामे के कथन में भी नाम मात्र के लिए भेद रह जाता है। अकबरपुर बीरबल को बीरबर का जन्मस्थान केवल उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर निश्चय रूप से मानने के पूर्व और गवेषणा की आवश्यकता है। इतना तो अवश्य सिद्ध है कि बीरबर कालपी सरकार के रहनेवाले थे न कि कालपी शहर के।

कनिंघम साहब ने प्रयाग के स्तंभ पर का एक लेख प्रकाशित किया था जो संवत् १६३२ अर्थात् सन् १५७५ ई० का है। उसमें यह वाक्य है—

"संवत् १६३२ शाके १४९३ मार्ग वदी पञ्चमी सोमवार गंगादास सुत महाराजा बीरब (र ?) श्री तीर्थराज प्रयाग के जात्रा सफल लेखितम्"।

इस लेख में तीन बातें चिंत्य हैं। प्रथम तो विक्रमी संवत् के साथ जो शक संवत् है वह मेल नहीं खाता क्योंकि वि० संवत् १६३२ में शक संवत् १४९७ होता है न कि १४९३। दूसरे यह कि बीरबर की पदवी महाराजा की न थी। फ़ारसी इतिहासों में उनको केवल राजा ही लिखा गया है। तीसरे यह कि लेख में केवल 'बीरब' ही है। उसके अंत में 'र' कल्पना द्वारा जोड़ लिया गया है। किंतु इसमे संदेह नहीं कि जूलाई सन् १५७५ में राजा बीरबर अकबर के साथ प्रयाग आये थे संभव है कि राजा के स्थान पर लेखक सफल (?) ने अधिक

आदर-सूचक शब्द महाराज का प्रयोग कर दिया हो। किंतु विक्रमीय और शक संवत् का मेल न खाना अवश्य खटकता है। अस्तु, इसी लेख के आधार पर बीरबर को गंगादास का पुत्र कहा है।

बीरबर के पिता या तो साधारण श्रेणी के या ग़रीब श्रेणी के रहे होंगे जैसा कि बदायूनी ने संकेत किया है। किंतु बदायूनी बीरबर से द्वेष करता और उनके संबंध में सदैव अशिष्ट और बुरे शब्दों का प्रयोग करता है। अतएव एकाएक उस संकेत से यह समझ लेना कि बीरबर के पिता दरिद्र थे सर्वथा उचित न होगा।

बीरबर के बाल्यकाल की किसी घटना का उल्लेख नहीं। जालौन गज़ेटियर में उनका जन्म सन १५२८ दिया है किंतु यह नहीं ज्ञात होता कि यह किस आधार पर है। मआसिर-उल्-उमरा में उनका नाम महेशदास किंतु बदायूनी ने ब्रह्मनदास लिखा है। संभव है कि महेशदास का उपनाम ब्रह्मदास हो। कहते हैं कि कविता में वे अपना उपनाम 'ब्रह्म' ही रखते थे।

बीरबर की शिक्षा अच्छी हुई होगी क्योंकि उनका आदर रीवा के राजा रामचंद्र करते थे। उत्तरी भारत के प्रधान राजाओं में बाबर के लेखानुसार बघेल राजा का नंबर तीसरा था। राजा रामचंद्र बड़ा गुणग्राही था। उसके दरबार के गुणियों की प्रशंसा चारों ओर फैल गई थी। उसी के यहाँ बीरबर और तानसेन दोनों का पहले सम्मान हुआ था। बीरबर और तानसेन की प्रशंसा अकबर के कानों तक पहुँची। इस समय बीरबर कविता करते थे और गान-विद्या में भी निपुण थे।

उन दोनों की प्रशंसा सुनकर अकबर ने राजा से उन को माँगा। तानसेन तो सन् १५६२ में अकबर के दरबार में आए किंतु बीरबर के आने का सन् नहीं मिलता। संभव है कि वे भी उसी समय बुलाए गए हों। यह निश्चित है कि सन् १५६९ के पहले ही वे अकबर के दरबार में आ गए थे और उसकी विशेष कृपा के पात्र हो गए थे। अनुमान से जान पड़ता है कि आने के थोड़े ही समय बाद उनको कविराज की पदवी भी मिल गई थी।

अकबरी दरबार में वे केवल कविता ही नहीं रचते थे अकबर ने

उनकी वाक्-चतुरता, विदग्धता, और कार्य-कुशलता को देखकर उनसे दूतकार्य भी लेना आरंभ कर दिया था। सन् १५६९ में बीरबर ने कजली के राजा को अकबर से मिलाया।

अकबर ने सन् १५७२ में बीरबर को नगरकोट जागीर मे दे दिया। नगरकोट जीतने के लिए हुसेन कुली खाँ आदि गए। काँगड़े के अवरोध में मुसलमान सैनिकों ने धार्मिक जोश में अत्याचार और अनाचार कर डाले। उस उद्दंडता के लिए बीरबर को लोग धिक्कारते और कटुवचन कहते थे। अकबर नामे के वर्णन से यह पता नहीं चलता कि वे स्वयं वहाँ थे या नहीं किंतु बदायूनी के कथनानुसार बीरबर वहाँ पर थे। शायद यह पहला ही अवसर था कि बीरबर ने युद्ध में भाग लिया क्योंकि विद्रोही इब्राहीम हुसैन मिर्ज़ा को दमन करने मे जिन लोगों ने प्रयत्न किया उनमें उनका भी वर्णन है। किंतु नगरकोट के अवरोध मे बदायूनी ने भी अफसरों की नामावली में उनका नाम नही रक्खा। इससे यह प्रतीत होता है कि वे साधारण मन्सबदारों में थे, सेनानायकों में उनकी गणना नहीं थी। संभवतः इसी कारण वे सिपाहियों के अनाचार को रोक न सके होंगे। काँगड़े के राजा ने जब संधि का प्रस्ताव किया तब उन्होंने कोई अड़चन नहीं डाली। उनको एक भारी रक़म मिल गई। बदायूनी पाँच अकबरी मन सोना लिखता है जो क़रीब तीन मन और पंद्रह सेर के था। कहते हैं कि यह रक़म काँगड़े के मंदिर की साल भर के आय के बराबर थी।

उसी वर्ष बीरबर अकबर के साथ गुजरात की दूसरी मुहिम में गए (१५७३)। उनको यह अवसर इसीलिए शायद मिला कि उन्होंने इब्राहीम मिर्ज़ा के विद्रोह के दमन में अच्छे उद्योग और उत्साह का परिचय दिया। गुजरात के दूसरे धावे में अकबर केवल ऐसे पाँच सौ आदमी लेकर गया थ जो वास्तव मे उपयोगी सिद्ध हो और लगभग सौ मील यात्रा नित्य कर सकें ऐसे धावे में बीरबर का चुना जाना सिद्ध करता है कि अकबर की दृष्टि मे बीरबर केवल शायर ही न थे वरन् उद्योगी, सहिष्णु, वीर और सच्चे स्वामिभक्त थ उनकी पदवी से भी यही सूचित है कि वे कोरे कविराय ही नहीं किंत

बीरबर भी थे। उस धावे में उन्होंने अपना कर्तव्य अच्छी तरह पालन किया होगा क्योंकि बिहार की चढ़ाई में भी अकबर उनको अपने साथ ले गया था (१५७४ ई०)।

बीरबर की बुद्धिमत्ता, वाक्चतुरता और कार्य-कुशलता के कारण अकबर उनको समय समय पर दूत का कार्य देता था। उनके द्वारा राजा रामचंद्र बघेल और भूपति चौहान ऐसे नटखट, डूँगरपुर के राजा अकबर के साथ मिल गए। उनको यदि असफलता मिली तो वह घोर विद्रोही मासूम फ़रखुदी को ठीक रास्ते पर लाने में, अन्यथा वह सदा कृतकार्य रहे।

इन सेवाओं के अतिरिक्त साधारण प्रबंध और राजकीय विभाग के शासन का भार भी उन पर कभी कभी रक्खा जाता था। कुछ काल के लिए वे मवेशी-खाने के अध्यक्ष रहे, कुछ समय तक चार आदमियों की उस समिति के सदस्य रहे जो दीनों और न्यायैषियों की सहायता करती थी। एक बार उनको खालिसा से जालंधर में मदद-माश बाँटने का कार्य सौंपा गया था। ये सब काम ऐसे थे जो विश्वसनीय आदमी के ही सुपुर्द किए जा सकते हैं।

अकबर बीरबर से बड़ा प्रेम करता था और उन पर उसकी बड़ी कृपा रहती थी। उन्होंने उससे कभी अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया। निर्लोभी और उदार हृदय होने के कारण बादशाह उनका आदर करता था और उनकी बातों पर ध्यान देता था। बदायूनी के कथनानुसार बीरबर ही ने गोवध बंद कराया था और अकबर की श्रद्धा सूर्य के प्रति उत्तेजित कर दी थी। यही नहीं उनके प्रभाव के ही कारण अकबर की इस्लाम धर्म के प्रति श्रद्धा कम होगई और हिंदू धर्म की ओर बढ़ गई थी। ये कथन चाहे अक्षरशः सत्य न हों किंतु उनसे अकबर पर बीरबर के प्रभाव का अच्छा प्रमाण मिलता है। बीरबर के कहने से बादशाह ने जासूस लगा दिए जो सबलों और अफ़सरों के करतूतों की जाँच करते और दुखियों और दीनों की दशा बादशाह के कानों तक पहुँचाया करते थे।

बीरबर के लिए अकबर अत्यंत सहानुभूति प्रकट करता था। एक बार वे चौगान खेलते समय घोड़े से गिर कर मूर्च्छित हो गए बादशाह ने स्वयं

उनकी सुश्रूषा की। सन् १५८३ में उन पर चाचर नामक मस्त हाथी ने हमला किया। किंतु बड़ी फ़ुर्ती से बादशाह उनके और हाथी के बीच में आ खड़ा हुआ जिससे उनके प्राण बच गए। बादशाह तीन बार उनके घर पर भी गया और मेहमान बन कर रहा।

बीरबर के धार्मिक विचार भी अकबर के विचारो से मिलते जुलते थे। दरबार के प्रसिद्ध हिंदू मंसबदारों में केवल बीरबर ही तौहीद इलाही वाली अकबरी संस्था के सदस्य थे। उनका जो धार्मिक प्रभाव बादशाह पर पड़ा उसका तो ऊपर वर्णन हो चुका है किंतु यह नहीं ज्ञात है कि बादशाह के सिद्धांतों और मंतव्यो का उन पर क्या प्रभाव पड़ा। इस संस्था के सदस्यों में कुशलता, बीरता, पवित्रता और न्यायप्रियता आदि गुण विशेष रूप से समझे जाते थे। अतएव छिद्रान्वेषी उनके आचरणों की बड़ी कठोर समीक्षा करते थे। कोई दोष देखा तो उसको बड़े चाव से वर्णन करते थे। बदायूनी ने बीरबर पर वेश्यागमन का दोषारोपण किया है। संभव है कि ठीक हो। इस अपवाद से वे ऐसे लज्जित हुए कि उन्होंने वैराग्य लेने का विचार प्रकट किया। आखिर बादशाह ने उनको बुलवाया कितु कुछ कहा नहीं। उलटे उनको सांत्वना दी। यह भी संभव है कि उन पर झूठा दोषारोपण किया गया हो क्योंकि अन्य अमीरों को क़ैद तक का दण्ड दिया गया पर वे साफ छूट गए।

बीरबर बड़े ठाठ बाट के साथ रहते थे। उनके दरबार की प्रशंसा गंग कवि ने इन शब्दों मे की है—

"मालती सकुंतला सी को है काम कंदला सी,
हाजिर हजार चारु नटी नौल नागरै।
ऐल फैल फिरत ख़वास ख़ास आस पास,
चोवन की चहल गुलाबन की गागरै॥
ऐसी मजलिसि तेरी देखी राजा बीरबर,
गंग कहै गूँगी ह्वै कै रही है गिरा गरै।
मंहि रह्यो मागधनि गीत रह्यो ग्वालियर,
गोरा रह्यो गोर ना अगर रह्यो आगरै॥"

किंतु यह ठाट केवल बादशाह की कृपा से था। अन्याय, लूट आदि से उन्हों ने धन संचित नहीं किया। उनके पास कड़े में जागीर थी, नगरकोट की तयूलदारी थी और संभव है कि सरकार कालपी में भी उनका कुछ इलाका रहा हो। एक बार जब अकबर उनके स्थान पर गए तब उन्हों ने जो कुछ भेटें पाई थीं सब बादशाह के सामने नजर कर दीं। उनको लोभ छू नहीं गया था। उनकी दान शीलता की और उदारता की प्रशंसा हिंदू और मुसलमान दोनों करते थे। खूबचंद कवि ने लिखा है—

मान दस लाख दियो दोहा हरिनाथ के पै,
हरिनाथ कोटि दै कलंक कवि कैहै को।
बीरबर दै छ कोटि केशव कवित्तन में,
शिवराज हाथी दियो भूषन ते पैहै को॥
छप्पै में छत्तीस लाख गंगै ख़ान ख़ाना दियो
याते दीन दूनो दान ईंदर में ऐहै को।...इत्यादि

यह अतिशयोक्ति पूर्ण कथन है किंतु उन सब दान शूरों में बीरबर का दान ही सब से बड़ा माना गया है। होलराय कवि ने भी कहा है—

गंग ले न गुनी, तानसेन से न तान वान,
मान ते न राजा औ न दाता बीरबर ते।

इस कथन का समर्थन मआसिर ही में नहीं किंतु बदायूनी के कथनानुसार स्वयं बादशाह ने भी किया है। उनकी मृत्यु के पश्चात् अकबर कहता था कि "बीरबर ने कभी सांसारिक पदार्थों से मोह नहीं किया"।

कवि राजा बीरबर किस कोटि के कवि थे इसका वास्तविक अनुमान तब तक नहीं हो सकता जब तक उनके बनाए हुए पर्याप्त संख्या में छंद न मिले। सरोजकार कहते हैं कि बीरबर की बहुत सी फुटकर कविता उनके पुस्तकालय में है। मिश्रबंधु कहते हैं कि माया शंकर याज्ञिक के पास उनके कई सौ छंदों का संग्रह है। किंतु न तो उनका बनाया कोई ग्रंथ विशेष ही देखा गया है और न उनकी कविताओं का कोई संग्रह ही प्रकाशित हुआ है। याज्ञिक जी यदि अपने संग्रह को प्रकाशित कर देते या किसी बड़े को दे देते तो बड़ा अच्छा होता

इस समय प्रकाशित संग्रहों मे जो मुझे देखने को मिले हैं उनमें सब मिलाकर दस या बारह से अधिक छंद नहीं मिलते। यह भी तो स्पष्ट नहीं है कि ये सब छंद बीरबर के ही हैं या 'ब्रह्म' उपनाम के किसी अन्य कवि के। बीरबर का उपनाम 'ब्रह्म' था इसमे संदेह नहीं और कुछ छंदों में "ब्रह्म कहैं सुनु साह अकब्बर" वाक्य भी आया है। यदि इस समय तक प्रकाशित छंदों के आधार पर निश्चय किया जाय तो उपमाओं में कुछ विलक्षणता होते हुए भी बीरबर साधारण कवि थे। "उपमा को बीरबर" वाक्य सरोजकार की संमति मे सूर-दासजी ने आत्म-प्रशंसा के दोहे मे कहा है। शिवसिंहजी ने सूरदास की गवाही दिलाकर स्वयं मौनावलम्बन ही ठीक समझा। मिश्रबंधुओं ने उनकी कविता में "अनुप्रास तथा उपमाओं की बहार" बताई है, किसी ने उसको "बड़ी ही चम-त्कार पूर्ण और ललित" लिखा है। किंतु इन कथनों का यथेष्ट प्रमाण प्रकाशित छंदों से नहीं मिलता। यह तो स्पष्ट है कि कोई बात उनमे ऐसी विशेष होगी कि गंग और नरहरि आदि के रहते भी 'कविराय' की महत्त्व-पूर्ण पदवी अकबर ने उन्हीं को दी। अकबर स्वयं साधारण कवि और कविता का प्रेमी न था। यद्यपि उसके दरबार में फारसी और हिंदी आदि के कवि आते जाते रहते थे किंतु वह उन्हीं कवियो का सम्मान करता था जिनमें उसे सार और तत्व दिखाई पड़ता था। अतएव 'कविराज' पद से विभूषित करने के पहले ही उसने विचार कर लिया होगा। दरबार में आने के पहले ही से बीरबर की कविता की प्रशंसा होती थी। उनकी मृत्यु के उपरांत शायद वह पद अकबर ने किसी दूसरे को नहीं दिया।

बीरबर की कविता की आलोचना की कठिनाई होने पर भी पाठकों के मनोरंजन के लिए कुछ प्रकाशित कविताएँ उद्धृत कर देना अनुपयुक्त न होगा। उनसे उपर्युक्त कथन का संभव है कि समर्थन हो जाय।

सवैया

जो तुम छत्र कि छाँह चलावत,

तो न कहूँ कछु मैं रिधि पाई

जो तु धराधर भीख मँगावत,
तो न कहूँ कछु आप दयाई ॥
ब्रह्म भनें विनती इतनी अब,
छोड़ नहीं हरि तो शरणाई।
दीन दयाल कृपा करि माधव,
मोंहि कहा सब तोंहि बड़ाई ॥१॥
यद्यपि द्रव्य को सोच करै कछु,
गर्भ में केतिक गाँठि ते लायो।
जा दिन जन्म लियो जग में तब,
केतिक कोटि लिए सँग आयो ॥
वाको भरोस क्यों छाँड़ै अरे मन,
जाको अहार अचेत में पायो।
ब्रह्म भनै जनि शोच करै वही,
सोचि है जा विरुला उलहायो ॥२॥
पेट मे पौढ़ कै पौढ़े मही पर,
पालन पौंढ़ के बाल कहाये।
आई जबै तरुनाई तिया सँग,
सेज पै पौढ़ के रंग मचाये ॥
छीर समुद्र के पौंढ़नहार को,
ब्रह्म कबौं चित ते नहिं ध्याये।
पौंढ़त पौंढ़त पौंढ़त ही सो,
चिता पर पौंढ़न के दिन आये ॥३॥

'ब्रह्म' के नीति विषयक कुछ छंद मिलते हैं। जैसे—

सवैया

दूत दयामनो मूरख ब्राह्मन,
नारि निरंकुश कायथ भोरो।

स्वार कुबीर कुलच्छन पोरियो,

आकरो बानियो चाकर खोरो ॥

वैद्य प्रसिद्ध अनाथ सभासद,

कूर कलावँत काटनो घोरो ।

ब्रह्म भनै सुन शाह अकब्बर,

बारहु बाँधि समुद्र में बोरो ॥१॥

पूत कपूत कुलच्छनि नारि,

लराक परोस लजावन सारो ।

बंधु कुबुद्धि पुरोहित लंपट,

चाकर चोर अतीत धुतारो ॥

साहेब सूम अराक तुरंग,

किसान कठोर दिवान न कारो ।

ब्रह्म भनै सुनु शाह अकब्बर,

बारहु बाँधि समुद्र मे डारो ॥२॥

छप्पै

नमै तुरी बहु तेज नमै दाता धन देतो ।

नमै अंब बहु फल्यो नमै जलधर बरसेतो ।

नमै सुकवि जन शुद्ध नमै कुलवंती नारी ।

नमै सिंह गय हनत, नमै गज बेल सम्हारी ॥

कुंदन हूमि कसियो नमै, वचन ब्रह्म सच्चा बवै ।

पुनि सूखा काठ अजान नर, भाज पड़े पर नहिं नवै ॥३॥

रस और नीति के छंदों के अतिरिक्त कुछ शृंगार के छंदों को भी

सवैया

एक समै नवला तिय से निशि,

केलि करी, जब श्याम सिधारे

आलसवंत उठ्यो नहिं जात,
परेहि परे कर केश सँवारे ॥
औनन तें तरवन गिरयो इक,
ब्रह्म भनै उपमा उन भारे ।
मारेहु राहु धक्यो रथ चंद को,
टूटि परयो रथ चक्र सुनारे ॥१॥

सखि भोर उठी बिन कंचुकी कामिनि,
कान्हर ते करि केलि घनी ।
कवि ब्रह्म भनै छवि देखत ही,
कहि जात नहीं मुख ते बरनी ॥
कुच अग्र नखक्षत कंत दियो,
सिर नाइ निहारत है सजनी ।
शशि शेखर के शिर से सुमनो,
निहुरे विधु लेत कला अपनी ॥२॥

कुच ऊपर मोतिन माल फबै,
गिरिराजसुता सम रूप धरे ।
भनि ब्रह्म मिली अवली जमुना सम,
संगम कोटिन पाप हरे ॥
तिय के सु नखक्षत की उपमा,
हिय माँझ चुभी दृग तें न टरे ।
जनु कालिमा मेटन कों रजनी,
पति मज्जन तीरथ राज करे ॥३॥

काम कलाधिक राधिका आधिक,
रात लौं काम की बात बनाई ।
काम सो कान्हर दे कुच पै कर,
सोइ रहे रति काम की नाई

ब्रह्म जराइ की मुद्रिका दै,
सु सखी लखि कोटिक भाँतिनि भाई।
देखन को पिय को तिय की,
हिय की अँखियाँ मनो बाहिर आई ॥४॥

सब की सुनिए सबसों कहिए,
सब देखि सबै कछु कीजत है।
जिन रूसत रूसत हो जिय सें,
तिनके बिछुरे अब जीजत है॥
कवि ब्रह्म भन बिनु प्रान प्रिया,
इन प्रानन्नि को न पतीजत है।
छतिया न फटी इतने दुख ते,
अलि पाहनहू तो पसीजत है॥ ५ ॥

एक समै हरि धेनु चरावत,
बेन बजावत ऐंन रसालहि।
दीठि परी मन मोहन की,
वृषभानुसुता उर मोतिन मालहि।
सो छबि ब्रह्म लपेटि हिये,
कर सों कर लै करकंज सनालहि॥
ईश के शीश कुसुंभ की माल,
मनो पहिरावति व्यालिनि व्यालहि॥ ६ ॥

ऋतु वर्णन का भी एक कवित्त सुनिए।

उछरि उछरि भेकी झपटै उरग पर,
उरग पै केकिन की लपटैं लहकि है।
केकिन की सुरति हिये की ना कछू है भये,
एकी करी केहरि न बोलत बहकि है॥
कहै कवि ब्रह्म वारि हेरत हरिन फिरै,
बैहर बहत बड़े ओर सों जहकि है

तरनि के तावन तवासी भई भूमि रही,
दसहू दिसान में दवारि सी दहकि है ॥

कविताओं के अतिरिक्त बीरबर की पहेलियाँ और चुटकुले भी आजकल चल रहे हैं। यद्यपि वे हँसमुख, खुश मिज़ाज, मज़ाक़ पसंद थे किंतु उससे यह नहीं सिद्ध होता कि वे ही उन सब चुटकुलों के जन्मदाता है जो उनके नाम से आजकल चल रहे हैं। कौन जाने उनका दूसरों के साथ कैसा मज़ाक रहता था किंतु कम से कम बादशाह के साथ तो उनका विनोद या परिहास बहुत ही कम और शिष्टता-पूर्ण रहता होगा। कारण यह है कि अकबर स्वयं बड़ा गंभीर मितभाषी और गुरुवृत्ति का पुरुष था। अतएव बीरबर को विदूषक अथवा भाँड़ समझना असंगत और अन्याय मूलक होगा। उनकी कविताओं में भी भँड़ैती की पुट नहीं पाई जाती। दूसरे अकबर राजकार्य से अवकाश पाने पर अपना शेष समय, धार्मिक चर्चा, उपासना, इतिहास, जीवन-चरित्र, धर्म और साहित्य के ग्रंथों के सुनने और कभी कभी गाना सुनने में अथवा चित्र देखने में व्यतीत करता था। भारतीय अथवा इतर देशी लेखकों के ग्रन्थों से जहाँ तक पता चलता है अकबर के स्वभाव में चपलता, विनोद-प्रियता, क्षुद्रता आदि का लेश भी न था। ऐसे सम्राट् के सामने हास परिहास का अवसर शायद ही कभी मिलता हो। बीरबर की वाक्-चतुरता का आश्रय लेकर मसखरों ने उनके नाम से तरह तरह के भले बुरे मज़ाक़ गढ़ डाले हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

बीरबर की अंतिम सेवा सवाद और बाजूर के अफ़ग़ानी युद्ध में हुई। जनवरी सन् १५८५ में अकबर ने अफ़ग़ानों पर चढ़ाई की। पहाड़ी युद्ध मे शीतकाल में जाने से बड़े बड़े सरदार आना-कानी करते थे। बहुत से सरदार पहले ही इधर-उधर भेजे जा चुके थे। जनवरी सन् १५८६ में कुमक भेजने की आवश्यकता हुई क्योंकि काम में ढील पड़ रही थी। यह निश्चय हुआ कि कोई कार्यकुशल और विशेष विश्वास-पात्र नायक नई फौज के साथ जाय जिससे काम आगे बढ़े। अबुलफ़ज़्ल ने जाने की इच्छा प्रकट की। बादशाह ने बीरबर और अबुलफ़ज़्ल के नाम पर चिट्ठी डाली बीरबर का नाम निकला अतएव वे ही इक्कीस जनवरी को रवाना किए गए ये बड़ी वीरता से, शीघ्रता के साथ

अफ़ग़ानों को दंड देते हुए आगे बढ़े। किंतु जब आगे रास्ता बंद पाया तब फिर लौट कर दूसरी ओर से बढ़े। उन के जाने के कुछ दिन बाद हकीम अबुलफतह भी रवाना किए गए। ये दोनों सेनाये जैनखाँ कोका की सेना से मिल गईं।

तीनों सेना-नायकों में बड़ा मत भेद हो गया। बीरबर कहते थे कि बादशाह ने यह आज्ञा दी है कि सेना शत्रुओ के प्रदेश में धावा करके और वहाँ के अफ़ग़ानों को दंड देकर वापस लौट जाय। किंतु जैनखाँ कहता था कि ऐसा करने से जो कुछ अभी तक अधिकार जमा है वह जाता रहेगा। बड़ी कहा सुनी, हुज्जत और गरमा-गरमी हुई। जैनखाँ अपने को मुख्य सेनापति समझ कर अपनी संमति के अनुकूल कार्य करने के लिए ज़ोर देता था। बीरबर अपने को बादशाह का मंत्री समझकर अपने अनुकूल सब से कार्य कराना चाहते थे। इस प्रकार ईर्ष्या, द्वेष पैदा हो गया और अनावश्यक विलंब होने लगा। अंत में बीरबर ने आगे बढ़ना निश्चय किया। अन्य दो सेना-नायक भी पीछे पीछे चले। बढ़ते बढ़ते एक दिन ऐसे स्थान में पहुँचे जहाँ शत्रुओं का बड़ा ज़ोर था। बीरबर को सूचना मिली कि यदि रात होने के पहले ही घाटी पार कर दी जाय तो सुरक्षित स्थान मिल सकेगा। घाटी का द्वार चार कोस पर था। यह आशा थी कि अंधेरा होने के पहले ही उस से बाहर निकल जायँगे। किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा न हो सका। रास्ते ही में अँधेरा हो गया। अब क्या था, अफ़ग़ानों ने चारो ओर से छापा मारा। बीरबर की सेना ही आगे थी। फल यह हुआ कि उस अंधकार में शाही सेना छिन्न भिन्न हो गई और क़रीब आठ सहस्र पाँच सौ आदमी खेत रहे। बाक़ी लोग बड़ी कठिनाई से बाहर निकल सके। इसी अवसर पर बीरबर भी वीर गति को प्राप्त हुए। (१४ फ़रवरी १५८६)

बीरबर की मृत्यु का समाचार सुन कर बादशाह अत्यंत दुखी हुआ। दो दिन तक अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। आहें भरता और दिल मसोस कर रह जाता था। आखिर मरियम मकानी के बहुत कुछ कहने सुनने पर भोजन किया। बादशाह को सब से बड़ा खेद तो इस बात का था कि बीरबर की अंतिम क्रिया उचित रूप से नहीं हुई बहुत लाश ढुँढ़वाई लेकिन कहीं कुछ

पता न चला। दो तीन बार यह खबर उड़ी कि राजा जीवित हैं और छिप कर रहते हैं। जाँच की गई किंतु सब ज़ाली और नकली निकली।

बीरबर की मृत्यु का समाचार जिन शब्दों में अकबर ने खानखानान को लिखवाया उन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन के विषय में उस के क्या विचार थे। यहाँ पूरी इबारत न लिखकर केवल एक छोटा सा अंश उद्धृत करना अनुचित न होगा—

उम्दए महरमाने राज़, व ज़ुब्दए मुसाहिबाने दम्साज़, साहबे फ़ितरते आली, उन्वाने मिसाले बे मिसाली, नक़ावए मुक़रिबाने दरगाह, खुलासए मुलाज़िमाने हवाख़्वाह, अंजुमन आराय हरीमे बादशाही, बारीक बीने दक़ायक़ आगाही, हमदमे दिलकुशाए मजलिसे ख़ास, महरमे ख़िलवत सराए वफ़ा व इख़लास, रंग आमेज़े रुमूज़े इश्क़ व मुहब्बत, नख़्लबंदे हदायके ख़ुलूस सिद्क़ व अक़ीदत, तालिबे बेक़रारे राहे हक़ीक़त तलबी व हक़जूई, आशिक़े अतवारे हक़ गुज़ारी व हक़गोई, नक़्श बंदे तराज़े मआनी आफ़रीनी, नुक्ता पैवंदे बिसाते हम ज़बानी व हम नशीनी, दक़ीक़ायाबे सरायरे सुल्तानी, रम्ज़शिनासे आलमे मिज़ाज दानी, गिरह कुशाए ख़ातिरे मुश्किल पसंद, सैक़ल नुमाए आईनए ज़मीरे आस्माँ पैवंद, सर हल्क़ए दायरए नुक्ता साज़ान, सर दफ़्तरे अंजुमने सख़ुन परदाज़ाँ, जलीसे उन्स अनीसे ख़िलवते क़ुद्स, मुसाहबे दानिशवर राजा बीरबर कि ख़ुद रा दर मोहब्बते मा दर बाख़्ता बूद व पेश अज़ फ़िदा शुदन दर राहे अख़्लासे मा फ़िदा साख़्ता बावजूद तअल्लुक़े दुनयवी कमाल बे तअल्लुक़ी दाश्त व बा गिरफ़्तारी-ए ज़ाहरी सरासर रक़्मे आज़ादी भी निकाश्त नागहाँ अज़ीं जहाने फ़ानी व ख़ाकदाने ज़ुल्मानी रख़्ते अक़ामत बर बस्त।

عمدۂ محرمان راز و زبدۂ مصاحبان دمساز صاحب فطرت عالی علوان مثال بےمثالی نقاوۂ مقربان درگاہ خلاصۂ ملازمان هواخواہ انجمن آرائے حریم بادشاهی باریک بین دقائق آگاهی همدم دلکشاے مجلس خاص محرم خلوت سراے وفا و إخلاص رنگ آمیز رموز عشق و محبت نخلبند حدائق خلوص صدق وعقیدت طالب بیقرار راہ حقیقت طلبی وحق‌جوئی عاشق اطوار حق گذاری و حق گوئی نقش‌بند طراز معنی آفرینی نکته پیوند بساط همزبانی و همنشینی دقیقه‌یاب سر بر سلطانی رمزشناس عالم مزاجدانی

گره‌کشاے خاطر مشکل پسند صیقل نمائے آئینۂ ضمیر آسمان‌پیوند سرحلقۂ
دائرۂ نکته سازان سر دفتر انجمن سخن پردازان جلیس اُنس انیس خلوت
قدس مصاحب دانشور راجه بیربر که خود را در محبت ما در باخته بود
و پیش از فدا شدن در راہِ اِخلاص ما فدا ساخته باوجود تعلق دنیوی کمال
بےتعلقی داشت و باگرفتاری ظاهری سراسر رقم آزادی می نگاشت ناگهاں
ازیں جهان فانی و خاکدان ظلمانی رخت اقامت بر بست ـ

इस का आशय इस प्रकार है—

"भेद जाननेवाले व्यक्तियों में उत्तम; विश्वस्त साथियों में सर्वश्रेष्ठ; ऊँचे भावोंवाले; अद्वितीय लोगों में प्रथम; राज-सभा के लोगों में चुने हुए; शुभ-चिंतक कर्मचारियों में गण्य; बादशाही सभा की शोभा बढ़ानेवाले; ज्ञान की सूक्ष्म वाता के जाननेवाले; अंतरंग सभा को प्रसन्न रखनेवाले साथी; विश्वास और सत्य का मर्म जाननेवाले; प्रेम और प्रीति की रहस्यमय बातों में रंग उत्पन्न करनेवाले; सत्य और श्रद्धा के उद्यान के माली; सत्य के जिज्ञासु और सन्मार्ग पर चलने के लिए विह्वल; सच्ची बात कहने और करने के प्रेमी; सूक्ष्म अर्थ उत्पन्न करनेवाले; मंडली और वार्तालाप में सूक्त पैदा करनेवाले; स्वभाव के पारखी; कठिनता-प्रिय हृदय की ग्रंथि खोलनेवाले; आकाश तक पहुँचनेवाली बुद्धि के दर्पण की क़लई करनेवाले; सूक्ष्म ज्ञानवालों की परिधि के केंद्र; वाग्मियों की सभा के मुखिया; स्नेही सखा और पवित्र एकांत के साथी; पवित्र सहचर; बुद्धिमान मुसाहब; राजा बीरबर जिन्होंने हमारे प्रेम में अपना सर्वस्व समर्पण किया; मृत्यु के पूर्व ही जिन्होंने मेरी मित्रता में अपने को मिटा दिया; संसार से संबंध रखते हुए भी जो उससे हर प्रकार से विरक्त थे; प्रकट में इस प्रकार बंधन में होते हुए भी जो स्वतंत्र थे; अचानक इस नश्वर संसार से तथा अंधकारमय पृथ्वी से दूसरे अनश्वर संसार के लिए प्रस्थान कर गए।"

मुसल्मानों का हिंदुस्तान में आना

[लेखक—डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फ़िल् (आक्सन)]

बहुत पुराने समय से हिंदुस्तान और एशिया के पश्चिमी देशों के बीच व्यापार होता आया है। अरब, फ़िलिस्तीन, मिस्र, बाबुल, अशूरिया और और देशों के व्यापारी हमारे देश की चीजें मँगाते थे और अपने देश का माल यहां भेजते थे। सुलैमान ने, जो यहूदियों का बड़ा नामी बादशाह हो गया है, अपने प्रसिद्ध मंदिर के बनवाने के लिये, हिंदुस्तान से सोना, चाँदी, हाथी-दाँत और मोरपंख मँगवाए थे।[1] मिस्र के बतलीमूस वंश के बादशाहों ने लाल समुद्र के किनारे, हिंदुस्तान से व्यापार करने के लिये बंदरगाहों की नींव डाली।[2] ईरान के बादशाहों ने उन की देखादेखी फ़ारस की खाड़ी में बंदरगाह बनाए।[3] यूनानी मलाबार के तट से चावल, अद्रक, काली मिर्च, दारचीनी ख़रीदते थे।[4] और यूनानी और रूमी लेखक हिंदुस्तान के भूगोल से परिचय रखते थे। उदाहरण के लिये हिप्पालूस और प्लिनी पहली सदी के, पेरीप्लूस दूसरी सदी और कोस्मा छठी सदी ईस्वी के लेखकों के नाम हैं। अम्मीयान मारसेल्लानि लिखता है कि लंका, लक्षद्वीप और मलद्वीप के लोगों ने सम्राट् जूलियन् के पास दूत भेजे थे। प्यूटिंगीरियन टेबुल्स नाम की पुस्तक से पता लगता है कि तीसरी सदी ईस्वी में करंगानोर में रूमियों की एक आबादी थी और उधर मिस्र के बंदरगाह

---

[1] हंटर कृत 'हिस्ट्री अव् ब्रिटिश इंडिया', जिल्द १, पृष्ठ २५।

[2] हंटर कृत 'हिस्ट्री अव् ब्रिटिश इंडिया', जिल्द १, अध्याय १।

[3] केनेडी, जर्नल अव् दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १८९८, पृष्ठ २४१ और बाद के।

[4] केनेडी, जर्नल अव् दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १८९८।

सिकंदरिया मे हिंदुओं की आबादी थी। इस हिंदुस्तानी आबादी को रोम के अत्याचारी सम्राट् काराकल्ला ने तीसरी सदी के आरंभ में तलवार के घाट उतार दिया। दक्खिन हिंदुस्तान में औगस्टस से लेकर ज़ेनो तक के, अर्थात् पाँच सौ बरस के सिक्के आज तक मिलते हैं और हमारे और पश्चिमी देशों के बीच मे जो व्यापार होता था उसका पता देते हैं।[1]

ईरान भी व्यापार में रूम से पीछे न था।[2] ईरानियों ने दजला और फ़रात के दहाने पर, बसरे के निकट, ओबोला का बंदरगाह बनाया। सासानियों ने हीरा को सूबे की राजधानी बनाई। अरबी लेखक लिखते हैं कि हीरा के निवासी दिन रात अपने मकानों की छतों पर से हिंदुस्तान से आनेवाली नावों को देखा करते थे। ख़ुसरो अनुशीरवाँ के समय में व्यापार बड़ी उन्नति पर था। उस ने स्वयं सिंध पर हमला किया था और दारा ने एक बेड़ा लंका इस लिये भेजा था कि वह उन लोगों को दंड दे जिन्हों ने ईरानियों को मार डाला था। ताजिक[3] शास्त्र का नाम बतलाता है कि हिंदियों और ईरानियों में गहरा संबंध था।

अरब[4] के रहनेवालों ने हिंदुस्तान और पश्चिम के व्यापार में बड़ा भाग लिया। उन के देश में समुद्र के तट पर बहुत से बंदरगाह थे। जैसे अदन दक्खिन में और सेहर पूरब में। अरब के मल्लाह हिंदुस्तान महासागर की

---

[1]थर्सटन लिखित 'क्वाइंस अव् दि मैड्रास म्यूज़ियम'। कैटलाग नं० २।

[2]रेनो—'जेओग्राफी दाबूल फ़ेदा' (Reinaud: Geographie d' Aboul Feda पृष्ठ २८२।

[3]कार्दिये—'मेलाँज एच्० देरमबूर। नोत स्यूर ले मुसल्मान दि शीन (Cordier: Melange H. Derenbourg, notes surles musalmanes de chine).

[4]रेनो—रिलासियों दि वोयाज फ़े पा लेज़् आराब ए ला पेरसान दा लैंद ए आ ला शीन, दाँ ले ९, सिएक्ल तोम १, (Reinaud: Relationes des voyages fait par les Arabes et les Persanes dans l' Inde et a la chine, dans le 1x^{e} Siecle Tome 1) पृष्ठ ३९।

किश्तियों के खेवट थे। और इस समुद्र के दोनों तटों पर इनकी बस्तियाँ थी। हिंदुस्तान के पश्चिमी किनारे पर चौल, कल्याण, सुपारा आदि स्थानों पर आज भी इनके चिह्न मिलते हैं। रेनो का विचार है कि चौदहवी सदी तक मलाबार तट पर, अरबों का वैसा ही अधिकार था जैसा कि बाद में पुर्तगीज़ों ने जमा लिया।

सातवीं सदी में जब इस्लाम का झंडा ऊँचा हुआ और अरब की सब जातियाँ एक छत्र की छाया में इकट्ठी हुईं तो यह आंदोलन जो हज़रत मुहम्मद के जन्म से पहिले आरंभ हो गया था और भी प्रबल हुआ। अरबवाले चारों ओर बड़ी तेज़ी से फैलने लगे, उन की फौजें जंगलों और मैदानों, पहाड़ों और नदियों को पार करती हुई, शाम, ईरान, अफगानिस्तान, बलोचिस्तान होकर हिंदुस्तान की सरहद पर पहुँच गईं। मुस्लिम बेड़ों ने, ईरानियों के जहाज़ों को, समुद्र की गहराई में, सदा के लिये सौंप दिया, और हिंदुस्तानी महासागर पर अपना अधिकार जमा लिया। इन बेड़ों के साथ साथ अरब के सौदागरों ने महासागर के सारे व्यापार को अपने हाथों में कर लिया।[1]

अरबों की किश्तियाँ पश्चिम में लाल समुद्र के तट से या दक्खिनी किनारे से चलती थीं,[2] और हिंदुस्तान में उन का ध्येय यह होता था कि या तो सिंध के दहाने में और खंबाइत की खाड़ी में पहुँच जायँ या मलाबार के बंदरगाहों में जाकर माल उतार दें। पहिले उद्देश्य से तो वे समुद्र के किनारे किनारे अपनी किश्तियाँ लगाये रहते थे। दक्खिनी बंदरगाहों में पहुँचने के लिये समुद्री हवा से लाभ उठाते और अपनी नावों के पाल खोलकर बीच समुद्र से होते हुए कोलम जा पहुँचते थे। फिर कोलम से कालिकट, कोचीन होते हुए लंका, मलय, पूर्वी द्वीपों और चीन को चले जाते थे।

मुसल्मानों का पहिला बेड़ा,[3] हज़रत उमर की ख़िलाफ़त में, ६३६ ईस्वी में हिंदुस्तान आया। उस समय उस्मान सक़ीफी बहरैन का सूबेदार था और

---

[1] केम्ब्रिज मेडीवियल हिस्ट्री।

[2] रेनो—'जेओग्राफ़ी दाबूल फ़ेदा' ऊपर देखो।

[3] इलियट 'हिस्ट्री अव् इंडिया' जिल्द १, पृष्ठ ११५ १६

उस ने एक फ़ौज समुद्री रास्ते से थाने के बंदर पर भेजी। खलीफ़ा ने इस बात को पसंद न किया और उस्मान को इस बात के दुहराने से रोकने के लिये कड़े दंड की धमकी दी। हज़रत उस्मान के समय में हिंदुस्तान की तरफ़ कई बार देख-भाल और टोह-टाह के लिये फ़ौजी दस्ते आये और अंत में सन् ७१२ में, मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर हमला किया और इस सूबे को अरबों के साम्राज्य में संमिलित कर लिया।

जिस समय मुसल्मानी सूबेदारों और फ़ौजी कप्तानों की लालच भरी निगाहें सिंध पर पड़ रही थीं, अरब के सौदागर मलाबार तट पर शांति के साथ अपनी बस्तियाँ बसा रहे थे।[१] मद्रास जिले के मैनुअल[२] में स्टुररोक लिखता है कि सातवीं सदी से अरब सौदागर हिंदुस्तान के पश्चिमी किनारे पर बस रहे थे। वह हिंदुस्तानी औरतों से ब्याह करते थे और उन के रहने और घर बनाने मे किसी प्रकार की बाधा नही डाली जाती थी। बिलाज़ुरी ने अपने इतिहास में इस बात की पुष्टि की है।[३] हज्जाज का हाल लिखते हुए उसने इस घटना का वर्णन किया है कि एक जहाज़ लंका से कुछ मुसल्मान लड़कियों को, जिनके माँ-बाप मर गये थे, वापिस ले जा रहा था। उस जहाज़ पर कच्छ के लुटेरों ने हमला किया और लड़कियों को पकड़ लिया। हज्जाज ने राजा दाहिर से लड़कियों के छुड़ाने की माँग की लेकिन दाहिर ने इस पर ध्यान नहीं दिया। तब हज्जाज ने कासिम को फ़ौज और बेड़े के साथ दाहिर पर चढ़ाई के लिये भेजा।

हज्जाज[४] अपने औद्धत्य के लिये प्रसिद्ध है। उसने हिशाम के घराने

---

[१] रौलैंडसन—'तुहफ़तुल् मुजाहिदीन'। भूमिका। तथा डे-लिखित 'दि लैंड अव् दि पेरूमल्स'। पृष्ठ २६५।

[२] स्टुररोक—'दक्षिण कनाड़ा' (मैड्रास डिस्ट्रिक्ट मैनुएल्स), पृष्ठ १८०।

[३] इलियट—'हिस्ट्री अव् इंडिया'। जिल्द १, पृष्ठ ११८-१९।

[४] राइस-लिखित 'मैसूर एंड कुर्ग' जिल्द १, पृष्ठ ३५३, तथा 'कोलाबा एंड जंजीरा गजेटियर' पृष्ठ ७४

के लोगों को इतना तंग किया कि उन्होंने भाग कर हिंदुस्तान में शरण ली और कोंकण और कन्याकुमारी के पूर्वी तट पर डेरा जमाया। उनके वंशजों से नवायत और लब्बे जातियाँ बनीं जो अब भी इन स्थानों पर रहती हैं।

कोलम में मय्यत कब्र[1] नाम के क़ब्रिस्तान में अली बिन उस्मान की क़ब्र पर १६६ हिज्री (७८२ ईस्वी) का कतबा है जिससे मालूम होता है कि मुसल्मान आठवीं सदी में मलाबार देश में बस गए थे। मुसल्मानों का प्रभाव बहुत जल्दी जल्दी बढ़ा। हिंदू राजाओं ने उन की आवभगत की, उन के व्यापार के लिये सुभीता दिया, उन्हें ज़मीन ख़रीदने और मस्जिदें बनाने की आज्ञा दी। मलाबार में बसते ही इन व्यापारियों ने अपने धर्म को फैलाने का प्रयत्न आरंभ किया। मुसल्मानों में पुरोहित और पादरी नहीं होते, लेकिन प्रत्येक मुसल्मान का कर्तव्य है कि वह धर्म का प्रचार करे। क़ुरान (१६, १२६) में लिखा है—"लोगों को ईश्वर के पथ पर चलने का संदेशा दो और उन्हें बुद्धिमत्ता और दयालुता के साथ चेतावनी दो।" इस प्रचार के काम में न केवल मर्द बल्कि औरतों तक ने बड़ा भाग लिया है। हज़रत हसन की पड़पोती नफ़ीसा ने मिस्र मे बहुत लोगों को मुसल्मान बनाया। उनके विषय में कहावत है कि वह जिस घर में रहती थीं उसके पड़ोस में एक ज़िम्मी का घर था। उसकी लड़की ऐसी रोग-ग्रस्त थी कि हाथ-पाँव हिला न सकती थी। वह रात-दिन पीठ के बल चारपाई पर पड़ी कराहा करती थी। एक दिन उस लड़की के माँ-बाप को बाज़ार जाना पड़ा। उन्हों ने नफ़ीसा से उस लड़की के पास रहने की इच्छा प्रकट की। नफ़ीसा के हृदय मे बड़ी दया आई और उस ने उस के पास रहना स्वीकार कर लिया। जब माँ-बाप चले गए तो नफ़ीसा ने ईश्वर से बिनती की कि उस लड़की के दुख को दूर करे। फल यह हुआ कि लड़की अच्छी हो गई। माँ-बाप और सारा कुटुंब नफ़ीसा पर मोहित हो गया और अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये सब ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया।

मुसल्मान मर्द-औरतें ही नहीं क़ैदी तक धर्म प्रचार में कटिबद्ध रहते

---

[1] मलाबार एंड एंजेंगो डिस्ट्रिक्ट गजटियर्स पृष्ठ ४३६।

हैं। एक मुसल्मान क़ैदी ने सब से पहिले यूरप में इस्लाम धर्म फैलाया और पेचेनेग जाति को जो डैन्यूब और डॉन नदियों के बीच में ग्यारहवीं सदी में रहती थी मुस्लिम बनाया। ग़ुलाम सरवर ने ख़ज़ीनतुल्-असफ़िया में लिखा है कि शैख़ अहमद मुजद्दिद को जहाँगीर ने कैदख़ाने में भिजवा दिया था, उस ने दो बरस में सैकड़ो हिंदू क़ैदियों को मुसल्मान बना लिया।

आठवीं सदी में मुसल्मानों को जो सफलता प्राप्त हुई उसके कई कारण थे। दक्खिन के लोग उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। मुसल्मानों के वैभव और बढ़ते हुए बल ने उन के हृदयों पर सिक्का जमाया। लेकिन सब से बढ़कर मुसल्मानों के विचारों, स्वभावो, रीतियो और चालचलन का प्रभाव पड़ा। मुसल्मानों का धर्म सादा, सहज और सुबोध था। उन की पूजा और प्रार्थना के ढंग हृदय-ग्राही थे। और रात-दिन ईश्वर का ध्यान दिलानेवाले थे। रेनान नाम के एक फ्रांसीसी विद्वान ने इस बात को स्वयं स्वीकार किया है—"मैं जब कभी मस्जिद में जाता हूँ मेरा हृदय एक अकथनीय शक्तिशाली भाव से उद्विग्न हो जाता है और मेरे मन में खेद होता है कि मै मुसल्मान क्यों न हुआ।" जब रेनान जैसे कट्टर नास्तिक और वैज्ञानिक के हृदय पर इस्लामी उपासना का ऐसा प्रभाव पड़ता था तो औरों का कहना क्या है? एक और बात जो भूलनी नहीं चाहिए यह है कि पहिली सदियों का इस्लाम कर्म-प्रधान धर्म था। इस्लाम के अनुयायी अपने जीवन में अपने विश्वासों को ज़ुबान से ही नहीं दुहराते थे कार्यरूप मे दर्शाते थे। उन की नमाज़ की सफ़बंदी, रोज़ों की सख्ती, ख़ैरात और उश्र के नियम, समाज में बराबरी और समता का बर्ताव, धर्म के ऐसे प्रबल अंग थे कि आदमी के दिल पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकते थे।

इसके विपरीत आठवीं सदी में, दक्खिन में हिंदुस्तानी धर्मों में कड़ा संघर्ष हो रहा था। बौद्ध, जैन और वैदिक धर्म के माननेवाले एक-दूसरे की जान के पीछे पड़े थे। ब्राह्मणों के परिश्रम से बौद्ध और जैन धर्म उन्मूलित हो चले थे, और शिव और विष्णु की सम्प्रदायों का फैलाव हो रहा था राजनी

तिक संसार में भी तूफ़ान मचा हुआ था।[1] चेर और केरल वंशों की शक्ति घट रही थी और नये वंश उभर रहे थे। जिस समय धर्म, समाज और राजनीति में विप्लव हो रहा था, मुसल्मान दक्खिन में आकर पहुँचे। उनके आने का सहज में बड़ा प्रभाव हुआ। नवीं सदी के आरंभ में चेरमन पेरुमल[2] उपाधिवाले मलाबारी राज्यवंश का अंत हुआ। और इसका कारण यह जान पड़ता है कि वंश के अंतिम राजा ने, जिसकी राजधानी कोदुंगलूर थी अपने धर्म का त्याग कर दिया और इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया।

प्रसिद्ध यह है कि राजा ने स्वप्न में यह देखा कि चाँद के दो टुकड़े हो गए हैं। सवेरे उसने स्वप्न का अर्थ पूछा तो कोई ठीक अर्थ बता न सका। संयोग से मुसल्मानों की एक टोली जो लंका से लौट रही थी, राजा के पास, मिलने के लिये दरबार में उपस्थित हुई। उसके सरदार शैख़ तकीउद्दीन ने स्वप्न की ठीक ठीक व्याख्या की और राजा को अपने धर्म की शिक्षा दी। इसके बाद राजा मुसल्मान हुआ और अरब देश को गया। वहां से उसने मलिक इब्ने दीनार, शर्फ़ इब्न मलिक, मलिक इब्ने हबीब को मलाबार भेजा। इन्हीं ने यहां आकर ग्यारह स्थानों पर मस्जिदें बनाईं और इस्लाम का प्रचार किया।

राजा के धर्म बदलने के कारण देश में बड़ी हलचल मची और इस घटना ने लोगों के हृदयों पर गहरा प्रभाव डाला। मलाबार में आज भी इस घटना की याद जीवित है। जिस समय जमोरिन सिंहासन पर बैठाया जाता है उसका सिर मूड़ते हैं और उसे मुसल्मानी लिबास पहिनाते हैं। एक मोपला उस के सिर पर मुकुट रखता है।[3] राज्याभिषेक के बाद राजा के साथ ऐसा ही व्यवहार करते हैं जैसा कि एक जाति के निकाले आदमी के साथ। वह अपने घरवालों के साथ बैठकर खाना नहीं खा सकता और नायर लोग उसे

---

[1]ऐयर-लिखित 'हिस्टारिकल स्केचेज़ अव् दि एंशंट डेकन'।

[2]लोगन-लिखित 'मलाबार' जिल्द १, पृष्ठ २४५।

[3]क़ादिर हुसेन खाँ लिखित 'साउथ इंडियन मुसल्मांस,' मैड्रास क्रिश्चियन कालिज मैगज़ीन १९१२ १३, पृष्ठ २४१

छू नहीं सकते। यह भी समझा जाता है कि जमोरिन अंतिम चेरमन पेरूमल का स्थानापन्न है और अपने राजा के लौटने का इंतिज़ार कर रहा है। ट्रावंकोर[1] के महाराजा राज्याभिषेक के समय तलवार कमर में बाँधते हुए यह घोषणा करते हैं—"मैं इस तलवार को उस समय तक रक्खूंगा जब तक कि मेरा चाचा जो मक्के गया है लौट न आए।"

अंतिम चेरमन पेरूमल की कथा कहां तक ऐतिहासिक है इसका कहना कठिन है। इस कथा के कुछ अंश संदिग्ध हैं। नायकों के नाम अनियमित है। चेरमन पेरूमल उपाधिनाम है। तक़ीउद्दीन का नाम नवीं सदी में असंभव था। 'दीन' का प्रयोग बारहवीं सदी में आरंभ हुआ। लेकिन इतना मानना ही पड़ेगा कि कोदुंगल्लूर के राज्यवंश का अंत, उसके अंतिम राजा के धर्म बदलने के कारण हुआ।

इसमें संदेह नहीं कि इस समय में मुसल्मानों का बड़ा महत्त्व था। वे मोपला के नाम से पुकारे जाते थे। मोपला के दो अर्थ हैं—बड़ा लड़का या दूल्हा। यह नाम मान्य था। जिन लोगों का संमान करना होता उन्हें मोपला कहते थे। जैसे ईसाइयों को नुस्रानी मोपला। मोपलों को बड़े अधिकार थे। मुसल्मान मोपला नाम्बूतरी ब्राह्मणों के बराबर बैठ सकता था यद्यपि नायर ऐसा नहीं कर सकता। मोपलों का गुरु जिसे थंगल कहते हैं, राजा के साथ साथ पालकी पर सवारी कर सकता था।

जमोरिन की अरब व्यापारियों पर बड़ी कृपा दृष्टि थी। उस के अनुग्रह से उस के राज्य में बहुत से व्यापारी बस गए। उन की तिजारत से राज्य को आर्थिक लाभ पहुँचा और उन के बाहुबल से राज्य के पराक्रम को सहायता मिली। जमोरिन ने आस-पास के राजाओं को परास्त करके उन की जमीनों पर अधिकार कर लिया। जहां जहां राजा का अधिकार हुआ मुसल्मान व्यापारियों ने मंडी स्थापित की। इस प्रकार कालिकट के बंदरगाह की नींव पड़ी। यहां का क़ाज़ी जिसे वहां वाले कोया कहते हैं जमोरिन का बड़ा मददगार था।

---

[1] लोगन लिखित 'मलाबार' जिल्द १ पृष्ठ २२१

उस की तरफ़ से सदा दूसरे राजाओं के खिलाफ़ लड़ता था। इसी सहायता के कारण ज़मोरिन दक्खिनी मलाबार में सब से महत्त्वशाली राजा बन गया और महासुखम के मेले का प्रबंध जो तिरुमवी के स्थान पर होता था, उसके हाथो में आ गया।[1] इससे इस की प्रशस्ति और ख्याति चारो ओर फैल गई।

कोया के समान अली राजा का वंश था जिस के नायक कोलात्तीरी राजाओ के बेड़े के सरदार होते थे।[2]

हिंदू राजा मुसल्मानो का इतना आदर करते थे कि उन्होंने स्वयं अपनी प्रजा को मुसल्मान होने के लिये प्रोत्साहन दिया। उन्हें अपने बेड़ों के लिये मल्लाहों की आवश्यकता थी इसलिये उन्हों ने आज्ञा दी कि मक्कुवान जाति के मछेरों में हर घराने मे एक या अधिक आदमी इस्लाम ग्रहण करें।

नवीं सदी के पीछे इस्लाम का प्रभाव दिनों दिन बढ़ता गया। मसूदी[3] ने सन् ९१६ ई० में हिंदुस्तान की यात्रा की। वह लिखता है कि चौल मे दस हज़ार से अधिक मुसल्मान रहते थे। उन का अपना सरदार था जिसे हज़ामा कहते थे। उसका अधिकार हिंदू राजा की इच्छा पर अवलंबित था। अबू दुलाफ़ मुहलहिल[4] चौल की मस्जिदों का वर्णन करता है। इब्ने सईद[5] ने तेरहवीं सदी में समुद्र के तट पर हर जगह मुसल्मानों को पाया। सर मार्को पोलो[6] ने देखा कि लंका के राजा मुसल्मान सिपाहियों को बाहर के देशो

---

[1]लोगन लिखित "मलाबार" जिल्द १, पृष्ठ २७८-८०, तथा इनीज़-लिखित 'मलाबार एंड एंजेंगो डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर्स' पृष्ठ ४४।

[2]लोगन-लिखित 'मलाबार'।

[3]इलियट, जिल्द १।

[4]फेरां-लिखित 'रिलासियां दि वोयाज' (Ferrand· Relationes de voyages) याक़ूत के वर्णन में।

[5]फेरां-लिखित 'रिलासियां दि वोयाज' इब्न सईद के वर्णन में।

[6]यूल-कृत 'दि बुक अव् सर मार्को पोलो' जिल्द २, पृष्ठ ३१४।

से लाकर अपनी फौज में भरती करते थे। अबुल फ़िदा[1] (१२७३—१३३१ ई०) लिखता है कि कोलम मे एक सुंदर मस्जिद और मुसल्मानों का चौक था। इब्न बतूता[2] ने खंबायत से लेकर सारे मलाबार की यात्रा की। उसे हर स्थान पर मुसल्मान मिले। और वह अच्छी फलती फूलती हालत मे थे। उस का वर्णन है कि गोआ मुसल्मानों के अधिकार में था। कंदबाद में मुसल्मानो ने उस से भेंट की, कोनकाह् में उस ने एक पुरानी मस्जिद देखी और वहां पर उसे हैदरी दरवेशों की एक टोली मिली। सेंदपुर मे बग़दादी नमूने की मस्जिद थी। हिनौर में मुसल्मान राज्य था और कोलम तक हर बंदरगाह में मुसाफ़िर-खाने थे। यहां पर मुसल्मानों के ठहरने का प्रबंध था। सब स्थानों पर मुस-ल्मानों का आदर था। बारसीलोर, बक्कानूर में मुस्लिम आबादी के साथ उन के क़ाज़ी और मुफ़्ती थे। मंगलोर में चार हज़ार मुसल्मान बसते थे, जिनमे फारस और यमन के व्यापारी थे। वहां की मस्जिद में बहुत से छात्र पढ़ते थे। तीनों पत्तनो में मस्जिदें थीं और मुस्लिम मुहल्ले थे। अब्दुर रज़्ज़ाक[3] पंद्रहवीं सदी में हिंदुस्तान आया। उस के थोड़े ही दिनों बाद पुर्तगीज़ों ने हिंदु-स्तान का रास्ता मालूम किया। वह कालिकट के संबंध में लिखता है—"यहां पर बहुत से मुसल्मान है। उनके अपने घर हैं। दो मस्जिदें हैं जहां वह हर जुम्मे के दिन नमाज़ पढ़ते हैं।"

यहां पर मुसल्मानों ने अपना धर्म फैलाने का बड़ा प्रयत्न किया जिसका फल यह हुआ कि बहुत सी हिंदू जातियो ने अपना धर्म बदल दिया। मद्रास सूबे की मुस्लिम जातियाँ अपना आरंभ इसी समय से मानती हैं। मदुरा और त्रिचनापल्ली के राउत्तनों[4] के यहां परंपरा चली आती है कि उन को नाथड़

---

[1] यूल-कृत 'दि बुक अव् सर मार्को पोलो' जिल्द २, पृष्ठ ३७७।

[2] दि फ़्रेमरी ए सांगीनेती द्वारा संपादित 'इब्न बतूता' (Defremery and Sanguinetti) जिल्द ३, पृष्ठ ५५ और बाद के।

[3] मेजर-कृत 'इंडिया इन दि फ़िफ़्टींथ सेंचुरी।' अब्दुर्रज़्ज़ाक का यात्रा-विवरण

[4] क़ादिर हुसैन ख़ाँ ऊपर हवाला दिया गया है

वली ने मुस्लिम बनाया। नाथड़ की क़ब्र त्रिचनापल्ली में आज भी मौजूद है और उस पर उस के मरने का साल ४१७ हिज्री खुदा हुआ है। नाथड़ के बारे मे कहा जाता है कि वह तुर्क शहज़ादा था लेकिन उस ने राजपाट त्याग कर फकीरों का बाना ग्रहण किया। वह अरब, फ़ारस और उत्तरी हिंदुस्तान मे घूमता हुआ दक्खिन में त्रिसुर (त्रिचनापल्ली) मे आया। यहां आकर वह बस गया और यही उस ने अपना शेष जीवन बिताया। वह पूजा, अर्चा और दान में मग्न रहता था और इस्लाम का प्रचार करता था।

सैयद इब्राहीम शहीद ने जिस का जन्म ११६२ ई० के लगभग हुआ पांड्यों के राज पर तेरहवी सदी के आरंभ मे चढ़ाई की। कहते हैं कि बारह बरस तक उस ने पांड्यों पर राज्य किया लेकिन अंत मे उस की हार हुई और वह मारा गया। उस की क़ब्र इरवाड़ी में बनी है।

बाबा फ़ख़्रुद्दीन एक संत था जो पेन्नुकोंडा में रहता था। उस ने वहां के राजा को मुसल्मान बनाया और वहां पर मस्जिद स्थापित की। डूडेकुल जाति उसी को अपना गुरु मानती है। उस के मरने का सन् ५६४ हिज्री (११६८ ईस्वी) है।

मदुरा[1] के ज़िले में मुसल्मानों ने १०५० ईस्वी मे प्रवेश किया। उन के नेता का नाम मलिकुल-मलूक था। और इसी के साथ एक बड़ा दरवेश हज़रत अलीयारशाह भी यहां आया। यह मदुरा की हुज़ूर कचहरी मे दफ़न है। गोरी पालेयन गाँव में एक मस्जिद है जिस के लिये कुण पांड्य ने ग्यारहवीं या बारहवीं सदी मे ६ गाँव खर्च के लिये पुण्य किए थे। पांड्यों के दान को सोलहवीं सदी में वीरप्पा नायक ने जाँच के बाद जारी रक्खा।

पूर्वी तट के राजे मुसल्मान व्यापारियों के साथ अच्छा व्यवहार करते थे। न तो कड़े कर लगाते, न तूफ़ान से पीड़ित किश्तियों को जो उन के बंदरों में शरण लेतीं, अपने अधिकार में कर लेते। एक साधारण कूप-शुल्क वसूल

[1] नेल्सन-लिखित 'मदुरा' पृष्ठ ८६ और ६२

करते थे जो किसी को भारी नहीं जान पड़ता था।[1] इस दूरदर्शी नीति के कारण व्यापार की बहुत उन्नति हुई और कई मंडियाँ स्थापित हो गई। चोल मंडल के तट पर से इतने जहाज़ आने जाने लगे कि इस का नाम अरबी में माबर (रास्ता) पड़ गया। वस्साफ़[2] लिखता है कि "माबर समुद्र के उस किनारे को कहते हैं जो कोलम से नल्लोर तक फैला है। इस की लंबाई ३०० फरसंग है। यहां का राजा देव की उपाधि धारण करता है। जब यहां से बड़े बड़े जहाज चीन, माचीन, हिंद और सिंध के बहुमूल्य मालों से लदे हुए गुज़रते है तो ऐसा जान पड़ता है कि ऊँचे पहाड़ हवा के बादबान लगाये पानी पर तैर रहे है। फ़ारिस की खाड़ी के द्वीपों से, इराक़ और खुरासान, रूम और फ़रंग देशों से सुंदर वस्तुएँ यहां आती हैं और यहां से चारों ओर जाती हैं क्योंकि यह हिंदुस्तान के व्यापार का केंद्र है।"

बारहवीं सदी में मुसल्मानों की एक बड़ी संख्या इस प्रांत में रहा करती थी। वस्साफ[3] लिखता है कि कायलपट्टनम् मे, किश के शासक मलिकुल् इस्लाम जमालुद्दीन ने घोड़ों की आढ़त चलाई थी। हर साल दस हज़ार घोड़े फारस से माबर आते थे और उन के मूल्य का अनुमान २२ लाख दीनार था। रशीदुद्दीन[4] लिखता है कि १२९३ ईस्वी में जमालुद्दीन कायल पर अधिकारी हो गया और उस का भाई तक़ीउद्दीन अब्दुर रहमान बिन मुहम्मदुत्तिवी उस का नायब नियुक्त हुआ। मार्कोपोलो[5] ने लिखा है कि तक़ीउद्दीन सुंदर पांड्य का मंत्री था और उस का बेटा सिराजुद्दीन और पोता निजामुद्दीन इस पद पर आरूढ़ हुए। पांड्य राजा ने जमालुद्दीन के लड़के फ़खुद्दीन अहमद को दूत बनाकर चीन के महाराज कुबले खाँ के पास १२८६-८७ में भेजा था।

---

[1]ऐयंगर कृत 'साउथ इंडिया एंड हर मुहेमडन इंवेडर्स'।

[2]इलियट, जिल्द ३, पृष्ठ ३२।

[3]इलियट, जिल्द ३, पृष्ठ ३२।

[4]इलियट जिल्द १ पृष्ठ ६९ ७०

[5]यूल, ऊपर हवाला दिया है

मुसल्मानों की और भी बस्तियाँ तामिल देश में आबाद थीं। अमीर खुस्रो[1] ने ख़जाइनुल फ़ुतूह (अलीगढ़ संस्करण, पृष्ठ १६१-१६२), में लिखा है कि कंदूर (कन्नानूर) के शहर में मुसल्मानों की बस्ती थी जिस को मलिक काफ़ूर ने मुस्लिम होने के कारण क्षमा कर दिया, यद्यपि वह प्राण-दंड के योग्य थे।

मलिक काफ़ूर के हमले के कुछ वर्षों बाद, इब्न बतूता[2] ने इस प्रांत की यात्रा की। वह लिखता है कि उस समय मदुरा पर ग़यासुद्दीन अदमग़ानी शासन करता था। और राजा बीर बल्लाल की सेना में २०००० मुसल्मानों का दस्ता था। बीर बल्लाल के सूबेदार हरियप्पा ओडयार की आधीनता में होनावर में एक मुसल्मान हाकिम था।

इन घटनाओं के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि इस्लाम के जन्म के थोड़े ही दिन पीछे मुसल्मानों ने हिंदुस्तान पर अपनी सभ्यता, धर्म और विचारों के फैलाने का अवसर निकाला। सातवीं सदी से तेरहवीं सदी तक उन का संबंध तिजारत के रूप मे था और आरंभ मे व्यापार के नाते ही उन की आवभगत हुई। जब हिंदू राजे उन से परिचित हो गए तो उन का आदर और भी बढ़ा। वे बड़े बड़े पदों पर नियुक्त होने लगे। उन मे से मंत्री, बेड़ों के नायक, दूत, कर-विभाग के अध्यक्ष, सेना के कप्तान इत्यादि नियुक्त होने लगे। उन को अपने धर्म के पालन के लिये मस्जिदें बनाने की और अपने संतों और फ़कीरों को ख़ानक़ाहों मे रखने की आज्ञा थी। यही नहीं वह खुल्लम-खुला अपने मत का प्रचार कर सकते थे और कहीं कहीं तो राजा स्वयं उस प्रचार में सहायता करते थे।

लेकिन दक्खिनी हिंदुस्तान में ही इस शांत प्रभाव का अंत नहीं था। उत्तरी हिंदुस्तान मे भी मुसल्मानों का हिंदुओं के साथ बहुत दिनों तक ऐसा ही संबंध रहा। यह सच है कि आठवीं सदी के आरंभ में अरबवालों ने सिंध पर

---

[1]इलियट, जिल्द ३, पृष्ठ ९०।

[2]दे फ्रेमरी साँगिनेती द्वारा संपादित 'इब्न बतूता' जिल्द ३ पृष्ठ १९९, और ऐयंगर-कृत 'इंडिया एंड हर मुहेमडन इंवेडर्स

अधिकार कर लिया। लेकिन मुल्तान और सिंध को छोड़कर और कोई भाग तीन सौ बरस तक उन के अधिकार मे न आया। इस पश्चिमी प्रांत पर तो मुसल्मान शासक थे परंतु काठियावाड़ गुजरात और कोंकण में वे केवल व्यापारियों के रूप में रहते थे। दायबल, सोमनाथ, भड़ोच, खंबायत, सिंदान, चौल इत्यादि बंदरों में मुस्लिम उपनिवेश थे और मस्जिदें, ख़ानकाहें, मुहल्ले स्थापित थे।

दक्खिन की तरह यहां के हिंदू राजों ने भी इन का अच्छा स्वागत किया। सुलैमान, मसूदी, इब्ने हौक़ल, अबू ज़ैद सब यात्री बल्हारा अर्थात् गुजरात के बल्लभी राजों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं और मुसल्मानों की ओर उनकी मैत्री और स्नेह को स्वीकार करते हैं। सुलैमान लिखता है—"हिंदुस्तान का कोई और राजा अरबों से इतनी रुचि नहीं रखता जितना कि बल्लभिराय और उस की प्रजा उस के उदाहरण का अनुकरण करती है।"[1] मसूदी जहाँ जहाँ गया अपने सहधर्मियों को स्वधर्म-पूजा में स्वतंत्र पाया। गुजरात के राजा के विषय में वह लिखता है—"इस के राज्य में इस्लाम का मान और उस की रक्षा होती है। देश के हर एक भाग में विशाल मस्जिदें है जहां प्रतिदिन पाँचों वक़् नमाज़ पढ़ी जाती है।"[2]

अलइस्तख़ी[3] ने ९५१ ईस्वी में हिंदुस्तान की यात्रा की। उस का कहना है कि "गुजरात के सब नगरों मे मुसल्मान बसते हैं और राजा ने मुसल्मानों को ही उनका अफ़सर नियुक्त किया है।" इब्ने हौक़ल ने फ़महल, सिंदान, सैमूर और खंबायत में जामा मस्जिदें देखीं, और इद्रीसी ने ग्यारहवीं सदी में मुसल्मान सौदागरों को बड़ी संख्या में अनहिलवाड़े में व्यापार करते पाया। वह लिखता है कि "राजा और उस के मंत्री इन्हें इज़्ज़त के साथ अपने दरबार में बुलाते हैं और इन की भली भाँति रक्षा करते हैं।

[1] रेनो—'रिलासियाँ दि वोयाज'। ऊपर कही हुई।

[2] इलियट—जिल्द १ पृष्ठ २९।

[3] इलियट जिल्द १, पृष्ठ २९

उत्तरी हिंदुस्तान के पश्चिमी प्रदेशों में मुसलमानों की स्थिति वैसी ही हो गई थी जैसी कि दक्खिनी हिंदुस्तान में। महमूद ग़ज़नवी के हमलों से पहिले ही उन्हें अपने मतों व रीतियों के प्रचार का अवसर मिल चुका था। स्वयं हिंदू राजा उन के प्रभावों के फैलाने के कारण थे। मुहम्मद ऊफ़ी[1] लिखता है कि जब खंबायत के हिंदुओं ने मुसल्मानों से विद्रोह किया तो महाराजा सिद्धराज ने सारे मामले की जाँच की और विद्रोहियों को दंड दिया, मुसल्मानों की जो हानि हुई उस का बदला दिया और अपने व्यय से उन की मस्जिद बनवा दी। यही नहीं कई हिंदू राजाओं की सेना में मुसल्मान सिपाही भर्ती थे। सोमनाथ के राजा की सेना में कई मुस्लिम अफसर थे। अहमदाबाद के कस्बाति अपने को बघेल राजाओं के खुरासानी सिपाहियों के वंशज बताते हैं।[2]

मुसल्मान फ़क़ीर और सूफ़ी व्यापारियों और सिपाहियों के साथ साथ चलते थे। नवीं सदी[3] में अबु हिफ़्स रबे बिन साहिब अल असदी अलबसरी एक त्यागी मुहद्दिस सिंध में आया। उस की मृत्यु १६० हिज्री (७७६ ईस्वी) में हुई। दसवीं सदी में विख्यात सूफ़ी मंसूर[4] अलहल्लाज समुद्र के रास्ते हिंदुस्तान पहुँचा और खुश्की के रास्ते उत्तरी हिंदुस्तान होता हुआ तुर्किस्तान गया। ग्यारहवीं सदी में बाबा राहन[5] दरवेशों के साथ बग़दाद से भड़ोच आया। कहा जाता है कि उस ने राजा के लड़के को मुसल्मान बनाया। १०६७ ईस्वी में बोहरों[6] का गुरु यमन से गुजरात आया। १०९४ और ११४३ ईस्वी के बीच

---

[1]इलियट, जिल्द २, पृष्ठ १६४।

[2]फ़ार्ब्स संपादित 'रासमाला' जिल्द १, पृष्ठ २७६।

[3]मीर ग़ुलाम अली आज़ाद कृत मआसिरुल किराम, पृष्ठ ६।

[4]एल० मैसिग्नान—'किताबल् तवसीन' भूमिका, पृष्ठ ५।

[5]कैम्पबेल—'सूरत एंड बड़ोच' (गज़ेटियर अव् गुजरात) पृष्ठ ५५८ की टिप्पणी।

[6]फ़ार्ब्स 'रासमाला'।

मे नूरुद्दीन[1] अर्थात् नूर सतगुर ने गुजरात के कुनबी, खेडवा और कोरियों को अपने धर्म का अनुयायीं बनाया।

महमूद के हमलों के वाद बहुत से मुसल्मान आलिम और दरवेश हिंदुस्तान में आए। उन सब का उल्लेख असंभव है। अरबी और फ़ारसी की जीवनचरित संबंधी पुस्तकों मे सैकड़ों नहीं हज़ारों नाम मिलते है। कुछ के नाम यहां देना उचित है। अली बिन उस्मान अल हुजवीरी[2] जिस ने कशफ़ुल महजूब की रचना की ग़ज़नी का रहनेवाला था, लाहौर में आकर बसा और ४६५ हिज्री (१०७२ ईस्वी) या ४६९ हिज्री (१०७६ ईस्वी) में उस की मृत्यु हुई। शैख़ इस्माइल बुख़ारी[3] ग्यारहवीं सदी के आरंभ मे यहां आया। फ़रीदुद्दीन अत्तार[4] जो तज़किरतुल्-औलिया और मंतकुत्तैर का रचयिता है बारहवी सदी मे यहां आया। शैख मुईनुद्दीन चिश्ती[5] ११९७ ई० में अजमेर पहुँचा। यह कहा जाता है कि राय पिथौरा उस समय जीवित था। अजमेर के मंदिर का महंत रायदेव था और राज्य में अजपाल बड़ा योगी था। इन दोनों ने मुईनुद्दीन के हाथों इस्लाम धर्म स्वीकार किया। चिश्तिया मठ के बड़े बड़े सूफियों में कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी, फरीदुदीन गंजशकर, निज़ामुद्दीन औलिया इत्यादि थे। सुहरवर्दी-संप्रदाय वालों में जलालुद्दीन तब्रीज़ी,[6] क़ादिरयों मे जलालुद्दीन बुख़ारी,[7] बाबा फ़रीद पाकपटनी[8] थे। अब्दुल्करीम अल-

---

[1]आर्नल्ड—'प्रीचिंग अव् इस्लाम' भारत संबंधी अध्याय।

[2]निकाल्सन संपादित 'कश्फ़ुल् महजूब', भूमिका।

[3]आर्नल्ड, ऊपर वर्णित।

[4]निकाल्सन-संपादित फ़रीदुद्दीन अत्तार की तज़किरतुल औलिया।

[5]अब्दुल हक़ कृत 'अकबरुल अख़ियार' पृष्ठ २२।

[6]अब्दुल हक़ कृत 'अकबरुल अख़ियार' पृष्ठ ४३।

[7]अब्दुल हक़ कृत 'अकबरुल अख़ियार' पृष्ठ ६०।

[8]मैकालिफ कृत 'दि सिख रिलीजन जिल्द ३ पृष्ठ ३५६

जीली,[1] जिस ने सूफ़ी मत के धुरंधर पंडित इब्नल अरबी की पुस्तक की टीका लिखी है और इंसाने-कामिल की रचना की है, १३८८ में यहां आया। इसी सदी मे सैयद मुहम्मद गेसू दराज़[2] ने महाराष्ट्र मे इस्लाम फैलाया। पीर सद्रुद्दीन[3] ने खोजा जाति को जन्म दिया और सैयद युसुफ़ुद्दीन[4] ने मोमनों को। इन सूफ़ियों के अतिरिक्त बहुत से फ़क़ीर जो किसी संप्रदाय से संबंध नहीं रखते थे और जिन का मत और चलन नियमों से बँधा न था देश में रमते फिरते थे। सखी सरवर,[5] सतगुर पीर, और शाह मदार[6] के नाम इन में बहुत विख्यात हैं।

इन बातो की चर्चा से केवल यही अभिप्राय है कि बहुत लोगों का यह विचार है कि इस्लाम तलवार के ज़ोर से, मुसल्मान बादशाहों की शक्ति के सहारे से, इस देश में फैला। हमारा विचार है कि ऐसा नहीं हुआ। मुसल्मान बादशाहों में केवल तीन या चार ऐसे हुए जिन्हों ने धर्म के प्रचार का यत्न अपने राजनीतिक बल द्वारा किया। लेकिन तेरहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक पाँच सौ बरस के हिंदुस्तान के इतिहास में, सैकड़ों छोटे-बड़े सुल्तानों, बादशाहों और शाहंशाहों मे केवल तीन या चार के कारण हम यह नहीं कह सकते कि राजनीतिक बल द्वारा धर्म का प्रसार हुआ। फ़ीरोज़, सिकंदर, जैनुल आबिदीन, औरंगज़ेब, और टीपू सुल्तान के नामों के अतिरिक्त कोई ऐसा नाम कठिनता से मिलेगा जिस के लिये कहा जाय कि इस ने इस्लाम के फैलाने में राज्य की शक्ति का प्रयोग किया।

---

[1] निकॉल्सन—'स्टडीज़ इन इस्लामिक मिस्टिसिज़्म' पृष्ठ ८१।

[2] आर्नल्ड, ऊपर उद्धृत।

[3] बांबे गज़ेटियर, जिल्द ९, भाग २, पृष्ठ ४०।

[4] बांबे गज़ेटियर, जिल्द ९, भाग २, पृष्ठ २७।

[5] आर्नल्ड-कृत 'दि सेंट्स एंड मार्टर्स अव् इंडिया'।

[6] आर्नल्ड-कृत 'दि सेंट्स एंड मार्टर्स अव् इंडिया'

यह अवश्य मानना पड़ेगा कि अधिकारों के लालच, पदों और उपाधियों के प्रलोभन से बहुत से हिंदुओं ने अपना मत बदला। राजकीय शक्ति की खुशामद कमज़ोर आदमियों से बहुत कुछ करा लेती है परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार का धर्म परिवर्तन तलवार के भय द्वारा हुआ।

सच तो यह है कि इस्लाम का प्रभाव तेरहवीं सदी तक दक्खिन मे बिना किसी अनुचित राजकीय दबाव के मड़ा और उत्तर में बादशाहत स्थापित होने के पहिले से ही मुसल्मानों का आगमन हो चुका था। साम्राज्य के स्थापित होने के बाद इस्लामी सभ्यता का प्रचार न केवल अमीरों, मालिकों और सुल्तानों के कारण वरन् विशेषतया धर्म के संबंध में फ़क़ीरों, दरवेशों और सूफियों द्वारा हुआ। यह भी बात याद रखने योग्य है कि सूफ़ी और फ़कीर, इस्लाम के प्रचारक होते हुए भी राज्य के अंधे भक्त नहीं थे। राज्य के धर्म-विभाग के क़ाज़ी और मुफ़्तियों से इन दरवेशों की सदा अनबन रहती थी। ठीक भी है। क़ाज़ी कट्टर कानून के पाबन्द, दरवेश ईश्वर की भक्ति में मस्त। कानून के बंधन में बँधे हुए लोगों में और प्रेम के मतवालों में कैसे सहानुभूति हो सकती थी? मुसल्मानी राज्यों के इतिहास के पृष्ठ इन झगड़ों से भरे पड़े हैं।

दरवेश राज्य के अंध भक्त नहीं हुआ करते थे लेकिन नीति निपुण बादशाह इनसे बहुत से काम लिया करते थे। यह बादशाह को परामर्श देते, दूत का काम करते और शहज़ादों, सूबेदारों और अमीरों के झगड़े निबटाते थे। निर्बल प्रजा इन्हे अपना सहायक, दुख-दर्द का साथी और शाही अन्याय से रक्षा करने वाला समझती थी।

यह घटनायें इस बात का संकेत करती हैं कि बहुत से सूफी फ़कीर ऊँचे और उदार चरित के सज्जन होते थे। इन में से कितने ही ऐसे थे जिन्हों ने घर-बार, दौलत, इमारत को लात मार दुनिया से मुँह मोड़ा था और ईश्वर की चाह में संसार को त्याग कर जप तप ध्यान में मन को निमग्न कर दिया था। ऐसे फ़क़ीरों की आत्मायें बलवान थीं। उन्हें किसी का भय न था, उन का हृदय भक्ति और प्रेम के भावों से भरा था ' वह इस्लामी एकता और बराबरी के मतव्यों के समर्थक थे इसी लिये अछूतों, पतितों, दरिद्रों, समाज, राज और

पंडितों के पदाघात से सताए हुए दीनों को उनके शब्द ईश्वरीय उनके कर्म चमत्कारी और उन के जीवन अलौकिक जान पड़ते थे। दीन दुखी ही नहीं अमीर राजा और पुरोहित भी कभी कभी इन की आत्मा के ओज से चकित हो जाते थे और उन की ओर खिच आते थे और ऐसे प्रभावित होते थे कि अपने पुराने आचार-विचारों को छोड़ इन के विश्वासों को और पंथों को अपना लेते थे।*

---

* हिंदुस्तानी एकेडेमी की अवधारणा में पठित एक व्याख्यान का अंश।
—सं० हिं०

मीराँबाई

[लेखक—श्रीयुत् परशुराम चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

[१]

मीराँबाई के भजन गुजरात से लेकर विहार तथा मध्य प्रदेश से पंजाब पर्यंत प्रायः सब कहीं बड़े प्रेम के साथ गाए जाते हैं और जिस प्रकार मैथिल-कोकिल विद्यापति को उनके पदों के कारण हिंदी तथा बंगला भाषा-भाषी दोनों एक समान ही सम्मानित किया करते हैं उसी प्रकार मीराँबाई की भी गणना हिंदी तथा गुजराती के श्रेष्ठ भक्त कवियों में की जाती है। परंतु सब कुछ होते हुए भी, अनेक अन्य प्रसिद्ध कवियों की भाँति, मीराँबाई का समय निश्चित करने में भी बहुत कुछ मतभेद है। यहां तक कि एक दल यदि उनका जन्म-समय सन् १४०३ ई० में ठहराता है तो दूसरा उसी घटना को सन् १५१६ ई० तक ले जाता है। स्वयं मीराँ ने अपने सांसारिक जीवन के विषय में कुछ नहीं कहा है। हाँ, उनके 'नरसीजी का मायरा' नामक ग्रंथ में केवल इतना प्रसंग आया है—

> क्षत्री बंस जनम मम जानो।
> नगर मेड़तै वासी॥
> नरसी को जस बरन सुणाऊँ।
> नाना विधि इतिहासी॥१॥

और,

> को मंडल को देस बखानूं।
> संतन के जस वारी॥
> को नरसी सो भयो कौन विध।
> कहो महिराज कुंवारी॥२॥

ह्वै प्रसन्न मीराँ तब भाख्यो।
सुन सखि मिथुला नामा॥
नरसी की विध गाय सुनाऊँ।
सारे सब ही कामा॥३॥

और इतने मात्र से केवल यही विदित होता है कि मीराँबाई मेड़ता नगर निवासी किसी क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुई थीं तथा 'महिराज कुँवारी' पद से यह भी अनुमान हो सकता है कि उपरोक्त क्षत्रिय कुल कोई राजकुल अवश्य रहा होगा। किंतु न तो इससे मीराँ के समय का पता चलता है और न यही ज्ञात हो पाता है कि उनके वंश वाले कौन थे और उनका विवाह कहां और किस से हुआ था।

राजस्थान के इतिहासज्ञ कर्नल टाड ने जन श्रुतियों के आधार पर और विशेष कर राणा कुंभकर्ण के शिवालय के पास 'मीराँबाई का मंदिर' देख कर तथा, साथ ही कदाचित् राणा कुंभ की साहित्यिक योग्यता और मीराँ की काव्य शक्ति में कुछ साम्य की कल्पना करके यह लिखा है कि—

"अपने पिता की गद्दी पर सन् १४९१ ई० में बैठने वाले राणा कुंभ ने मारवाड़ के मेड़ता वंश की कन्या मीराँबाई से विवाह किया था जो अपने समय में सुंदरता तथा सच्चरित्रता के लिये बहुत प्रसिद्ध थीं और जिनके रचे हुए अनेक प्रशंसनीय गीत अभी तक सुरक्षित हैं। हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि मीराँ को यह काव्य-कौशल अपने पति से प्राप्त हुआ था।"[1]

कर्नल टाड की इस सम्मति के प्रभाव में आकर बहुत से लेखकों और विशेष कर गुजराती साहित्य के इतिहासज्ञों ने मीराँबाई का समय ईसा की १५वीं शताब्दी में निर्धारित किया। प्रसिद्ध गुजराती विद्वान् स्वर्गीय गोवर्द्धनराय माधवराय त्रिपाठी ने इस मत का समर्थन किया है[2] और कृष्णलाल मोहनलाल झावेरी ने इस विषय पर विचार करते हुए मीराँबाई के जन्म तथा मरण का भी

---

[1] कर्नल टाड लिखित 'ऐनल्स अव् राजस्थान।'

[2] जी० एम्० त्रिपाठी लिखित 'क्लासिकल पोएट्स अव् गुजरात' पृष्ठ १९

समय निश्चित कर लिया है। झावेरी महोदय के मत से मीराँबाई के समय के विषय में मतभेद होते हुए भी सन् १४०३ ई० के आसपास का समय (उसके जन्म के लिये) साधारणतया निश्चित है और मीराँ का ६७ वर्षों तक जीवित रहना तथा सन् १४७० ई० में मर जाना बतलाया जाता है।[१] इसी प्रकार हिंदी साहित्य के सर्व प्रथम इतिहासकार स्वर्गीय ठाकुर शिवसिंह ने भी अपने 'सरोज' में मीराँबाई का हाल 'चित्तौर के प्राचीन प्रबंध' को देखकर लिखा है और वे भी कहते हैं—"मीराँबाई का विवाह संवत् १४७० (अर्थात् सन् १४१३ ई०) के क़रीब राना मोकलदेव के पुत्र राना कुंभकर्णसी चित्तौर नरेश के साथ हुआ था।"[२]

अतएव उपरोक्त मतानुसार मीराँबाई के आविर्भाव का काल ईसा की १५वीं शताब्दी से आगे बढ़ता हुआ नहीं दीखता। परंतु जैसा ऊपर कहा गया है, कर्नल टाड की सम्मति अधिकतर अनुमान अथवा जनश्रुतियों पर ही अवलंबित है। राणा कुंभ की विद्वत्ता के कारण उनकी स्त्री का भी विदुषी होना आवश्यक नहीं और न 'मीराँबाई का मंदिर' नाम पड़ने के कारण कोई मंदिर (जिसे बाद को मीराँबाई के नित्यशः उसमें कीर्त्तन आदि करने के कारण भी ऐसा नाम दिया जा सकता है) मीराँबाई ही द्वारा निर्माण किया हुआ कहा जायगा। वास्तव में यह "महाराणा कुंभा का निर्माण कराया हुआ विष्णु के वाराह अवतार का कुंभस्वामी (कुंभश्याम) नामक भव्य मंदिर है जिसको भ्रम से 'मीराँबाई का मंदिर' कहते हैं"।[३] फिर 'नरसी जी का प्रसिद्ध मायरा' मीराँबाई की ही रचना कही जाती है और झावेरी महाशय के ही मतानुसार नरसी मेहता का समय सन् १४१५ ई० से सन् १४८१ ई० तक

---

[१] के० एम्० झावेरी लिखित 'माइल्स्टोन्स इन गुजराती लिट्रेचर।' पृष्ठ २०।

[२] ठाकुर शिवसिंह सेंगर कृत "शिवसिंह सरोज" (सन् १९२६ ई० का संस्करण) पृष्ठ ४७५।

[३] रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा कृत "राजपूताने का इतिहास" पहला खंड) पृष्ठ ३५५

निश्चित है; ऐसी दशा में मायरे के अंतर्गत अपने समय के प्रमुख भक्त नरसी मेहता के विषय में—

'को नरसी सो भयो कोन विध। कहो महिराज कुँवारी' ॥

के समान प्रश्नों का उठना अस्वाभाविक सा जान पड़ता है। इसके सिवाय "मीराँबाई मेड़तणी कहलाती हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि वे मेड़ता के राजकुल की कन्या थीं। मेड़ता का अधिकार जोधपुर के राव जोधाजी के चतुर्थ पुत्र दूदाजी ने मुसलमानों को परास्त कर वि० सं० १५१८ (सन् १४६१ ई०) में प्राप्त किया। राव दूदाजी के ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेवजी का जन्म वि० सं० १५३४ (सन् १४७७ ई०) में हुआ। मीराँबाई वीरमदेवजी के कनिष्ठ भ्राता रत्नसिंह की पुत्री थीं। महाराणा कुंभाजी का वि० सं० १५२५ (सन् १४६८ ई०) में देहांत हो गया था। महाराणा कुंभाजी के देहांत के नौ बरस बाद मीराँबाई के पिता के बड़े भाई वीरमदेवजी का जन्म हुआ। अतः मीराँबाई का महाराणा कुंभाजी की राणी होना सर्वथा असंभव है"।[1]

जोधपुर के स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ ने १५वीं शताब्दीवाले मत की विद्वत्ता-पूर्ण आलोचना करके मेवाड़, मारवाड़ और मेड़ते की तवारीखों के आधार पर यह निश्चय किया है कि मीराँबाई "मेड़तिया राठौड़ रतनसिंहजी की बेटी मेड़ते के राव दूदाजी की पोती और जोधपुर के बसानेवाले राव जोधा जी की पड़पोती थीं। इनका जन्म गाँव चोकड़ी में हुआ था जो इनके पिता की जागीर में था। ये संवत् १५७३ (सन् १५१६ ई०) में मेवाड़ के मशहूर महाराणा साँगाजी के कुँवर भोजराज को व्याही गई थी[2]"। मुंशीजी के इस निश्चय को मान लेने में इधर के किसी लेखक ने आपत्ति नहीं की है; केवल मिश्रबंधुओं ने, न जाने किस प्रमाण का आश्रय लेकर, संवत् १५७३ को मीराँबाई का जन्म-

---

[1]ठाकुर गोपालसिंह राठौर मेड़तिया का "मीराँबाई" नामक लेख, "सुधा" वर्ष १ (खंड २) पृष्ठ १७२

[2]मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ द्वारा संपादित, "महिला मृदु-वाणी", पृष्ठ ५९

समय बतलाया है[1]। मुंशी देवीप्रसाद ने मीराँबाई का मृत्यु-समय संवत् १६०३ (सन् १५४६ ई०) माना है, किंतु 'बेलवेडियर प्रेस' द्वारा प्रकाशित 'मीराँबाई की शब्दावली' के संपादक ने इस मन्तव्य को 'एक भाट की जुबानी' स्थिर किया हुआ कहकर 'भक्तमाल' में दिये हुए मीराँबाई के साथ अकबर बादशाह व तानसेन की भेँट तथा गोस्वामी तुलसीदास के पत्र व्यवहार से संबंध रखने वाले प्रसंगों के कारण लिखा है कि "हमको भारतेंदु श्री हरिश्चंद्रजी स्वर्गवासी का अनुमान कि मीराँबाई ने संवत् १६२० और १६३० विक्रमी (अर्थात् सन् १५६३ और १५७३ ई०) के दर्म्यान शरीर त्याग किया ठीक जान पड़ता है जैसा कि उन्होंने उदयपुर दर्बार की सम्मति से निर्णय किया था और 'कविबचन सुधा' की एक प्रति में छापा था।[2]" मुंशी देवीप्रसाद ने मीराँबाई के जन्म का कोई समय निर्धारित नहीं किया था अतएव उपरोक्त संपादक महाशय ने इस काल को संवत् १५५५ व १५६० (अर्थात् सन् १४९८ व १५०३ ई०) के बीच माना है परंतु संपादक महाशय द्वारा माने हुए मृत्यु तथा जन्म-संबंधी उपरोक्त समयों के विषय में भी आपत्ति का किया जाना संभव है। कहा जाता है कि मीराँबाई ने अपनी सुसराल में अपने भक्ति भाव के कारण, छेड़े जाने पर ही घबड़ाकर गोस्वामी तुलसीदासजी से पत्र-व्यवहार किया था और मीराँबाई को इस प्रकार के कष्ट, संपादक महाशय के भी अनुसार, उनके देवर महाराणा विक्रमाजीत ने दिए थे। महाराणा विक्रमाजीतसिंह अपने बड़े भाई महाराणा रत्नसिंह के मरने पर सन् १५३१ ई० में राजगद्दी पर बैठे। फिर कुछ वर्षों तक राज्य करने के उपरांत ही बनवीर ने उन्हें मार कर राजगद्दी छीन ली और अंत में सन् १५४० ई० में वह महाराणा उदयसिंह द्वारा स्वयं परास्त हुआ। महाराणा उदयसिंह के समय में मीराँबाई के किसी प्रकार के कष्ट पाने का पता नहीं चलता। इधर गोस्वामी तुलसीदासजी का जन्म सन् १५३२ ई० में माना जाता है और इस हिसाब से गोस्वामीजी की अवस्था सन् १५४० ई०

---

[1] मिश्रबंधु रचित 'मिश्रबंधु विनोद', प्रथम भाग, (सं० १९८३), पृष्ठ २६२।

[2] मीराँबाई की शब्दावली, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृष्ठ १

तक भी केवल आठ वर्ष की ही ठहरती है। इसके सिवाय गोस्वामी तुलसीदास जी की विशेष प्रसिद्धि उनकी मानस-रचना के समय अर्थात् सन् १५७४ ई० के उपरांत ही हुई थी और ऐसी दशा में उन दिनों सुदूर चित्तौड़ निवासिनी मीराँ-बाई के साथ उनका पत्र-व्यवहार सन् १५७४ ई० के प्रथम का होना कुछ जँचता नहीं। इसी प्रकार सन् १५७३ ई० तक का समय भी ऐसा है जब तक अकबर बादशाह की अवस्था, उसके सन् १५४२ ई० में उत्पन्न होने के कारण, केवल ३१ वर्ष की थी और तब तक कदाचित् उस से और तानसेन से आपस में भेँट तक भी न हो पाई थी। ऐसी दशा में इन दोनों का एक साथ मीराँ का दर्शन करने के लिये १५७३ ई० के पहले जाना ठीक नहीं जान पड़ता है। संभव है कि मीराँबाई की मृत्यु सन् १५४६ ई० के कुछ अनंतर ही हुई हो किंतु उसे निश्चित करने के लिये अकबर व तानसेन वाली भेँट तथा गोस्वामी तुलसीदास के पत्र व्यवहार की कथा मात्र के अनुमान पर्य्याप्त नहीं। मीराँबाई का जन्म-समय भी इसी भाँति उनके पिता रत्नसिंह की अवस्था का अनुमान करते हुए सन् १५०० ई० के अनंतर का ही कहा जाना चाहिए। मद्रास के जी० ए० नटेसन कंपनी द्वारा प्रकाशित "वल्लभाचार्य" नामक छोटी सी पुस्तक के लेखक ने मीराँ-बाई का जन्म-समय सन् १५०४ ई०, विवाह समय सन् १५१६ ई० तथा मृत्यु-समय सन् १५५० ई० बतलाया है[1] और यह निश्चय, उपरोक्त सब बातों पर विचार करते हुए बहुत उचित जान पड़ता है।

मीराँबाई की जीवन-यात्रा अधिकतर कष्टमय ही रही। कहा जाता है कि इनकी माता इन्हें छोटी सी अवस्था में ही छोड़कर परलोक सिधारीं और यद्यपि इनके पिता जीवित थे तथापि इनके पितामह राव दूदाजी ने स्नेह-वश इन्हें चोकड़ी से बुलाकर अपने पास रक्खा। मीराँबाई अपने पिता रत्नसिंह की इकलौती संतान थीं। किंतु विविध लड़ाइयों में बहुधा भाग लेते रहने के कारण उन्हें भली-भाँति मीराँ का पालन-पोषण करने का पूर्ण अवकाश भी नहीं था। राव

---

[1] वल्लभाचार्य—'ए स्केच अव् हिज़ लाइफ़ ऐंड टीचिंग्ज़' (जी० ए० नटेसन कंपनी, मद्रास पृष्ठ २४

दूदाजी का सन् १५१५ ई० में देहांत हो जाने पर, इसी कारण, मीराँबाई की देख भाल उनके ज्येष्ठ पुत्र राव वीरमदेवजी करने लगे। राव वीरमदेवजी अपने पिता के मरने पर मेड़ते की गद्दी पर बैठे थे और उन्हीं के प्रयत्नों का फल-स्वरूप मीराँबाई का विवाह सन् १५१६ ई० में चित्तौड़ के महाराणा साँगाजी के ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार भोजराजजी के साथ हुआ। राजकुमार भोजराजजी अपने पिता के जीवन-काल में ही परलोक सिधारे और कुछ ही दिनों के उपरांत सन् १५२७ ई० मे मीराँबाई के पिता रत्नसिंह तथा उनके ससुर महाराणा साँगाजी की भी मृत्यु हो गई। इस प्रकार अपनी तेईस वर्ष की अवस्था के भीतर ही अपनी माता, पितामह, पति, पिता तथा ससुर के स्वर्गवासी हो जाने के कारण मीराँबाई के हृदय मे विरक्ति का भाव क्रमशः जाग्रत होता गया और साथ ही अपने पितामह परम वैष्णव राव दूदाजी के संसर्ग द्वारा आरोपित भक्ति-भाव का बीज धीरे धीरे अंकुरित, पल्लवित तथा विवर्धित होता हुआ दिन दिन जड़ पकड़ता गया। मीराँबाई अपने इष्टदेव श्री गिरिधर लाल के अर्चन, आराधन एवं भजन में ही पहले अपना समय बिताती रहीं, किंतु समयानुसार पीछे संतों का समागम भी होने लगा। इनके ससुर महाराणा साँगाजी के मरणोपरांत इनके देवर महाराणा रत्नसिंह, विक्रमाजीत सिंह और उदयसिंह एक के पीछे एक अपने पिता की गद्दी पर बैठे और विक्रमाजीत तथा उदयसिंह के बीच कुछ दिनों तक महाराणा रायमलजी के राजकुमार पृथ्वीराजजी का अनौरस पुत्र बनवीर भी राजा बना रहा, किंतु इनकी ड्योढ़ी पर साधु संतों की बढ़ती हुई भीड़ देख कर महाराणा रत्नसिंह तथा विक्रमाजीत सिंह ही अधिकतर चिढ़ते रहे। इन दोनों ने मीराँबाई को भगवद्भक्ति के आवेश मे आकर, अपनी कुल परंपरा के प्रतिकूल, महल छोड़कर मंदिरों में जाने, वहां पर भजन गा-गाकर नृत्य करने तथा साधुओं के साथ सत्संग करने एवं उत्सव मनाने से रोकने की अनेक बार चेष्टा की, किंतु सदा वे विफल रहे। महाराणा विक्रमाजीतसिंह ने तो क्रोध में आकर यहां तक निश्चय कर लिया था कि हम मीराँबाई को किसी न किसी प्रकार जान से मार डालें और इसीलिये एक बार उन्होंने अपने दीवान की सलाह से इनके पास ठाकुरजी के के बहाने किसी दयाराम पंडा के द्वारा विष का

प्याला तक भेज दिया था, परंतु मीराँबाई ने उसे हरि का नाम लेकर पी लिया, और, कहा जाता है कि, उन्हें कुछ भी नहीं हुआ। इसी प्रकार उनके यहां साँप की पिटारी भेजने तथा उसके खोलने पर भीतर से हार के निकलने की भी कथा प्रचलित है।

जो हो, मीराँबाई के कष्टों का वृत्तांत सुनकर उनके चचा राव वीरमदेव-जी को अत्यंत दुःख हुआ और उन्होंने इन्हें मेड़ते बुलाकर अपने यहां रखना चाहा। परंतु कुछ ही दिनों के अनंतर मीराँबाई का मेड़ते में भी रहना कठिन हो गया। जोधपुर के राव मालदेवजी ने सन् १५३८ ई० में राव वीरमदेवजी से मेड़ता छीन लिया और उधर इसके कुछ ही पहले विक्रमाजीतसिंह को मार कर बनवीर चित्तौड़ की राजगद्दी पर बैठ चुका था। मैके व सुसराल की इन दोनों विपत्तियों ने मीराँबाई के विरक्ति-भाव को और भी दृढ़ बना दिया और इसके उपरांत उन्होंने अपनी जीवन-यात्रा तीर्थाटन करके व्यतीत करने की ठान ली। मेड़ते से घूमती-फिरती वह मथुरा तथा वृंदाबन पहुँचीं और इन दोनो तीर्थ-स्थानों पर कुछ समय बिता चुकने के अनंतर वे अंत में द्वारका धाम चली गईं। द्वारकाजी में इनका विचार अपनी मृत्यु के दिन तक रहने का निश्चित हो गया और वहीं रणछोड़जी के मंदिर में नित्यशः भजन-कीर्त्तन करने लगीं। इधर सन् १५४० ई० में महाराणा विक्रमाजीत के छोटे भाई महाराणा उदयसिंह ने बनवीर को परास्त कर अपना राज्य वापस ले लिया और इसी प्रकार इसके तीन ही वर्षों के उपरांत राव वीरमदेवजी ने मेड़ते पर अपना अधिकार फिर से सन् १५४३ ई० में स्थापित कर लिया। राज्यों के पुनरुद्धार के उपलक्ष मे दोनों जगहों के राजाओं ने मीराँबाई को द्वारका धाम से फिर वापस बुला लाने की पूरी चेष्टा की और सन् १५४५ ई० में राव वीरमदेवजी के मरने के उपरांत उनके स्थान पर बैठने वाले उनके ज्येष्ठ पुत्र परम वैष्णव राव जयमल्लजी ने इसके लिये कुछ भी नहीं उठा रक्खा किंतु मीराँबाई अपने निश्चय पर अटल रहीं और अंत में वहीं शरीर त्याग कर परम धाम सिधारीं। मीराँबाई की मृत्यु संभवतः सन् १५५० ई० में हुई थी।

मीराँबाई ने अपने पितामह राव दूदाजी के साथ रहकर अपनी बाल्या

वस्था में ही अच्छी शिक्षा पा ली थी और बाद में समयानुसार उन्हें काव्यकला तथा संगीत कला में अभ्यास करने का भी अवसर मिल गया। चित्तौड़ का राजवंश संगीतशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् तथा साहित्यज्ञ महाराणा कुंभा के कारण विख्यात हो चुका था। इस कारण अपनी सुसराल में भी उन्हें अपनी योग्यता के विकास के लिये अच्छा वातावरण प्राप्त हो गया था। उनके पति कुँवर भोजराज ने अपने जीवन काल में इनके उत्साह में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाई और उनके मरणोपरांत युवावस्था के कठोर वैधव्य सहन करने में उन्हें इन बातों से सहायता मिलने लगी। एक उच्च कुल की योग्य रमणी की भगवद्भक्ति की ख्याति क्रमशः दूर दूर तक फैलती गई और मीराँबाई के तीर्थाटन तथा द्वारका-निवास के समय तक उनके दर्शनों के लिये बहुत से लोग आने लगे। भारत के प्रसिद्ध प्रसिद्ध भक्तों में मीराँबाई की गणना होने लगी और उनकी मृत्यु के कदाचित् पचास साठ वर्ष भी न होने पाये होंगे कि उनका नाम भक्त कवि व्यासजी की 'बानी' तथा नाभादासजी के 'भक्तमाल' सदृश ग्रंथों में बड़े गौरव के साथ लिया जाने लगा। इनके प्रेम की महिमा में नाभादासजी ने लिखा है—

सदरिस गोपिन प्रेम प्रगट कलिजुगहिं दिखायो।
निर अंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो॥
दुष्टन दोष विचारि मृत्यु को उद्यम कीयो।
बार न बाँको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो॥
भक्ति निसान बजाय के काहू ते नाहीं लजी।
लोँक लाज कुल शृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी॥

इसी प्रकार इसके कुछ ही वर्षों के अनंतर इनके विषय में ध्रुवदासजी ने भी अपनी प्रसिद्ध 'भक्तनामावली' में लिखा है—

लाज छाँड़ि गिरिधर भजी करी न कछु कुलकानि।
सोई मीरा जग विदित प्रगट भक्ति की खानि॥
ललिता हू लइ बोलि कै तासों हो अति हेत।
आनंद सों निरखत फिरैं वृंदावन रस खेत॥

नृत्यत नूपुर बाँधि कै नाचत लै करतार।
बिमल हियौ भक्तनि मिली तृन सम गन्यो सँसार॥
बंधुनि विष ताकों दियौ करि विचार चित आन।
सो विष फिरि अमृत भयौ तब लागे पछितान॥

और इसके उपरांत लिखे जानेवाले ऐसे ग्रंथों में तो इनका नाम शायद ही छूटा हो।

[२]

मीराँबाई द्वारा लिखे हुए कई ग्रंथ सुनने में आते हैं किंतु उनमे से कोई प्रकाशित हुआ नहीं दीखता। मुंशी देवी प्रसादजी ने उनके लिखे हुए ग्रंथों में से 'नरसीजी का मायरा', 'गीतगोविंद की टीका' तथा 'रागगोविंद' नामक तीन को माना है, किंतु वे भी लिखते हैं कि मेरे देखने मे केवल 'नरसीजी का मायरा' ही आया है। इन उपरोक्त तीन ग्रंथों को प्रायः सभी लेखक मीराँ-बाई की रचना मानते हैं। और इनके सिवाय मिश्रबंधुओं ने मीराँ-निर्मित 'सोरठ के पदों' की भी चर्चा की है तथा रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने लिखा है कि "उसका बनाया हुआ 'मीराँबाई का मलार' नामक राग अब तक प्रचलित है"[१]। इसी प्रकार झावेरी महाशय ने मीराँबाई के बनाये हुए बहुत से मधुर 'गर्बा'[२] नामक गीतों का भी उल्लेख किया है। अतएव स्पष्ट है कि आज तक मीराँबाई के सभी ग्रंथों का प्रकाशन नहीं हुआ और न उनकी अनेक रचनाओं को लिपिबद्ध तक करने की कोई पूरी चेष्टा की गई। छोटे-मोटे बाज़ारू संग्रहों में दिये गए कतिपय भजनों को छोड़कर जो सबसे अच्छा संग्रह आज तक इधर देखने में आया है वह प्रयाग के 'बेलवेडियर प्रेस', द्वारा प्रकाशित 'मीराबाई की शब्दावली' है। इसमें 'चेतावनी का अंग' में ४, 'उपदेश का अंग' में २, 'विरह व प्रेम का अंग' में ७३, 'विनती और प्रार्थना

---

[१]रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा रचित 'राजपूताने का इतिहास' प्रथम खंड पृष्ठ ३१।

[२]गर्बा एक प्रकार के गीत होते हैं जिन्हें विशेषकर गुजराती स्त्रियाँ गाती हैं

का अंग' में १५, 'मीराबाई व कुटुंबियों की कहा सुनी' मे ६, 'रागहोली' में ८, 'रागसावन' में १०, 'रागसोरठ' में ११, तथा 'मिश्रित अंग' में ३८ पद दिये गए है। अंग नामक ये विभाग कदाचित् संपादक महाशय ने अपने यहाँ से प्रकाशित 'संतबानी पुस्तक माला' की अन्य पुस्तकों में दिये गए ढंग पर ही किए हों। 'शब्दावली' में कुल मिलाकर, इस प्रकार, १६७ पद होते हैं जिनमे से 'विरह और प्रेम का अंग' वाले १२वें तथा ५६वें व ७१वें पद क्रमशः 'मिश्रित अंग' वाले ११वें तथा १४वें व ७४वें पदों से एक दम मिलते-जुलते हैं और 'विरह और प्रेम का अंग' वाले ६वें तथा ४२वें पद तो मानो एक ही है। इसके सिवाय अन्य कई पदों मे भी बहुत सी पंक्तियाँ दूसरे पद वाली पंक्तियों के समान जान पड़ती हैं। इन उपरोक्त द्विरुक्तियों के साथ ही इस संग्रह में एक बात यह भी खटकती है कि संपादक महाशय ने कदाचित् इसमे ऐसे अनेक पद रक्खे हैं जिनका मीराँबाई रचित होना सिद्ध नहीं हो सकता। मीराँबाई के पदों की भी कबीर के पदों की भाँति ही बड़ी दुर्दशा हो गई है और, जान पड़ता है, जिस जिस ने उन्हे गाया है उस उस ने उन्हें अपने रंग में ही रँगने की चेष्टा की है और साथ ही अपने अपने विचारानुसार मीराँ के भजनों के ढर्रे पर स्वरचित कितने ही ऐसे पद प्रचलित कर दिए हैं जो बिना प्रयत्न-पूर्वक देखभाल किए मीराँ-रचित ही जान पड़ते हैं। संपादक महाशय ने अपने संग्रह में तीन चार ऐसे पद दिए हैं जिनमें रैदास को मीराँ द्वारा गुरु मान लेना लिखा हुआ है, किंतु मीराँ का जीवनचरित्र लिखते समय उन्होंने इस बात के प्रमाणित करने की कोई चेष्टा नहीं की है कि रैदासजी मीराँबाई के वास्तव में गुरु थे। इसलिये जब तक ऐतिहासिक रूप से यह पता न चल जाय कि रैदासजी से मीराँबाई का कभी सत्संग हुआ था तब तक ऐसे पदों को मीराँ-रचित मान लेना आपत्ति जनक ही कहलायेगा। संपादक महाशय ने कदाचित् इसी भ्रम के कारण अन्य बहुत से ऐसे पद भी दे दिए हैं जिनमें यद्यपि रैदासजी का नाम नहीं आता तथापि वे वास्तव में संतमत वाले किन्हीं साधुओं की ही कृतियाँ हैं। मीराँबाई से उनसे कुछ भी संबंध नहीं। मीराँबाई के रैदास आदि की भाँति सत होने का हमारे पास कोई प्रमाण

नहीं। मीराँबाई के इष्टदेव श्री गिरिधर नामधारी कृष्ण भगवान् थे और वे सगुण की ही उपासना करती थी। ईश्वर तथा संसार के संबंध में प्रकट किये गए उनके विचारों का परिचय आगे देंगे। मुंशी देवीप्रसादजी ने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित अपने 'महिला मृदुवाणी' नामक ग्रंथ में मीराँ-बाई के केवल २५ भजनों का ही एक छोटा सा संग्रह दिया है और लिखा है कि "हमने भजनों के प्राचीन संग्रह दरबार जोधपुर के पुस्तक प्रकाश से मँगाए और अन्य विद्वानों के पुस्तकालय भी देखे तो उनमें लिखे हुए मीराँबाई के पदों में से जो यथार्थ पद उनके बनाये हुए हमको जान पड़े वे हम यहाँ ······ लिखते हैं"।[१] इन पदों में से केवल १५ पद ऐसे हैं जो उपरोक्त 'शब्दावली' में आए हैं। इस संग्रह के शेष १० पद नवीन हैं और वे 'शब्दावली' के अंतर्गत नहीं आ पाए हैं।

सामग्री के अपूर्ण रह जाने के कारण मीराँबाई के तात्विक सिद्धांत का पता लगाना बहुत कठिन है, परंतु प्रस्तुत असली पदों पर विचार करने से जान पड़ता है कि मीराँबाई के दार्शनिक विचारों की बानगी उनके निम्नलिखित पद में मिल सकती है—

भजि मन चरण कमल अविनासी॥ टेक॥
जे ताइ दीसे धरनि गगन बिच।
ते ताइ सब उठ जासी॥ १॥
कहा भयो तीरथ व्रत कीने।
कहा लिए करवत कासी॥
इस देही का गरब न करना।
माटी में मिलि जासी॥ २॥
या संसार चहर की बाजी।
साँझ पड्याँ उठ जासी॥ ३॥

---

[१]मुंशी देवीप्रसाद द्वारा संपादित 'महिला मृदुवाणी' पृष्ठ ६३।

कहा भयो है भगवा पहर्‌याँ ।
घर तज भये सन्यासी ॥
जोगी होय जुगति नहि जानी ।
उलट जनम फिर आसी ॥ ४ ॥
अरज करौं अबला कर जोरें ।
स्याम तुम्हारी दासी ॥
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर ।
काटो जम की फाँसी ॥ ५ ॥

मीराँबाई ने इस पद द्वारा अपने इष्टदेव "प्रभु गिरिधर नागर" को 'अविनासी' तथा उसके सामने संपूर्ण दृश्यमान संसार को उठ जाने वाला अथवा अनित्य ठहराया है। 'संसार' वास्तव में असार है क्योंकि जिस शरीर को पाकर हमें अभिमान होता है वह भी अंत को 'माटी' में ही मिल जाने वाला है और योगी भी अपनी साधना के निष्फल होने पर 'उलट' अर्थात् लौट कर पुनर्जन्म धारण करते हैं। संसारी मनुष्य अपने जीवन-काल मे भ्रम-वश निश्चिंत पड़े रहते हैं। और यह नहीं समझते कि उनका सारा व्यवहार अथवा बिहार 'चहर की बाजी' अर्थात् चिड़ियों के खेल के समान है जो संध्या का समय आते ही, चिड़ियों के बसेरा पर चले जाने के कारण, बंद हो जाया करता है। इस नाशमान् जगत् के आवागमन से मुक्ति पाने के लिये मीराँ के विचार में तीर्थ व्रत करना, काशी 'करवत' लेना अथवा भगवा पहन कर अपना घर-बार छोड़ संन्यासी हो जाना मात्र बेकार है। इसका उपाय केवल यही है कि अपनी निर्बलता व असहायता पर ध्यान देते हुए एक दास की भाँति भगवान के प्रति आत्मसमर्पण कर दे और उनके चरण-कमलों का भजन करे। 'जम की फाँसी' अथवा पुनर्जन्म व कर्म-बंधन को, प्रसन्न होने पर भगवान् ही काट सकते हैं। इसी भगवान् को मीराँबाई ने 'प्रभु' 'गिरिधर नागर' 'हरि', 'श्याम' 'गोपाल', 'नंदलाल', 'राम' तथा 'स्वामी', आदि कई नामों से पुकारा है। यही मीराँ के सर्वस्व गिरिधर गोपाल हैं जिनके सिवाय संसार में उनका 'दूसरा न कोई' है। इनके सामने 'तात, मात, भ्रात, बंधु' तक भी अपने नहीं और इन्हीं के लिये मीरा ने कुल की

'कानि' छोड़ दी और संतों के पास बैठ बैठ कर लोक लज्जा तक को तिलांजलि दे दिया। वास्तव में इन इष्टदेव का रूप भी वैसा है। एक बार जहाँ दृष्टि पड़ी कि फिर लोक या परलोक कुछ भी नहीं सुहाता। इनके वर्णन में कहा है—

मोरन की चंद्रकला सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै॥
कुंडल की झलकन कपोलन पर छाई।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥
कुटिल भृकुटि तिलक भाल चितवनि मे टौना।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृग छौना॥
सुंदर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु भेष धरे रूप अति बिसेखा॥
अधर बिंब अरुन नैन मधुर मंद हाँसी।
दसन दमक दाडिम दुति चमके चपला सी॥
छुद्र घंट किंकिनी अनूप धुनि सोहाई।
गिरिधर के अंग अंग मीरा बलि जाई॥

ऐसे इष्टदेव से मीराँ का प्रेम हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। ऐसे "बड़े घर ताली" लगने अर्थात् परम पुरुष से लगन हो जाने के कारण ही मीराँ का चित्त जगत की कामनाओं से हट गया है। उनका मन छिछले तालाब या गढ़े के पानी अथवा गंगा यमुना तक में भी नहीं लग सकता अब ये समुद्र से ही जाकर मिल रही हैं। जब स्वयं 'दरबार' से ही बात करने की ठहर गई हो तो फिर हाली-मवाली अथवा अधिकारियों की सहायता की क्या आवश्यकता हो सकती है?

परंतु 'प्रेम भगति' का रास्ता विचित्र होता है। यह 'न्यारो' है और स्वयं प्रीति 'दुखड़ारीमूल' है। ऐसी दशा में भगवान से प्रेम का निर्वाह कर लेना और भी कठिन बात है। चारों तरफ़ से गली बंद रहती है और वहां तक पहुँचने की राह तक रपटीली है। पैर ही नहीं ठहरते, बड़े यत्नों के उपरांत सोच सोच कर रक्खे जाने पर भी छिगने लगते हैं बात यह है कि हृदय का मैल जब तक

न छूट जाय तब तक भक्ति अथवा प्रेम हो ही कैसे सकता है? काम चांडाल कुत्ते की भाँति लोभ की डोरी में हमें बाँधे रहता है, क्रोध कसाई की भाँति घट में निवास करता है तथा अभिमान एक ऐसे टीले की रचना कर देता है जिस पर प्रेमरूपी जल ठहरने ही नहीं पाता और अंतर्यामी से ही कपट करने की बान पड़ जाती है। हाँ, मीरा के विषय में यह बात नहीं है। यहां तो अनुराग पूर्व जन्म का है और दोनों दिल ऐसे मिल गए हैं जैसे सोना और सोहागा मिल जाते हैं अथवा जैसे चंद्रमा और चकोर एक दूसरे से बँधे रहते हैं। मीराँ का कहना है कि "जिस प्रकार एक अमली अर्थात् नशे वाले के लिये उसका अमल आधार हुआ करता है उसी प्रकार 'रमैया' मेरा प्राणाधार है। चाहे कोई निंदा करे अथवा स्तुति करे। मुझे सिवाय उसके कोई भी वस्तु पसंद नहीं। अब पक्का रंग चढ़ गया और यह अमल किसी प्रकार के उपाय से छूटने वाला नहीं। दूसरों के प्रियतम अथवा पति परदेशों में रहा करते हैं जहां उन्हें बहुधा पत्रादि भेजने की आवश्यकता पड़ा करती है, परंतु मेरा पति सदा मेरे हृदय मे ही निवास करता है और उसके साथ मैं दिन रात रहस्यमयी बातें किया करती हूँ। उसकी 'सूरत' मेरे मन मे है जिसका ध्यान नित्यशः करती हुई सर्वदा आनंद में मग्न रहा करती हूँ और प्रीति की खुमारी साँप के विष के समान चढ़ी रहती है। कभी कभी तो मेरी इच्छा ऐसी होती है कि—

मैं तो म्हाँरा रमैया ने, देख्यो करूँ री ॥ टेक ॥

तेरो ही उमरण तेरो ही सुमरण, तेरो ही ध्यान धरूँ री ॥१॥

जहाँ जहाँ पाँव धरूँ धरणी पर, तहाँ तहाँ निरत करूँ री ॥२॥

मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, चरणाँ लिपट परूँ री ॥३॥

अथवा,

गोहनें गुपाल फिरूँ। ऐसी आवत मन में ॥

अवलोकत बारिज बदन। बिबस भई तन में ॥१॥

मुरली कर लकुट लेऊँ। पीत बसन धारूँ ॥

काछी गोप भेष मुकुट। गोधन सँग चारूँ ॥२

हम भई गुल कामलता। वृंदावन रैनाँ॥
पसुपंछी मरकट मुनी। श्रवन सुनत बैनाँ॥३॥" इत्यादि।

अपने प्रियतम के पास पत्र लिखते समय की दशा के विषय में जो पद लिखा है वह बहुत ही उत्तम है। प्रेम-रस से ओतप्रोत प्रेमी की दशा बड़ी विचित्र है। लिखती हैं—

पतियाँ मैं कैसे लिखूँ, लिखीही न जाई॥ टेक॥
कलम धरत मेरो कर कँपत, हिरदो रह्यो धरराई॥१॥
बात कहूँ मोहि बात न आवै, नैन रहे झरराई॥२॥
किस बिध चरण कमल मै गहिहूँ, सबहि अंग थरराई॥३॥
मीराँ कहे प्रभु गिरिधर नागर, सबही दुख बिसराई॥४॥

वास्तव मे यह प्रेम की स्तब्धावस्था है, जब कि प्रेमी एकदम जड़वत मूक एवं निश्चल तक हो जाता है और लाख मानसिक प्रयत्न भी उसकी निष्क्रियता दूर नहीं कर पाते। मीराँ ने इसी प्रकार प्रेम की तन्मयावस्था के वर्णन में भी किसी ग्वालिन की दशा का परिचय दिया है—

कोई स्याम मनोहर ल्योरी। सिर धरै मटकिया डोलै॥
दधि को नाँव बिसर गई ग्वालन। हरि ल्यो हरि ल्यो बोलै॥१॥
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर। चेली भई बिन मोलै॥
कृष्ण रूप छकी है ग्वालनि। औरहि औरै बोलै॥२॥

मीराँबाई एक बड़े घराने की लड़की और उससे भी प्रतिष्ठित कुल की रमणी थीं, इस कारण, वंश-परंपरा के प्रतिकूल राह पकड़ना देख उनकी ओर लोग आश्चर्य की दृष्टि से देखने तथा उन्हे अनेक प्रकार से समझाने लगे थे। बार बार उनकी कुल मर्यादा के साथ साधु सुलभ जीवन की तुलना करते हुए वे उन्हे अपनी लोक-लज्जा की रक्षा करने का उपदेश देते तथा उन्हें भक्तिमार्ग से छुड़ाना चाहते। किंतु मीराँ का हठ अपूर्व था, एक बार निश्चय कर लेने पर वे सच्ची राजपूत बाला की भाँति अपने आदर्श का त्याग करने में असमर्थ थीं इस-लिये उन्हें अपने पदों मे अनेक बार अपनी दृढ़ता का प्रसंग लाना पड़ा है। 'मेरो गिरिधर गोपाल' वाले पद एव अन्य और पदों में उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि

जो होना हो होता रहे अब तो कोई बात छिपी नहीं। बट-बीज की भाँति चारों ओर फैल चुकी है। और लोग जान भी गए हैं। प्रीति करते समय यदि चाहती तो मैं हट भी सकती थी, किंतु अब बीच में आ चुकने पर सोच-विचार करने का कोई अवसर ही नहीं रह गया। अब कलाबाज़ नट की भाँति एक बार जहां चूके कि फिर कोई 'ठौर' नही मिल सकता। मानापमान दोनों को सिर से उतार कर पटक दिया और प्रकट रूप में नाचने लगी। अब तो—

मीराँ गिरिधर हाथ बिकानी। लोग कहैं बिगड़ी॥

इस लिये अपना निश्चय यह है कि—

भली कहो कोई बुरी कहो मैं। सम लई सीस चढ़ाय॥

मीराँ के प्रेम मे इसी प्रकार, आत्मसमर्पण का भाव भी विद्यमान है। इस विषय का नीचे लिखा पद गुजराती साहित्य में भी बहुत प्रसिद्ध है—

प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे,
मन लागी कटारी प्रेमनी रे॥ टेक॥
जल जमुना माँ भरवा गया ताँ,
हती गागर माथे हेमनी रे॥ १॥
काँचे ते ताँतणे हरिजी ये बाँधी,
जेम खेंचे तेम तेमनी रे॥ २॥
मीराँ को प्रभु गिरिधर नागर,
साँवली सुरत सुभ एमनी रे॥ ३॥

इस मे 'काँचे ते ताँतणे हरिजी ये बाँधी, जेम खेंचे तेम तेमनीरे' पंक्ति विशेष महत्त्व की है। प्रेम-पात्र ने प्रेमी को केवल कच्चे धागे में ही कठपुतली की भाँति बाँध रक्खा है और जैसे चाहे वैसे खींच खींच कर नचाता है।

मीराँबाई के विरह-संबंधी पद भी अधिकतर ऐसे हैं जिनसे मीराँ का अपने इष्टदेव को पतिवत् मानकर उनसे व्यवहार करना सिद्ध होता है। मीराँ का कहना है—"बड़े दुःख की बात है कि हरि ने मेरी बात ही न पूछी क्योंकि सारी रात न तो पर्दा हटाया और न मुँह से कुछ बोले ही। स्वप्न मे दर्शन दिए और आँखें खुलते ही जाते हुए दीख पड़े मैं अब रह रह कर पछताती हूँ

मैं प्रेम की दीवानी बनी फिरती हूँ और मेरा दर्द कोई पहचान नहीं पाता। बात यह है कि घायल की दशा या तो घायल ही बतला सकता है अथवा उसे घायल करनेवाला जानता है। दर्द से बेचैन होकर बन बन डोलती फिरती हूँ परंतु कोई वैद्य ही नहीं मिलता। बिना 'साँवलिया' के मीराँ की पीर नहीं मिट सकती। इस कारण तब तक किसी प्रकार से कल नहीं। शरीर क्षीण होता जा रहा है और मुख से बार बार 'पिय पिय' की आवाज़ निकलती रहती है। विरह की पीड़ा भीतर सता रही है और वह इसे जान नहीं पाता। जैसे चातक बादल के लिये और मछली पानी के लिये घबड़ाती है उसी प्रकार व्याकुल होने के कारण मेरी भी 'सुध बुध' नष्ट हो गई है।" अपनी विवशता के विषय में मीराँ कहती हैं—

मैं विरहिन बैठी जागूँ,
जगत सब सोवै री आली ॥ टेक ॥
विरहिन बैठी रंग महल में,
मोतियन की लड़ पोवै।
इक विरहिन हम ऐसी देखी,
अँसुवन की माला पोवै ॥ १ ॥
तारा गिण गिण रैण बिहानी,
सुख की घड़ी कब आवै।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर,
मिल के बिछुड़न जावै ॥ २ ॥

मीराँ ने सब से स्पष्ट भार्योचित उद्‌गार नीचे लिखे उपालंभ द्वारा व्यक्त किया है—

श्याम म्हासूँ एंडो डोले हो ॥
औरन सूँ खेले धमार।
म्हासूँ मुखहूँ ना, बोले हो ॥ श्या० ॥ १ ॥
म्हाँरी गलियाँ ना फिरे।
वाके आँगण डोले हो ॥ श्या० ॥ २ ॥

म्हाँरी आँगुळी ना छुवे।
बाकी बहियाँ मोरे हो ॥ श्या० ॥ ३ ॥
म्हाँरो अँचरा ना छुवे।
वाको घूंघट खोले हो ॥ श्या० ॥ ४ ॥
मीराँ के प्रभु साँवरो।
रँग रसिया डोले हो ॥ श्या० ॥ ५ ॥

मीराँबाई ने बहुत से पद श्रीकृष्ण की दधि लीला, वंशी लीला, पनघट लीला, चीर-हरण लीला, आदि विविध लीलाओं के विषय मे भी लिखे है जिनकी सुदरता और मधुरता से प्रभावित होकर एवं मीराँ की 'पूर्व जन्म का कौल' 'पूर्व जन्म की प्रीति' आदि पुनरुक्तियों पर विचार करते हुए लोग बहुधा उन्हे गोपियों का अवतार कहा करते हैं। यह भी प्रसिद्ध है कि अपनी बाल्यावस्था में मीराँ ने श्रीकृष्ण की मूर्ति को देखकर पूछा था कि ये कौन हैं। तो किसी ने हँसी से उस मूर्त्ति को उनका दुल्हा कह दिया था और तभी से मीराँ ने श्रीकृष्ण को अपना पति मान लिया था। जो हो मीराँ की भक्ति में दांपत्य-प्रेम का पुट प्रायः प्रत्येक स्थल पर वर्त्तमान है। मीराँबाई के बहुत से पद ऐसे भी मिलते हैं जिनमें उन्होंने अपने कुटुंबियों द्वारा दिये गए कष्टों का भी थोड़ा बहुत उल्लेख किया है। पता नहीं ऐसे पदों में से कौन कौन उनके बनाये हुए हैं और कौन से प्रक्षिप्त हैं। मुंशी देवीप्रसादजी द्वारा मीराँ-रचित माना हुआ एक पद नीचे देते हैं। मीराँ अपने देवर महाराणा से कहती हैं—

मीराँ लागो रंग हरी।
सब रँग अटक परी ॥ टेक ॥
गिरिधर गास्याँ सती न होस्याँ।
मन बलिया घन नामी ॥
जेठ बहू को नातो नाहीं।
तुम सेवक हम स्वामी ॥ १ ॥
छाया तिलक मनोहर बानी।
सील सँतोष सिँगारो ॥

और कछू न भावे हो राणा।
ओ गुर ज्ञान हमारो ॥ २ ॥
गिरिधर धैणी कुटुंबी गिरिधर।
मात पिता सुत भाई ॥
थे थाँरे म्हे म्हाँरे हो राणा।
गावै मीराँ बाई ॥ ३ ॥

इससे प्रकट होता है कि मीराँ ने अपने को गिरिधर के ऊपर निछावर करके किस प्रकार अपना मन विरक्त कर लिया था।

मीराँबाई के पदों में उपरोक्त बातों के सिवाय काव्य तथा संगीत की सामग्री भी प्रचुर रूप में मिलेगी। इनका प्रायः प्रत्येक पद ऐसे हृदयस्थित अव्यक्त भावों से भरा हुआ है जो बिना किसी प्रयास के ही अपने स्थान से स्वभावतः निकल पड़े हैं, और इसी कारण जिनका रूप हठात् संगीतमय बन गया है। इसी प्रकार उनकी रचना में जहां कहीं प्रकृत काव्य के चिह्न मिलते हैं वे भी उनके परिश्रम के फल स्वरूप नहीं जान पड़ते हैं। मीराँबाई पहले विशुद्ध प्रेम में मग्न रहने वाली भक्ति मार्गावलंबिनी एक व्यक्ति हैं तब कहीं काव्य अथवा संगीत की रचयित्री अथवा और कुछ हैं। इनके अधिकांश पद गोस्वामी तुलसीदासजी के समान 'स्वान्तः सुखाय' लिखे हुए जान पड़ते हैं और इनकी कविता रसखान की भाँति बाँचने की नहीं प्रत्युत् गाने की चीज है। इनकी रचनाओं को लिरिक[1] अथवा गीत-काव्य कहना चाहिए। 'मेरो गिरिधर गोपाल', 'जबते मोहि नंद नँदन', आदि कई पदों के सिवाय जिनके कुछ अंश ऊपर आ चुके हैं और भी कुछ उत्तम पदों को हम नीचे उद्धृत करते है—

(१)

सखी री लाज बैरन भई ॥टेक

कठिन क्रूर अक्रूर आयो साजि रथ कँह नई ॥२॥
रथ चढ़ाय गोपाल लै गो हाथ मींजत रही ॥३॥
कठिन छाती स्याम बिछुरत बिरह तें तन तई ॥४॥
दास मीराँ लाल गिरिधर बिखर क्यों ना गई ॥५॥

(२)

रँग भरी रँग भरी रँग सूँ भरी री,
होली आई प्यारी रँग सूँ भरी री ॥१॥
उड़त गुलाल लाल भये बादल,
पिचकारिन की लगी झरी री ॥२॥
चोआ चंदन और अरगजा,
केसर गागर भरी भरी री ॥३॥
मीराँ कहे प्रभु गिरिधर नागर,
चेरी होय पाँयन मे परी री ॥४॥

(३)

बादल देख झरी हो, स्याम मैं बादल देख झरी ॥ टेक ॥
काली पीली घटा उमंगी, बरस्यो एक घरी ॥१॥
जित जाऊँ तित पानिहि पानी, हुई सब भोम हरी ॥२॥
जाका पिव परदेस बसत है भीजै बार खरी ॥३॥
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, कीज्यो प्रीत खरी ॥४॥

(४)

बसो मेरे नैनन में नंदलाल।
मोहिनी मूरति साँवरी सूरति, नैना बने बिशाल ॥१॥
मोर मुकुट कुंडल अरुण तिलक दिये भाल

क्षुद्र घंटिका कटि तटि सोभित , नूपुर शब्द रसाल ।
मीराँ प्रभु संतन सुखदाई , भक्त बच्छल गोपाल ॥३॥

(९)

मन रे परसि हरि के चरण ॥ टेक ॥
सुभग सीतल कँवल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरण ।
जिण चरण प्रहलाद परसे, इंद्र पदवी धरण ॥१॥
जिण चरण ध्रुव अटल कीनो, राखि अपनी सरण ।
जिण चरण ब्रह्मांड भेट्यो, नखसिख सिरी जरण ॥२॥
जिण चरण प्रभु परसि लीने, तरी गोतम घरण ।
जिण चरण काली नाग नाथ्यो, गोप लीला करण ॥३॥
जिण चरण गोबरधन धार्यो, इंद्र को गर्व हरण ।
दासि मीराँ लाल गिरिधर, अगम तारण तरण ॥४॥

मीराँ का स्थान संसार के प्रसिद्ध स्त्री-कवियों में बहुत ऊँचा है
ने कवि होकर कदाचित् कभी लिखने का विचार नहीं किया और न
कवियों की भाँति कविसुलभ प्रतिष्ठा की प्राप्ति उनका कभी ध्येय रहा
ने पदों की रचना इसलिये की कि वे बिना ऐसा किए रह ही नहीं सकत
मीराँ के लिये भी हम वही कह सकते हैं जो ग्रीस देश की परम प्रसिद्ध स
सैफ़ो[1] (ईसा से पूर्व छठीं सदी) के लिये किसी ने कहा है । अर्थात्

"गीत की वेदना और आनंद में मत्त, प्रेम की पुजारिन ।
प्रेम के आनंद और वेदना से मत्त, गीत की पुजारिन ॥"

ये शब्द मीराँ के लिये अत्यंत उपयुक्त हैं ।

---

[1] Sappho

ह्युआँ च्यांग की देश तथा परिधि संबंधी संख्याओं की समस्या

[लेखक—डाक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार, पी-एच्० डी० (वियना), डी० एस्-सी० (लंदन)]

प्राचीन भारत का भूमि-प्रबंध जटिल समस्याओं से भरा हुआ है। उनमे से इस लेख में केवल एक पर विचार किया जायगा।

ह्युआँ च्यांग ने भारत को भिन्न भिन्न देशों मे विभक्त कर एक एक देश का वर्णन किया है और साथ ही उन देशों का संख्याओं में विस्तार दिया है। विस्तार के लिये चीनी यात्री ने 'चाऊ' शब्द लिखा है जिसका कि आंग्ल-भाषांतर सर्किट[1] शब्द द्वारा किया गया है। कनिंघम ने प्रत्येक देश का विस्तार अपनी पुस्तक 'ऐंशंट जाग्रफी अव् इंडिया' में जानने का यत्न किया। परंतु उसे सफलता न मिली। दृष्टांत स्वरूप चीनी यात्री ने शाकल (वर्त्तमान स्यालकोट) का विस्तार १०००० ली दिया है। यदि संख्या 'परिधि' के अर्थ मे ली जाय तो स्यालकोट हिंदुकुश तक पहुँच जाता है। इस ढंग की कठिनाइयाँ लगभग बहुत देशो के साथ उठानी पड़ती हैं। इस हालत में मनुष्य दो ही परिणामों पर पहुँच सकता है। एक तो यह है कि चीनी यात्री ने जो लिखा यों ही इधर-उधर से सुन-सुना कर लिख दिया। उसने संख्यायें सभी देशों के संबंध में दी हैं अतः इस ढंग की कपोल-कल्पित संख्यायें सभी देशों में प्रचलित थीं। भारतीय कल्पना करने मे तथा उत्प्रेक्षा अलंकार में शिरोमणि रहे हैं। कौन जानता है कि उन्होंने अपने स्वभाव का यहां पर भी परिचय दिया हो? दूसरी बात यह हो सकती है कि चीनी यात्री की संख्यायें भी ठीक हों, भारतीयों का अपने देश के संबंध में ज्ञान भी

[1] Circuit

सत्य हो। संख्याओं के संबंध में जो 'चाऊ' शब्द है उसका तात्पर्य परिधि न होकर कुछ और हो। प्रश्न जो कुछ है वह यही है कि वह अर्थ क्या हो सकता है? यदि अर्थ मालूम भी पड़ जाय तो इसका क्या प्रमाण कि चीनी यात्री की संख्याओं का आधार प्रामाणिक है। यदि प्रामाणिक आधार भी हो तो उसका अस्तित्व भारतीय साहित्य में कहां पर है?

डाक्टर जे० एफ० फ्लीट् अपने 'डाइमेंशन्स अव् इंडियन सिटीज़ एंड कंट्रीज़'[1] अर्थात् 'भारतीय नगरों तथा देशों का विस्तार' नामक लेख मे लिखते है कि "हम इस बात से परिचित हैं कि ह्युआँ च्यांग ने सब स्थानों पर नहीं तो अधिकतर भिन्न भिन्न देशों का, जिनका कि उसने वर्णन किया है विस्तार दिया है। उसने यह बात कभी लंबाई-चौड़ाई और कभी परिधि देकर की है। दृष्टांत-स्वरूप, वह कहता है कि कं-तं ओ-लो, गांधार, जिसकी राजधानी पुरुषपुर या पेशावर थी माप में १००० ली=१२१·२१ मील पूर्व से पच्छिम और ८०० ली=९६·९६ मील दक्खिन से उत्तर[2] थी। इसी प्रकार वह फिर कहता है कि छे:-क, टक्क देश—जिसकी राजधानी प्राचीनकाल में शी-क-लो, साकल, सिआल्कोट थी—परिधि में लगभग १०,००० ली=१२१२·१२ मील[3] था। उसने साधारणतया राजधानियों का भी इसी प्रकार विस्तार दिया है। वह कहता है कि पु-लु-श-पुलो और शे-क-लो की परिधि लगभग ४० तथा २० ली=४·८४ तथा २·४२ मील है। प्रश्न यह है कि ह्युआँ च्यांग ने यह संख्यायें कहां से ली हैं? उसने सरकारी काग़ज़ों से, बौद्ध ग्रंथों से या अन्य किन्हीं साधनों से इन संख्याओं का ज्ञान प्राप्त किया?"

इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि उसने यह संख्यायें या तो सरकारी काग़ज़ों से या उन उन देशों के निवासियों से जानीं। उसने बौद्ध मंदिरों तथा विहारों के संबंध में जो कुछ लिखा है वह बहुतांश में अक्षर-अक्षर सत्य निकला। कोई

कारण नही जान पड़ता कि उसने इन संख्याओं के संबंध में क्यों असावधानी की हो। उसी के यात्रा वृत्तांत का सहारा लेते हुए सर ओरल स्टाइन ने चीनी तुर्किस्तान में अमूल्य ग्रंथों का भंडार ढूँढ़ निकाला—सारनाथ और तक्षशिला की खुदाई में आर्कियॉलाजिकल विभाग ने अपूर्व सफलता प्राप्त की। ऐसी हालत में उसकी संख्याओं तथा विस्तार के संबंध में भूल कैसे मानें। यही किया जा सकता है कि अन्वेषण से पता लगाया जाय कि उसके ज्ञान का आधार क्या है? जो कुछ उसने लिखा है उसका वास्तविक अर्थ क्या है?

मैं समझता हूँ कि सातवीं सदी से लेकर ग्यारहवीं सदी तक प्राचीन भारत पाँच प्रांतों तथा चौरासी देशों[1] में विभक्त था। पाँच प्रांतों के नाम यह थे[2]—

(१) उत्तरापथ, (२) पश्चाद्देश, (३) मध्य देश, (४) पूर्व देश और (५) दक्षिणापथ।

इन पाँच विभागों के कारण चीनी यात्री ह्युआँ च्यांग, सातवीं सदी में भारतवर्ष को 'पंच-भारती' का नाम देता है।

उत्तरापथ या उत्तर भारत में पंजाब, कश्मीर तथा पूर्वीय अफ़ग़ानिस्तान संमिलित थे। इनमें इक्कीस देश थे[3]—

(१) शक, (२) केकय, (३) वोक्काण, (४) हूण, (५) वाणायुज, (६) कांबोज, (७) वाह्लीक, (८) वह्लव, (९) लिंपाक, (१०) कुलूत, (११)

---

[1] चतुरशीतिर्देशाः। काव्यशिक्षा, लेखक विनयचंद्र। काव्यमीमांसा में सी० डी० दलाल द्वारा उद्धृत, टिप्पणी, पृ० २४।

[2] पृथूदकात् परतः उत्तरापथः······देवसभायाः परतः पश्चाद्देशः ······तत्र वाराणस्याः परतः पूर्वदेशः······माहिष्मत्याः परतो दक्षिणापथः। काव्यमीमांसा, पृष्ठ ९४।

[3] पृथूदकात् परतः उत्तरापथः। यत्र शककेकयवोक्काणहूणवाणायुजकाम्बोजवाह्लीक वह्लवलिंपाककुलूतकीरतंगणतुषारतुरुष्कबर्बरहरहूवहूहुकसहुडहंसमार्गरमठकरकंठ प्रभृतयो जनपदाः। काव्यमीमांसा, पृष्ठ ९४।

कीर, (१२) तंगण, (१३) तुषार, (१४) तुरुष्क, (१५) बर्बर, (१६) हरहूव, (१७) हूहुक, (१८) सहुड़, (१९) हंसमार्ग, (२०) रमठ और (२१) करकंठ।

बहुत संभव है कि मध्यभारत तथा उत्तरभारत को सरस्वती नदी विभक्त करती रही हो। यद्यपि वह सूख गई थी तथापि उसके मार्ग का ज्ञान परंपरा से चला आया था।

पश्चाद्देश या पश्चिमभारत में पश्चिमी राजपूताना, सिंध, कच्छ तथा गुजरात संमिलित थे। इन में निम्नलिखित दस देश थे[1]—

(१) देवसभ, (२) सुराष्ट्र, (३) दशेरक, (४) त्रवण, (५) भृगुकच्छ, (६) कच्छीय, (७) आनर्त, (८) अर्बुद, (९) ब्राह्मणवाह तथा (१०) यवन।

इसकी सीमा पर दक्खिन में नर्मदा, पूर्व में देवसभा, उत्तर में सरस्वती नदी थी तथा पश्चिम में समुद्र था।

पूर्व-देश मे बिहार, बंगाल, आसाम, उड़ीसा तथा प्राचीन कलिंग राष्ट्र माने जाते थे। इनमें निम्नलिखित सोलह देश थे[2]—

(१) अंग, (२) कलिंग, (३) कोसल, (४) तोसल, (५) उत्कल, (६) मगध, (७) मुद्गर, (८) विदेह, (९) नेपाल, (१०) पुंड्र, (११) प्राग्ज्योतिष, (१२) तामलिप्तक, (१३) मलद, (१४) मल्लवर्तक, (१५) सुह्म तथा (१६) ब्रह्मोत्तर।

दक्षिणापथ मे कलिंग से लेकर कोंकण तक तथा नर्मदा से लंका तक

---

[1]देव सभायाः परतः पश्चाद्देशः। तत्र देवसभसुराष्ट्रदशेरकत्रवणभृगुकच्छकच्छीयानर्तार्बुदब्राह्मणवाहयवनप्रभृतयो जनपदाः। काव्यमीमांसा, पृष्ठ ९४।

[2]तत्र वाराणस्याः परतः पूर्वं देशः। यत्रांगकलिंगकोसलतोसलोत्कल मगधमुद्गरविदेहनेपालपुंड्रप्राग्ज्योतिषतामलिप्तकमलदमल्लवर्त्तकसुह्मब्रह्मोत्तरप्रभृतयो जनपदाः, पृष्ठ ९३

संपूर्ण देश संमिलित थे। इस में इक्कीस देश थे[1]—

(१) महाराष्ट्र, (२), माहिषक, (३) अश्मक, (४) विदर्भ, (५) कुंतल, (६) क्रथ-कैशिक, (७) शूर्पारक, (८) कांची, (९) केरल, (१०) कावेर, (११) मुरल, (१२) वानवासक, (१३) सिहल, (१४) चोष्ठ, (१५) दण्डक, (१६) पांड्य, (१७) पल्लव, (१८) गांग, (१९) नाशिक्य, (२०) कोंकण तथा (२१) कोल्लगिरि।

मध्य देश में राजपूताने का पूर्वीय भाग तथा थानेसर से बनारस तक संपूर्ण देश संमिलित था। राजशेखर ने इसके देशों के नाम नहीं दिए। हुआँ च्वांग के यात्रा-वृतांत के सहारे उसके नामों का अनुमान किया जा सकता है। हमारी समझ में इसके अंदर निम्नलिखित १६ देश संमिलित थे—

(१) कुरु-क्षेत्र, (२) मत्स्य, (३) श्रुघ्न, (४) मड़वर तथा ब्रह्मपुर, (५) गोविषाण, (६) अहिच्छत्र, (७) पिलोशना तथा सांकाश्य, (८) शूरसेन, (९) कान्यकुब्ज, (१०) अयोध्या, (११) हयमुख, (१२) प्रयाग, (१३) कौशांबी, (१४) कुशपुर, (१५) वैशाख तथा (१६) काशी।

संस्कृत-ग्रंथों का ज्ञान पूर्ण रूप से न होने से सर अलक्जेंडर कनिंघम ने पूर्व तथा पश्चादेश के कुछ भागों को मध्य भारत में जोड़ लिया। वस्तुतः इसमें सोलह देशों का समावेश था न कि सैंतीस का, जैसा कि उन्हों ने समझ लिया।

वराहमिहिर ने तथा पुराणों ने भारत को नौ भौगोलिक भागों में विभक्त किया है। बहुत संभव है कि इनका आधार ज्योतिष पर हो। साहित्य-सेवियों तथा कवियों ने इसकी कभी कमल से तथा कभी मनुष्य शरीर से जिसमें नव-द्वार हैं उपमा दी है। श्रीचक्रसंभार-तंत्र[2] इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण है। बौद्धायन-

---

[1] माहिष्मत्याः परतो दक्षिणापथः। यत्र महाराष्ट्रमाहिषकाश्मकविदर्भ कुंतलक्रथ-कैशिकशूर्पारककांचीकेरलकावेरमुरलवानवासकसिंहलचोष्ठदंडक पांड्यपल्लवगांगनाशिक्य कोंकणकोल्लगिरिप्रभृतयो जनपदाः। काव्यमीमांसा, पृष्ठ ९४।

[2] श्रीचक्रसंभार तंत्र पृष्ठ ३०-३१।

गृह्य-सूत्र[1] ने नौ विभागों में से प्रत्येक विभाग के नक्षत्र भी दिए हैं जो कि उनके देवता हैं।

भारत के अंतर्गत देशों के संबंध में कनिंघम ने लंका तथा ईरान को भारत का भाग न माना और इस प्रकार ह्युआँ च्यांग द्वारा वर्णित देशों की संख्या को बयासी से घटा कर अस्सी कर दिया। वस्तुतः दो देशों के और जोड़ने की आवश्यकता थी जिससे कि विनयचंद्र द्वारा काव्यमीमांसा में बताई हुई चौरासी की संख्या पूरी हो जाती। लंका तो बहुत समय तक भारत का ही भाग माना जाता था। एक समय ऐसा भी आ चुका है जब कि इसको मलय का एक प्रांत समझते थे।[2]

ईरान एक विस्तृत देश है। इसके कुछ भाग भारत के अपरांत, वर्बर तथा यवन देशों में संमिलित थे। इन भागों से भारत में घोड़े तथा अन्य बहु-मूल्य पदार्थ बिकने के लिये जाते थे। भारतीय माल इन्हीं देशों के बीच में से हो कर बहुधा पाश्चात्य देशों में जाता था। अप्पियन कहता है[3] कि "पल्मीरा के लोग व्यापारी हैं और भारत का माल ईरान से अरब में ले जाते हैं। यह माल अंत में रोम में बिकता है।" कालिदास ने रघु के भारत-विजय में ईरान को भी संमिलित किया है।[4] मौर्यसम्राट् चंद्रगुप्त ने इसके एक भाग को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। स्ट्राबो लिखता है कि "भारत के लोग सिंध नदी के किनारे के कुछ देशों को ले बैठे हैं जो कि किसी समय मे

---

[1]बोधायन-गृह्य-सूत्र, अध्याय १७, पृष्ठ १९६-२०५।

[2]तत्र विन्ध्यादयः प्रतीत-स्वरूप मलय-विशेषास्तु चत्वारः। तेषु प्रथमः—"आमूलयष्टेः फणिवेष्टितानां सचंदनानां जननंदनानां कक्कोलकैलामरिचैर्युतानां जातीतरूणां च स जन्मभूमिः" ...... चतुर्थः—"सातत्र चामीकररत्नचित्रैः प्रासाद मालावलभिर्विटंकैः। द्वारार्गलाबद्ध सुरेश्वराङ्का लंकेति या रावण-राजधानी"॥ काव्यमीमांसा, पृष्ठ ९२।

[3]मेक-क्रिंडिल कृत 'एंसंट इंडिया' पृष्ठ २१४

ईरान के आधिपत्य में थे। अलेक्ज़ेंडर ने एरियानी से उनको ले लिया और वहां पर अपने लोगों को बसा दिया। परंतु सेल्यूकस निकेटोर ने उनको संड्राकोट्टस (अर्थात् चंद्रगुप्त) को एक विवाह के उपलक्ष्य में दे दिया तथा उनके बदले उसने ५०० हाथी लिये।"[1] इसकी सीमा के विषय में प्लिनी का कहना है कि "बहुत से लोग सिंध को भारत की पश्चिमी सीमा नहीं समझते। भारत में वह गद्रासी[2] अरक्कोटी[3] अरी[4] तथा परोपमिसदी[5] नामक चार प्रांतो को और जोड़ते हैं और इस प्रकार उसकी सीमा कोफेस[6] नदी तक पहुँचा देते हैं।"[7]

भारत का चौरासी देशों में विभाग बहुत ही प्राचीन है। बार्हस्पत्य-अर्थ-शास्त्र मुख्य देशों की संख्या अट्ठारह, गौण-देशों की संख्या सत्रह, अनूप (कीचड़, पानी तथा झीलों से भरे, नीची सतह वाले) देशों की संख्या पचीस तथा पहाड़ी देशों की संख्या बीस देता है। इनके अतिरिक्त चार देशों के नाम और भी दिए हैं इन सब का जोड़ (१८+१७+२५+२०+४=८४) चौरासी होता है। इस ग्रंथ में प्रत्येक देश के आगे कुछ संख्यायें दी हैं जिनका आशय किसी ने स्पष्ट नहीं किया है।[8]

---

[1]कनिंघम कृत 'ऐंशंट ज्याग्रफ़ी', १९२४ संस्करण, पृष्ठ १८ देखो मेक-क्रिंडिल, पृष्ठ ८८-८९।

[2]Gedrosi

[3]Arachotæ

[4]Aru

[5]Paropamisadæ

[6]Cophes

[7]कनिंघम लिखित ऐंशंट ज्याग्रफ़ी।

[8]८६। रामसृष्टिश्चत्वारिंशच्छतं दक्षिणोत्तरे आसह्यं द्वादश विश्वामित्र सृष्टि-रेकादश। ८७। नेपालं चतुश्शतम्। ८८। पूर्व समुद्रतीरे वरुणतः समुद्रांतं अष्ट योजना ८९ पंचसत द्विसीमसुतस्कार्ट पूर्व काट प ९०। काशी पांचाल द्विसप

ल मूजियाँ[1] में बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र के संपादक ने तो संख्याओं के आगे प्रश्नात्मक चिह्न (?) लगा कर उन्हें छोड़ दिया। इस पर कुछ अधिक विचार न किया। खोज करने से हमें यह जान पड़ा कि इन संख्याओं का ह्वुआँ च्यांग की परिधि-संबंधी संख्याओं से घनिष्ट संबंध है। संख्याओं सहित उन देशो के नाम जो कि बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र में पाए जाते हैं निम्नलिखित हैं—

मुख्य-देश (महा-विषय)

देश			संख्यायें (योजन ?)
१ उत्तर-लाट	...	..	१०५
२ पूर्व-लाट	...	..	१०५

मशीतिः। ९१। केकय श्रञ्जयं षष्टिः। ९२। मत्स्यमागधं शतम्। ९३। मालवशकुंतमशीतिः। ९४। कोसलावन्तिः षष्टिः। ९५। सैह्य वैदर्भद्वितीयं शतद्वयम्। ९६। वैदेह कौरवं शतम्। ९७। काम्बोज दशार्णमशीतिः। ९८। एते महाविषयाः। ९९। एते खलु चतुरश्राः। १००। आरट्टबाल्हीकौ दक्षिणोत्तरतः शतमात्रौ पूर्व पश्चाद्द्वादशौ। १०१। शक सुराष्ट्रौ चतुरश्रौ चत्वारिंशत्। १०२। अङ्ग वङ्ग कलिङ्ग शतमात्राश्चतुरश्राश्च। १०३। काश्मीर-हूणाम्वष्ठ सिंधवः शतमात्राश्चतुरश्राश्च। १०४। किरात सौवीर चोलयाराड्या उत्तरे दक्षिणेस्थितिः शतत्परं षष्टिमात्राः। १०५। यादव कांची विषयं चत्वारिंशच्छतमात्रं। १०६। एते उपविषयाः। १०७। ससकोंकणाश्चतुश्शतमात्रा द्वादश षड्राष्ट्रौच। १०८। एते अनूपाः। १०९। सह्याद्रौ चत्वारो गिरिविषयाः। ११०। श्रीपर्वते द्वयम्। १११। रैवतक एकः। ११२। विंध्येपंच। ११३। कुमार एकम्। ११४। महेंद्रेत्रयम्। ११५। पारियात्रेत्रयम्। ११६। सर्वे दक्षिणोत्तरतः पंचाशन्मात्राः पूर्वतः पश्चात् पंच योजनाः समाः। ११७। म्लेच्छयवनविषयाः पार्वतीयाः।

(ल मूजियाँ, बार्हस्पत्य सूत्र, पृष्ठ १४३)

७०। तत्रोत्तरे हिमवान्। ७१। तस्य दक्षिणे नव साहस्रीशः। ७२। तत्र दक्षिणात्यो भारतः खण्ड।

(ल मूजियाँ, बार्हस्पत्य सूत्र, पृष्ठ १४३)

[1] Le Museon

देश			संख्यायें (योजन ?)
३ काशी	...	...	८०
४ पाञ्चाल	...	...	८०
५ केकय	..	...	६०
६ शृंजय	...	...	६०
७ मत्स्य	...	...	१००
८ मगध	...	...	१००
९ मालव	...	...	९०
१० शकुंत	..	.	९०
११ कोसल	...	...	६०
१२ अवंति	...	...	६०
१३ सैह्य	...	...	१०० (?)
१४ वैदर्भ	...	...	१०० (?)
१५ वैदेह	..	...	१०० (?)
१६ कुरु	...	..	१००
१७ कांबोज	...	...	८०
१८ दशार्ण	...	...	८०

कुल योग=१८

गौण-देश (उपविषय)

देश			संख्यायें (योजन ?)
१ आरट्ट	..	...	१००×१२
२ वाल्हीक	...	...	१००×१२
३ शक	...	...	४०
४ सुराष्ट्र	...	...	४०
५ अंग	...	...	१००
६ वंग			१००
७ कलिंग			१००

देश			संख्यायें (योजन ?)
८ काश्मीर	...	...	१००
९ हूण	...	..	१००
१० अंबष्ठ	...	...	१००
११ सिंधु	...	...	१००
१२ किरात	...	...	१००—६० (?)
१३ सौवीर	...	...	१००—६० (?)
१४ चोल	...	...	१००—६० (?)
१५ पांड्य	...	...	१००—६० (?)
१६ यादव	...	...	१४०
१७ काञ्ची	...	...	१४०

कुल योग=१७

अनूप देश

७ राज्य कोंकण के	...	...	१०४
१२ राज्य द्वादश राष्ट्र के	...	...	१०४ (?)
६ राज्य षड् राष्ट्र के	...	...	?

कुल योग=२५

पहाड़ी देश

४ राज्य सैह्य पर्वत के	..	...	५०×५
२ राज्य श्री पर्वत के	...	...	५०×५
२ राज्य रैवतक पर्वत के	...	...	५०×५
५ राज्य विंध्य पर्वत के	...	...	५०×५
१ राज्य कुमार पर्वत का	..	...	५०×५
३ राज्य महेंद्र पर्वत के	...	...	५०×५
३ राज्य पारियात्र पर्वत के		...	५०×५

कुल योग २०

अन्य देश

१	राम सृष्टि	...	...	१४०,११२ (?)
२	विश्वामित्र सृष्टि	...	...	१११
३	नेपाल	...	..	१०४
४	वरुण	...	...	१०८ (८?)

कुल योग=४

बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र मे वर्णित देशों की पूरी संख्या=८४

यदि हम ह्युआँ च्यांग की बतलाई हुई संख्याओं को परिधि के अर्थ में न मान कर उन्हें क्षेत्र-फल के अर्थ में लें, तो उसकी संख्यायें युक्ति-युक्त तथा सत्य सिद्ध हों। कनिंघम ने जो कठिनाइयाँ उठाईं वह भी न उठानी पड़ें। दृष्टांत के लिये गुजरात, वलभि, सुराष्ट्र, आनंदपुर तथा अटालि के राज्यों को ही लीजिए। ह्युआँ च्यांग के अनुसार इनका विस्तार २६००० ली है। बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र ने इन देशों के संबंध में जो संख्यायें दी हैं उनका योग ६३० योजन या यदि एक योजन को ४० ली के बराबर माना जाय तो, २५२०० ली होता है। यदि हम इस बात का ख्याल रखें कि देशों की सीमायें ह्युआँ च्यांग से लेकर बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र के समय तक कुछ न कुछ बदलती ही रही होंगी तो ८०० ली का अंतर कुछ भी नहीं है। फिर इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि भिन्न भिन्न राज्यों का क्षेत्रफल पूर्णरूप से स्थिर रहता हुआ नहीं माना जा सकता। आश्चर्य तो यह है कि अंग का क्षेत्रफल अर्थात् ४००० ली या १०० योजन दोनों ही लेखक एक सदृश देते हैं। यदि हम योजन को १२·१२ मील या ५० ली के बराबर मान लें जैसा कि डाक्टर जे० एफ० फ्लीट् अपने 'दि योजन एंड ली'[1] अर्थात् 'योजन और ली' शीर्षक लेख मे प्रतिपादित करते हैं, तो बहुत देशों के संबंध में ह्युआँ च्यांग तथा बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र की संख्यायें मिल जाती हैं। हमारी समझ में प्राचीनकाल में भारत में दोनों ही

[1]जर्नल अव् दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, जिल्द ३८, १९०६, पृ० १०११।

योजन चलते थे। कुछ देशों में एक योजन ९·५३२२३१२ मील या ४० ली के बराबर था और कुछ देशों में एक योजन १२·१२ मील या ५० ली के समान था जैसा कि डाक्टर फ्लीट् का मत है। ह्युआँ च्यांग के ग्रंथ सि-यु-कि तथा बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र की संख्याओं की तुलना निम्नलिखित रूप से की जा सकती है—

देश	बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र की योजनों में संख्या	सी-यु-कि की ली में संख्या	योजन=ली
अंग	१००(×४०=)	४०००	१ = ४०
वाराणसी (बनारस)	८०(×५०=)	४०००	१ = ५०
कलिंग	१००(×५०=)	५०००	१ = ५०
मगध	१००(×५०=)	५०००	१ = ५०
कांची (द्रविड़ देश का काञ्जीवरम्)	१४०(×४०=)	६००० (लगभग)	१ = ५०
नेपाल	१०४(×४०=)	४००० (लगभग)	१ = ४०
चोल	६०(×४०=)	२४००	१ = ४०
वंग (पुंड्रवर्धन)	१००(×४०=)	४०००	१ = ४०

सुराष्ट्र साम्राज्य संबंधी दोनों ग्रंथों में दी हुई संख्याओं की तुलना कीजिए

बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के अनुसार		सी-यु-कि के अनुसार	
देश	संख्या योजनों में	देश	संख्या ली में
यादव	१४०	अटालि	६०००
सौवीर	१४०	कच्छ	३०००
सिंधु	१००	वलभि	६०००
वलभि	१०५	सुराष्ट्र	४०००
पूर्व लाट	१०५	गुर्जर	५०००
सुराष्ट्र	४०		
कुलयोग	६३० योजन	कुलयोग	२६,०००

यदि १ योजन ४० ली के बराबर मान लिया जाय तो सुराष्ट्र-साम्राज्य का कुल योग ली में (६३०×४०=) २५२०० ली होता है। इस प्रकार से केवल ८०० ली का अंतर पड़ता है।

बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र तथा सि-यु-कि की संख्याओं की सदृशता कदाचित् हमको डाक्टर फ्लीट् के निम्नलिखित प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ कर सके। वह पूछते हैं कि "ह्युआँ च्यांग ने इन संख्याओं का कहाँ से पता लगाया? सरकारी काग़ज़ों से, या बौद्ध ग्रंथों से, या किन्हीं अन्य साधनों से?" बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र कौटिल्य के अर्थशास्त्र के सदृश ही शासन-संबंधी एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। बहुत संभव है कि दोनों ग्रंथों के आधार भिन्न भिन्न राज्यों मे रखे हुए लगान-संबंधी सरकारी काग़ज़ हैं। यदि इस अनुमान मे कुछ भी सचाई है, तब तो ऊपर लिखी हुई संख्यायें प्रत्येक देश के उस क्षेत्र-फल को सूचित करती हैं, जो कि खेती या चरागाह के रूप में काम में आता था और जंगलों को काटकर साफ़ कर लिया गया था। इस व्याख्या का एक परिणाम यह भी होगा कि हमको प्राचीन भारत का कृषि-विस्तार तथा लगान-संबंधी लेखा मिल जायगा, तथा यह जानना सुगम हो जायगा कि मुसल्मान राजाओं ने इस संबंध में नया क्या काम किया? डाक्टर फ्लीट् ने अपने 'भारतीय नगरों तथा देशों का विस्तार' नामक लेख में जो यह पूछा है कि "भिन्न भिन्न देशों के संबंध में (यह समझते हुए भी कि इस संबंध में जो भी हमारा ज्ञान होगा पूर्ण रूप से सत्य नहीं हो सकता) जो संख्यायें मिलती हैं उनको कहाँ तक प्रामाणिक माना जाय?" इसका उत्तर तो यह है कि यदि हम ह्युआँ च्यांग की संख्याओं को परिधि के अर्थ मे न लें और उनको क्षेत्रफल का सूचक समझें, तो उनकी सचाई या असत्य को आसानी से परख सकते हैं।

बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र संपूर्ण भारत के लिये ९००० योजन की संख्या देता है।[1] हमें यही संख्या संस्कृत भाषा के अन्य पुस्तकों में भी मिल जाती

---

[1] ।७०। तत्रोत्तरे हिमवान् ।७१। तस्य दक्षिणे नव साहस्री भूः ।७२। तत्र दाक्षिणात्यो भारत खण्ड । (ड मूज़ियाँ, बार्हस्पत्य-सूत्र, पृष्ठ १४२)।

है।[1] ह्युआँ च्यांग ने जो संख्याये प्रत्येक देश के संबंध में दी हैं उन का यदि औसत ले लिया जाय तो प्रत्येक देश के लिये ४००० ली या १०० योजन पड़ता है। यदि इसको हम चौरासी से गुणा करें तो कुल योग ८४०० योजन होता है। चौरासी से इसलिये गुणा किया कि भारत में ८४ देशों का आवेश दोनों ही लेखकों ने किया है। यदि हम बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र की संख्याओं के ही आधार पर कार्य करें तो ३३ महादेश तथा गौण-देश की संख्याओं का योग ३२५० योजन होता है। प्रत्येक देश के पीछे ९८·७ योजन आता है। यदि इसको ८४ से गुणा करें तो हमको ८२९०·८ योजन प्राप्त होता है।

सर अलक्ज़ेंडर कनिंघम ने एक योजन को ९ मील के बराबर माना है। भारत के भिन्न भिन्न देशों मे भिन्न भिन्न योजन प्रचलित थे। इसलिये उचित तो यही है कि भिन्न भिन्न योजनों का औसत निकालकर काम लिया जाय। कनिंघम के अनुसार उसके समय मे तीन प्रकार के कोस भारत में प्रचलित थे। उत्तर-पच्छिमी भारत तथा पंजाब में १ १/४ मील का, गंगा के चारों ओर के प्रांतो में २ १/४ मील का और बुंदेल खंड, मैसूर तथा दक्खिनी भारत मे २ १/४ मील का एक कोस था।[2] संस्कृत ग्रंथों के अनुसार एक योजन चार कोस के बराबर था। अतः एक योजन को दस मील के बराबर मान लेना कुछ बहुत अनुचित न होगा। इस प्रकार ८६२८ योजन का ८६२४०० मील वर्गफल होता है। यहां योजन को परिधि का सूचक न मानकर क्षेत्रफल का द्योतक माना गया है।

बर्मा को निकालकर तथा देशी राष्ट्रों को मिलाकर वर्त्तमान भारत का क्षेत्रफल १६००००० मील है।[3] यह बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र तथा सि-यु-कि की संख्याओं का दुगुना होता है। बहुत संभव है कि उस ज़माने में भारत का

---

[1] नव-सहस्र-योजनविस्तीर्णे भारत खण्डे। नव-सहस्र योजन विस्तीर्णे भारत-वर्षे श्री शुक्ल यजुर्वेदीयानां ब्रह्मनित्यकर्म पृष्ठ १०, १२

आधा भाग जंगलों से घिरा हो। ऊपर लिखे हुए प्रमाणों तथा विचारों को सामने रखते हुए ह्युआँ च्यांग की संख्याओं के आधार के विषय में यह कहा जा सकता है कि या तो उस जमाने के लोगों ने अपने अपने देशों के विस्तार तथा क्षेत्रफल की सूचना उसको दी, या उसने सरकारी पत्रों से इन संख्याओं का पता लगाया। उससे भूल यह हुई कि उसने क्षेत्रफल को सूचित करनेवाले योजन को ली में बदलते समय योजन को चालीस से एक ही बार गुणा किया। वास्तव में उसको दो बार, ४० × ४० के रूप में गुणा करना चाहिये था। इस एक भूल का परिणाम यह हुआ कि विद्वान् बहुत सरपची के बाद भी उसकी संख्याओं के रहस्य का पता न लगा सके।

पंडितों से भी ऐसी भूल हो जाना असंभव नहीं। दृष्टांत-स्वरूप दान-मयूख देखिये। उसमें लिखा है कि एक निवर्तन तीस दंड के बराबर होता है वास्तव में जैसा कि कौटिल्य ने लिखा है, वह ३०० दंड के बराबर था। ह्युआँ च्यांग, एक परदेसी यात्री से ऐसी भूल हो गई, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

संस्कृत साहित्य में क्षेत्रफल को सूचित करनेवाले शब्द प्रायः 'परि' उपसर्ग लगा कर बनाये जाते हैं जैसे कि परिमाण, परि-क्षेत्र इत्यादि। बहुत संभव है कि चीनी यात्री ने संस्कृत के 'परि' शब्द को 'चाऊ' शब्द द्वारा अपनी भाषा में प्रकट किया हो—दोनों ही शब्दों का एक ही अर्थ है, अर्थात् चारों ओर से घिरा हुआ।

भूल का कारण कुछ भी हो, यह प्रत्यक्ष है कि दोनों ही ग्रंथ अर्थात् बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र तथा सि-यु-कि, संख्याओं को परिधि के अर्थ में नहीं देते। यदि हम उनको क्षेत्रफल या परिमाण के अर्थ में ले तो हमको कुछ भी कठिनाई नहीं उठानी पड़ती।

सवाई राजा शूरसिंहजी

[लेखक—श्रीयुत् विश्वेश्वर नाथ रेउ]

यह मारवाड़ नरेश राजा उदयसिंहजी के पुत्र थे।[1] इनका जन्म वि० सं० १६२७ की वैशाख-बदी ३० (ई० स० १५७० की ५ अप्रैल) को हुआ था।

वि० सं० १६४८ (ई० स० १५९१) में बादशाह अकबर ने पहले पहल इन्हे लाहौर की शाही सेना के एक भाग का प्रबंध सौंपा। इससे कुछ दिन वहाँ रहकर यह उक्त कार्य करते रहे। परंतु इसके बाद लौटकर जोधपुर चले आए।

वि० सं० १६५२ (ई० स० १५९५) में जिस समय बादशाह के बुलाने पर राजा उदयसिंहजी लौटकर लाहौर गए उस समय यह भी उनके साथ थे। इससे वहाँ पर महाराज का स्वर्गवास हो जाने से उन्ही की इच्छा के अनुसार वि० सं० १६५२ की सावन-बदी १२ (ई० स० १५९५ की २३ जुलाई) को बादशाह ने इन्हें राजा की पदवी देकर मारवाड़-राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया।

ख्यातों में लिखा है कि इसी अवसर पर बादशाह ने इन्हें दो हज़ारी ज़ात और सवा हज़ार सवारों का मनसब दिया था।

इसके कुछ मास बाद यह लौटकर जोधपुर चले आए। यहाँ पर वि० सं० १६५२ की माघ-सुदी ५ (ई० स० १५९६ की २४ जनवरी) को चिर-प्रचलित-प्रथा के अनुसार यथा-नियम इनका राज्याभिषेक किया गया।

वि० सं० १६५३ (ई० स० १५९६) में बादशाह ने सुल्तान मुराद को, जो अब तक गुजरात के सूबे की देखभाल पर नियत था, बदल कर दक्षिण की तरफ़ के उपद्रवों को शांत करने के लिये भेजा और वहाँ (गुजरात) की

---

[1] ख्यातों के अनुसार यह (शूरसिंहजी) राजा उदयसिंहजी के छठे पुत्र थे।

सवाई राजा शूरसिंह

रक्षा का भार राजा शूरसिंहजी को सौंपा ।[1] इस पर महाराज भी मारवाड़ का शासन-प्रबंध भाटी गोविंददास[2] को देकर शीघ्र ही उधर को रवाना हो गए। मार्ग में जिस समय यह सीरोही के क़रीब पहुँचे उस समय इन्हें वहाँ पर राव रायसिंहजी[3] के धोके से मारे जाने का ख़याल आ गया। इससे उस घटना का बदला लेने के लिये इन्होंने अपने सैनिकों को उस राज्य के गाँवों को लूटने की आज्ञा देदी। यह देख वहाँ का राव सुरतान घबरा गया और संधि करने की इच्छा से उसने बहुत सा रुपया महाराज की भेंट किया। यहाँ से चल कर

---

[1]अकबरनामा, भा० ३, पृ० ६९७।

[2]पहले मारवाड के राठोड़ नरेशों और उनके वंश के जागीरदारों के बीच भाई बिरादरी का-सा बर्ताव चला आता था। परंतु भाटी गोविंददास ने इस ढंग को बदल कर, राज्य का सारा प्रबंध बादशाही ढंग पर कर दिया। इससे मारवाड़ नरेशों और उनके सरदारों का संबंध स्वामी सेवक का-सा हो गया और राज्य परिवार में होनेवाली शादी ग़मी के अवसर पर ठकुरानियों के राजकीय अंतःपुर में उपस्थित होने की प्रथा भी उठ गई। दरबार के समय राव रणमल्लजी के वंश के जागीरदारों के लिये दाईं तरफ़ का और राव जोधाजी के वंश के जागीरदारों के लिये बाईं तरफ़ का स्थान नियत किया गया। राजकार्य के लिये दीवान, बख़्शी, ख़ाँन-सामाँ, हाक़िम, कारकुन, दफ़्तरी, दारोग़ा, पोतेदार, वाक़यानवीस आदि पद नियत किए गए।

ख़वास पासवानों आदि को भी अलग अलग काम सौंपे गए। महाराज की ढाल और तलवार रखने का काम खीचियों को, चँवर और मोरछल रखने का काम धाँधलों को, जल्लूसी पंखा और ख़ास मोहर रखने का काम गहलोतों को, डेवढ़ी के प्रबंध का काम सोभावतों को और महाराज के हाथी की सवारी करने पर महावत का काम आसायचों को सौंपा गया। इसी प्रकार दूसरे कार्यों के लिये भी अन्य ख़ास ख़ास वंश के राजपूत नियत किए गए।

[3]यह मारवाड़-नरेश राव चंद्रसेनजी के पुत्र थे और इन्हें सीरोही के राव सुरतान ने रात्रि में अचानक आक्रमण कर मारा था।

कुछ ही दिनों में यह गुजरात पहुँच गए और वहाँ पर खाँ आज़म से मिल कर मुज़फ़्फ़र के उपद्रव को दबाने का प्रयत्न करने लगे।

अगले वर्ष मुज़फ़्फ़र के ज्येष्ठ पुत्र बहादुर ने कुछ लोगों को लेकर गुजरात के प्रदेशों में लूटमार शुरू की। यह देख महाराज भी उसे दण्ड देने के लिये अहमदाबाद से रवाना हुए। परंतु इनको दलबल-सहित अपनी तरफ़ आते देखकर बहादुर की हिम्मत टूट गई। इसी से थोड़ी सी मुठभेड़ के बाद वह मैदान से भाग गया।[1]

इधर महाराज को अपने अधिकांश योद्धाओं के साथ गुजरात की तरफ़ गया जान कर पीछे से बीकानेर वाले गाँगाँणी नामक (मारवाड़ के) गाँव में घुस आए और वहाँ से कुछ राजकीय ऊँटों को पकड़ कर अपने देश को ले चले। परंतु इसकी खबर मिलते ही माँगलिया सूरा और राठौड़ (महेशदास के पुत्र) हरदास ने इनका पीछा कर वे ऊँट इनसे छीन लिए।

इसी प्रकार महाराज को मारवाड़ में अनुपस्थित देख जैसलमेर रावल भीमराजजी के कुछ सैनिक भी कोरणे की तरफ़ पहुँच इधर उधर लूटमार करने लगे थे। यह देख ऊहड़ गोपालदास ने उन पर चढ़ाई की। युद्ध होने पर गोपालदास मारा गया। परंतु भाटियों को भी शीघ्र ही जैसलमेर लौट जाना पड़ा।

वि० सं० १६५६ (ई० स० १५९९) में सुल्तान मुराद मर गया। इस पर पहले तो बादशाह अकबर ने खुद दक्षिण पर चढ़ाई की। परंतु अगले वर्ष वहाँ की सूबेदारी शाहज़ादे दानियाल को दी गई और उसकी मदद के लिये राजा शूरसिंह जी नियत किए गए।[2]

उस समय यह गुजरात में थे। इससे वहाँ से दक्षिण की तरफ़ जाते हुए कुछ दिन के लिये ये सोजत (मारवाड़) में ठहर गए। यह बात बादशाह को बुरी लगी। इसलिये उसने महाराज के भाई शक्तिसिंह को राव की पदवी देकर

---

[1] अकबरनामा, भा० ३, पृ० ७२५।

[2] मआसिरुल उमरा, भा० २, पृ० १८२।

सोजत जागीर में दे दिया।[1] महाराज भी उस समय विरोध करना अनुचित समझ दक्षिण की तरफ़ चले गए। वहाँ पर कुछ ही दिनों में इन्होंने (सआदतखाँ के प्रधान) राजू के साथ के युद्धों में ऐसी वीरता दिखलाई कि उसका हाल सुन बादशाह आपही आप इनसे प्रसन्न होगया। इसी अवसर पर महाराज के मंत्री भाटी गोविंददास और राठौड़ (रत्नसिंह के पुत्र) राम ने उसे महाराज को सोजत का प्रांत लौटा देने के लिये समझाया। इससे अकबर ने वह प्रांत फिर से इन्हीं को लौटा दिया।[2]

अकबरनामे में अबुल फ़ज़्ल लिखता है[3]—

वि० सं० १६५७ (ई० स० १६००) में अहमदनगर वालों से नासिक छीन लिया गया। इस पर पहले तो सआदत ख़ाँ ने बादशाह की अधीनता स्वीकार कर ली। परन्तु शीघ्रही अपने गुलाम राजू के बहकाने से उसने फिर से बग़ावत शुरू की। यह देख बादशाह ने शाहज़ादे को उसे दण्ड देने के लिये जाने की आज्ञा दी। उस समय राजा शूरसिंहजी भी उसके साथ थे।

वि० सं० १६५८ (ई० स० १६०१) में महाराज फिर शाही सेना और अबुल फ़ज़्ल के साथ राजू को दण्ड देने और अहमद नगर को विजय करने के लिये भेजे गए।[4] इन दोनों बार के युद्धों में इन्हों ने बड़ी वीरता दिखाई थी।

इन्हीं दिनों हब्शी खुदावंद ख़ाँ ने पाथरी और पालम के प्रांतों में उपद्रव शुरू कर दिया था। जब इसकी सूचना ख़ानख़ानान को मिली तब उसने राजा शूरसिंहजी को शाही सेना देकर उसको दबाने के लिये रवाना किया। इस पर महाराज ने खुदावंद ख़ाँ को हराकर वहाँ पर फिर से शांति स्थापित की।[5]

---

[1] शक्तिसिंह का अधिकार सोजत पर क़रीब एक वर्ष तक रहा था।

[2] फ़ारसी तवारीख़ों में इस बात का उल्लेख नहीं है।

[3] अकबरनामा, भा० ३, पृ० ७७२।

[4] अकबरनामा, भा० ३, पृ० ८०१।

[5] ———— भा० ३, पृ० ८०६।

वहाँ से लौटकर ये निजामुलमुल्क के सेनापति अंबर चम्पू के मुक़ाबले को चले। यह देख वह कंधार की तरफ बढ़ने लगा। उसी अवसर पर हब्शी फरहाद भी अपने दो-तीन हजार सवारों को लेकर उससे आ मिला। उस समय राजा शूरसिंहजी शाही सेना के अग्रभाग (हरावल) में थे। इसलिये इनके अंबर की सेना के सामने पहुँचते ही पहले तो उसने बड़ी बहादुरी से इनका सामना किया। परंतु फिर शीघ्र ही उसके पैर उखड़ गए और उसे रणस्थल से भागकर अपनी जान बचानी पड़ी। यह घटना वि० सं० १६५९ (ई० स० १६०२) की है।

अबुल फज़्ल ने इस विषय में लिखा है कि—

इस युद्ध में जैसी वीरता बादशाही सेना के अग्रभाग और मध्यभाग वालों ने दिखलाई थी वैसी ही वीरता अगर वाम और दक्षिण भाग वाले भी दिखलाते तो अंबर और फरहाद का भागना असंभव हो जाता और वे पकड़ लिए जाते।[1]

इस युद्ध में के महाराज के वीरता पूर्ण कार्यों को देखकर स्वयं शाहजादा दानियाल इतना प्रसन्न हुआ कि उसने बादशाह को भी पत्र द्वारा इसकी सूचना लिख भेजी।[2] इसपर बादशाह ने इन्हें एक शाही नक्क़ारा उपहार में दिया।[3] साथ ही उसने शाहजादे को लिखा कि राजा शूरसिहजी बहुत समय से शाही कार्यों में लगे रहने के कारण अपने देश को नहीं जा सके हैं—इसलिये उनको यहाँ भेज दो और उनके प्रधान मंत्री भाटी गोविंददास को राठौड़ों की सेना के साथ अपने पास रहने दो।[4] इसी के अनुसार यह वि० सं० १६६१ (ई० स० १६०४) में बादशाह से मिलकर[5] जोधपुर चले आए।

---

[1] अकबरनामा, भा० ३, पृ० ८०७।

[2] मआसिरुल उमरा, भा० २, पृ० १८२।

[3] अकबरनामा, भा० ३, पृ० ८१९।

[4] अकबरनामा, भा० ३, पृ० ८२०।

[5] इसी वर्ष राजा शूरसिंह जी ने बादशाह के कहने से मीर

मारवाड़ की ख्यातों से प्रकट होता है कि इसी अवसर पर बादशाह ने इन्हें 'सवाई राजा' के ख़िताब के साथ मेड़ते का आधा प्रांत[1] और जैतारन जागीर में दिए थे।

गुजरात प्रांत के और दक्षिण के युद्धों में महाराज को बहुत सा द्रव्य मिला था। इससे जोधपुर पहुँचकर इन्हों ने एक बड़ा यज्ञ किया। इसके बाद इनकी आज्ञा से भंडारी मना ने राजकीय सेना के साथ जाकर मेड़ते और जैतारन पर अधिकार कर लिया। इसी अवसर पर जैतारन के चारों तरफ़ शहर पनाह बनवाई गई और वहाँ का बहुत सा प्रांत महाराज की तरफ़ से ऊदावतों को दे दिया गया।

वि० सं० १६६२ (ई० स० १६०५) में बादशाह अकबर मर गया और उसका पुत्र जहाँगीर के नाम से हिंदुस्तान के तख्त पर बैठा। इसी समय गुजरात में फिर उपद्रव उठ खड़ा हुआ। इससे अन्य बादशाही अमीरों के साथ सवाई राजा शूरसिंहजी को भी उधर जाना पड़ा। वहाँ पर भी इन्होंने उपद्रव को दबाने में अच्छी वीरता दिखलाई।[2]

के पुत्र को पकड़कर पाटन (गुजरात) में मुर्तज़ा अली के हवाले कर दिया, जहाँ से वह अकबर की राज्य सीमा से बाहर निकाल दिया गया। (अकबरनामा, भा० ३, पृ० ८३१)।

[1] मेड़ते का आधा प्रांत तो मेड़तिया जगन्नाथसिंह से लेकर बादशाह ने पहले ही इन्हें दे दिया था। इस अवसर पर बाक़ी का आधा प्रांत भी किशनदास से लेकर महाराज को दे दिया गया।

[2] ख्यातों में लिखा है कि अकबर के मरते ही गुजरात के कोलियों ने उपद्रव उठाया। इस पर जहाँगीर ने राजा शूरसिंहजी को उनके उपद्रव को दबाने के लिये भेजा। इन्होंने मांडवी के पास पहुँच अपनी सेना के दो विभाग किए। एक का सेनापति भाटी गोविंददास और दूसरे का राठौड़ जैतमाल बनाया गया। इसके बाद महाराज की आज्ञा से इन दोनों ने मिलकर कोलियों पर आगे और पीछे दोनों तरफ़ से हमला कर दिया कुछ ही देर के युद्ध में बहुत से कोली मारे गए और बचे हुए जंगल

वि० सं० १६६३ की कार्तिक सुदी ७ (ई० स० १६०६ की २७ ऑक्टोबर) को यह जोधपुर आए और वि० सं० १६६५ (ई० स० १६०८) के वैशाख मे आगरे पहुँच बादशाह जहाँगीर से मिले।[1] इसी वर्ष की मँगासिर-बदी २ (१३ नवम्बर) को बादशाह ने इनका मनसब ३००० जात और २००० सवारों

की तरफ़ भाग चले। यह देख राठौड़ सवारों ने उनका पीछा किया। यद्यपि गोपालदास ने उनको इस कार्य से रोकना चाहा तथापि विजय से उन्मत्त हुए योद्धाओं ने इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। राठौड़ों को अपने पीछे लगा देख कोली भी जल्दी से जंगल और पहाड़ की आड लेकर पलट पड़े और जैसे ही राठौड़ सवार उनकी मार के भीतर पहुँचे वैसे ही उन्होंने उनपर तीरों की वर्षा शुरू कर दी। एक तो वैसे ही राठौड़ घोड़ों पर सवार होने से सघन बन और पथरीली ज़मीन में उनका पीछा नहीं कर सकते थे, दूसरे जंगली मार्गों से भी वे बिलकुल अपरिचित थे। इससे उन्हें बड़ी क्षति सहनी पड़ी। उनके साथ के बहुत से सरदार भी मारे गए। यह देख महाराज को बड़ा दु:ख हुआ और यह लौटकर अहमदाबाद चले गए। वहाँ से कुछ दिन बाद जोधपुर आने पर महाराज ने माँडवी के युद्ध में मारे गए सरदारों के कुटुम्ब के साथ बड़ी समवेदना प्रकट की।

फ़ारसी तवारीख़ों में इस युद्ध का उल्लेख नहीं है। परंतु बांबे गज़ेटियर में लिखा है कि ई० स० १६०६ मे राजा शूरसिंह और राजा टोडरमल का पुत्र राय गोपीनाथ मालवा, सूरत और बड़ोदे के मार्ग से गुजरात भेजे गए। वहाँ पहुँच इन्होंने बेलापुर के शासक कल्याण को हराकर क़ैद कर लिया। परंतु माँडव के शासक के साथ के युद्ध में ये असफल होकर अहमदाबाद को लौट गए। (देखो भा० १, खण्ड १, पृ० २७३)।

[1] तुज़ुक जहाँगीरी पृ० ६८। ख्यातों में लिखा है कि (मोटा राजा उदयसिंह जी का पुत्र) भगवानदास बुंदेला दला के हाथ से मारा गया था। इसलिये भगवानदास के पुत्र गोविंददास ने इसका बदला लेने के लिये महाराज से सहायता की प्रार्थना की। इस पर इन्होंने (सादूल के पुत्र) मुकुंददास को कुछ चुने हुए योद्धा देकर उसके साथ कर दिया। इन लोगों ने बुंदेल खंड में पहुँच दला को मार डाला

का करके इनको खानखानान के साथ दक्षिण की तरफ भेजा।[1] इसके बाद इनके कार्यों से प्रसन्न होकर बादशाह ने अपने चौथे राज्य वर्ष में इनका मनसब बढ़ा कर चार हज़ारी ज़ात और दो हज़ार सवारों का कर दिया।[2]

इसी वर्ष अबदुल्ला खाँ ने सोजत का परगना महाराज कुमार गजसिंह जी को लौटा दिया[3] और इसकी एवज़ में उनसे नाडोल के थाने का प्रबंध

---

[1]तुज़ुक जहाँगीरी, पृ० ७४।

[2]मआसिरुल उमरा, भा० २, पृ० १८२। यह मनसब-वृद्धि जहाँगीर के चौथे राज्य वर्ष (वि० सं० १६६६=ई० सं० १६०९) में हुई थी।

[3]वि० सं० १६६५ (ई० सं० १६०८) में जहाँगीर की आज्ञा से महाबतखाँ ने मेवाड़ पर चढ़ाई की। जिस समय इसका कैंप मोही में था उस समय उसे सूचना मिली कि महाराना अमरसिंह जी का कुटुम्ब सोजत में छिपा हुआ है और राजा शूरसिंहजी के कुछ सरदार उन्हें गुप्तरूप से सहायता देते हैं। इस पर उसने शाही दरबार से आज्ञा प्राप्त कर उक्त प्रांत को महाराज के शासन से निकाल लिया और वहाँ का अधिकार राव चंद्रसेनजी के पौत्र (उग्रसेन के पुत्र) कर्मसेन को दे दिया।

जब इसकी सूचना महाराज को मिली तब इन्होंने अपने मंत्री गोविंददास को महाबतख़ाँ को समझाने के लिये भेजा। परंतु उस समय इस कार्य में सफलता नहीं हुई।

इसके बाद महाबत ख़ाँ के मेवाड़ की चढ़ाई में असफल होने के कारण उसके स्थान पर अब्दुला ख़ाँ नियत किया गया। इसने कर्मसेन से सोजत का अधिकार छीन लेना चाहा। इस पर कर्मसेन ने भी अब्दुला ख़ाँ का बड़ी वीरता से सामना किया। परंतु अन्त में अपने वीर सेनापति सोलंकी कुंभा के मारे जाने और अपना बल क्षीण हो जाने से वह सोजत का क़िला छोड़कर निकल गया। उपर्युक्त सोलंकी कुंभा की स्त्री के, जो अपने पति के साथ सती हुई थी, हाथ का चिह्न क़िले के भीतरी दरवाज़े पर अब तक विद्यमान है।

इसके बाद ही नाडोल के थाने का प्रबंध करने की शर्त पर सोजत का शासन

करने का आग्रह किया। इस पर वे अपनी राठौड़ सेना के कुछ चुने हुए वीरों को लेकर वहाँ जा पहुँचे। इससे उधर की मेवाड़वालों की लूटमार बिलकुल बंद हो गई।[1]

पीछा मारवाड़ नरेश के अधिकार में दे दिया गया। नाडोल के थाने का समुचित प्रबंध हो जाने से आगरे और गुजरात के बीच के मार्ग की लूट खसोट बंद हो गई।

राजपूताने के इतिहास के भा० ३, पृ० ७९६ के फुटनोट ३ में श्रद्धेय ओझा जी ने वि० सं० १७६७ के वैशाख (ई० स० १६१० के अप्रेल) में इस घटना का होना मान कर दक्षिण जाते हुए शूरसिंहजी का भाटी गोविंददास को महाबत ख़ाँ के पास भेजना लिखा है। परंतु एक तो तुज़ुक जहाँगीरी (पृ० ७४) में शूरसिंहजी का वि० सं० १६६५ (ई० सं० १६०८) में ख़ानख़ानान के साथ दक्षिण की तरफ़ जाना लिखा है। दूसरा राजपूताने के इतिहास के ही पृ० ७९५ पर स्वयं ओझाजी ने हि० सं० १०१८ के रबिउल आख़िर=वि० सं० १६६६ के श्रावण=ई० स० १६०९ के जून में महाबत ख़ाँ के स्थान पर अब्दुल्ला ख़ाँ का नियत किया जाना लिखा है। ऐसी हालत में वि० सं० १६६७ के वैशाख में सोजत पर कर्म सेन का अधिकार होने के कुछ समय बाद शूरसिंहजी का गोविंददास को महाबत ख़ाँ के पास भेजना कैसे संभव हो सकता है। नवलकिशोर प्रेस की छपी तुज़ुक जहाँगीरी में हि० सं० १०१८ की १९ रबिउल अव्वल दोशंबा (वि० सं० १६६६ की आषाढ़ बदी ५=ई० स० १६०९ की १२ जून) सोमवार को महाबत ख़ाँ के स्थान में अब्दुल्ला ख़ाँ का नियत किया जाना लिखा है। (देखो पृ० ७५)। गणना से राजपूताने के इतिहास के पृष्ठ ७९५ पर लिखी रबिउल आख़िर की उस (१९) तारीख़ को दोशंबा नहीं आता। इसी के साथ तुज़ुक जहाँगीरी में यह भी लिखा है कि इसी वर्ष की १४ रजब (वि० सं० १६६६ की आश्विन सुदी १५=ई० स० १६०९ की ३ ऑक्टोबर) को अब्दुल्ला ख़ाँ की विजय के समाचार बादशाह के पास पहुँचे। (देखो पृ० ७६)।

[1]इससे पहले उक्त थाने का प्रबंध ग़ज़नी ख़ाँ के हाथ में था। नीलकंठ महादेव के मंदिर के पीछे लगे वि० सं० १६६६ की ज्येष्ठ सुदी १५ (ई० स० १६०९ की ७ जून) के लेख से प्रकट होता है कि जहाँगीर के राज्य समय ग़ज़नी ख़ाँ ने वहाँ

उस समय महाराज के दक्षिण में होने से जोधपुर का सारा प्रबंध महाराज कुमार गजसिंहजी और भाटी गोविंददास के हाथ मे था। वि० सं० १६६८ (ई० स० १६११) मे महाराना अमरसिहजी के योद्धाओं ने अहमदाबाद से आगरे को जाते हुए व्यापारियों के एक संघ[1] का (मारवाड़ राज्य के) दूनाड़ा नामक गाँव तक पीछा किया। परंतु देर हो जाने के कारण व्यापारियों के बहुत आगे बढ़ जाने से वे उसे न लूट सके। इसके बाद जिस समय वे लोग वापिस लौटे उस समय इसकी सूचना[2] पाकर मालगढ़ और भाद्राजन के करीब भाटी गोविंददास ने इन पर हमला कर दिया। यह अचानक आक्रमण देख कुछ देर तक तो मेवाड़वालों ने भी उसका सामना किया। परंतु अंत में अपने बहुत से वीरो के मारे जाने के कारण उन्हे युद्ध स्थल से भाग जाना पड़ा। इस युद्ध मे राठौड़ों की तरफ के भाटी गोपालदास, राठौड़ खींवा और खिदमतगार मान बड़ी वीरता से लड़कर मारे गए।[3] अगले वर्ष जब बादशाह के बुलवाने पर राजा शूरसिंहजी दक्षिण से लौटते हुए सीरोही के गाँव पाडीव मे पहुँचे तब वहाँ के राव राजसिंहजी ने इनका प्रभाव और बल देखकर

के थाने के चारों तरफ़ कोट बनवाकर उक्त नगर का नाम नूरपुर रक्खा था।

गुणरूपक में लिखा है कि राजकुमार गजसिंहजी ने इस अवसर पर नाडोल, जोजावर, चाँमलौद (चॉणोद ?), खोड़, सादड़ी कुंभलमेर आदि में विजय प्राप्त कर सोलंकी, बालेसा, सीधल और सीसोदियों को दबाया और नाडोल के थाने की रक्षा का प्रबंध किया। (देखो गुणरूपक, पृ० ९-१०)

[1] वीर विनोद में कुँवर कर्णसिंह आदि का शाही ख़ज़ाने का पीछा करना लिखा है।

[2] उस समय गोविंददास नाडोल के थाने पर था।

[3] गुणरूपक में लिखा है कि गजसिंहजी के बढ़ते हुए प्रताप को देख महाराना ने एक सेना मारवाड़ में उपद्रव करने के लिये रवाना की। परंतु गजसिंहजी और गोविंददास ने उसके मुक़ाबले में पहुँच उसे और महाराना अमरसिंहजी के राजकुमारों को मार भगाया। (देखो पृ० १०)।

इनसे मित्रता कर लेने का विचार किया। इसी के अनुसार उन्होंने अपने विश्वस्त पुरुषों—देवड़ा पृथ्वीराज और भैरूँदास को महाराज के पास भेजकर कहलवाया कि यदि आप पुराना (रायसिंहजी की मृत्यु का) वैर छोड़कर मेरी मदद करना स्वीकार कर ले तो मैं अपने छोटे भाई शूरसिंह की कन्या राजकुमार गजसिंहजी को ब्याहने को तैयार हूँ। भाटी गोविंददास के कहने से महाराज ने यह बात मान ली। परंतु इसी के साथ नीचे लिखी दो बातें और भी तय की गईं—

१—जिस दिन राजकुमार गजसिंहजी को कन्या ब्याही जावे उसी दिन राव रायसिंहजी के साथ मारे गए अन्य २९ राठौड़ों के कुटुंब वालों के साथ चौहानों की अन्य २९ कन्याएँ भी ब्याही जायँ।

२—देवड़ा बीजा का जड़ाऊ कटार, स्वर्गवासी राव रायसिंहजी का नक़्क़ारा और उनके शिविर का लूटा हुआ सामान राजकुमार और महाराज को भेट के रूप में दिया जाय।

इस प्रकार सारी बातें तय हो जाने पर वि० सं० १६६९ की फागुन-बदी ६ (ई० स० १६१३ की ३१ जनवरी) को दोनों पक्षों के बीच एक अहदनामा लिखा गया।[1]

---

[1]सीरोही के इतिहास (के पृ० २४५) में पं० गौरीशंकरजी ओझा ने लिखा है कि सीरोही के राव के विरुद्ध अपना पक्ष प्रबल करने के लिये ही यह अहदनामा उसके छोटे भाई शूरसिंह ने लिखा था। परंतु ओझाजी स्वयं वहीं पर देवड़ा पृथ्वीराज को महाराव राजसिंह का विश्वस्त पुरुष लिखते हैं और उस अहदनामे पर देवड़ा भैरूँदास के साथ ही इस पृथ्वीराज के भी हस्ताक्षर मौजूद हैं। ऐसी हालत में आप का लिखना कहाँ तक मान्य कहा जा सकता है ?

जोधपुर नरेश की तरफ़ से इस पर हस्ताक्षर करनेवाले पुष्कर ने ब्राह्मण कल्याणदास और बारहठ दुरसा थे।

गुणरूपक में लिखा है कि पुराने वैर का बदला लेने के लिये गजसिंहजी ने आबू और सीरोही के देवड़ों (चौहानों) को हराकर उनका प्रसिद्ध कटार छीन लिय

वि० सं० १६७० (ई० स० १६१३) में महाराज अजमेर गए । उस समय बादशाह जहाँगीर का निवास वहीं था । कुछ ही दिनों बाद उसने महाराज को शाहज़ादे खुर्रम (शाहजहाँ) की सहायता के लिये मेवाड़ की तरफ़ भेज दिया ।[1] शाहज़ादे ने भी इनकी सलाह से मेवाड़ के चारों तरफ़ अपनी सेना के थाने डलवा दिए । इनमें से सादड़ी का थाना राजकुमार गजसिंहजी को सौंपा गया । इस प्रकार चारों तरफ़ से घिर जाने के कारण वि० सं० १६७१ (ई० स० १६१४) में महाराना अमरसिंहजी ने युद्ध में सफलता का होना असंभव देख शाहज़ादे के पास संधि का प्रस्ताव भेज दिया । इस पर बादशाह की स्वीकृति मिल जाने और अन्य सब बातों के तय हो जाने पर, जिस समय महाराना स्वयं अपने परिजनों के साथ शाहज़ादे से मिलने के लिये गोगूँदे आए उस समय महाराज भी शाही अमीरों को साथ लेकर महाराना के पास पहुँचे ।[2] साथ ही इन्होंने मामले के तय करने में भी उन्हें सहायता दी ।[3]

(देखो पृष्ठ १०-११) ।

[1]बादशाहनामा, भा० १, पृष्ठ १६६ । मआसिरुल उमरा, (भा० २, पृष्ठ १८२) में इनका जहाँगीर के राज्य के आठवें वर्ष शाहज़ादे खुर्रम के साथ मेवाड़ पर चढाई करना और बाद में उसी के साथ दक्षिण की तरफ़ जाना लिखा है । जहाँगीर का आठवाँ राज्यवर्ष वि० सं० १६६९ की चैत्र-बदी ३० (ई० स० १६१३ की ११ मार्च) को प्रारंभ हुआ था । तुज़ुक जहाँगीरी में मेवाड़ पर की चढ़ाई का समय वि० सं० १६७० (ई० स० १६१३) और दक्षिण की तरफ़ जाने का वि० सं० १६७३ (ई० स० १६१६) लिखा है । (देखो क्रमशः पृ० १२६ और १६७) ।

[2]बादशाहनामा, भा० १, पृ० १७१-१७२ । यह घटना फागुन-बदी २ (ई० स० १६१५ की ५ फ़रवरी) को है ।

[3]संधि के समय महाराना अमरसिंहजी ने एक लाल बादशाह को भेट किया । उसका तोल ८ टाँक और कीमत ६०,००० रुपए थी । तुज़ुक जहाँगीरी में लिखा है कि यह लाल पहले राव मालदेव के पास था । मालदेव राठौड़ों का सरदार और

इसके बाद महाराज जोधपुर चले आए। इन्हीं दिनों राठौड़ वीरम स्वतंत्र होने का प्रयत्न करने लगा। इस पर महाराज ने अपनी एक सेना को उस पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। कुछ दिन तक तो वीरम ने उसका सामना किया, परंतु अंत में उसने फिर महाराज की अधीनता स्वीकार करली। इस पर महाराज ने प्रसन्न होकर उसे रावल की पदवी और महेवे का प्रांत दे दिया।[1]

वि० सं० १६७२ (ई० स० १६१५) में राजा शूरसिंहजी लौट कर बादशाह के पास अजमेर चले गए। वहाँ पर इन्होंने ४५ हजार रुपए, १०० मुहरें और ९ हाथी बादशाह को भेंट किए।[2] इनमें के एक प्रसिद्ध हाथी का नाम

उमदा (श्रेष्ठ) राजाओं में था। उसके बाद यह (लाल) उसके पुत्र राव चंद्रसेन के हाथ आया। उसी ने राज्य छूट जाने पर इसे कीमत लेकर राना उदयसिंह को दे दिया। (देखो पृ० १४१)।

गुण रूपक में लिखा है कि बादशाह जहाँगीर एक बड़ी सेना लेकर मेवाड़ का दमन करने के लिये अजमेर गया। परंतु जब महाराना अमरसिंहजी ने वीरता के साथ शाही सेना का मुकाबला किया तब उसने राजा शूरसिंहजी को वहाँ आने को लिखा। इस पर महाराज ने मेवाड़ पहुँच महाराना को संधि करने के लिये तैयार किया। इसी बीच पिता के बुलाने से राजकुमार गजसिंहजी भी भाटी गोविंददास को लेकर वहाँ पहुँच गए थे। महाराज की मार्फ़त संधि की बातचीत तय हो जाने पर शाहज़ादा ख़ुर्रम और महाराना का ज्येष्ठ पुत्र करन दोनों गोगूँदे में मिले। इसके बाद ये दोनों अजमेर में बादशाह के पास पहुँचे। वहाँ पर भी राजकुमार करन का यथोचित सत्कार किया गया। (देखो पृ० ११-१२)।

[1]भाटी गोविंददास ने इस मामले में महाराज से कह सुन कर वीरम को दी थी। इसकी एवज में वीरम ने अपनी कन्या को उसके किसी कुटुंबी

'रणरावत' था। इसके कुछ दिन बाद इन्होंने 'फ़ौज सिनगार' नामक एक हाथी और भी बादशाह को दिया।[1] इस पर बादशाह ने भी महाराज को एक ख़ासा हाथी दिया और शीघ्र ही उनका मनसब बढ़ाकर पाँच[2] हज़ारी ज़ात और तीन हज़ार सवारों का कर दिया।

इस मनसब वृद्धि के साथ इन्हें फलोदी का परगना जागीर में मिला। यह पहले बीकानेर के राव रायसिंहजी[3] और उनके पुत्र सूरजसिंहजी के अधिकार में भी रह चुका था।

अभी महाराज बादशाह के साथ अजमेर में ही थे कि, इसी वर्ष की ज्येष्ठ-सुदी ९ (ई० स० १६१५ की २६ मई) की रात को इनके भ्राता राजा किशन-

---

[1]तुज़ुक जहाँगीरी में बादशाह लिखता है कि "यह हाथी भी अच्छा होने से ख़ास हाथियों मे दाख़िल किया गया है। परंतु पहला हाथी (रणरावत) अपूर्व वस्तु है और दुनिया की आश्चर्योत्पादक वस्तुओं में गिना जा सकता है। उसकी कीमत २०,००० रुपए हैं। मैंने भी उसकी एवज़ में १०,००० रुपए की कीमत का एक ख़ासा हाथी सूरजसिंह को दिया (देखो पृ० १४३)।

[2]तुज़ुक जहाँगीरी, पृ० १४२। बादशाह अकबर और उसके उत्तराधिकारी जहाँगीर के राज्य में पाँच हज़ारी बहुत बड़ा मनसब समझा जाता था। साधारणतया इससे बड़ा मनसब केवल शाहज़ादों को ही मिलता था। हाँ, कभी कभी कोई बडा अमीर सात (सप्त) हज़ारी तक भी पहुँच जाता था। परंतु शाहजहाँ के समय दस हज़ारी तक के मनसब अमीरों को मिलने लगे थे और शाहज़ादों के मनसब ४० या ५० हज़ारी तक पहुँच गए थे। परंतु पीछे से इन मनसबों का महत्त्व बहुत कुछ घट गया। बादशाह मोहम्मदशाह के समय में फ़र्रुख़ाबाद के नवाब का मनसब ५२ हज़ारी तक पहुँचा था। अकबर के समय पाँच हज़ारी मनसबदार का वेतन २९ हज़ार था। उसे १६८ हाथी २७२ घोड़े, १०८ ऊँट और २०७ गाड़ियाँ रखनी पड़ती थीं।

[3]फलोदी हकूमत के कोट की बुर्ज में वि० सं० १६५० की आषाढ सुदी ९ का एक लेख लगा है। उससे उस समय वहाँ पर रायसिंहजी का राज्य होना पाया जाता है।

सिहजी ने भाटी गोविंददास के मकान पर अचानक आक्रमण कर उसे मार डाला।[1] जैसे ही इस हल्ले से पास के मकान में सोते हुए महाराज की आँख खुली वैसे ही ये स्वयं खड्ग ले कर बाहर निकल आए। इसी बीच इनके योद्धा भी सजग हो गए और उन्होंने आक्रमण कारियों को चारों तरफ से घेर कर मार डाला। इस युद्ध में राजा किशनसिहजी भी अपने भतीजे कर्ण के साथ मारे गए।[2] जब महाराज को अपने भाई, भतीजे और प्रधान मंत्री के मारे जाने का

---

[1]किशनसिंहजी के इस प्रकार अचानक आक्रमण कर भाटी गोविंददास को मारने का कारण उनके भतीजे गोपालदास का उसके हाथ से मारा जाना था।

उस घटना का हाल इस प्रकार लिखा मिलता है—एक बार राठौड़ सुंदरदास, जोधा (रामदास के पुत्र) शूरसिंह और (कल्ला के पुत्र) नरसिंह ने मिल कर राठौड़ भगवानदास के पुत्र गोपालदास पर हमला किया। उस समय भाटी गोविंददास के भाई (लवेरे के स्वामी) सुरतान ने गोपालदास का पक्ष लिया। युद्ध होने पर सुरतान मारा गया। परंतु उसने मरने के पूर्व ही नरसिंह को मार लिया। उस समय तक गोपालदास भी अच्छी तरह से ज़ख़्मी हो चुका था। इसलिये वह अपने को बचे हुए दो शत्रुओं का सामना करने में असमर्थ जान युद्धस्थल से भाग खड़ा हुआ। यह समाचार सुन भाटी गोविंददास ने सोचा कि मेरे भाई ने तो गोपालदास के लिये युद्ध में अपने प्राण दिए। परंतु उसके मरने पर वह (गोपालदास) स्वयं अपने प्राणों के मोह से युद्ध छोड़ कर भाग गया। यह बात गोविंददास को अच्छी न लगी। इस पर उसने अपने भाई का बदला लेने के लिये गोपालदास का पीछा किया और काकडखी गाँव के पास पहुँचते पहुँचते उसे मार डाला।

इस घटना के समाचार सुन राजा किशनसिंहजी गोविंददास से नाराज़ हो गए। उनका ख़याल था कि राजा शूरसिंहजी स्वयं ही उससे अपने भतीजे का बदला लेने का प्रबंध करेंगे। परंतु जब महाराज ने उधर कुछ भी ध्यान नहीं दिया तब उन्होंने इस प्रकार नैश आक्रमण कर गोविंददास को मार डाला। परंतु इसी में उन्हें भी अपने प्राण देने पड़े।

[2]तुज़ुक जहाँगीरी में लिखा है कि गोविंददास के मकान पर हमला करते

हाल मालूम हुआ तब उन्हें बड़ा दुख हुआ।

कुछ दिन बाद बादशाह ने इन्हें एक जोड़ी मोती और बहुत क़ीमती खासा देकर दक्षिण की तरफ़ भेजने की इच्छा प्रकट की। इस पर यह दो मास के

समय स्वयं राजा किशनसिंहजी घोड़े से उतर कर उसके मकान में घुस गए थे। इसी से वे मारे गए (देखो पृ० १४४-१४५)। परंतु मारवाड की ख्यातों में लिखा है कि राजा किशनसिंहजी महाराज के सजग होने के पहले ही गोविंददास को मारकर चल दिए थे। यह देख महाराज ने अपने पुत्र गजसिंहजी को उनका पीछा करने की आज्ञा दी। इसी के अनुसार उन्होंने कुछ चुने हुए वीरों को साथ लेकर किशनसिंहजी का पीछा किया। मार्ग में दोनों पक्षों के बीच युद्ध होने पर किशनसिंहजी मारे गए।

मुंतख़िबुल्-लुबाब नामक इतिहास मे लिखा है कि किशनसिंह का शोर सुनते ही सूरजसिंह तलवार लेकर बाहर चला आया और उसने किशनसिंह और करन को मार डाला। इसके बाद किशनसिंह के साथ के लोग राजा की हवेली से निकल-कर लड़ते-भिड़ते बादशाह के महल की तरफ़ भागे। राजा सूरजसिंह भी उनका पीछा करता हुआ बादशाही दौलतख़ाने के दरवाज़े तक जा पहुँचा। (देखो जिल्द १, पृ० २८१-२८२)।

गुणरूपक में लिखा है कि मेवाड़ विजय के बाद बादशाह को राठौड़ों का बढ़ता हुआ बल खटकने लगा। उसने सोचा कि राजा शूरसिंह, राजकुमार गजसिंह, केहरि (किशनसिंह), करमसेन, करन और भाटी गोविंददास बड़े बलवान हो रहे हैं। इससे इनको आपस में ही लड़ाकर निर्बल कर देना चाहिए। इसी के अनुसार उसने एक रोज़ दरबार के समय राजकुमार गजसिंहजी के सामने ही केहरि (किशन-सिंहजी) को गोविंददास को मार डालने के लिये उकसाया। यह देख गजसिंहजी को भी क्रोध आ गया। अंत में बहुत कुछ कहा सुनी के बाद दोनों अपने अपने निवास-स्थान को चले गए। इसके बाद एक दिन किशनसिंहजी ने पिछली रात को गोविंद-दास के मकान पर चढ़ाई कर उसे मार डाला। इसकी सूचना पाते ही गजसिंहजी भी शत्रु के मुक़ाबले के लिए आ पहुँचे। युद्ध होने पर केहरि (किशनसिंहजी) और करन तो मारे गए परंतु करमसेन भाग निकला देखो पृ० १२ १७)

लिये जोधपुर चले आए।[1] यहाँ पर सूरसागर के बगीचे में इन्हों ने सोने और चाँदी का तुलादान किया। इसके बाद राज्य का प्रबंध कर यह अपने राज-कुमार गजसिंहजी के साथ बादशाह के पास अजमेर चले गए। इसी समय बादशाह ने इनके सवारों मे ३०० की वृद्धि कर इनका मनसब पाँच हज़ारी ज़ात और तेंतीस सौ सवारों[2] का कर दिया। साथ ही उसने इन्हें एक ख़िल-अत और एक घोड़ा भी दिया।[3] इसके बाद यह दक्षिण पहुँच[4] शाही सेना-नायकों के साथ वहाँ के उपद्रवों को दबाने और शत्रुओं को परास्त कर उनके प्रदेशों को विजय करने में लग गए।

तारीखे पालनपुर में लिखा है कि वि० सं० १६७४ (ई० स० १६१७) मे बादशाह जहाँगीर ने जालोर के शासक पहाड़खाँ को मरवा कर उक्त प्रदेश को शाहज़ादे खुर्रम की जागीर में मिला लिया। परंतु वहाँ का प्रबंध ठीक न हो सकने के कारण बाद में वह प्रांत राजा शूरसिंहजी को दे दिया।[5] इस पर

कर्नल टाड ने इस घटना का राजा गजसिंह जी के समय में होना और शाहज़ादे खुर्रम के कहने से राजा किशनसिंहजी का भाटी गोविंददास को मारना लिखा है। (क्रुक संपादित, टाड का राजस्थान का इतिहास, पृ० ९७४।)

[1]तुज़ुक जहाँगीरी, पृ० १४५।

[2]तुज़ुक जहाँगीरी, पृ० १४९।

[3]तुज़ुक जहाँगीरी, पृ० १४८।

[4]मआसिरुल-उमरा (भा० २, पृ० १८२) में भी इस घटना का समय जहाँगीर का १० वाँ राज्य वर्ष लिखा है। यह वि० सं० १६७१ की चैत्र-बदी ६ (ई० स० १६१५ की १० मार्च) से प्रारंभ हुआ था।

ख्यातों में लिखा है कि दक्षिण की तरफ़ जाते हुए महाराज ने मार्ग में पिसाँ-गण से राजकुमार गजसिंहजी, आसोप ठाकुर (खींवाँ के पुत्र) राजसिंह, व्यास नाथ और भंडारी लूणा को मारवाड़ की देख भाल के लिये जोधपुर भेज दिया था।

[5]कर्नल टाड के लिखे राजस्थान के इतिहास में लिखा है कि अकबर की मृत्यु के बाद जब राजा शूरसिंहजी गजसिंहजी को लेकर शाही दरबार मे

महाराज की आज्ञा से राजकुमार गजसिंहजी ने अपनी सेना के साथ पहुँच एकाएक वहाँ के किले पर चढ़ाई कर दी। कुछ समय तक तो दोनों पक्षों के बीच भीषण संग्राम होता रहा, परंतु अंत में वहाँ के नारायणदास काबा की सहायता से यह एक टूटे हुए बुर्ज की तरफ़ से क़िले में घुस गए। राठौड़ सेना को इस प्रकार एकाएक क़िले में घुसी देख शत्रुओं ने शस्त्र रख दिए, इससे क़िले पर राजकुमार का अधिकार हो गया। दूसरे दिन वहाँ के बिहारी पठानों ने एकत्रित होकर फिर शहर के द्वार पर राठौड़ सेना का बड़ी वीरता से सामना किया। परंतु (डोडियाली के ठाकुर) पूँजा और कीरतसिंह देवड़ा आदि के

गए तब जहाँगीर ने जालोर को विजय करने में अद्भुत वीरता दिखाने के कारण गजसिंहजी को अपने हाथ से एक तलवार भेंट की।

जालोर विजय का हाल कर्नल टाड ने इस प्रकार लिखा है—

जालोर उस समय गुजरात के बादशाहों के अधीन था। परंतु जैसे ही राजकुमार गजसिंहजी को जालोर विजय के लिये कहा गया, वैसे ही उन्होंने सेना लेकर बिहारी पठानों पर चढ़ाई कर दी। जिस जालोर दुर्ग को फतह करने में अलाउद्दीन को कई वर्ष लग गए थे उसी को उन्होंने केवल तीन मास में विजय कर लिया।

यद्यपि इस युद्ध में बहुत से राठौड वीर मारे गए तथापि राजकुमार गजसिंह जी बिना किसी हिचकिचाहट के तलवार हाथ में लेकर काठ की सीढ़ी के ज़रिये क़िले पर चढ़ गए। वहाँ पर के युद्ध में ७००० पठान मारे गए। इसके बाद क़िले पर उनका अधिकार हो गया। (देखो क्रुक संपादित, ऐनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज़ अव् राजस्थान, भा० २, पृ० ९७०) परंतु जालोर पर जो उस समय गुजरात वालों का अधिकार होना लिखा है, यह ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि गुजरात उस समय मुग़लों के ही अधिकार में होने से वहाँ का कोई स्वतंत्र बादशाह नहीं था। इसी प्रकार की और भी अनेक बातें कर्नल टाड के राजस्थान में लिखी मिलती हैं; जो फ़ारसी तवारीख़ों आदि से सिद्ध नहीं होतीं। हमारी समझ में बादशाह ने शूरसिंहजी के दक्षिण जाने के पूर्व जिस समय उनके सवारों में ३०० की वृद्धि की थी उसी समय शायद जालोर भी उनके मनसब में दे दिया होगा

बिहारियों को मदद देने से इनकार कर देने के कारण वे सारे के सारे पठान युद्ध में मारे गए। इस प्रकार जब जालोर पर राजकुमार गजसिंहजी का अधिकार हो गया[1] तब वहाँ के शासक पहाड़खाँ का दीवान मेहता मोकलसी बची हुई बिहारियों की सेना को लेकर भीनमाल की तरफ़ चला गया। परंतु राठौड़ों ने उसका पीछा न छोड़ा और उसके भीनमाल पहुँचते ही तत्काल उस नगर को चारों तरफ़ से घेर लिया। वहाँ के युद्ध में शत्रुओं की तरफ के मोकलसी आदि कुछ मुख्य पुरुष तो मारे गए और बचे हुए पठान भागकर वि० सं० १६७५ (ई० स० १६१८) में (पालनपुर इलाके के) कुरभाँ गाँव में चले गए। परंतु इसके बाद भी वे मौक़ा पाते ही अर्वली पर्वत की सूँधा आदि की घाटियों का आश्रय लेकर जालोर के आस पास लूट मार करने में नहीं चूकते थे।[2]

ख्यातों में लिखा है कि एक बार जिस समय सवाई राजा शूरसिंहजी शाहजादे खुर्रम और नवाब खानखानान के साथ दक्षिण मे महकर के थाने पर थे, उस समय शत्रुओं ने आकर उस नगर को घेर लिया। इस प्रकार घेरे जाने से शाही सेना का संबंध बाहर से बिलकुल टूट गया और उसे रसद का मिलना भी बंद हो गया। इस पर भी कुछ दिन तक तो किसी तरह काम चलता रहा, परंतु अंत में नाज की कमी के कारण उसकी दर बहुत चढ़ गई। यह

---

[1]गुणरूपक, पृ० १९-२९। उक्त काव्य मे इस विजय का भादों में होना लिखा है। उसमें यह भी लिखा है कि इस घटना के बाद गजसिंहजी ने उग्रसेन के पुत्र कर्मसेन पर चढ़ाई की। इसकी सूचना पाते ही वह लाडणू से भागकर पहले तो थली (निर्जल स्थल) की तरफ़ गया और फिर वहाँ से बला पहाड़ की तरफ़ चला गया। महाराज कुमार गजसिंहजी भी उसके पीछे लगे हुए थे। इससे शीघ्रही उन्होंने सोझत पहुँच विजयादशमी के दिन फिर करमसेन पर चढ़ाई की। यह देख वह मेरों की शरण में चला गया परंतु जब गजसिंहजी ने मेरों को दण्ड देना शुरू किया तब उस (कर्मसेन

देख राठौड़ सरदारों ने जैतावत कुंभकर्ण को भेज कर महाराज को इस बात की सूचना दी। परंतु महाराज ने उसे अपनी पाकशाला के सुवर्ण के बर्तन देकर समझा दिया कि अभी तो इनको बेचकर कुछ दिन के लिये नाज का प्रबंध कर लो तब तक कुछ न कुछ उपाय हो ही जायगा। परंतु जब कुछ ही दिनों बाद फिर वही कठिनता उपस्थित हुई और शाही अमीरों के किए कुछ भी प्रबंध न हो सका तब कुंभकर्ण ने महाराज की सेवा में उपस्थित होकर शत्रुओं पर आक्रमण करने की आज्ञा चाही। इस पर महाराज ने खानखानान से भी सम्मति ले लेना उचित समझा। परंतु उसने बादशाह की इच्छा के विरुद्ध शत्रु से युद्ध छेड़ देने से साफ इनकार कर दिया। कुंभकर्ण को इस प्रकार निश्चेष्ट हो कर शत्रुओं के बीच घेरा रहना असह्य हो रहा था। इसलिये खानखानान के इनकार कर देने पर भी उसने केवल अपने योद्धाओं को लेकर बीजापुर वालों पर हमला कर दिया। यद्यपि इसमें उस के कई वीर मारे गए और वह स्वयं भी बहुत जख़मी हुआ, तथापि उसने दक्षिणियों के झंडे को छीनकर (सादा के पुत्र) कामा के साथ महाराज के पास भेज दिया। यह देख महाराज भी युद्ध के लिये उत्सुक हो उठे और इन्हों ने बादशाही आज्ञा की प्रतीक्षा में बैठे हुए खानखानान को जबरदस्ती तैयार कर शत्रुओं पर हमला कर दिया। घोर युद्ध के बाद शत्रु तो भाग खड़े हुए और मैदान शाही सैनिकों के हाथ रहा। इसके बाद खानखानान ने कुंभकर्ण के लिये एक पालकी भेजकर उसे रणस्थल से अपने डेरे पर बुलवाया और उसकी चिकित्सा का पूरा पूरा प्रबंध किया। इससे कुछ दिनों में उसके सारे घाव भरगए।

इसके बाद जब खानखानान ने गढ़ पिंडारा विजय किया, तब वहाँ पर उसे चतर्भुज विष्णु की एक सुंदर मूर्ति हाथ लगी। इसे उसने प्रेमोपहार के रूप में महाराज को भेंट कर दिया। यह मूर्ति अब तक जोधपुर के किले मे विद्यमान है।

वि० सं० १६७६ की भादों-सुदी ८ (ई० स० १६१९ की १८ सितंबर) को वहीं दक्षिण में, महकर के थाने में, सवाई राजा शूरसिंहजी का स्वर्गवास

हो गया।[1]

यह महाराजा बड़े ही प्रतापी, बुद्धिमान् और दाता थे।[2] राव मालदेवजी के बाद इन्हों ने ही मारवाड़ राज्य की वास्तविक उन्नति की। इनके शासन में मारवाड़ के सिवाय, ५ परगने गुजरात के, १ मालवे का और १ दक्षिण का भी था। ये परगने इन्हें बादशाह की तरफ़ से मनसब में मिले थे। इनका अधिक समय गुजरात और दक्षिण के युद्धों में ही व्यतीत हुआ। और वहाँ पर समय समय पर इन्हों ने वीरता के अद्भुत कार्य भी कर दिखाए। पहले लिखा जा चुका है कि इनके समय में इनके प्रधान मंत्री भाटी गोविंददास ने राज्य का सारा प्रबंध

---

[1]तुज़ुक जहाँगीरी में जहाँगीर ने लिखा है कि हि० स० १०२८ में दक्षिण से राजा शूरसिंह की मृत्यु के समाचार मिले। यह उस राव मालदेव का पोता था; जो हिंदुस्तान के प्रतिष्ठित ज़मींदारों में से था। राना की बराबरी करने वाला ज़मींदार वही था। उसने एक लड़ाई में राना पर भी विजय पाई थी। राजा शूरसिंह ने मेरे पिता अकबर का और मेरा कृपापात्र होने से बड़े दरजे और मनसब को प्राप्त किया था। उसका देश और राज्य उसके बाप और दादा के देश और राज्य से बढ़ गया था। (देखो पृ० २८०)।

गुणरूपक में लिखा है कि महाराजा शूरसिंहजी २४ वर्ष राज्य कर ४९ वर्ष की अवस्था में वि० सं० १६७६ की भादों-सुदी में महकर में स्वर्ग सिधारे। इनके पीछे तीन रानियाँ तो दक्षिण में और एक जोधपुर में सती हुईं (देखो पृ० ३१)।

[2]सवाई राजा शूरसिंहजी ने १६ गाँव दान किए थे। इनमें से १ गैला-वस (जोधपुर परगने का) श्रीमाली ब्राह्मण को, २ मेघावास (मेड़ते परगने का) दसौंधी भाट को, ३ छींडिया (जोधपुर परगने का), ४ वही का बड़े का वास, ५ तिंग-रिया, ६ हरलाई वीकम कोर का वास (जोधपुर परगने के), ७ लोलासणी, (डूनाड़े के पास का), ८ ऊँचियारडा, ९ चछवास, १० बीलावस, ११ गैमावस, १२ गूँदीसर (मेड़ते परगने के) १३ रैंदड़ी, १४ नापावस, १५ वीजलियास (यह गाँव छोला नय की एवज़ में दिया गया था) और १६ सींकनमड़ी (सोजत परगने के चारणों

बदल कर उस समय की प्रचलित शाही शैली के अनुसार कर दिया था। वही प्रबंध आज से करीब ५० वर्ष पूर्व तक चला आता था। परंतु भारत-सरकार के संबंध से आजकल उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन करके उसे नवीन रूप दे दिया गया है।

वि० सं० १६६३ (ई० स० १६०६) में सवाई राजा शूरसिंहजी ने ही जोधपुर नगर के चाँदपोल दरवाज़े से एक मील वायु-कोण में स्थित पर्वत श्रेणी के पास अपने नाम पर सूरसागर नामक तालाब बनवा कर उसके तट पर सुंदर बग़ीचा, संगमरमर की एक बारादरी और महल बनवाए थे। चाँदपोल दरवाज़े के बाहर का रामेश्वर महादेव का मंदिर, सूरजकुंड नामक बावली और शहर के बीच के तलहटी के महल भी इन्हीं के बनवाये हुए हैं।

इनकी कछवाही रानी सौभाग्यदेवी ने दहीजर गाँव में सोभाग सागर नामक तालाब बनवाया था। इसी रानी के गर्भ से राजकुमार गजसिंहजी का जन्म हुआ।

शूरसिंहजी के २ पुत्र थे, गजसिंहजी और सबलसिंह।

मध्य-युग में हिंदू-मुस्लिम संबंध

[लेखक—प्रोफ़ेसर मुहम्मद हबीब, एम्० ए० (ऑक्सन)]

हमारी मध्यकालीन राज्य-संस्था मुख्यतः एक लौकिक संस्था थी। राज-बल का आधार इस्लाम धर्म न था, फ़ारसी परंपरा थी। दिल्ली के सुल्तान बादशाह सदा अपने व्यक्तिगत धर्म को राज-धर्म से भिन्न मानते रहे। वे अपनी सारी प्रजा के भूपाल थे, एक मात्र मुसल्मानों के नहीं। इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि एक ओर तो यह मध्य-काल की विचित्र जातीयता का और राजनीति की पूर्ण लौकिकता का निदर्शन करती है, दूसरी ओर यह यह प्रकट करती है कि दिल्ली-साम्राज्य की समम्त प्रजा—और केवल प्रजा ही—धार्मिक पीड़न से मुक्त थी। सुल्तान बादशाहों और हिंदुओं के बीच का बंधन धर्म का बंधन नहीं [illegible] राजा-प्रजा का बंधन था और इस बंधन की वास्तविकता दोनों पक्ष अच्छी प्रकार समझते थे। अपनी हिंदू प्रजा की आध्यात्मिक मुक्ति का उत्तरदायित्व बादशाह के ऊपर नहीं था, यह उस के निर्णय करने का प्रश्न न था। जब तक कि वह लोग उस की आज्ञा का उचित पालन करते रहते तब तक वह संतुष्ट रहता था। इधर हिंदू लोग राज-नीतिक विषयों में तो बादशाह के बल का समर्थन करते परंतु धार्मिक बातों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप सहन न करते। ज्यों ही तुर्की आक्रमण और विजय की लहर रुकी, साम्राज्य के भीतर रहनेवाली बादशाह की समस्त प्रजा को धार्मिक स्वतंत्रता दे देना ही राष्ट्र की एक नीति संभव मानी गई। दिल्ली के विस्तृत साम्राज्य के भीतर सर्वत्र हिंदू मंदिर यथावत् छोड़ दिये गए। दमन के तीन चार उदाहरण जो हमारे इतिहासकार उपस्थित करते हैं वे इस साधा-रण स्थिति का प्रतिवाद न करके उस की पुष्टि ही करते है। जहां तक हिंदुओं के घोड़े की सवारी करने से रोके जाने का, तीर न चलाने की आज्ञा का और

इसी प्रकार उन के जुलूसों के रोकने का और नित्यकर्म और पूजा-पाठ में अड़चनों का प्रश्न है, यह सब ऐसे किस्से हैं जो मौलिक ग्रंथों के भ्रमात्मक पाठ से उठ खड़े हुए हैं।[1] मलिक नायक नाम का सेनापति अलाउद्दीन की

---

[1]उदाहरण के लिए ज़ियाउद्दीन बरनी अपनी तारीख़े-फ़ीरोज़शाही में लिखता है कि अलाउद्दीन ख़िलजी के नियंत्रणों के कारण हिंदू इतने ग़रीब हो गये थे कि न उन के पास चढ़ने के घोड़े थे न पहिनने को रेशमी वस्त्र और न तीर चलाने के लिये फ़ारसी धनुप। बरनी के वृत्तांत को ध्यान-पूर्वक मनन करने से इस बात का पता चलेगा कि उस का तात्पर्य सब हिंदुओं से नहीं है, केवल उन हिंदुओं से है जिन्हें कि उस ने गिनाया है अर्थात् 'मुक़द्दम' 'खोट' और 'बिलाहिरों' से। मुक़द्दम का अर्थ मुखिया होता है खोट कदाचित् फ़ारसी शब्द खाट (लेख) का अपभ्रंश है। तात्पर्य उस मनुष्य से है जिस ने माल-विभाग में मालगुज़ारी जमा करने का ठीका लिया है। 'बिलाहिर' का ठीक अर्थ जानना कठिन है। परंतु इस में संदेह नहीं कि हिंदू से बरनी का तात्पर्य गाँव के मुखियों से है। इन मुखियों के विरुद्ध अलाउद्दीन ने दो बातें की थीं। एक तो उस ने इन के हक़ूक़े-खोटी (अर्थात् वह हक जो इन्हें मालगुज़ारी इकट्ठा करने के लिये मिलता था) बंद कर दिए और अपने कारिंदे और दीवान इस कार्य के लिये रक्खे। दूसरे उस ने यह आज्ञा दी कि मालगुज़ारी ज़मीन के विस्तार के हिसाब से लगाई जाय जिस में 'बड़ों का बोझ छोटों पर न पड़े।' यह क़ानून प्रत्यक्ष में तो न्यायमुक्त है पर मुखिया लोगों को अखरा। मालगुज़ारी वसूल करनेवाले तो वही थे और वह अब तक औरों से, उन के हिस्से से अधिक वसूल करके, आप मालगुज़ारी देने से बच जाते थे। फ़िरिश्ता तो यह लिखता है कि अलाउद्दीन ने यह क़ानून बना दिया था कि कोई गाँव वाला चार से अधिक गाय बैल या भैंस या २० से अधिक भेड़ न रख सके। और यह इसलिये किया था कि गाँव के बड़े आदमी छोटों के चराई का अपहरण न करलें।

अलाउद्दीन यह कहा करता था कि 'मेरे गद्दी पर बैठने के समय मुखिया लोग एक-दूसरे से लड़ाई किया करते थे और माल विभाग के कारिंदे उन के पास जाते तो उन्हें क़ैद कर लिया करते थे अलाउद्दीन के बरछे के बल से फैलाये इन नियंत्रणों से

सेना के दहिने पक्ष का नायक था और चित्तौर का राना पाँच सहस्र सैनिकों सहित उस के अग्र भाग का। जिस धर्म के लोगों को घोड़े पर सवारी करने की और अस्त्र धारण करने की आज्ञा न हो, क्या उस धर्म के आदमियों को ऐसे पद दिए जा सकते थे? मैं, एक क्षण के लिये भी, इस बात का संकेत नहीं करना चाहता कि साम्राज्य के भीतर हिंदू धर्म के लिये जो सहनशीलता थी वह बादशाह की इच्छा के अनुकूल थी या उसे विशेष कट्टर मुस्लिम प्रजा पसंद करती थी। अधिकांश विवशता थी, एक मात्र राजनीतिक आवश्यकता थी। मध्यकालीन हिंदू-धर्म शस्त्रयुक्त और संगठित था। यदि उस के प्रति सहनशीलता दिखाई जाती थी तो उस का कारण यही था कि इस के अतिरिक्त शासकों के पास कोई दूसरा उपाय नहीं था।

सन १२९१ ईस्वी में, सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी ने, रणथंभोर का अवरोध आरंभ किया, लेकिन उसे दु:साध्य पाकर उस ने सेना को लौटने की आज्ञा दी। सुल्तान के भतीजे, मलिक अहमद हबीब ने इस आज्ञा का राज-सभा में विरोध किया। कहा—'यदि बादशाह रणथंभोर जीते बिना लौटते हैं तो लोगों की दृष्टि में उन का आदर कम हो जायगा। श्रीमान् सुल्तान महमूद ऐसे धर्म के स्तंभों का अनुकरण क्यों नहीं करते जिन्हों ने दुनियाँ पर विजय प्राप्त की। आप उन की कृतियों और विजयों की ओर से आँखें नहीं फेर सकते।' सुल्तान यह सुनकर हँसा और बोला—"बच्चे, महमूद और संजर के अस्त्र-वाहक और

मुखिया लोगों की दशा बहुत दीन हो गई। अपने गाँवों के वे मालिक बनने का अधिकार करने लगे थे। अलाउद्दीन ने उन्हें साधारण किसान बना दिया। बरनी यह नहीं कहता है कि उन्हें घोड़ों पर न चढ़ने की या रेशमी वस्त्र न पहिनने की आज्ञा दी गई थी। उस के कथनानुसार वे लोग इतने ग़रीब हो गये थे कि ऐसा करने में असमर्थ थे। इन वाक्यों ने दुर्भाग्य वश बड़ी ग़लत-फ़हमी पैदा कर दी है परंतु यदि यह बरनी के अलाउद्दीन के अन्य सुधारों के वर्णन के साथ पढ़ा जाय तो ग़लत-फ़हमी न होगी [illegible] पृ० २८२ २९६, फ़ारसी मूल) यद्यपि अधिकांश मुखिया हिंदू थे, कुछ निस्संदेह [illegible] भी थे। अलाउद्दीन के नियंत्रण दोनों के लिये समान थे

प्यादे भी मुझ से हज़ारगुना अच्छे और अधिक प्रतिष्ठित थे। मेरा तो चार दिन का राज का बहाना है। मैं भला उन बड़े शासकों की बराबरी का स्वप्न देख सकता हूं? मैं क्या हूं, मेरी शान और मेरे राज्य का बल क्या है कि महमूद और संजर जो कर गये हैं वह करना चाहूँ। मूर्ख! तू देखता नहीं कि हिंदू नित्य मेरे महल के पास शंख फूँकते और ढोल बजाते हुए निकलते हैं और जमुना के किनारे अपने बुतों की पूजा करने जाते हैं। मेरे सामने अपने कुफ्र के नियमों का आचरण करते हैं, मेरा और मेरे राज-बल का तिरस्कार करते हैं। अगर मैं सच्चा मुसल्मान बादशाह होता तो क्या मैं उन्हें पान खाते, सफेद-पोश या मुसल्मानों के बीच में निडर होकर अकड़ते देख सकता? धिक्कार है मुझ पर और मेरे राज्य पर! मेरा नाम हर शुक्रवार के खुतबे में पढ़ा जाता है। झूठे मुल्ले मुझे दीन का रक्षक बताते हैं और फिर भी मेरे दीन के दुश्मन, मेरी आँखों के सामने आराम से, शान से जिंदगी बसर करते हैं और अपनी अमीरी और खुशहाली के कारण मुसल्मानों से ऊँचा होने का गर्व करते हैं। खुल्लमखुल्ला, ढोल पीटकर, ये लोग अपने बुतों को पूजते हैं। अपने कुफ्र के नियमों का पालन करते हैं। धिक्कार है मुझ पर जो उन को आराम से रहने देता हूं, उन के गर्व को नहीं तोड़ता, और उन से कुछ टंके लेकर, जो वह मुझे भीख की तरह देते हैं, संतोष करता हूं।"[१]

यह एक अशक्त धर्मांधता की अंतिम खीस थी। जलालुद्दीन, जिस का व्यवहार-संबंधी ज्ञान, उस की धर्म-कट्टरता से ऊँचा था, दिल्ली लौट आया परंतु हिंदुओं के विरुद्ध उस ने कुछ किया नहीं। महमूद ग़जनीन का समय सदा के लिये जा चुका था। दिल्ली के सुल्तान-बादशाहों को, खुशी से अथवा विवश होकर उन शर्तों को स्वीकार करना पड़ता था, जो हिंदू चाहते थे। जलालुद्दीन खिलजी जिस असहिष्णुता की शिक्षा देता था, परंतु जिस पर वह स्वयं आचरण नहीं करता था, इस्लाम धर्म का अंग नहीं है। असहिष्णुता को अपना कर्तव्य समझने वाले मुसल्मानों की चलती न थी। दमन धर्मांधों के लिये

---

[१] ज़ियाउद्दीन बरनी कृत तारीख़े फ़ीरोज़शाही फ़ारसी मूल ग्रंथ।

आदर्श मात्र रह गया था। इस के विषय में व्यवहार-कुशल लोग व्यर्थ की चिंता मे नहीं पड़ते थे।

सुल्तान महमूद ऐसा उद्दंड शासक, एक संगठित जाति के बल के भरोसे, आकर, शांतिप्रिय नगरों को लूट कर, लूट के माल से लदा हुआ भले हो अपने देश को वापस जा सकता था। परंतु दिल्ली के सुल्तान बादशाहों के लिये, जिन्हें कर, सेना तथा अन्य बातों के लिये सदा अधिकांश हिंदू प्रजा से व्यवहार करना पड़ता था, ऐसी नीति असंभव थी। यदि वह धार्मिक झगड़ो में पड़ते तो उन का काम ही नहीं चल सकता था। मध्य-युग में दमन के जो उदाहरण माने जाते है वे अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं और उन पर ध्यान-पूर्वक विचार करने से इस बात का पता चलेगा कि वे व्यक्तिगत अनाचार के उदाहरण हैं, धार्मिक पीड़न के नहीं। कम से कम समकालीनों की दृष्टि मे ऐसे नहीं थे। यह आश्चर्य की बात है, कि मध्य-युग के राजनीतिक अथवा धार्मिक साहित्य में कहीं इस बात का संकेत नहीं किया गया है कि मुसल्मानों का हिंदुओं ने जाति-गत विरोध किया हो। यह बात नहीं कि हिंदू लोग अपनी अप्रसन्नता प्रकट करने में असमर्थ या उस के लिये इच्छुक न रहे हों, वह तो लड़ाके होने के लिये बदनाम रहे हैं। परंतु मध्य-युग में जो बहुत सी लड़ाइयाँ हुई हैं उन में से किसी में भी ऐसा नहीं हुआ है कि एक ओर केवल हिंदू हैं तो दूसरी ओर केवल मुसल्मान। तराईं के युद्ध मे राय पिथौरा की अधीनता में अफ़गान सैनिकों का एक दल लड़ रहा था; मुसल्मान तुपकची पानीपत की तीसरी लड़ाई में महरट्टों के साथ थे। एक सच्ची हिंदू-मुस्लिम लड़ाई आज तक नहीं लड़ी गई। यदि हम मध्य-काल के इतिहास को ठीक प्रकार समझना चाहते है तो विदेशी विजेताओं के एक शांतिप्रिय और दीन जनता पर अनाचार शासन का मूर्खता-पूर्ण तथा असंभव चित्र, अपने मस्तिष्कों से हमें निकाल डालना चाहिये। मौलिक आधारों में इस मत की पुष्टि के लिये कोई भी प्रमाण न मिलेगा। हाँ, मुस्लिम राजे हिंदू राजाओं से लड़ते थे, परंतु उस से अधिक वे अन्य मुस्लिम शासकों से लड़ते थे इसी प्रकार दिल्ली-सुल्तान

अपने ही जाति वालों से लड़ कर प्राण दिये हैं। हिंदू धर्म भली-भाँति संगठित था और मध्यकालीन राज-सत्ता दो उत्साही और योद्धा जाति-वालों में विभक्त थी। अगर बादशाह मुसल्मान था तो उस का कारण यह था कि हिंदू जात और वर्ण के झगड़ों में पड़ कर आपस में विभक्त थे और मुस्लिम थोड़ी संख्या मे होते हुए भी सब से अधिक संगठित थे। मध्य-युग के मुस्लिम बराबरी और सामाजिक साम्य के विचारों से भरे हुए थे। यदि इन्हीं भावों से हिंदू भी प्रेरित होते तो अवस्था ही दूसरी होती।

लेकिन सुल्तान बादशाहों की सहनशीलता साम्राज्य के अंतर्गत रहने वाले हिंदुओं तक परिमित थी। जहाँ वे अथवा उन की फौजें साम्राज्य की सीमा से बाहर हुईं वहाँ सहनशीलता क्या भलमंसी और मनुष्यता को भी तिलांजलि दे दी जाती थी। धर्मांधता के भाव, जो कि विवश होकर साम्राज्य के भीतर दबाये रखने पड़ते थे, बाहर क्रांतिकारी रूप से प्रकट होते थे। हिंदुस्तान में सुल्तान महमूद की जो विध्वंस-कारी कृतियाँ हुईं, वैसी ही, बल्कि उस से बढ़ कर मलिक काफ़ूर की दक्षिण के आक्रमण में हुईं। स्पष्ट वृत्तों का अस्वीकार करना व्यर्थ है। मध्य-युग का एक भी मुसल्मान इतिहासकार ऐसा नहीं है जो दिल्ली की विजयी सेना के मंदिरों, मूर्तियों और अनुपम कलाकृतियों के विध्वंस की चर्चा न करता हो। वे इन अनिर्वचनीय कृतियों पर गर्व करते हैं, और इन्हें छिपाने का कोई प्रयत्न नहीं करते। यह सत्य है कि मंदिरों तथा अन्य पवित्र स्थलों का विध्वंस इस्लाम धर्म के मंतव्यों के विरुद्ध है। आरंभिक मध्ययुग के राजनीतिज्ञ इस्लाम के झूठे प्रतिनिधि थे और उन की कृतियों से हमें इस्लाम धर्म के संबंध में कोई निर्णय न कर लेना चाहिये। न यही भूलना चाहिये कि भिन्न भिन्न काल के आचार भी पृथक् होते हैं और उस काल की परंपरा के अनुसार वैरी के मंदिरों का लूटना युद्ध के समय उचित कार्य समझा जाता था। जिस समय मंगोलों के समूह मध्य एशिया फ़ारस और अफ़ग़ानिस्तान के मुस्लिम प्रांतों पर आक्रमण करते थे उस समय वे मस्जिदों और पुस्तकालयों के विध्वंस को अपनी विजय-पद्धति का एक मुख्य अंग मानते थे सेलजुक, गज़ और तातार लोगों ने फ़ारस के नगरों

और गाँवों मे जो अनाचार किए उन्हें देखते हुए शहाबुद्दीन गोरी की हिंदुस्तान-विजय और काफ़ूर का दक्षिण का आक्रमण कम भयानक जान पड़ेंगे। युद्ध बच्चों का खेल नहीं है। शेबा की बुद्धिमती रानी ने कहा था—"निश्चय ही जिस समय राजे किसी नगर पर विजय प्राप्त करते हैं तो उस का विध्वंस करते है और उस के बड़े से बड़े नागरिक का अपमान करते हैं; सदा उन्हो ने ऐसा ही किया है।" जिस भाव से प्रेरित होकर एक ही राजा के अधीन रहने वाली भिन्न धर्मावलंबी प्रजा की रक्षा होती थी, उसी भाव से प्रभावित होकर दूसरे राजा की प्रजा को चाहे वह उसी धर्म की हो त्रास भी दिया जाता था। बहुधा भारतवासी, नमक अदा करने के भाव मे तन्मय होकर नीति के अन्य मंतव्यों को भूल जाते थे। तुर्की और ख़िलजी बादशाहों की सेनाओं में हिंदू और मुसल्मान दोनों ही थे; दक्षिण भारत के मंदिरों के विध्वंस मे हिंदुओं का भी भाग था।

धन-लिप्सा इन विध्वंसकारी आक्रमणों का मुख्य हेतु हुआ करती थी। मूर्तियो और मंदिरों को नष्ट करने के बहाने तो दर्शकों की प्रशंसा प्राप्त करने के लिये हुआ करते थे। साम्राज्य से बाहर रहने वाले हिंदुओं पर आक्रमण करना बादशाह के लिये मुख्यतः एक लाभ-दायक व्यापार था। उस समय की आर्थिक व्यवस्था ऐसी थी कि यदि प्रबंधकर्ता ठीक हो तो इस मे धन लगाने से अच्छी प्राप्ति हो सकती थी। अति प्राचीन समय से व्यापार द्वारा भारत मे बड़ी ऋद्धि एकत्र हो गई थी; धीरे धीरे जवाहिरात देश मे खिंच आए थे और अगणित धर्म के उपासकों की कृपा से ये बड़े बड़े मंदिरों में पहुँच गये थे। भारत ऐसे कृषि प्रधान देश में ग्रामीणों के लूटने में क्या रक्खा था; हिंदू और मुसल्मान दोनों ही इस भयावह प्रयोग से दूर रहते थे। मध्य-युग के प्रायः सभी आक्रमणों में साधारण ग्रामीण और नागरिक शांति पूर्वक रहने दिये जाते थे। आक्रमणकारियों की दृष्टि मंदिरों के अथाह धन पर रहा करती थी। वह मुख्यतः आर्थिक लोभ से प्रेरित होते थे, धर्मांधता से नहीं। यदि मुसल्मानो की मस्जिदों की भाँति हिंदू मंदिर भी सादे और निरलंकार होते तो महमूद गज़नीन की सेना ने भारत पर न किया होता और न अलाउद्दीन

खिलजी दक्षिण में लूट मार के लिये अपने आदमियों को भेजता।

प्रश्न यह उठता है कि मध्य-युग के हिंदुस्तानियों ऐसे सशस्त्र और दुर्दांत लोगों ने एक केंद्रीय शासन को क्यों सहायता दी या कम से कम उन्हों ने उसे क्यों सहन किया, विशेष कर उस समय जब इस शासन का कोई परंपरागत अधिकार न था और न कोई धर्म के नियमों का बंधन। आखिर लोगों ने इस साम्राज्य के लिये काम किये, इस के लिये लड़ कर जानें दीं। कोई आशा, कोई आदर्श, अथवा जिस संस्था के लिये वे अपनी जानें दे सकते थे उस की आवश्यकता के संबंध में कोई नैतिक धारणा तो ऐसी थी जो इन पर प्रभाव रखती थी। जिस समय महमूद गजनीन ने भारत पर आक्रमण किया उस समय देश में ढीठ और आपस मे फूट रखने वाले बहुत से राय मौजूद थे। इस संकट के काल में विगत साम्राज्य की स्मृति ही हिंदुस्तानियों को सांत्वना दे सकती थी। परंतु देश को संगठित करने में जब हिंदू लोग असमर्थ सिद्ध हो चुके तब दिल्ली के सुल्तान बादशाह उसी कार्य में क्यों सफल हो सके? मनुष्यों की कृतियों द्वारा भावी का निर्णय सूचित होता है। उन के मस्तिष्कों मे प्रकट रूप से अथवा अंतर्हित कोई धारणा तो ऐसी थी जिस से उन्हों ने दिल्ली के सुल्तानों को उन के वैरियों की अपेक्षा अच्छा समझा। हिंदुस्तानी गुलामी पसंद करने वाले नहीं थे, वे उद्दंड और अशांत लोग थे। उन मे से अनेकों, अवसर मिलने पर उस से लाभ उठाने के लिये तैयार रहा करते थे। बात यह है कि उस समय के विचारशील मनुष्य जितना अराजकता से डरते थे उतना उद्दंड शासन से नहीं डरते थे।

सब से पहिले इसे स्वीकार कर लेना होगा कि साम्राज्य का प्रादुर्भाव वास्तव में खिलजियों के विद्रोह के समय से होता है। गुलाम वंश के सुल्तानों का शासन, शासन का ढोंग मात्र था, बिना नींव की इमारत थी और यह शासन अक्सर दिल्ली के गजनीन फाटक से शुरू होकर बदायूँ फाटक तक समाप्त हो जाता था। हिंदुस्तान को एक शासन के अधीन लाने का श्रेय उग्र और क्रूर अलाउद्दीन खिलजी को प्राप्त है। और उस समय से लेकर आज तक जातीय एकता की धारणा मनुष्यों के मस्तिष्कों से कभी अलग नहीं रही

है। विद्रोह हुए हैं, क्रांतियाँ हुई हैं; आपस की लड़ाइयाँ हुई हैं; हम लोग लड़ते-मरते रहे हैं परंतु शांति के समय भी और युद्ध में भी हम इस बात को कभी नही भूले है कि हम एक ही घर के रहने वाले हैं, और जो कुछ भी हो हमें एक ही शासन के अधीन रहना चाहिये। प्रकृति का आशय था कि हिमालय के दक्षिण की भूमि एक जाति का देश रहे; प्रकृति के कार्य की पूर्ति धर्म और कला ने की थी। पश्चिम के पहाड़ी दर्रों में से होकर हिंदुस्तान के फले-फूले मैदानों में आने वाले पहिले मुसल्मान से सदियों पूर्व, हमारी सभ्यता की, और जातीय एकता की अनश्वर नीँव पड़ चुकी थी। यह व्यापक विचार वालों की व्यापक कृति थी। यात्राओं और मंदिरों की संस्थाओं में, वैदिक कर्मकांड तथा व्रतो में, रामायण और महाभारत की दंत-कथाओं मे, बौद्धधर्म के महायान के दर्शन में, मनु के विधान में, हम उन प्रबल प्रभावों को देखते है जिन्हों ने आर्यावर्त को सदा के लिये एक और अविभाज्य बना दिया है। यदि यह महत्कार्य पहिले न हो चुका होता तो अलाउद्दीन और अकबर की शासन-संस्थाओं मे एक नैतिक पुष्टि न होती और उन के साम्राज्य भी सिकंदर के साम्राज्य की भाँति अचिरस्थायी होते।

भारतीय मुस्लिम सूफी, संभवतः बिना प्रकट रूप से जाने हुए ही, अपने महान् हिंदू पूर्वगामियों के दिखाए मार्ग पर चलते थे। हिंदुस्तान के मुसल्मानों के विषय में उन के राजाओं के चरित्रों के आधार पर संमति स्थिर करना न्याय-युक्त नहीं है। इधर हम उन के धार्मिक नेताओं, कलाविदों और कवियों की कृतियों की, जिन्हों ने हिंदुस्तान पर कहीं अधिक असर डाला अव-हेलना करते हैं। इस समय की भाँति अधिकांश मुसल्मान उस समय भी मध्यम श्रेणी के अंतस्तल में थे। सूफियों के मलफ़ूजातों का साधारण ज्ञान भी हमें यह बतलावेगा कि अपनी जाति के शासकों के अहोभाग्य का उन्हें गुमान भी नहीं था और वे अपना जीवन घोर दरिद्रता में व्यतीत करते थे। सर के ऊपर सदा छत न होती थी, पेट भर भोजन भी सदा न मिलता था। जो थोड़ी-बहुत सफलता इस्लाम को हिंदुस्तान में प्राप्त हुई वह उस के राजाओं और राजनीतिज्ञों के कारण नहीं वरन् उस के संतों के कारण प्राप्त हुई कोई

नया धर्म लोगों के संमुख किस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है इस का बड़ा असर पड़ता है। यदि हिंदुस्तान के निवासी उसे राजनीन के विध्वंसकारी विजय के रूप में अनुभव करते तो जिन थोड़े लोगों ने इस्लाम ग्रहण किया वे भी उसे न ग्रहण करते। परंतु इस्लाम के महत्तर और अधिक अच्छे प्रतिनिधि भी उपस्थित थे जो राज-दरबार और छावनियों के वातावरण से दूर रह कर पैग़म्बर की सुन्नत का अनुकरण करते हुए, अपनी दरिद्रावस्था में भी गर्व करते थे। और उदार हिंदू धर्म ने मुस्लिम सूफियों को ऋषि तुल्य जान कर अपनाया, घनिष्ठता उत्पन्न हुई और दोनों धर्म वाले एक दूसरे के संतों को मानने लगे। यही बात तेरहवीं सदी में थी, यही अब भी चल रही है।

तुर्कों की धर्मांधता का स्थान एक नये और उच्चतर दर्शन ने ले लिया। एक दिन सवेरे अपनी खानक़ाह की छत पर से मध्य-युग के प्रसिद्ध सूफी निज़ामुद्दीन औलिया ने हिंदुओं को अपने बुतों की पूजा करते देखा। एक मुसल्मान के लिये किसी विचारशील व्यक्ति का, अपने हाथों से गढ़ी हुई पत्थर की मूर्ति की पूजा करते देखना, नई बात थी। परंतु शेख़ की आस्तिकता इतनी विस्तृत थी कि उस में काफ़िरों के लिये भी स्थान था। उस ने कहा कि—'हर कौम का अपना रास्ता, अपना धर्म और अपना मंदिर होता है।'[1] वास्तव में यह धारणा मध्य-युग में हमारे धार्मिक समझौते का आधार थी और वह समझौता ऐसा था कि उसे हिंदुस्तान के बड़े से बड़े विचारवान् विद्वान् और राजनीतिज्ञ मानते थे। हम इस बात में एक-मत थे कि हमारे मत भिन्न हैं। हम में से प्रत्येक के लिये अपना ही धर्म सब से उपयुक्त और अच्छा था। हिंदू अपना धर्म भली भाँति निबाहे और मुसल्मान अपना धर्म। ऐसे देश में जहां यों ही बहुत सी एक-दूसरे से विरुद्ध विचार धारायें बह रही थीं, इस्लाम की

---

[1]'हर क़ौम रास्त राहे, दीने व क़िबला गाहे'। अमीर खुसरू वहाँ पर उपस्थित था उसने इसी में यह जोड़ दिया, 'मन क़िबला रास्त करदम, बर सिम्त कज कुलाहे।' इसमें शेख़ के सिर की तिरछी कुलाह का संकेत किया गया है। यह घटना में वर्णित है

भी एक विचार-धारा थी। ऐसे समाज में जहां वर्णों और उप-वर्णों की कमी न थी वहां केवल यह हुआ कि मुसल्मानों की एक और नई जात हो गई। भारतीय राष्ट्रीयता के अंतर्गत यह नया मत भी समा गया और एक मुसल्मान के लिये यह बात संभव हो गई कि वह राजनीति में नेतृत्व प्राप्त कर सके। यह नया धर्म भी पुराने धर्म के ढर्रों पर चलने लगा। अधिकांश मुसल्मान ऐसे थे जिन्हो ने हिंदू धर्म छोड़ कर मुसल्मान धर्म ग्रहण किया था। उन्हो ने मंदिरों को छोड़ कर मस्जिदों को मान लिया, परंतु अपने परंपरागत रस्मो पर अटल रहे। हिदुस्तानी मुसल्मानों के बीच में आर्यावर्त के प्राचीन रिवाजो का आज भी पाया जाना एक खुली हुई बात है। हिदुस्तानियों के एक अंश का दूसरे अंशों पर हुकूमत करना कोई विचित्र बात न थी। जो पद पहिले राज-पूतों को प्राप्त था वही अब मुसल्मानों को प्राप्त हो गया। यदि एक मुस्लिम राजा अपने शासन द्वारा, अपने संगठन शक्ति द्वारा यह सिद्ध करता था कि वह जनता के लिये उपयोगी है तो उस की अधीनता स्वीकार करने में किसी को अत्यधिक आपत्ति नहीं थी।

दो और कारणो से हिदुस्तान मे एक केंद्रीय या मध्यस्थ शासन की स्थापना अनिवार्य और आवश्यक हो गई। एक तो मंगोलों का उदय था, दूसरे हिदुस्तान की ग्रामीण संस्थाओं की अव्यवस्था। खिलजियों के उदय के लगभग ६० वर्ष पहिले से मंगोल हिदुस्तान की सीमा पर मँडरा रहे थे। वे तुर्किस्तान मावरुन्नह्र, फ़ारस और अफ़ग़ानिस्तान के सभी खुशहाल शहरों का विध्वंस कर चुके थे और पंजाब में भी लाहौर तक आए थे। हिदू और मुसल्मान दोनों को बराबर ही उन का भय था। मुसल्मानों के तो मंगोल कट्टर वैरी थे और वह मुस्लिम सभ्यता के सभी केंद्रों को नष्ट कर चुके थे। लेकिन वह हिंदुओं के भी मित्र नहीं थे। उन की भाषा समझ में न आती थी; उन के आचरण वीभत्स थे। जहां भी जाते वह स्त्रियों को चाहे उच्च कुल की हों चाहे नीच, बंदी कर लेते और उन के साथ वह व्यवहार करते जिस की अपेक्षा पीड़ा और मृत्यु भी अच्छी होती। बच्चों [illegible] त्या [illegible] रने में उन्हें ग्लानि नहीं होती

काला और भयावना बादल आकाश में छाया हुआ था। जो मनुष्य, या जो मनुष्यों का समूह, इन मंगोल आक्रमणों को रोकता निस्संदेह वह हिंदुस्तान के लोगों की कृतज्ञता का अधिकारी था। दूसरे शहाबुद्दीन के आक्रमण के पहिले, सदियों के हेर फेर से, ग्रामीण प्रजातंत्रीय संगठन छिन्न-भिन्न हो गया था। बल ने क़ानून और रिवाज का स्थान ले लिया था। गाँवों पर मुखिये या मुक़द्दम अपना निजी शासन करने लगे थे और अपने ऊपर किसी बलशाली-शासक को न पाकर ग़रीब रैयत को तंग करने और दुख देने लगे थे। एक बलशाली, केंद्रीय शासन की स्थापना ही रैयत को मुखियों के चंगुल से बचा सकती थी।

मुसल्मान लोग क्यों मंगोलों को भगा सके और देश की मालगुज़ारी की संस्था का पुनर्संगठन कर देश में अराजकता के स्थान पर शांति ला सके, और हिंदू ऐसा क्यों नहीं कर सके, इसका कारण कुछ तो संयोग है और कुछ दोनों जातियों की तत्कालीन स्थिति। अलाउद्दीन खिलजी के गद्दी पर बैठने के पहिले यदि हिंदू लोग किसी समय भी एक प्रबल आक्रमण करते तो दिल्ली साम्राज्य उस के सामने ठहर नहीं सकता था। मुस्लिम राजनीतिज्ञों ने अपने वैरियों की अपेक्षा निस्संदेह अधिक दूरदर्शिता और चतुरता दिखाई। पिछले कटु अनुभवों ने मुसल्मानों को मंगोलों का सामना करने में तथा सफलता पूर्वक उन्हे दूर रखने में सहायता दी। रीतियों और परंपरा से मुक्त होने के कारण वह मालगुज़ारी की संस्था का पुनः संगठन और आवश्यक सुधार कर सके। हिंदुओं का नेतृत्व राजपूतों के हाथो में था। उन में आपस मे इतनी फूट थी, इतने कलह थे कि वे न तो बाहरी आक्रमणों से बचने के लिये एका कर सकते थे न देश की व्यवस्था सुधारने के लिये। इस के अतिरिक्त राजस्थान का रेगिस्तान ऐसा स्थल नहीं था जहां पर हिंदुस्तान का साम्राज्य बन या बिगड़ सके।

हिंदी में नई ध्वनियाँ तथा उन के लिये नये चिह्न

[लेखक—श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम० ए०]

१—हिंदी भाषा में नई ध्वनियो तथा उनके लिये देवनागरी लिपि मे नये की आवश्यकता का प्रश्न तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) हिंदी की वे मुख्य ध्वनियाँ जो भाषा में वर्तमान है किंतु जिनके लिये पृथक् अथवा सर्वसंमत उपयुक्त चिह्न नहीं हैं।

(ख) हिंदी में विदेशी, विशेषतया अंग्रेज़ी तथा फ़ारसी के, प्रचलित शब्दों को शुद्ध रूप में लिखने के लिये उन भाषाओं की विशेष ध्वनियों के लिये नये चिह्नों की आवश्यकता।

(ग) भाषा-शास्त्र की दृष्टि से ध्वनि-समूह का अध्ययन तथा देवनागरी लिपि के आधार पर भारत के लिये एक अंतर्राष्ट्रीय लिपि-क्रम[1] निर्माण करने का प्रश्न।

प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य भाग (क) के संबंध में विचार करना है। (ख) के विषय में भी कुछ मुख्य मुख्य बातों की ओर ध्यान आकर्षित का प्रयत्न किया जायगा।

२—हिंदी के ध्वनि-समूह का आधार संस्कृत ध्वनि-समूह है। सभ्य में प्रचलित कोई भी वर्णमाला शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से इतनी पूर्ण क्रमबद्ध नहीं है। किंतु संस्कृत तथा हिंदी मे सदियों का अंतर होने रण, संस्कृत की कुछ ध्वनियों का व्यवहार हिंदी मे अब नहीं होता

[1] International Phonetic System.

अथवा परिवर्तित रूप में होता है तथा कुछ नई ध्वनियाँ भी हिंदी में विकसित हो गई हैं। इन परिवर्तनों पर अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। देवनागरी लिपि पर भी इस दृष्टि से गंभीरता पूर्वक विचार नहीं किया गया है। फलतः हमारी भाषा की यह विशेषता धीरे धीरे कम हो रही है कि उसमें प्रत्येक ध्वनि के लिये पृथक् चिह्न हैं तथा प्रत्येक चिह्न किसी न किसी व्यवहृत मूल ध्वनि का द्योतक है। हिंदी वर्णमाला तथा देवनागरी लिपि पर इस दृष्टि से विचार करने तथा इस संबंध में निर्णय करने का समय अब आ गया है।

३—हिंदी स्वर-समूह में इस विषय पर सबसे अधिक सामग्री मिलती है। हिंदी वर्णमाला में साधारणतया निम्नलिखित ११ स्वर माने जाते हैं—

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ।

ॠ ऌ ॡ अं अः को स्वरों मे रखने की शैली धीरे धीरे कम हो रही है और यह उचित ही है यद्यपि बारहखड़ी में अं अः का प्रयोग चला जा रहा है।

४—हिंदी मे अंत्य अ का उच्चारण धीरे धीरे लुप्त हो रहा है तथा अन्य स्थलों पर एक दूसरे प्रकार के अल्प अ (ʌ) का उच्चारण प्रायः होता है। उदाहरणार्थ *समझना* शब्द में, *स* में *अ* का साधारण रूप मिलता है, *म* में अल्प अ है तथा *झ* में *अ* का उच्चारण बिलकुल भी नहीं होता। लिखने मे तीनों अक्षरों में अ समान रूप से लिखा जाता है।

बोलने का अभ्यास होने के कारण हिंदी भाषा बोलने वालों को पढ़ते समय कोई विशेष कठिनाई नहीं पड़ती किंतु हिंदी से अनभिज्ञ व्यक्ति को वर्तमान स्वरों का बोध करा के यदि हिंदी का लेख पढ़ने को दिया जाय तो वह अवश्य अशुद्ध पढ़ेगा। उदाहरणार्थ हम बोलते हैं—'उस्ने एक्बात्कही' लेकिन लिखते हैं 'उसने एक बात कही'।

अल्प अ पर साधारणतया चाहे अभी ध्यान न भी दिया जाय किंतु अ के लोप के निर्देश पर आगे पीछे ध्यान देना ही पड़ेगा। अक्षरों को मिला कर लिखने से शब्द-समूह के दुर्बोध हो जाने की संभावना है। पृथक् हल् का चिह्न लगाना भी बहुत अच्छी युक्ति नहीं है विशेषतया जब प्राय प्रत्येक शब्द में

क ख छ द स

उस ने एक बात कही

चित्र—१

ए ॆ ओ ो

ऐ ै औ ौ

चित्र—२

	ह्रस्व		दीर्घ	
मूल स्वर	अ		आ	ा
	इ	ि	ई	ी
	उ	ु	ऊ	ू
	ए	ॆ	ए	े
	ओ	ॊ	ओ	ो
संयुक्त स्वर	ऐ	ै	ऐ	ै
	औ	ौ	औ	ौ

चित्र ३

इसके लगाने की आवश्यकता पड़ेगी। अक्षर के अंतिम भाग को ऊपर या नीचे की ओर मोड़ देने से कदाचित् हल् का भाव अधिक सुगमता से प्रकट हो सके। (देखिये चित्र १, पृष्ठ ११०) अथवा ह्रस्व अ के लिये ही कोई दूसरा चिह्न बना लिया जाय जैसे ऊपर बतलाये हुए चिह्न का प्रयोग ह्रस्व अ के लिये किया जा सकता है।

आ इ ई उ ऊ के उच्चारण में कोई ऐसे विशेष परिवर्तन या उपभेद नहीं हुए हैं जिनके लिये प्रचलित लिपि में नये चिह्नों की आवश्यकता हो।

५—ऋ स्वर का उच्चारण अब न संस्कृत में होता है और न हिंदी में। हिंदी मे इसके वर्तमान उच्चारण *रि* के लिखने की स्वतंत्रता हो जानी चाहिए। यदि इस तरह के परिवर्तन न किये गए तो हिंदी में भी उर्दू लिपि की तरह अनावश्यक अक्षरों की धीरे धीरे भरमार हो जायगी।

६—ए ऐ ओ औ समूह में कई परिवर्तन हुए हैं और लिपि में इनका बोध कराना आवश्यक है। ए और ओ वैदिककाल में कदाचित् संधिस्वर थे और क्रम से *अ+इ* तथा *अ+उ* के द्योतक थे। संस्कृत तथा हिंदी में इनका उच्चारण संयुक्त स्वर के समान नहीं होता अतः हिंदी में तो इन्हे अब मूल स्वर मानना ही उचित होगा। साथ ही *ऐ औ*, *आ+इ* तथा *आ+उ* के संयोग से कदाचित् बने थे किंतु खड़ी बोली हिंदी में सर्व प्रचलित उच्चारण की दृष्टि से अब ये *अ+ए* तथा *अ+ओ* के संयुक्त रूप हो गए हैं अतः इन्हें ऐसा ही मानना चाहिए तथा इनका यह उच्चारण ही बालकों को आरम्भ में सिखलाना चाहिए।

७—ए ऐ ओ औ के दीर्घरूपों के अतिरिक्त व्रजभाषा कविता तथा हिंदी की कुछ ग्रामीण बोलियों में ह्रस्व *ए ऐ, ओ औ* का व्यवहार भी मिलता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में अधोरेखांकित *ए ऐ ओ औ* के उच्चारण ह्रस्व हैं, शेष के दीर्घ—

(क) अवधेस <u>के</u> द्वारे सकार<u>े</u> गई

सुत गोद कै भूपति लै निकसे

अवलोकि हौ सोच विमोचन को
ठगि सी रहि जे न ठगे धिक से ॥
(तुलसी)

(ख) कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै
पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
(तुलसी)

(ग) बेभरी देहरिया, बेरिया
दोसरिउ, बोलाइ, चोट्टा।
(अवधी शब्द)

ऐसी अवस्था मे अ इ उ के ह्रस्व और दीर्घरूपों के समान ए ऐ ओ औ के भी दो दो रूप समझे जाने चाहिएँ। ग्रियर्सन महोदय ने ह्रस्व ए ओ तथा उनकी मात्राओं के लिये कुछ विशेष रूपों का प्रयोग किया है। (देखिये चित्र २, पृष्ठ ११०) इसी तरह ह्रस्व ए औ के लिये भी विशेष रूपों का प्रयोग किया जा सकता है यद्यपि इनकी आवश्यकता उतनी अधिक नहीं पड़ती। (वही चित्र देखिये)

८—ऊपर बतलाया जा चुका है कि खड़ीबोली हिंदी में ऐ औ का उच्चारण अ+ए, अ+ओ के संयुक्त रूप के समान साधारणतया होता है। किंतु हिंदी की कुछ ग्रामीण बोलियों तथा कुछ खड़ीबोली के शब्दो में भी इनका उच्चारण अ+इ, अ+उ के समान होता है जैसे *मैया, बलैया, गैया, जौन, लौट, कैके* आदि। संस्कृत मे तो इनका उच्चारण सदा ऐसे ही होता है। ऐ औ का यह उच्चारण हिंदी में कम होता है अतः इस के लिये दोनों स्वरों को अलग अलग लिखने से काम चल सकता है। ऊपर के शब्द नीचे लिखे ढंग से लिखे जा सकते हैं— *भइया, बलइया, गइया; जउन, लउटे, कइ के* आदि। ऐसा करने से ऐ औ के दोनों उच्चारणों को प्रकट करने के लिये दो पृथक् रूप हो जावेंगे।

९—ए ओ के अतिरिक्त ब्रजभाषा में दो मूल स्वर और हैं जो उच्चारण की दृष्टि से अ के अधिक निकट हैं जिनकी ब्रज है उनकी बोली में विशेष माधुर्य [illegible] तो इन दो नई ध्वनियों के कारण आ जाता है

कविता को शुद्ध रूप में पढ़ने के लिये इन दोनो स्वरों को स्पष्ट रूप से चिह्नित करना आवश्यक है। इनके लिये *ए॒* ॑ *ओ॒ ॊ* का प्रयोग किया जा सकता है जैसे *एसो, पै, ठैर, चलैगौ, गढ़ायौ, साँवरौ*। इनके उच्चारण ह्रस्व और दीर्घ दोनों संभव हैं।

१०—इस तरह हिंदी में साधारणतया व्यवहृत स्वरो की पूर्ण सूची के लिये ११० पृष्ठ पर चित्र ३ देखिए।

११—स्पर्श वर्गों के क्रम मे चवर्ग और टवर्ग मे उच्चारण की दृष्टि से स्थान परिवर्तन हो गया है। चवर्ग का उच्चारण दंत्य वर्णों के अधिक निकट होता है तथा टवर्ग का अंदर को हटा हुआ। अतः वर्णमाला में इन वर्गों का क्रम वास्तव में इस प्रकार होना चाहिए—कवर्ग, टवर्ग, चवर्ग, तवर्ग और पवर्ग।

१२—अनुनासिक व्यंजनों का प्रश्न भी बहुत उलझन का है। *न* और *म* का उच्चारण तो स्पष्ट होता है तथा इनका प्रयोग स्वतंत्र भी होता है। ङ, *ञ* तथा *ण* प्रायः शब्दों के बीच में ही आते हैं। *ञ* तथा *ण* का उच्चारण भी प्रायः उतना स्पष्ट नहीं होता। उदाहरणार्थ *पंच, चंचल, पंडित, मुंडन* में अनुनासिक व्यञ्जन का उच्चारण *न* से मिलता जुलता होता है।

१३—इन पाँच अनुनासिक व्यंजनों के अतिरिक्त अनुस्वार तथा शुद्ध अनुनासिक भी मौजूद है। अनुनासिक के लिये यद्यपि चंद्रबिंदु का चिह्न देवनागरी लिपि में है किंतु अधिकांश शब्दों में केवल बिंदु से ही अनुनासिक, अनुस्वार, तथा पंचम अनुनासिक व्यंजन तीनों का बोध कराया जाता है, जैसे, *जातीं, में, शब्दों; संशय, संहार, हंस; कंगन, कुंदन, चंचल, डंडा* इत्यादि। अनुस्वार और अनुनासिक के लिये दो पृथक् चिह्नों का बना रहना ही उचित है। कुछ लोग लिखने में बिंदु का प्रयोग अनुनासिक के लिए तथा गोलाकार चिह्न (०) का प्रयोग अनुस्वार के लिये करते है। जैसे *जातीं, में, शब्दों* किंतु *सॆशय, सॆहार, हॆस* इत्यादि। यह ढंग बुरा नहीं है। पंचम अनुनासिक व्यजनो के लिये भी अनुस्वार के चिह्न का प्रयोग करना चिंत्य विषय है। इस ढंग मे बड़ी त्रुटि यह है कि भिन्न भिन्न ध्वनियों के लिये एक ही चिह्न हो जाता है।

१४—अंतस्थ वर्णों में र के साथ ड़ और ढ़ को भी अब निश्चित रूप से मिला लेना उचित है क्योंकि इन ध्वनियों का प्रयोग हिंदी में बहुत से शब्दों मे होता है।

व के वास्तव में दो रूप प्रचलित हैं—एक दंत्योष्ठ्य और दूसरा ओष्ठ्य। ओष्ठ्य व ऐसे शब्दों में मिलता है जैसे *ज्वर*, *त्वरित*, *क्वांरा*, *ब्वालति*, *ख़्वाबति* आदि। इस दूसरे व का निर्देश करने की आवश्यकता है। साधारणतया नीचे विंदु लगा देने से यह काम निकल सकता है और इस तरह दंत्योष्ठ्य व और ओष्ठ्य व़ का भेद स्पष्ट हो सकता है।

ऊष्म वर्णों में श तथा ष मे भेद अब बिल्कुल भी नहीं रह गया है अतः इनमें से एक ही से दोनों का काम सहज में लिया जा सकता है। *शश्ठी* या *पृश्ठ* देखने में कुछ ही दिनों आँखों को बुरे लगेंगे।

ह के समस्त स्थलों पर घोष वर्ण होने के बारे में संदेह है। यदि ह अघोष हो गया है तो विसर्ग केवल मात्र हलन्त ह् का चिह्न रह जाता है जिसकी हिंदी में कुछ विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। *प्रायः* और *प्रायह्*, *अंतःकरण* और *अंतह्करण* के उच्चारण में विशेष भेद नहीं मालूम पड़ता।

देवनागरी लिपि मे तीन संयुक्त व्यंजनों के लिये पृथक् चिह्न रखने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। *क्ष त्र ज्ञ* वास्तव मे *क्श त्र ग्य* मात्र हैं।

१५—इस तरह स्पर्श, अंतस्थ तथा ऊष्म वर्णों का क्रम इस प्रकार हो सकता है—

क	ख	ग	घ	ङ
ट	ठ	ड	ढ	ण
च	छ	ज	झ	ञ
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म

य	र	ड़	ढ़	ल
व	व़	श	स	ह

१६—फ़ारसी-अरबी वर्णमाला में पाई जाने वाली कुछ नई ध्वनियों के लिये देवनागरी लिपि में नीचे लिखे चिह्नों का व्यवहार बहुत दिनों से हो रहा है—

क़—क़लम (ق)

ख़—ख़राब (خ)

ग़—ग़रीब (غ)

ज़—ज़ालिम, ज़ामिन, ज़िक्र, ज़रा (ظ ض ذ ز)

फ़—फ़रेब (ف)

अ़—मअ़लूम (ع)

इनमें नीचे लिखी एक ध्वनि के लिये चिह्न और बढ़ा लेना चाहिए—

झ़—पझ़मुर्दा (ژ)

उर्दू तथा फ़ारसी के तत्सम शब्दों को लिखने के लिये इनका व्यवहार अवश्य करना चाहिए। हिंदी की ध्वनियों का अभ्यास कराने के बाद अपने प्रांत में बालकों को इन विदेशी ध्वनियों का भी अभ्यास करा देना नितांत आवश्यक है। आगे चल कर उर्दू लिपि के प्रत्येक अक्षर के लिये देवनागरी लिपि में एक चिह्न बनाने की आवश्यकता पड़ेगी। सर्व साधारण के लिये इन बारीक भेदों की आवश्यकता नहीं होगी अतः यहाँ इस संबंध में विस्तार पूर्वक विचार करना अनावश्यक होगा।

१७—जिस तरह फ़ारसी की नई ध्वनियों के लिये चिह्न बना लिए गए हैं उस तरह अभी तक अंग्रेज़ी भाषा में पाई जाने वाली नई ध्वनियों के लिये विशेष चिह्नों का व्यवहार नहीं पाया जाता। अंग्रेज़ी के शब्दों को देवनागरी में ठीक ठीक लिखने के लिये इनकी भी बड़ी है

(क) अंग्रेजी के *t d* न दंत्य हैं और न मूर्द्धन्य। वे वर्त्स्य से है। अतः उनके शुद्ध निर्देश के लिये ट़ ड़ अथवा ऐसे ही किसी अन्य चिह्न से युक्त अक्षरों का व्यवहार करना चाहिए, जैसे *ट़ाइम ड़िङ्* आदि।

(ख) अंग्रेजी में *th* का उच्चारण *थ* तथा द स्पर्श व्यंजनों के समान नहीं है बल्कि ईषत् स्पृष्ट की तरह है। यह भेद *थ़*, द लिखने से प्रकट किया जा सकता है जैसे *थ़िन्*, *द़ेन्* आदि।

(ग) अंग्रेजी में *ch j* का उच्चारण हिंदी च ज के समान नहीं है। ये वास्तव में ट्+ तथा श् ड़्+झ् के संयोग से बनते हैं। यह भेद जतलाने के लिये इनके वास्ते इन संयुक्त व्यंजनों को अथवा किन्ही भिन्न चिह्नों का प्रयोग होना चाहिए।

(घ) अंग्रेजी स्वरों मे अ और ओ के बीच में एक और स्वर भी पाया जाता है। इस ध्वनि को हिंदी में ऑ अथवा ऑ से प्रकट करते आये हैं, जैसे ऑन, कॉट आदि।

(ङ) अंग्रेजी मे संयुक्त स्वर बहुत हैं इनके लिये मूल स्वरों के आधार पर संयुक्त स्वरों के बनाने की आवश्यकता होगी।

इस प्रकार हिंदी और फ़ारसी-अरबी की ध्वनियों के अतिरिक्त अंग्रेजी ब्दों में निम्नलिखित अन्य विशेष ध्वनियों की आवश्यकता पड़ती है। अतः नके लिये भी अपनी लिपि मे नीचे लिखे ढंग के या किसी अन्य प्रकार के र्व-संमत चिह्न होने चाहिए—

ऑ　　ट़　　ड़　　थ़　　द़

१८—प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि के इस ावश्यक अंग की पूर्ति की ओर हिंदी भाषा के मर्मज्ञों का ध्यान आकर्षित रना मात्र है। निबंध में दिए हुए नवीन चिह्न उदाहरण स्वरूप हैं। इस विषय र मेरे अंतिम निर्णय के सूचक नहीं हैं नई ध्वनियों के विषय पर और अधिक सदमरूप से विवचन हो सकता है और होने की　　　　है

इस प्रकार से प्रत्येक भारतीय भाषा के ध्वनि-समूह का शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन हो चुकने के उपरांत ही भारतीय अंतर्राष्ट्रीय लिपिक्रम का निर्णय हो सकेगा।*

---

*यह लेख एकेडेमी के पिछले वार्षिक सम्मेलन के अवसर पर पढ़ा गया था

संपादकीय

ईसा से पहिले की पाँचवीं सदी यूनान के इतिहास में एक अत्यंत गौरव और प्रतिष्ठा की सदी है। यह वह समय है जब कि एथेंस नगर का शासन प्रजातंत्र के हाथों में है। प्रत्येक नागरिक, चाहे जिस पेशे का हो, धनी हो या धनहीन, शासन की संस्थाओं का मान्य सदस्य बनने का अधिकारी है। यदि आज वह रस्सा बनाने मे लगा हुआ है तो कल सेना-नायक भी चुना जा सकता है। आज मशालची है तो कल किसी जहाजी बेड़े का नेता। प्रत्येक नागरिक को अपने नगर की प्रतिष्ठा और मान का ध्यान है; प्रत्येक स्त्री और पुरुष का हृदय उस की सेवा के लिये प्रस्तुत है। एथेंस के शासन के हाथों में एक बड़े साम्राज्य की बाग है। एशिया कोचक में, काले सागर के किनारों पर, और रूम सागर में फैले हुए द्वीपों और बंदरगाहों में, एथेंस के शासक प्रबंध और शासन करते हैं और अधीन रियासतों से कर वसूल करते हैं। एथेंस धन और वैभव, विद्या और ज्ञान, साहित्य और कला का केंद्र है। नगर अट्टालिकाओं और सुंदर मूर्तियों से सजा हुआ है। चित्रकारों और लेखकों, कवियों और नाट्यकारों की कृतियों के कारण सारे संसार से प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है। परंतु समय सदा किसी का साथ नहीं देता। जो ऊँचे उठता है उस के लिये पतन भी अवश्य है। ठीक अपने वैभव-काल में, एथेंस अपने प्रति-स्पर्द्धी स्पार्टा से युद्ध छेड़ता है और लड़ाई में अपने सरदारो के असंयम और अपने वैरियों की अधिकता के कारण ऐसा गिरता है कि उस का विस्तृत साम्राज्य पलक मारते स्पार्टा के अधिकार में चला जाता है। इतनी शीघ्रता से एथेंस का पतन होता है कि थोड़े ही समय में बल और शासन एक कहानी मात्र रह जाती है। स्पार्टा से हारने के आधी सदी के भीतर ही एथेंस अपनी स्वतंत्रता तक से हाथ धो बैठता है।

एथेंस के इतिहास में, इस पतन के आरंभ से, एक दूसरा परंतु पहिले से भी अधिक गौरव का युग आता है। अब तक एथेंस का अधिकार मनुष्यों के शरीरों पर था। अब इस का शासन, अपनी छाप उनके मस्तिष्कों पर लगाता है। पहिला शासन अस्थायी, कुछ दिनों का था; दूसरा स्थायी और सदा स्थिर रहने वाला सिद्ध होता है। एथेंस से चार मील की दूरी पर कैफ़ीसूस नदी बहती है; इसी के किनारे एकाडेमूस का बाग़ है। एथेंस के पतन के समय मे, शहर के कोलाहल से बचने के लिये, अफ़लातून इस बाग़ मे शरण लेता है और अपनी बड़ी आयु के पचास वर्ष, अपने मित्रों और शिष्यों के साथ सत्य की खोज में बिताता है। यहीं पर उन संवादो की रचना होती है जिन में मनुष्य की आत्मा और मन, संसार की सृष्टि और उस के भविष्य के संबंध में लौकिक तथा धार्मिक सभी प्रश्नो पर ऐसी गंभीर आलोचनायें होती है कि आज तक दुनिया इन के संमुख श्रद्धा से सिर झुकाती है। यही वह सत्संग है जिस के प्रभाव में रह कर अरस्तू मान प्राप्त करता है और आगे चल कर अपने समय का सब से बड़ा गुरु कहलाता है। यही वह पहिली एकेडेमी है, दो हज़ार बरस से यूरोप का प्रत्येक देश जिस का अनुयायी है, और आज भी जिस का अनुकरण संसार की प्रत्येक जाति कर रही है। अफ़लातून ने इस की नींव कुछ ऐसे ढंग से रक्खी कि नौ सौ बरस तक यह एकेडेमी बनी रही और कम से कम सिसरो के समय तक इस के दृष्टि-कोण में और इस के दर्शन के आधार-रूप मंतव्यों में एक विशेष प्रतिभा दिखाई देती रही।

यूनान के नगरों पर जब रूम का अधिकार हुआ तो यूनानी दार्शनिक और साहित्यिक इटली पहुँचे। रोम के निवासी उन के शिष्य हुए। यूनानियों ने अपने विजेताओं पर विजय पाई और रोम सम्राज्य द्वारा, यूनानी सभ्यता का अधिकार, अटलांटिक महासागर से दजला और फ़रात तक स्थापित हो गया। अंत में इस साम्राज्य का सूर्य भी ढला और यूरोप की सभ्यता, छठी सदी ईस्वी में, आपस की लड़ाई, दरिद्रता और मूर्खता के अंधकार में कवलित हो गई। ऐसे समय में, अरब की धरती से एक जीवन-स्रोत प्रवाहित हुआ जिस ने सिंध से वादिल-कबीर तक के प्रांतों को सींचा। क़र

तबा, इशबेलिया, तिलमसान, क़ाहरा, दमश्क, बग़दाद, बसरा आदि में ज्ञान की चर्चा फैली। हिंदुस्तान और यूनान की ज्ञान-संबंधी पुस्तकों के अनुवाद हुए। सम्राट् जस्टिनियन के अनाचार के कारण ऐकेडेमी के सदस्य नगर से निकाल दिये गए और अफ़लातूनी एकेडेमी इस प्रकार नष्ट हो गई। परंतु अरबों ने इन यूनानी दार्शनिकों का स्वागत किया और उन के द्वारा अरबी साहित्य की बहुत कुछ उन्नति हुई। शिष्य भी गुरुओं से बुद्धि में कम न थे। फाराबी, इब्ने सीना, इब्ने रुश्द ने अरस्तू के खोये हुए दर्शन को फिर से खोज निकाला। इब्ने खलदून और अल्बेरूनी ने धर्म और इतिहास के विषयों पर आश्चर्यजनक प्रकरण लिखे। अलख्वारज़्मी कज़्वीनी, इब्ने हेसाम ने गणित-शास्त्र पर और अबुल फ़िदा, मसऊदी, इद्रीसी इत्यादि ने भूगोल-संबंधी पुस्तकें लिखीं। यूरोप की जातियाँ जो पाँचवीं सदी से पंद्रहवीं सदी तक अंधकार में डूबी हुई थीं, उस समय में, अरबों के शिक्षा-केंद्रों से लाभ प्राप्त करती रहीं। अंत में जब इस्लामी सभ्यता का पतन हुआ तो उन्हों ने इस ज्ञान के दीपक को, जिसे अपने गुरुओं से प्राप्त किया था, उद्दीप्त किया। इटली के विद्यारसिक, आनंद-निमग्न, सौंदर्योपासक और चंचल नागरिक यूरोप के इस पुनरुज्जीवन के नायक बने। फ्लोरेंस के मेडीची वंश के राजों ने 'एकेडेमीआ प्लैटोनिका' अर्थात् अफ़-लातूनी एकेडेमी स्थापित की। और यह एकेडेमी, इटली की ज्ञान-संबंधी खोज और साहित्यिक स्फूर्ति का केंद्र प्रमाणित हुई। फ्लोरेंस की देखा-देखी और देशों में भी एकेडेमियाँ खुलीं।

सत्रहवीं सदी में फ्रांस ने धार्मिक झगड़ों और आंतरिक कलह से छुट्टी पाई। देश में शांति फैली, शासन में स्थिरता आई। सभ्यता की उन्नति के लिये यह वातावरण उपयुक्त था। रिशलू ऐसे असाधारण और राजनीतिज्ञ मंत्री का अधिकार हुआ। उस ने फ्रांस की प्रसिद्ध एकेडेमी की नींव डाली और सन् १६३५ ईस्वी में 'एकेडेमी फ्रांसेज' की, भाषा के संशोधन के लिये, स्थापना की। शाही सनद में उस का उद्देश यह बताया गया कि फ्रांसीसी भाषा जनता के अपभ्रंश, वकीलों के अनर्गल, दर्बारियों की धाँधली और पादरियों की उच्छृंख-लता से भरी हुई है और उसे परिमार्जित करने के लिये कोष,   भाषा

शास्त्र और छंद-शास्त्र की पुस्तकों की रचना की आवश्यकता है। सन् १७८९ की क्रांति के अनंतर ऐकेडेमी का पुनः संस्थापन हुआ और अब उस की आय सरकारी और गैर-सरकारी आधारों से इतनी है कि उस के पुरस्कारों की संसार भर में धूम है।

घरेलू झगड़ों के समाप्त होने पर बादशाह फ्रेडरिक आज़म ने अपने विजय और आतंक द्वारा प्रशिया को अंतर्राष्ट्रीय बराबरी का अधिकारी सिद्ध कर दिया। उस ने भी देश की प्रतिष्ठा और साम्राज्य का गौरव बढ़ाने के उद्देश से, अपने पिता द्वारा स्थापित एकेडेमी का पुनरुज्जीवन किया।

फ्रांस का अनुकरण इंग्लिस्तान ने किया। १६६१ ईस्वी में आंतरिक राजनीतिक और धार्मिक झगड़ों से देशवालों को छुट्टी मिली और राज्य का पुनः संस्थापन हुआ तो दूसरे राजा चार्ल्स ने वैज्ञानिकों को एक शाही सनद दी और इस प्रकार से रॉयल सोसाइटी का आरंभ सन् १६६२ ईस्वी में हुआ। सन् १९०२ ईस्वी में 'ब्रिटिश एकेडेमी' विशेष रूप से साहित्य और भाषा की उन्नति के लिये स्थापित हुई।

इस ढाई हज़ार बरस के इतिहास से पता चलता है कि एकेडेमी का स्थापित होना जातियों की उन्नति में एक विशेष महत्त्व रखता है। प्रत्येक जाति के इतिहास में एक समय आता है जब कि जाति के नेताओं को यह अनुभव होता है कि ज्ञान और साहित्य का आश्रय जातीय लाभों की रक्षा के लिये आवश्यक है।

जातीय भावों को व्यक्त करने के लिये साहित्य एक साधन है। जातीय भावों की वृद्धि के साथ ज्ञान और साहित्य की उन्नति गुँथी हुई है। जाति का गौरव केवल जन-संख्या पर, धन-सम्पत्ति की प्रचुरता पर, दस्तकारी की विचित्रता पर अवलंबित नहीं है। इस से कहीं अधिक वह ज्ञान के विकास द्वारा और साहित्य और कला की उन्नति द्वारा प्रकट होता है। पहिली से जाति की प्रत्यक्ष समृद्धि का पता चलता है, दूसरी से आध्यात्मिक जागृति का। साहित्य और कला वह साधन हैं जिन से सत्य और सौंदर्य के भाव जाति के व्यक्तियों के हृदयों को एकता के तागे में पिरोते हैं और उन के हृदयों के अंधकार को दूर

करते हैं। इन भावों में एक गर्मी है जो भेदों को भस्म करने वाली है, एक ज्योति है जो अज्ञान के तिमिर का विनाश करती है। प्रसिद्ध अंग्रेजी साहित्यिक कार्लाइल ने लिखा है कि यदि मुझ से कहा जाय कि ब्रिटिश साम्राज्य एक ओर और शेक्सपियर दूसरी ओर हो और यह प्रश्न हो कि इन दोनो मे से एक मिट जाय और एक बाकी रहे तो मैं निस्संकोच कह दूँगा कि साम्राज्य का नष्ट हो जाना मुझे स्वीकार है, परंतु शेक्सपियर का नहीं। वास्तव में साहित्य और कला की रक्षा तथा उन का प्रचार जाति की उन आवश्यकताओं को पूरा करता है जिन पर उस की स्थिति और उस का महत्त्व निर्भर है। हिंदुस्तान का इतिहास इस का साक्षी है कि जिस जिस समय में हमारी जाति के सौभाग्य का सूर्य आकाश में चमका है उसी समय से हमारी सभ्यता की ज्योति संसार के नेत्रों को चकाचौंध करती रही है। मौर्यवंश के शासन का समय है तो हमे दर्शनों की छटा और उस समय की ज्ञान-पिपासा का परिचय मिलता है। एजेंटा, एलोरा, साँची, बाघ, भरहुत के अवशेष तत्कालीन चित्रण, मूर्ति-निर्माण और शिल्पकला की उन्नति का संकेत करते हैं। गुप्तवंश का स्वर्ण-युग है तो कालिदास के नाटकों में, सारनाथ और अमरावती के प्रसिद्ध और अद्वितीय स्तूपों में कला का चमत्कार दिखाई देता है। मुग़ल वंश, अपने शस्त्र के बल से तथा अपनी सुव्यवस्था द्वारा हिंद की बिखरी जातियों को, बदख्शाँ और बुख़ारा की सरहद से लेकर दक्खिन की घाटियों तक एक छत्र की छाया मे एकत्रित करने में सफल होता है। यही वह समय है कि जब धन और वैभव का खिँचाव, फिरंगिस्तान के व्यापारियों को सात समुंदर पार करने के लिए प्रेरित करता है। मुग़ल बादशाहों और सूबेदारों के दरबारों में तिजारत का परवाना प्राप्त करने के लिये, प्रार्थना-पत्र और उपहार भेंट करने के लिये बाधित करता है।

जातीय जीवन की जागृति, तथा लोगों के हृदयों की उमंगों का इस से बढ़ कर क्या प्रमाण हो सकता है कि कबीर और सूर, तुलसी और केशव अपनी कविता का स्रोत बहाते हैं, अपने अनमोल रत्नों से साहित्य को परिपूर्ण करते हैं कलावंतों में दसवत, बसावन, अपनी जादू भरी लेखनी

से सौंदर्य के ऐसे ऐसे आकार चित्रित करते हैं कि देखने वाला चकित रह जाता है। संगीत में तानसेन, मन को लुभाने वाले ऐसे राग अलापता है जिन की स्मृति आज भी लोगों के हृदयों को मस्त कर देती है। निर्माण-कला को लीजिए तो हिंदुस्तान का कोई बड़ा प्रांत नहीं, कोई बड़ा नगर नहीं जो मुग़लों की विशाल कल्पना और सुरुचि का साक्षी न हो। एक ताजमहल इस कथा को अमर करने के लिये पर्याप्त है। देश के शासकों, अशोक और चंद्रगुप्त, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के आश्रय में साहित्य, संगीत, कला की उन्नति होती है। और यह उन्नति न केवल इन शासकों की विद्या तथा कला-रसिकता का पता देती है वरन् यह बताती है कि उन्हें जातीय आवश्यकताओं का ज्ञान था, और इसी ज्ञान मे उनके इस आश्रय का भेद छिपा है।

औरंगज़ेब के बाद देश का संगठन छिन्न-भिन्न हुआ। वह जादू जिस पर सभ्यता की कल्पना टिकी थी, टूटा। दिल बुझे, हिम्मतें पस्त हुईं। परंतु बीते हुए समय की याद ऐसी नहीं भूली कि उसकी प्रतिध्वनि भी न आए। समय का निरुत्साह और जीवन की कटुता अपनी ठेस से मीर और ग़ालिब को तड़पाती है। उन के दिलों से जो करुण और वेदनामय राग निकलता है उस की ध्वनि हमारे कानों मे उस समय तक गूँजती रहेगी जब तक कि हिंदुस्तानी जबान इस दुनिया में शेष है।

अठारहवीं सदी का अंतिम भाग और उन्नीसवीं सदी के पहिले पचास साल हिंदुस्तान के इतिहास में ऐसे वर्ष है जिन का वर्णन करते हुए इतिहासकारों की लेखिनी खून के आँसू बहाएगी। परंतु आदमी पर जो बीतती है सहना ही पड़ता है।

समय बदलता है। अंग्रेजी शिक्षा नये विचारों को उपस्थित करती है, नये भावों को जगाती है। जातीयता का एक नवीन अनुभव होता है। देश में एक नई जागृति होती है। पुरानी कृतियों की याद, जापान के आश्चर्यजनक विजयों की कथा, यूरोप के आंतरिक कलह, हिंदुस्तान के क्षितिज पर आशाओं के असीम दृश्यों की झलक से हमारे हृदयों को उमंगों से परिपूर्ण कर देते हैं जाति की प्रतिष्ठा के [illegible] अधिकारों के और उस के व्यक्तित्व को स्थिर करने

के विचार लोगों के मस्तिष्कों में घूमते हैं और स्वभावतः लोगों के दिल भाषा और साहित्य की उन्नति की ओर आकर्षित होते हैं। एक ऐसी संस्था की आवश्यकता प्रतीत होती है जो इस उद्देश के पूरा कर ने मे सहायक हो।

हिंदुस्तान में, हिंदी और उर्दू भाषाओं में, उन्नीसवी सदी के आरंभ से पश्चिमी प्रभावों के कारण नित्य-प्रति उन्नति हो रही है। दोनों भाषाओं मे साहित्य की बहुत कुछ सामग्री एकत्र हो चुकी है। लेखकों की एक अच्छी संख्या इस सेवा में तत्पर है और साहित्य के प्रत्येक अंग की पूर्ति करने के लिये प्रयत्न-शील है। इस पर भी, ज्ञान की बहुत सी शाखाएँ ऐसी है जिनमे पुस्तकें नहीं हैं और जिन मे पुस्तकें मौजूद हैं वह या तो संख्या में कम हैं या उस उच्च कोटि की नहीं है जैसी कि होने की आवश्यकता है। साहित्य की आवश्यकताओं से प्रत्येक हिंदी और उर्दू प्रेमी परिचित है। उर्दू भाषा के विषय मे कही गई यह बात कि—

गेसुए उर्दू अभी मिन्नत पिज़ीरे शाना है।

हिंदी भाषा के लिये भी यथार्थ होती है। उर्दू और हिंदी दोनों ही भाषाओं मे ऐसे नाटकों, उपन्यासों और गल्पों की कमी है जो साहित्य की दृष्टि से ऊँचा दर्जा रखते हों। समालोचना और इतिहास, तथा गद्य के और और अंग भी बिल्कुल अपूर्ण हैं।

उर्दू में कविता या नज़्म की हालत यह है कि यद्यपि ग़ज़ल, मर्सिये, मस्नवी और क़सीदे मे उच्च श्रेणी का कवित्व पर्याप्त अंश में मिलता है तथापि इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि समय की आवश्यकताओं के अनुसार वह हमारे नये जीवन को चित्रित करने में सफल हुआ है।

हिंदी में भी कवियों की कमी नहीं है। और कदाचित् उर्दू की अपेक्षा नई रीतियों से, नई आवश्यकताओं से वह अधिक प्रभावित हुई है। परंतु इसकी भाषा के नये रूप में अभी वह प्रौढ़ता नहीं आ पाई है जो कविता के लिये परमावश्यक है और हम यह निश्चय के साथ नहीं कह सकते कि पिछले सौ वर्षों में कोई भी ऐसा कवि उत्पन्न हुआ है जिसका नाम प्राचीन महाकवियो की बराबरी में लिया जा सके

देश की जन-संख्या का ध्यान रखते हुए यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि साहित्य और ज्ञान की उन्नति और प्रचार में दिलचस्पी लेनेवालों की गिनती बहुत थोड़ी है। हमारे करोड़ों देशबंधु शिक्षा से वंचित और साहित्य के अध्यात्मिक आनंद से विहीन हैं। लेकिन यह भूलना न चाहिए कि जातीय जीवन का भार इन्हीं ग़रीव, सहनशील, परिश्रमी मनुष्यों पर है जो इस समय शिक्षा से लाभ नहीं उठा सकते। बहुत शीघ्र वह समय आने वाला है जब वह इस वात पर ज़ोर देंगे कि उन्हें भी विद्या और साहित्य से लाभ उठाने का वही प्राकृतिक और सहज अधिकार प्राप्त है जो आजकल केवल थोड़े से लोगों को है। व्यक्तिगत भलाई तथा सामाजिक भलाई दोनों ही दृष्टि से उनकी माँग यथार्थ और उचित होगी। हिंदुस्तानी एकेडेमी के स्थापन का उद्देश इन्हीं आवश्यकताओं का पूरा करना है। भिन्न भिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखवाना, साहित्य की न्यूनताओं को पूर्ण करना और ऐसी पुस्तकों को देश के संमुख प्रस्तुत करना है जो जनसाधारण की शिक्षा का साधन बन सकें।

अब यह प्रश्न उठता है कि संगठित संस्थाओं द्वारा साहित्य की उन्नति हो भी सकती है या नहीं। कुछ सज्जनों का यह विचार है कि साहित्य का संबंध आत्मा की स्वतंत्रता से है। उसकी रचना कृत्रिम उपायों या साधनों से नहीं हो सकती। यह संभव नहीं कि बाह्य उपयोगों से मन में वह अवस्था उत्पन्न हो सके जिस से कवित्व का उद्‌गार हो। कवि और साहित्यिक बनाने से नहीं बनते। प्रकृति अपने नियमों के अनुसार उन्हें अव्यक्त से व्यक्त संसार में लाती है। एक अंश में यह बात ठीक है। लेकिन इस प्रश्न का एक दूसरा पक्ष भी है जिसे हम अपनी आँखों के सामने से हटा नहीं सकते। साहित्य जिन भावों, रसों, कल्पनाओं और विचारों को आश्रय देता है वह सभी मनुष्यों में कम अथवा अधिक पाये जाते हैं। ऐसा न होता तो साहित्य का प्रभाव इतना सर्वव्यापी न होता और कुछ थोड़े मनुष्यों तक परिमित रहता। इन भावों, कल्पनाओं, प्रेरणाओं को एक रचनात्मक रूप देने की योग्यता अवश्य परिमित है। लेकिन इतनी परिमित भी वह नहीं है, जितना समझा जाता है। प्रोत्साहन की कमी के कारण, बहुत से मनुष्य जिनमें यह योग्यता मौजूद है, उसको प्रकट करने में

अशक्त हैं। इस के उदाहरण, प्रत्येक समय और प्रत्येक देश में मिल सकते है। इस बात की आवश्यकता नहीं कि इनका यहाँ पर बखान किया जाय। उर्दू और हिंदी का इतिहास स्वयं इसका साक्षी है। यद्यपि उर्दू और हिंदी में कविता कम से कम चार-पाँच सौ बरस पहिले से हो रही है लेकिन दोनों भाषाओं मे गिलक्राइस्ट के समय से पहिले जो गद्य मौजूद था वह कदापि ऐसा नहीं था कि साहित्यिक कहला सके। परंतु गिलक्राइस्ट का आश्रय पाकर पाँच सात ही बरस में वह गद्य उत्पन्न हुआ जिस पर हमें गर्व है। उस के प्रयत्नों से लल्लू-लाल, सदल मिश्र, लुत्फ़ अलीबेग, मीर शेरअली अफ़सोस, मीर अम्मन देहलवी, सैयद हैदरबख़्श हैदरी ऐसे साहित्यकार कलकत्ते में एकत्र हुए। इनकी महत्कृतियों का हिंदुस्तान सदा आभारी रहेगा।

यदि आजकल एक ऐसी संस्था हो, जिस के सदस्यों को साहित्य की आवश्यकताओं का पूर्ण अनुभव हो, और जो उसकी उन्नति की यथार्थ कल्पना कर सकें, जिन के आदर्श एक हों, जिनकी रुचि निर्दोष और दृष्टि विस्तृत हो, जिन के हृदय साहित्यिक तथा अन्य पक्षपातों से दूर हों, और कला और कलाकारों के लिये सहानुभूति से भरे हुए हों, जो साहित्य-सेवा के लिये शुद्धभाव से तत्पर हों, साथ ही साथ जिन को साहित्य के प्रचार के लिये पर्याप्त धन प्राप्त हो, तो क्या यह संभव नहीं कि यह संस्था वह काम कर सके जो गिलक्राइस्ट ने आज से सौ बरस पहिले अकेले कर दिखाया था ?

किसी का कथन है कि 'जमाअत में करामत है।' अर्थात् संगठन मे, एकता में, एक चमत्कार है। ऐकेडेमी को भी अपनी एक विशेष सेवा प्रस्तुत करने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है यदि उस मे संस्था के गुण पाये जायँ अर्थात् यह कि केवल इने गिने व्यक्तियों की सभा न हो, जिन में आपस में भावों की कोई एकता न हो और जो केवल अपने भिन्न भिन्न विचार रखते हों। एक संस्था वास्तव में केवल उस समय तक एक संस्था कहला सकती है जब तक कि उस के सदस्य एक दूसरे से लगाव रखते हों, उन के मन एक आदर्श से प्रेरित हों और उन के सम्मिलित और निरंतर प्रयत्नों का उद्देश एक हो जिस प्रकार भिन्न पर्दों के छेड़ने से भिन्न सुरों के मेल से एक सुरीला राग उत्पन्न

होता है उसी प्रकार एकेडेमी के भिन्न भिन्न अनुभवी सदस्यों के मिलने से एक ऐसी सूक्ष्म बुद्धि उपज सकती है जो साहित्य में सुरुचि फैलाये।

हिंदुस्तानी एकेडेमी की सफलता का निर्णय करने के लिए व्याख्यानों और पुस्तकों का अधिक संख्या में प्रकाशन, या पुरस्कारों का वितरण यथार्थ आधार नहीं। देखना यह होगा कि कहाँ तक उस ने अफलातून की पहिली एकेडेमी की तरह साहित्य के विषय में ऐसे मंतव्य स्थिर किए जो समय के परिवर्तन के साथ विस्तृत होते रहें परंतु जिन की नीव अटल हो, कहाँ तक फ्रांसीसी एकेडेमी की भाँति, भाषा को सँवारने और साहित्य को अलंकृत करने मे ऐसा ढंग ग्रहण किया कि जिस से एक ओर बनावट और संकुचित दृष्टि से और दूसरी ओर उच्छृङ्खलता और निरंकुशता से बचते हुए साहित्य में जातीयता को स्थिर और प्रकट करने की योग्यता आई तथा कहाँ तक उस के प्रयत्नों के फल-स्वरूप हमारे हृदयो में स्फूर्ति और हमारी कल्पनाओं में ऊँचे उड़ने की शक्ति आई।

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देशों को ध्यान में रखते हुए यह पत्रिका साहित्य में सुरुचि उत्पन्न करने और उस की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता देगी। यह एक ऐसा प्रयास है जिस की सफलता का निर्णय भविष्य ही कर सकेगा।

ताराचंद

प्रधान, संपादक मंडल

समालोचना

हिंदी साहित्य का इतिहास

१—**हिंदी साहित्य का इतिहास**—लेखक रामचंद्र शुक्ल। प्रकाशक, (नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से) इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग। संवत् १९८६। आकार २०×३० सोलह पेजी। पृष्ठ १२+६८४+६०। सजिल्द। मूल्य ४॥)

२—**हिंदी भाषा और साहित्य**—लेखक, श्यामसुंदर दास। प्रकाशक, इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग। संवत् १९८७। आकार रायल अठपेजी। पृष्ठ ५४०। सजिल्द और सचित्र। मूल्य ६)।

'हिंदी शब्दसागर' की भूमिका में गतवर्ष 'हिंदी साहित्य का विकास' शीर्षक एक अंश पं० रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखा निकला था। प्रस्तुत हिंदी-साहित्य का इतिहास लेखक के इसी अंश का परिवर्द्धित पुस्तकाकार संस्करण है। इस ग्रंथ के निकलने के पूर्व हिंदी में इस विषय पर कोई भी ऐसी सर्वाङ्ग मान्य पुस्तक न थी जो विद्यार्थी वर्ग तथा साहित्य-प्रेमियों के हाथ में दी जा सकती। 'मिश्रबन्धु-विनोद' के तीनों भागों या उन्हीं के लिखे संक्षिप्त इतिहास से यह काम लिया जाता था किंतु ये दोनों पुस्तकें इस कार्य्य के लिये बहुत उपयुक्त न थीं। शुक्लजी के ग्रंथ ने वास्तव में एक बड़ी भारी कमी पूरी कर दी है।

काल-विभाग को छोड़ कर शुक्लजी के इतिहास का ढंग 'विनोद' से बहुत मिलता-जुलता है। शुक्लजी ने हिंदी-साहित्य के इतिहास को वीर-गाथा काल, भक्ति काल, रीति काल तथा गद्य काल में विभाजित किया है। 'विनोद' के काल-विभाग की अपेक्षा यह विभाग अवश्य ही अधिक सरल, सुबोध और युक्तिसंगत है। प्राय: प्रत्येक काल के विवेचन में आरंभ में एक प्रकरण में उस काल का 'सामान्य परिचय' दिया गया है और फिर दो या

वाले कवियों या लेखकों का वर्णन किया गया है। कवियों के संबंध में दिये गए ये विवेचन बिलकुल 'विनोद' के ढंग के हैं। प्रत्येक धारा से संबंध रखने वाले मुख्य-मुख्य कवियों पर अलग अलग एक, दो, तीन संख्यायें लगा कर छोटे छोटे लेख लिखे गये हैं जिन में कवि की जीवनी और ग्रंथ-रचना के संबंध में संक्षिप्त विवेचन देकर अंत में उस कवि या लेखक की कृति के कुछ उदाहरण दे दिये गए हैं। पता नहीं शुक्लजी ने अपने इतिहास में यह ढंग रखना क्यों पसंद किया।

साहित्यिक कोष की दृष्टि से तो यह क्रम बुरा नहीं है किंतु एक संबद्ध इतिहास की दृष्टि से इस ढंग में ऐसा बिखरापन आ जाता है कि किसी भी प्रकरण को पढ़ कर मस्तिष्क पर उस का ठीक सम्मिलित प्रभाव नहीं पड़ता। फिर इस ढंग में तुलनात्मक अथवा व्यक्तिगत आलोचना के लिये भी पर्याप्त स्थान नहीं रह जाता। इस दृष्टि से शुक्लजी का इतिहास 'मिश्रबन्धु-विनोद' का पूर्ण रूप से संशोधित किंतु संक्षिप्त संस्करण सा दिखलाई पड़ने लगता है।

कदाचित् पिछले इतिहासों पर आवश्यकता से अधिक भरोसा करने के कारण कुछ स्थलों पर पुरानी भूलें इस इतिहास में भी घुस आई हैं। उदाहरण के लिये सूरदासजी के वर्णन में एक स्थल पर शुक्लजी ने लिखा है कि "उक्त 'वार्ता' (चौरासी-वार्ता) के अनुसार ये सारस्वत ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम रामदास था। भक्तमाल में भी ये ब्राह्मण ही कहे गए हैं और आठ वर्ष की अवस्था मे इनका यज्ञोपवीत होना लिखा है।"—पृष्ठ १५५-१५६। बहुत करके यह अंश 'हिंदी नवरत्न' के निम्न लिखित अंशों से प्रभावित जान पड़ता है—"चौरासी वार्ता तथा भक्तमाल के अनुसार सूरदास सारस्वत-ब्राह्मण थे और इन के पिता का नाम रामदास था।" "भक्तमाल मे लिखा है कि इन के पिता ने आठ वर्ष की अवस्था में इन का यज्ञोपवीत कर दिया था।" पृष्ठ १६७। इस समय जो 'चौरासी वार्ता' उपलब्ध है उस में सूरदास की वार्ता अवश्य है किन्तु उस में सूरदास के ब्राह्मण होने का भी उल्लेख नहीं मिलता, फिर सारस्वत ब्राह्मण होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

सूरदास के पिता का नाम रामदास था यह उल्लेख भी वार्ता में दी हुई

सूरदास की जीवनी में कहीं नहीं मिलता।

'चौरासी वार्ता' में पाये जाने वाले वर्णन से सूरदास की जाति अथवा उन के माता पिता आदि का उल्लेख ही नहीं है। चौरासी वार्ता का वर्णन निम्न लिखित ढंग का है—"सो गऊ घाट ऊपर सूरदास जी कौ स्थल हुतौ। सो सूरदास जी स्वामी है, आप सेवक करते, सूरदास जी भगवदीय हैं गान बहुत आछौ करते, तातें बहुत लोग सूरदास जी के सेवक भये हुते।" (चौरासी वैष्णवन की वार्ता, डाकोर, संवत् १९६०, पृ० २११)।

नाभादासकृत भक्तमाल में भी न तो सूरदास का ब्राह्मण या सारस्वत ब्राह्मण होना लिखा है, न इन के पिता रामदास थे इस बात का उल्लेख है, और न यह पाया जाता है कि आठ वर्ष की अवस्था मे इन का यज्ञोपवीत हुआ था। भक्तमाल में सूरदास के संबंध में एक ही छप्पय है जो प्रसिद्ध होते हुए भी संशय निवारणार्थ नीचे दिया जाता है—

सूर कवित सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै।
उक्ति, चोज, अनुप्रास, बरन अस्थिति, अतिभारी।
बचन प्रीति निर्वाह, अर्थ अद्भुत तुक धारी॥
प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि, हृदय हरिलीला भाषी।
जनम करम गुनरूप सबै रसना परकासी॥
विमल बुद्धि गुन और की, जो यह गुण श्रवननि धरै।
सूर कवित सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै॥७३॥

—श्रीभक्तमाल, लखनऊ (१९१३) पृष्ठ ५३९—५४०।

नाभादास के इस छप्पय पर प्रियादास ने एक भी कवित्त नहीं लिखा है अतः प्रियादास की टीका मे इन बातों के पाये जाने का प्रश्न ही नही उठ सकता। श्री सीतारामशरण के तिलक तक में इस तरह का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

'चौरासी वार्ता' और 'भक्तमाल' के कल्पित आधार पर किये गए सूरदास के संबंध में इन उल्लेखों का समावेश राय साहब बाबू श्याम सुंदरदास

सूरदास के वर्णन में बाबू साहब लिखते हैं कि "चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा भक्तमाल के साक्ष्य से ये सारस्वत ब्राह्मण ठहरते हैं, यद्यपि कोई कोई इन्हें महाकवि चंदबरदाई के वंशज भाट कहते हैं।" पृष्ठ ४११-४१२।

यह स्पष्ट है कि शुक्लजी तथा बाबू श्यामसुंदरदास ने 'हिंदी नवरत्न' के आधार पर ही उपर्युक्त उल्लेख किया है। मिश्र-बंधुओं के ग्रंथ में लिखे होने के कारण कदाचित् उन्हों ने 'चौरासी वार्ता' या 'भक्तमाल' में देख कर जाँचने का कष्ट उठाना व्यर्थ समझा। मिश्र-बंधुओं ने 'हिंदी नवरत्न' में सूरसागर के लेख में यह स्पष्ट लिख दिया है कि सूरदास की जीवन-घटनाओं के लिखने में उन्हों ने राधाकृष्णदास द्वारा संपादित सूरसागर में भूमिका की भाँति दिये गए जीवन चरित से भी सहायता ली है। वास्तव में इस सब गड़बड़ी का मूलाधार राधाकृष्णदास की लिखी यह जीवनी ही है। उपर्युक्त भूमिका में 'पूज्यपाद भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी लिखित नोट सूरदासजी का' इस शीर्षक में नीचे लिखा वाक्य आया है "चौरासी वार्ता, उस की टीका, भक्तमाल और उस की टीका में इन का जीवन विवृत किया है। इन्हीं ग्रंथों के अनुसार संसार को (और हम को भी) विश्वास था कि ये सारस्वत ब्राह्मण हैं, इन के पिता का नाम रामदास, इन के माता पिता दारिद्री थे, ये गऊघाट पर रहते थे।" इत्यादि।

राधाकृष्णदास की भूमिका के इस उल्लेख में और ऊपर दिये हुए इस के आधुनिक रूपों में बहुत अंतर हो गया है। संभव है कि 'चौरासी वार्ता' अथवा 'भक्तमाल' की किसी विशेष टीका में सूरदासजी की जाति तथा पिता के नाम आदि के संबंध में इस तरह के उल्लेख हों किंतु यह निश्चय है कि इन मूल ग्रंथों में इस तरह के उल्लेख नहीं पाये जाते।

इस छोटी सी बात का इतना विस्तृत विवेचन मैंने केवल इसलिये किया है कि इस से हिंदी के क्षेत्र में काम करने वालों की कठिनाइयों का ठीक ठीक अनुभव हो सके। साहित्य के इतिहास जैसे विस्तृत विषय पर लिखने के लिये पिछले कार्य-कर्ताओं की खोज का सहारा लेना स्वाभाविक है। छोटे छोटे उल्लेखों को जाँचने के लिये मूल ग्रंथों को प्रायः नहीं देखा जाता है। तो भी लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों के ग्रंथों में इस तरह के कल्प भी उल्लेखों का पुश्तैनी

ढंग से चलते रहना खटकता अवश्य है।

शुक्लजी ने अपने 'वक्तव्य' में हिंदी साहित्य के पुराने इतिहासो का उल्लेख किया है जिन मे शिवसिंह सरोज, ग्रियर्सन का अंग्रेजी में लिखा हुआ इतिहास तथा 'मिश्रबंधु-विनोद' मुख्य हैं। खेद है कि शुक्लजी ने प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् टैसी (गार्सां द तासी) के ग्रंथ का न तो उल्लेख किया है और न उस का उपयोग ही किया है। यह त्रुटि समान रूप से 'मिश्रबंधु-विनोद' तथा 'हिंदी भाषा और साहित्य' में भी रह जाती है। वास्तव में टैसी हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास-लेखक है। टैसी के हिंदी और हिंदुस्तानी साहित्य के इतिहास[1] का पहला भाग १८३९ तथा दूसरा भाग १८४६ ईस्वी में फ्रांसीसी मे छपा था। इस ग्रंथ का दूसरा परिवर्द्धित संस्करण तीन भागों में १८७० ईस्वी मे निकला था। यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि शिवसिंह सेंगर के ग्रंथ का प्रथम संस्करण १८७७ ई० मे तथा दूसरा संस्करण १८८३ ई० मे निकला था। कुछ अंशों में टैसी के दूसरे संस्करण में 'सरोज' की अपेक्षा कहीं अधिक सामग्री है। ग्रियर्सन ने (१८८९ ई० में) टैसी के ग्रंथ का उपयोग किया था किंतु कदाचित् पहला ही संस्करण ग्रियर्सन के सामने था क्योंकि दूसरे संस्करण में पाई जाने वाली विशेष सामग्री ग्रियर्सन के ग्रंथ मे नहीं है। खेद है कि 'मिश्रबंधु-विनोद' (१९१३ ई०) तथा प्रस्तुत इतिहासों में भी इस विशेष सामग्री की उपेक्षा की गई है। टैसी के ग्रंथ की विशेषता यह है कि उस में हिंदी और उर्दू दोनो साहित्यों का साथ साथ विवेचन किया गया है। इस का क्रम 'विनोद' से बहुत मिलता-जुलता है। टैसी का ग्रंथ फ्रांसीसी भाषा में है किंतु अलभ्य नहीं है।

शुक्लजी के इतिहास के वीरगाथा-काल तथा गद्यकाल में बहुत सी ऐसी

[1] गार्सां द तासी लिस्तिार इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदूई ए ऐंदूस्तानी　भाग १

नई सामग्री एकत्रित है जो अब तक हिंदी के विद्यार्थियों को एक जगह उपलब्ध नहीं थी, विशेषतया आधुनिक काल के कुछ अंश पढ़ने योग्य हैं। इन अंशों को पढ़ कर मेरी धारणा तो यह बँधी है कि यदि शुक्लजी केवल आधुनिक हिंदी साहित्य का एक विस्तृत इतिहास लिख दें तो हिंदी साहित्य तथा उस के प्रेमियों और विद्यार्थियों का बड़ा लाभ हो। इस काल की सामग्री अभी बहुत कुछ मिल सकती है और इस विषय पर लिखने के लिये शुक्लजी जैसा अनुभवी, लब्धप्रतिष्ठ तथा निष्पक्ष आलोचक सहसा नहीं सोचा जा सकता। जो हो शुक्लजी का प्रस्तुत ग्रंथ हिंदी साहित्य के इतिहास की जानकारी के लिये अनिवार्य है और रहेगा। हिंदी साहित्य के इतिहास पर अपने एक विद्वान् का लिखा एक जिल्द में पूर्ण ग्रंथ पाठकों के हाथ में अब दिया तो जा सकता है। अब तक तो इस संबंध मे भी कठिनाई थी। पुस्तक की छपाई तथा जिल्द आदि साफ़ सुथरी हैं किंतु विशेष आकर्षक नहीं हैं।

❀ ❀ ❀

राय साहब बाबू श्यामसुंदरदास के 'हिंदी भाषा और साहित्य' में दो भाग हैं। प्रथम भाग में लगभल १५० पृष्ठों मे हिंदी भाषा के संबंध मे विवेचन है तथा दूसरे भाग मे शेष ३५० पृष्ठों में हिंदी साहित्य का दिग्दर्शन कराया गया है।

हिंदी भाषा के इस विवेचन का मूल-रूप छः सात वर्ष पूर्व लेखक की 'भाषा-विज्ञान' नाम की पुस्तक के अन्तिम अध्याय के रूप में पहले पहल निकला था, उसके बाद यह अध्याय 'हिंदी भाषा का विकास' शीर्षक से स्वतंत्र पुस्तक के रूप में छपा था। गत वर्ष यही अंश शब्दसागर की भूमिका के एक अंश के रूप मे दिया गया था और अब यह परिवर्द्धित और संशोधित होकर प्रस्तुत पुस्तक का पूर्व भाग है। लेखक ने 'भाषा-विज्ञान' नाम की पुस्तक अपने एम० ए० के विद्यार्थियों की 'शांत तथा दृढ़ पुकार' के कारण लिखी थी। हिंदी के अनेक क्षेत्रों में पथ-प्रदर्शक होने का श्रेय बाबू साहब को प्राप्त है और भाषा-विज्ञान तथा हिंदी भाषा का इतिहास भी इन में से एक है पथ-प्रदर्शक का काम कितना कठिन है यह वही ठीक ठीक समझ सकता है जिस को इस संबंध

में कुछ अनुभव हो। विश्वविद्यालयों में हिंदी की स्थापना तथा संचालन करने वाले अध्यापकों को तो 'पीर, बवर्ची, भिश्ती, खर' बने बिना निस्तार का कोई उपाय ही नहीं था। जिसे आधुनिक हिंदी गद्य, कबीर का रहस्यवाद, वल्लभाचार्य और उन के शिष्यों का पुष्टि मार्ग, विशिष्टाद्वैत-वाद, भाषा-शास्त्र, साहित्य, समालोचना के सिद्धांत, भारतीय सभ्यता का इतिहास, रस और उस का निरूपण, हिंदी व्याकरण के रूपों का इतिहास जैसे भिन्न भिन्न विषयों पर नित्य प्रति साथ साथ व्याख्यान देने पड़ते हों उस का कार्य इन किन्हीं भी विषयों पर यदि विशेषज्ञों के कार्य की टक्कर न ले सके तो इस में कोई आश्चर्य नहीं। हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी अध्यापक की हैसियत से काम करते हुए उस सामग्री में से कुछ को इतने शीघ्र पुस्तकाकार प्रकाशित कर सकना बाबू साहब के विशेष अध्यवसाय, तथा इस संबंध में इन के प्राचीन अनुभव का साक्षी है। किसी भी आधुनिक भारतीय आर्य भाषा पर लिखने वाले को ग्रियर्सन के लेखों तथा उन की 'भाषा सर्वे' का सहारा लेना अनिवार्य है। प्रस्तुत अंश में भी जगह जगह उपर्युक्त सामग्री से सहायता ली गई है किंतु साथ ही कुछ नवीन विचारों का भी समावेश किया गया है। डाक्टर सुनीति कुमार चैटर्जी के 'बंगला भाषा का मूल तथा विकास'[1] शीर्षक ग्रंथ की बृहत् भूमिका में कुछ नवीनताएँ हैं जो ध्यान देने योग्य हैं। खेद है कि इस बृहत् ग्रंथ की सहायता बाबू साहब ने विशेष नहीं ली है। उदाहरण के लिये भारतीय आर्य भाषाओं का काल-विभाग श्रीयुत् चैटर्जी के ग्रंथ में अधिक सुबोध है किन्तु बाबू साहब ने ग्रियर्सन के अनुसार पहली प्राकृत, दूसरी प्राकृत तथा तीसरी प्राकृत नाम बनाये रखना ही उचित समझा। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का बहिरंग तथा अंतरंग भाषाओं में विभाग भी ग्रियर्सन के ही अनुसार रख लिया गया है। इस विषय में भी श्रीयुत् चैटर्जी के तर्क तथा प्रमाण ध्यान देने योग्य है तथा उन का विभाग विशेष युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

---

[1] सुनीति कुमार चैटर्जी—'दि ओरिजिन एंड डेवलप्मेंट अव् बॅंगाली लैंग्वेज', जिल्द १, २ १९२६

हिंदी ध्वनियों के संबंध मे कुछ भ्रम सनातन से चले आते हैं और वे बाबू साहब ने भी ज्यों के त्यों दोहरा दिए है। उदाहरण के लिये 'हिंदी के नादात्मक विश्लेषण और विकास' शीर्षक अध्याय (पृष्ठ ६४) में हिन्दी ए (अ या आ+इ या ई) और ओ (अ या आ+उ या ऊ) को पूर्व प्रथानुसार संयुक्त स्वर बतलाया गया है। वास्तव में हिंदी ए और ओ संयुक्त स्वर न होकर केवल मूल स्वर मात्र हैं। वैदिक काल में कदाचित् इन स्वरों का उच्चारण संयुक्त स्वर के समान था। कोई भी हिंदी-भाषा-भाषी व्यक्ति इन के वर्तमान उच्चारण पर ध्यान देकर इस तथ्य को समझ सकता है किन्तु आज तक हिन्दी भाषा के किसी भी लेखक ने इस पर ध्यान ही नहीं दिया है। पंडित कामताप्रसाद गुरु के व्याकरण में भी यह भ्रमपूर्ण उल्लेख मौजूद है तथा हिन्दी के छोटे से लेकर बड़े तक प्रत्येक व्याकरण में बराबर यही लिखा मिलेगा कि हिंदी ए और ओ भी संयुक्त स्वर हैं।

बाबू साहब ने अपने विवेचन मे कुछ ऐसी नवीनताओं का समावेश किया है जो ग्रियर्सन तथा चैटर्जी आदि समस्त लब्धप्रतिष्ठ विद्वानो की खोज के बिलकुल विरुद्ध जाती हैं। उदाहरण के लिये उन्हों ने हिन्दी की पाँच मुख्य उपभाषायें या बोलियाँ मानी हैं (पृष्ठ ८२) और इन के नाम १—राजस्थानी भाषा, २—अवधी, ३—ब्रजभाषा, ४—बुंदेली भाषा तथा ५—खड़ी बोली दिए हैं। फिर अवधी के अंतर्गत तीन मुख्य बोलियाँ मानी हैं—अवधी, बघेली और छत्तीस गढ़ी (पृष्ठ ८८)। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के समस्त विशेषज्ञों के अनुसार राजस्थानी भाषा हिंदी की उपभाषा नहीं मानी जाती तथा छत्तीस गढ़ी अवधी की बोली नहीं मानी जाती। समस्त विशेषज्ञों से मतभेद होने पर पर्याप्त कारणों का देना आवश्यक है।

ग्रियर्सन के आधार पर इस अंश मे चार मानचित्र भी दिये गए हैं जिन से विषय को समझने में सहायता मिलती है। किन्तु बहुत साफ़ सुथरे छपे होने पर भी इन पर विशेष परिश्रम नहीं किया गया है। उदाहरण के लिये राजस्थानी, पश्चिमी हिंदी, तथा पूर्वी हिंदी की बोलियों की सीमायें भारत के मानचित्र में ही दिखलाने के कारण इन बोलियों के विस्तार का ठीक बोध

नहीं होता अतः इन तीन पृथक् मानचित्रों का देना व्यर्थ हो जाता है। एक ही मानचित्र में सीमायें दिखलाई जा सकती थीं। यदि पृथक् मानचित्र देने थे तो केवल इन्हीं भागो के बड़े मानचित्र देने चाहिए थे।

प्रस्तुत ग्रंथ का दूसरा भाग 'हिंदी साहित्य' शीर्षक है। इस भाग में दूसरे और तीसरे अध्याय हिंदी मे अपने ढंग के बिल्कुल नये है। 'भिन्न भिन्न परिस्थितियाँ' शीर्षक दूसरे अध्याय में हिंदी साहित्य के निर्माण-काल की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियो पर संक्षेप में विचार किया गया है। 'ललित कलाओं की स्थिति' शीर्षक तीसरे अध्याय में इसी काल के ललित कलाओं—वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीत कला—का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है। अनेक चित्रों के दे देने से यह अध्याय और भी अधिक रोचक हो गया है। लेखक के अनुसार 'साहित्य के तीसरे अध्याय की समस्त सामग्री राय कृष्णदास की कृपा का फल है और उसे सुचारु रूप से सजाने तथा उस निमित्त सत्परामर्श देने मे राय बहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरी शंकर हीराचंद ओझा, बाबू काशी प्रसाद जायसवाल, राय बहादुर बाबू हीरालाल, मिस्टर एन० सी० मेहता तथा डाक्टर हीरानंद शास्त्री ने.........कृपा की है।' ऐसी अवस्था में इस विषय के विवेचन का आदर्श-स्वरूप होना स्वाभाविक है।

साहित्य-भाग के शेष अंश मे 'विषय प्रवेश' शीर्षक एक अध्याय देने के बाद वीरगाथा काल, भक्ति काल की ज्ञानाश्रयी, प्रेममार्गी रामभक्ति तथा कृष्ण भक्ति शाखाओं, रीतिकाल तथा आधुनिक काल पर पृथक् पृथक् अध्याय हैं। साहित्य के इस इतिहास की सब से बड़ी विशेषता यह है कि पृथक् पृथक् कवियों के संबंध में विस्तार न देकर उन को लेते हुए प्रत्येक काल पर संबद्ध रूप से आलोचनात्मक किंतु रोचक तथा सरसरी ढंग से विवेचन किया गया है जिस से ग्रंथ के इस अंश के पढ़ने से विशेष आनंद आता है। हिंदी में इस ढंग का यह विवेचन पहला ही है। अन्य ग्रंथों के आधार पर चलने के कारण कहीं कहीं भूलों का रह जाना स्वाभाविक है। इस संबंध में कुछ उल्लेख ऊपर भी किये जा चुके हैं शायद जल्दी के कारण कुछ अन्य स्थलों पर भी छोटी-छोटी भूलें रह गई हैं जैसे चौथे अध्याय में विवेचन है खुमान रासो से लेकर वीर सतसई तक के

हिंदी वीर काव्य का किंतु अध्याय का शीर्षक दिया गया है 'वीरगाथा काल'। इस अध्याय का शीर्षक 'हिंदी वीरकाव्य' अधिक उचित होता। किसी भी लेखक के समस्त विचारों से अन्य विद्वान् संमत नहीं हो सकते। मतभेद का रहना स्वाभाविक है। यह होते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि बाबू साहब की अधिकांश आलोचनायें स्पष्ट, निर्भीक तथा आधुनिक दृष्टिकोण के उपयुक्त ही हैं। प्राचीन तथा आधुनिक कवि तथा लेखकों के चित्रों के समावेश के कारण यह अंश विशेष आकर्षक हो गया है।

अपनी इस बृहत् पुस्तक के केवल मात्र साहित्य के अंश को यदि बाबू साहब अलग छपवा दें तो साधारण विद्यार्थी तथा हिंदी-प्रेमी जनता कदाचित् विशेष लाभ उठा सके। हिंदी भाषा वाला अंश तो अलग भी पुस्तकाकार मिलता है। पुस्तक की छपाई, कागज तथा जिल्द आदि आदर्श हैं। वास्तव में पुस्तक को हाथ में लेकर गर्व होता है। ऐसी सुंदर छपी हुई पुस्तकें हिंदी में बहुत कम हैं।

धी० व०

हिंदुस्तानी

तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

अप्रैल १९३१ { अंक २

विरही कवि घनानंद

श्रीयुत परशुराम चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

[१]

ानंद की गणना ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में की जाती है
की प्रशंसा हिंदी साहित्य के प्रायः प्रत्येक प्रसिद्ध मर्मज्ञ ने,
दोनों के ही विचारों से, एक समान की है। भारतेंदु बाबू
ी कविता पर बहुत मुग्ध रहा करते थे और इन के उत्तम
ं ने दो-एक संग्रहों में भी प्रकाशित किया था। घनानंद की
ं के सामने पढ़ कर सुनाने में उन्हें बड़ा आनंद आता था
हों ने घनानंद के ढंग की कविता करने का भी प्रयास किया।
-रसिक स्वर्गीय बाबू अमीरसिंह ने 'साभिमान' कहा है कि
-५ कवितायें पढ़ लेने वाले के लिए भी "यह तो संभव ही
न हो।"[१] पंडित रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में "प्रेम मार्ग का
ीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रज-

भाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ" और न "इन की सी विशुद्ध और सरस व्रज-भाषा लिखने मे और कोई कवि समर्थ हुआ।"[१] घनानंद की भाषा पर विचार करते हुए बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी कहा है कि "विहारी के पश्चात् आनंदघन जी ने अपनी कविता मे शुद्ध तथा साम्य संपन्न भाषा के प्रयुक्त करने का प्रयत्न किया" और, "हमारी समझ मे विहारी तथा आनंदघन जी की कविताओं मे शुद्ध साहित्यिक व्रजभाषा का एक सुंदर और उपयोगी व्याकरण तैयार करने के योग्य पर्याप्त सामग्री विद्यमान है।"[२] अपनी काव्य-कुशलता की प्रशंसा में घनानंद ने स्वयं भी लिखा है। जैसे,

नेही महा व्रजभाषा प्रवीन
औ सुंदरतानि के भेद कों जानै।
जोग वियोग की रीति मे कोविद
भावना भेद स्वरूप कों ठानै।
चाह के रंग मे भींज्यो हियो
बिछुरें मिलें प्रीतम सांति न मानै।
भाषा प्रवीन सुछंद सदा रहै
सो घन जी के कबित्त बखानै ॥ १ ॥

तथा,

प्रेम सदा अति ऊँचो लहै
सु कहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनि कै सब के मन लालच दौरे
पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी ॥
जग की कविताई के धोखे रहैं
ह्याँ प्रवीननि की मति जाति जकी।
समुझै कविता घन आनंद की
हिय आँखिन नेह की पीर तकी ॥ २ ॥

---

१ ... का इतिहास पृ० ३८१

अर्थात् घनानंद की कविता वही पढ़ और समझ सकता है जो एक बड़ा भारी प्रेमी होने के साथ ही ब्रजभाषा की योग्यता रखने वाला तथा सौंदर्य की विविध भावनाओं का साक्षात् अनुभव करने वाला हो। इन की कविता में प्रेम का रहस्य अंतर्हित है जिसे भलीभाँति देख पाने के लिए पहले अपने हृदय-नेत्र में प्रेम की कसक अथवा विरह रूपी आँजन लगा लेने की आवश्यकता पड़ती है।

परन्तु आज तक न तो इस कवि की जीवन-घटनाओं का ही पूरा पता लग पाया है और न, एकाध को छोड़, इस की कोई रचना ही प्रकाशित हो पाई है। डाक्टर ग्रियर्सन ने किसी महादेव प्रसाद रचित 'साहित्यभूषण' के आधार पर केवल इतना लिखा है कि घनानंद जाति के कायस्थ थे और दिल्ली के प्रसिद्ध रँगीले बादशाह मुहम्मद शाह के यहाँ मुंशी के पद पर नौकरी करते थे और वहाँ से हटने के अनंतर नादिर शाह की मथुरा वाली चढ़ाई के समय वृंदावन में मारडाले गये।[1] इस के अनुसार घनानंद का संवत् १७९६ (सन् १७३९ ई०) तक जीवित रहना कहा जा सकता है और आजतक इस बात को निश्चित मान लेने में किसी ने आपत्ति नहीं की है। इन के जन्म-समय के विषय में अवश्य थोड़ा सा मतभेद है। ठाकुर शिवसिंह के 'सरोज' के अनुसार घनानंद संवत् १७१५ (जो असावधानी के कारण, नवलकिशोर प्रेस वाले सन् १९२६ ई० के 'संशोधित' संस्करण में, सं० १६१५ छप गया है) में उत्पन्न हुए थे[2] और यही काल 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण'[3] तथा 'मनोरंजन-पुस्तक-माला' की ५१वीं संख्या 'रस-खान और घनानंद'[4] में ठीक मान लिया गया जान पड़ता है। इस के विपरीत श्री वियोगी हरि ने अपने 'ब्रजमाधुरीसार' में घनानंद का जन्मकाल सं०

[1] ग्रियर्सन, 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर अव् हिंदुस्तान।'

[2] 'शिवसिंह सरोज', पृ० ४११

[3] हिंदी पु[स्तकों] [का] सं[क्षिप्त] विवरण, पृ० १२।

१७४६ (सन् १६८९ ई०) के लगभग ठहराया है[1] और पंडित रामचंद्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास मे इसी समय को स्वीकार किया है।[2] इस प्रकार पहले मत के अनुसार घनानंद अपने मृत्यु समय तक ८१ वर्ष के तथा दूसरे के अनुसार लगभग ५० वर्ष के हो चुके थे। श्री वियोगी हरि जी ने अपने १७४६ संवत् वाले मत का कोई दृढ़ आधार नहीं बतलाया है जैसा उन्हें, एक पुराने मत को भ्रमात्मक मान कर अपना नवीन मत स्थापित करते समय, अवश्य करना चाहिए था और न शुक्ल जी ने ही इस विषय पर कोई नया प्रकाश डाला है। इधर कुछ दिनों की जाँच पड़ताल के अनंतर श्री जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' को पता चला है कि घनानद वास्तव में बुलंदशहर के निकट के रहने वाले कायस्थ थे और उन के वंशज अभी बुलंदशहर में अथवा उस के आसपास वर्तमान हैं। ये फ़ारसी के अच्छे पंडित भी थे और अपनी योग्यता के बल से क्रमशः बादशाह मुहम्मद-शाह के मीर मुंशी हो गये थे। सुजान नाम की किसी वेश्या पर आसक्त हो जाने के कारण उसी के प्रेम में मतवाला हो कर इन्हो ने नौकरी तथा घर बार तक सब छोड़ दिया और ब्रज मे जाकर पागलों का जीवन व्यतीत करने लगे और अंत में मथुरा के नादिरशाही क़त्लआम मे मार दिये गए।[3] ऐसी दशा में बुलंद-शहर के निकट से दिल्ली शहर तक पहुँच कर वहाँ के शाहंशाह के दर्बार में मीर मुंशी के ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित होने तथा वहाँ से विरक्त होकर ब्रज में जीवन व्यतीत करने तक, संभव है, घनानंद को पूरा समय लगा होगा। मिश्रबंधुओं ने अपने 'विनोद' में, दर्बार छतरपूर के पुस्तकालय में घनानंद के संवत् १८८२ मे लिखे हुए ५४२ पृष्ठों के, एक भारी ग्रंथ को स्वयं देख कर लिखा है—"जान पड़ता है कि उमर ढलने पर इन के चित्त में ग्लानि होकर निर्वेद उत्पन्न हुआ, जिस से यह श्री वृंदावन धाम जाकर निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित होकर ब्रजवास

---

[1] 'ब्रजमाधुरी सार', पृ० ३०३।

[2] 'हिंदी-साहित्य का इतिहास', पृ० ३८०।

[3] 'रत्नाकर' जी का ३० वीं जनवरी सन् १९३१ का पत्र, जिसे लेखक के एक

करने लगे। यह भाव इन की इस रचना से दृढ़ होता है।" इस विचार से भी घनानंद का ८०-८१ वर्षों तक जीवित रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं; और जब तक इस के विरोध मे कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता तब तक घनानंद का जन्मकाल संवत् १७१५ (सन् १६५८ ई०) के लगभग मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

उपरोक्त बातों के सिवाय घनानंद के विषय मे अभी तक जो कुछ पता चला है वह इस प्रकार है। घनानंद भटनागर कायस्थ थे और इन के पूर्वजों की पुश्तैनी जीविका नौकरी चली आती थी इस कारण समयानुसार पहले पहल इन्हें फ़ारसी की शिक्षा दी गई। फ़ारसी में इन की योग्यता बहुत बढ़ी चढ़ी थी और कहते हैं कि उन्हों ने उस भाषा मे कुछ कविता भी की थी। बादशाह के दफ़्र मे ये पहले पहल किसी नीचे दर्जे पर नौकर हुए किंतु अपने परिश्रम तथा योग्यता के फल-स्वरूप इन्हें अंत में बादशाह मुहम्मदशाह के 'खास कलम' का पद प्राप्त हो गया। घनानंद को अपनी बाल्यावस्था से ही श्रीकृष्ण की रासलीला देखने का चस्का था। बहुधा वे इसी धुन में दिल्ली शहर में आने वाली रास मडलियों के व्यय का भार अपने ऊपर लेकर उन्हे महीनों सँभालते, उन से रास कराते तथा कभी कभी स्वयं भी उन की विविध लीलाओं में भाग लेने का प्रयत्न करते। यही कारण था कि घनानंद को कुछ दिनों में हिंदी भाषा के पद गाने तथा उन की रचना करने का अभ्यास हो गया। कहते हैं कि घनानंद के बनाये बहुत से पद्य रासधारियों मे आज भी गाये जाते हैं। रासलीला के ही कारण घनानंद धीरे धीरे श्रीकृष्ण के परम भक्त हो गए और अंत मे नौकरी छोड़ कर व्रज में निवास करने लगे।[१]

इन की नौकरी छूटने का निम्न-लिखित कारण बतलाया जाता है—"कहते है कि एक दिन दर्बार मे कुछ कुचक्रियों ने बादशाह से कहा कि मीर मुंशी साहब गाते बहुत अच्छा हैं बादशाह से इन्हों ने बहुत टाल-मटोल की इस पर लोगों ने कहा कि ये इस तरह न गाएँगे यदि इन की प्रेमिका सुजान नाम

की वेश्या कहे तब गाएँगे। वेश्या बुलाई गई। इन्हों ने उस की ओर मुँह और बादशाह की ओर पीठ कर के ऐसा गाना गाया कि सब लोग तन्मय हो गए। बादशाह इन के गाने पर जितना खुश हुआ उतना ही बे अदबी पर नाराज़। उस ने इन्हें शहर से निकाल दिया। जब ये चलने लगे तब सुजान से भी साथ चलने को कहा पर वह न गई। इस पर इन्हें विराग उत्पन्न हो गया और ये वृंदावन जाकर निंबार्क संप्रदाय के वैष्णव हो गए और वहीं पूर्ण विरक्त भाव से रहने लगे।"[1] इसी प्रकार घनानंद की मृत्यु के अवसर की भी एक कथा प्रचलित है—"संवत् १७९६ मे जब नादिरशाह की सेना के सिपाही मथुरा तक आ पहुँचे तब कुछ लोगों ने उन से कह दिया कि वृंदावन मे बादशाह का मीर मुंशी रहता है। उस के पास बहुत कुछ माल होगा। सिपाहियों ने उन्हें आ घेरा और 'ज़र ज़र ज़र' (अर्थात् धन, धन, धन लाओ) चिल्लाने लगे। घन-आनंद जी ने शब्द को उलट कर 'रज' 'रज' 'रज' कह कर तीन मुट्ठी वृंदावन की धूल उन पर फेंक दी। उन के पास सिवा इस के और था ही क्या? सैनिकों ने क्रोध में आकर इन का हाथ काट डाला। कहते हैं कि मरते समय इन्हों ने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था—

बहुत दिनान की अवधि आस पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवत छबीले मन-भावन को,
गहि गहि राखत ही दै दै सनमान को॥
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वैकै,
अब ना घिरत घन आनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेशो लै सुजान को॥"[2]

---

[1] 'हिंदी साहित्य का इतिहास' पृ० २८० २८२

रीवाँ-नरेश महाराज रघुराज सिंह (सन् १८२३-१८७९ ई०) ने उपरोक्त घटना का वर्णन अपनी 'रामरसिकावली' नामक भक्तमाल में बड़े विशद रूप से किया है और घनानंद की गणना उन्हों ने प्रसिद्ध भगवद्भक्तों में की है।

घनानंद द्वारा रचित अनेक ग्रंथ सुनने मे आते हैं परंतु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इन में से, केवल एकाध को छोड़ अभी तक सभी अप्रकाशित रूप में हैं। घनानंद की कुछ कविताओं को सब से पहले भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने संग्रह के रूप में प्रकाशित किया था। 'सुन्दरी तिलक' नामक संग्रह-ग्रंथ मे इन के बहुत से सवैये संग्रहीत हुए और सन् १८७० ई० मे उक्त बाबू साहब ने घनानंद के प्रसिद्ध ग्रंथ 'सुजानसागर' से लेकर ११८ कवित्त और दोहों को 'सुजान शतक' नाम देकर प्रकाशित किया। पूरा 'सुजानसागर' उस के २७ वर्ष के अनंतर, अर्थात् सन् १८९७ ई० मे, पहले पहल बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' द्वारा संपादित हो कर काशी के हरि प्रकाश यंत्रालय से निकला था और अब उस का एक दूसरा संस्करण काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'मनो-रंजन-पुस्तक-माला' की ५१ वीं संख्या मे सन् १९२९ ई० में इंडियन प्रेस, प्रयाग से निकला है। इस ग्रंथ में कुल मिलाकर ४८३ कवितायें हैं जिन में से सवैये, दंडक, दोहे और सोरठो के सिवाय दो छप्पय तथा एक अनंगशेखर नामक छंद भी सम्मिलित हैं। इस दूसरे संस्करण मे भी प्रथम संस्करण की कुल अशुद्धियाँ दूर नही हो पाई हैं और एक कवित्त (अर्थात् २२ वे को ११६ वाँ करके) पुनर्वार छाप दिया गया है। ऐसी दशा मे वस्तुतः केवल ४८२ ही पद्य रह जाते है। 'सुजानसागर' के अनंतर जो दूसरा ग्रंथ प्रकाशित हुआ वह 'विरह लीला' है। 'विरह लीला' की एक प्रति पहले पहल प्रसिद्ध पुरातत्त्व-वेत्ता श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल को ब्रिटिश म्यूज़ियम में मिली थी। यह प्रति अठा-रहवीं शताब्दी के किसी लेखोपजीवी द्वारा लिखी हुई है और एक गुटके में बँधी है जिस में अन्य कवियों के भी कई प्रसिद्ध ग्रंथ बँधे हुए हैं। प्रकाशित 'विरह लीला' 'नागरी-प्रचारिणी ग्रंथ-माला' सीरीज़ का १५वाँ ग्रंथ है जो पहले पहल सभा द्वारा सन् १९०७ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस में कुल मिला कर केवल ७९ कवितायें हैं जो फ़ारसी के किसी द्विपद छद में लिखी गई हैं इन उपरोक्त

दोनों प्रकाशित ग्रंथों में से 'सुजानसागर' का मुख्य विषय विरह-निवेदन है, किंतु इस के साथ ही सौंदर्य तथा ईश्वर-विनय आदि कतिपय विषयों पर भी इस में बड़े सुंदर सुंदर पद्य संग्रहीत हैं। 'विरह लीला' का विषय गोपियों का विलाप है जिसे कवि ने बड़ी सरस पंक्तियों में प्रकट किया है। इस 'विरह लीला' को ही देख कर कदाचित् बाबू हरिश्चन्द्र ने अपनी 'दशरथ-विलाप' नामक कविता लिखी थी। अनुकरण स्पष्ट लक्षित हो जाता है। अप्रकाशित ग्रंथों में से एक ग्रंथ 'कृपा कंद निबंध' है जिस मे ४४८ पद हैं और जो महाराज बनारस के यहाँ सुरक्षित है। इस पुस्तक का नाम भ्रमवश वियोगी हरि ने 'कृपा कांड निबंध' तथा पंडित रामचंद्र शुक्ल ने 'कृपाकांड' मात्र लिख दिया है। 'कृपा कंद निबंध' का मुख्य विषय शृंगार रस की कविता है। दूसरे ग्रंथ का नाम 'घनानंद कवित्त' है जो मथुरा मे किसी के यहाँ रक्खा हुआ है और जिस में कुल मिलाकर ५१६ पद्य बतलाये जाते हैं। इन कवित्तों के मुख्य विषय राधाकृष्ण की लीला तथा शृंगार रस संबंधी बातें है। घनानंद का तीसरा अप्रकाशित ग्रंथ 'रसकेलि-वल्ली' है जो 'आनंद घन के कवित्त' के नाम से भी उल्लिखित किया जाता है। इस ग्रंथ का मुख्य विषय ईश्वरीय प्रेम है। उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि घनानंद के प्रायः सभी ग्रंथ संग्रहों के ही रूप मे मिलते है और जान पड़ता है कि कवि ने किसी प्रबंध-काव्य के लिखने का कभी प्रयत्न नहीं किया। घनानंद के अन्य फुटकल संग्रहों में से कई एक डेढ़ सौ से सवा चार सौ तक के कवित्त वाले पाये गए है। छतरपूर के पुस्तकालय में रक्खा हुआ बड़ा संग्रह, जिस का उल्लेख ऊपर हो चुका है, एक वृहद् ग्रंथ जान पड़ता है क्योंकि मिश्रबंधुओं के अनुसार इस मे १८११ विविध छंदों तथा १०४४ पदों द्वारा अनेक भिन्न भिन्न विषय वर्णित हैं। पदो में भक्ति तथा व्रजलीलाओं का वर्णन है और दूसरे विविध छंदों का विषय 'व्रजव्योहार', 'वियोगवेली', 'भावनाप्रकाश', 'धाम-चमत्कार', 'कृष्णकौमुदी', 'वृंदावनमुद्रा', 'मुरलिकामोद', 'प्रेमपत्रिका' आदि शीर्षकों से जाना जा सकता है। इस बड़े संग्रह के सिवाय श्री वियोगी हरि ने किसी 'बानी' नामक संग्रह का भी उल्लेख किया है जिस में कृष्ण के विहार और

किसी के अनुसार घनानंद के कुछ संगीत-काव्य का भी पता चलता है किंतु इस विषय का कोई ग्रंथ अभी तक देखने को नहीं मिला। तृतीय त्रैवार्षिक खोज के फलस्वरूप घनानंद के बनाये 'सुजानहित' तथा 'इश्क़लता' नामक दो और ग्रंथों का पता चलता है और चतुर्थ त्रैवार्षिक रिपोर्ट में इन का 'प्रीतपावस' नामक ग्रंथ भी मिला है। बहुत से लोगों ने भ्रमवश 'कोकसार' नामक ग्रंथ को भी घनानंद-कृत माना है, परन्तु ऐसा करना ठीक नहीं। 'कोकसार' किसी आनंद नामक कवि की रचना है जिस का समय घनानंद से पहले का समझा जाता है।[1]

[२]

उपरोक्त पुस्तकों के देखने एवं उन पर विचार करने से घनानंद का परिचय हमें एक सच्चे प्रेमी तथा भक्तकवि के रूप में मिलता है। इन के प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा है और अपनी विविध रचनाओं द्वारा इस के गूढ़तम रहस्यों के उद्घाटन करने की इन्हों ने सफल चेष्टा की है। प्रेम की महत्ता एवं इस की अपरिमेयता दिखलाते हुए घनानंद ने प्रेम की तुलना किसी अलौकिक महासागर से की है जिस में स्वयं राधा और कृष्ण एक रस होकर सदा निमग्न रहा करते हैं और जिस की तरल तरंगों की एक छोटी सी ही बूंद ने किसी प्रकार मानव लोक तक पहुँच कर इसे आप्लावित सा कर दिया है। घनानंद के ही शब्दों में—

> प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै बिचार,
> बापुरो हहरि वार ही तैं फिरि आयो है।
> ताही एक रस ह्वै बिवस अवगाहैं दोऊ,
> नेही हरि राधा जिन्हें देखे सरसायो है॥
> ताकी कोऊ तरल तरंग संग छूट्यो कन,
> पूरि लोक लोकनि उमँगि उफनायो है।

---

[1] देखिए 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण', पृ० ३० तथा 'मिश्रबंधु विनोद' (सं० १९८४), पृ० ४५९।

सोई घन आनँद सुजान लागि हेत होत,
ऐसे मथि मन पै सरूप ठहरायो है ॥[1]

इस प्रकार अपने उद्भव स्थान के वस्तुतः ईश्वरीय होने के कारण प्रेम एक नैसर्गिक भाव है जिस के प्रकट होने के लिए किसी कृत्रिम साधन की आवश्यकता नहीं। प्रेमी का मार्ग भी इसीलिए नितांत सीधा और सच्चा होता है और उसपर चलने में वही सफल हो सकता है जो अपनेपन तक का त्याग कर एक दम निःशंक हो जाय। कपटी तथा लोक-चतुर के लिये यह मार्ग कठिन है क्योंकि ये लोग सांसारिक व्यवहार में सदा अपनी सफलता के चाहने वाले होते हैं, किंतु प्रेम-मार्ग का पथिक अपने को भूल कर ही चला करता है और सुधि आते ही थक सा जाता है। प्रेम का तो नियम ही है कि प्रेमी हँसता हुआ अपने को हरा दे और इसी बात को अपनी विजय समझे। प्रेमी का आत्म-त्याग दर्शाने के लिए घनानंद ने उस की तुलना मेंहदी से की है और कहा है—

साखा कुल टूटै ह्वै रँगीली अभिलाषा भरी,
परि द्वै पखान बीच घसनि घनी सहै।
सोव सूखी इतैमान आनि कैं सलिल बूड़ै,
घुरि जाय चाहनिहि हाय गनि को कहै॥
तऊ दुखदाई देखौ छिदनि सलाकनि सों,
प्रेम की परख दैया कठिन महा अहै।
पिय मनसा लौं वारी मिंहदी अनंद घन,
एरी जान प्यारी नेक पाइन लग्यो चहै॥[2]

अर्थात् प्रेम की परीक्षा इतनी कठिन है कि प्रियतम के केवल चरण मात्र में लगने के लिए भी मेंहदी को अपनी शाखा (अर्थात् एक ऊंचे कुल) से पृथक होना पड़ता है, दो पत्थरों के बीच पड़ कर घिसना पड़ता है, जल में घुलना पड़ता है तथा विविध सलाइयों द्वारा छिद छिद कर भी आत्म समर्पण करना

पड़ता है। अभीष्ट केवल इतना ही कि वह किसी प्रकार चरणों में लिपट जाय।

परंतु जिस प्रेम रूपी अमूल्य वस्तु के लिये इतने उत्सर्ग की आवश्यकता पड़ती है वह वास्तव में 'अमिश्रित आनंद' भी नहीं। प्रेम का वास्तविक गौरव विरह में है क्योंकि विरह के बिना प्रेम का अस्तित्व ही निर्मूल है। प्रसिद्ध संत दादूदयाल ने इसीलिए कहा है—

पहिला आगम विरह का, पीछइ प्रीति प्रकास।
प्रेम मगन लवलीन मन, तहाँ मिलन की आस॥

तथा,

प्रीति न उपजइ बिरह बिन, प्रेम भक्ति क्यों होय।
झूठे दादू भाव बिन, कोटि करइ जो कोय॥

क्योंकि,

बिरह जगावइ दरद को, दरद जगावइ जीव।
जीव जगावइ सुरति को, पंच पुकारइ पीव॥

इसीलिए प्रेमी दादू ने यहाँ तक कह दिया है कि—

बिरहा मेरा मीत है, बिरहा बैरी नाहिं।
बिरहा को बैरी कहइ, सो दादू किस माँहि॥[1]

अर्थात् विरह के महत्त्व को न समझते हुए उसे हानिकारक समझना नासमझी है। घनानंद ने विरह के महत्त्व को भलीभाँति समझा था इसलिए प्रेमी के विरह-दग्ध हृदय तथा उस के सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अनिर्वचनीय मानसिक व्यापारों का जैसा सुंदर वर्णन अपनी कविता द्वारा उन्हों ने किया है वैसा बहुत कम कवि कर पाए हैं। घनानंद की यह विशेषता है कि प्रेमी की दशा अथवा उस की परिस्थिति का दिग्दर्शन कराते समय वे बहुत से अन्य कवियों की भाँति केवल शब्दाडंबर का आश्रय नहीं लेते और न अत्युक्तियों का गाढ़ा रंग चढ़ा कर किसी कोमल भाव को भद्दा बना देते हैं। वे जिस प्रकार हमारी

---

१ (श्री [illegible] बानी / [illegible] नं० ११)

आंतरिक वेदना के सच्चे स्वरूप को पहचान सकने मे निपुण हैं उसी भाँति उसे उपयुक्त शब्दों द्वारा स्वाभाविक ढंग से व्यक्त कर देने में भी कुशल है। घनानंद में प्रेम की पीर का गहरा अनुभव है किंतु उसे प्रकट करते समय वे आवेश नहीं दिखलाते और न उस की तीव्रता के कारण घबड़ा कर नियमोल्लंघन कर जाते हैं। उन के विरह-वर्णन मे एक आश्रित का अनुरोध एवं मर्यादित आत्म-निवेदन है जो अपनी स्वाभाविकता के ही कारण सुनने वाले का हृदय बरबस खींच लेता है। घनानंद के 'सुजानसागर' मे विरह का रूप उस का उद्भव, प्रभाव एवं प्रदर्शन, इन सभी के वर्णन अथवा स्पष्टीकरण अनेक स्थलों पर मिलेंगे और 'विरह लीला' में तो विरह निवेदन मुख्य विषय बन कर ही आया है। इन्हीं दोनों प्रकाशित ग्रंथों के कुछ अवतरण नीचे दिए जाते है—

चाह की 'अनोखी आगि' की विचित्रता दिखलाते हुए घनानंद एक स्थान पर कहते हैं—

> केतो घट सोधौं पै न पाऊँ कहा आहि सोधौं,
>
> कोधौं जीव जारै अटपटी गति दाह की।
>
> धूम कों न धरै गात सीरो परै ज्यों ज्यों जरै,
>
> ढरै नैन नीर बीर हरै मति आह की॥
>
> जतन बुझैहै सब जाकी झर आगे सब,
>
> कबहूँ न दबै भरी भभक उमाह की।
>
> जबते निहारे घन आनंद सुजान प्यारे,
>
> तब तें अनोखी आगि लागि रही चाह की॥[1]

अर्थात् इस अनोखी आग की गति ऐसी विचित्र है कि न तो इस के धूम ही का पता चलता है और न शरीर पर इस की ज्वाला का कोई प्रकट प्रभाव ही दीख पड़ता है। यहाँ तो ऐसी दशा है कि ज्यों ज्यों आग की लपटें जलाती जाती हैं त्यों त्यों शरीर ठंडा पड़ता जाता है।

दुख तो इस बात का है कि विरह की आग एक बार लग चुकने पर

बुझाए भी नहीं बुझती। यहाँ तक कि मिलने पर भी वियोग का-सा ही दुःख उठाना पड़ता है। प्रियतम को देखते समय देखते नहीं बनता और न पता चलता है कि वास्तव में मेरी दृष्टि है अथवा किसी छल प्रपंच का स्वप्न देख रहा हूँ। आँखें तो रूप रस से तृप्त नहीं हो पातीं और लोभ से उत्पन्न हो होकर लाखों अभिलाषायें प्रति दिन बढ़ती ही जाती हैं। थोड़ी सी "मुहाँचहीं" होते ही सब अपनापन यकायक भूल सा जाता है और "लालसानि भीजि रीझि बातैं न परैं कही।" और जब बातें तक करने में यह दशा है तो अपने दुख की कथा किस प्रकार कही जा सकती है।

क्योंकि,

उर गति ब्योरिबे को सुंदर सुजान जू को,
लाख लाख विधि सों मिलन अभिलाषियै।
बातैं रिस रस भीनी करि गसि गाँस झीनी,
बीनि बीनि आछी भाँति पाँति रचि राखियै॥
भाग जागै जो कहूँ बिलोकैं घन आनँद तौ,
ताछिन के छाकनि के लोचनही साखियै।
भूली सुधि सातौ दसा बिवस गिरत गातौ,
रीझि बावरे ह्वै तब औरै कछु भाखियै॥[1]

अर्थात् ज्यों त्यों करके अनेक प्रकार की तैयारियाँ कर चुकने के अनंतर भी प्रियतम के समक्ष अपने हृदय का हाल प्रकट करना दुस्तर हो जाता है।

संयोग समय की इस बेबसी से कहीं बढ़ कर वियोग समय की बातें हुआ करती हैं। वियोग में साधारण बातें भी विरहाग्नि को घी के समान सदा प्रज्वलित कर दिया करती हैं। स्मृति के कारण विरही के ऊपर बीतने वाली दशा का वर्णन घनानंद ने नीचे लिखे पद्य मे बड़े ही सुंदर ढंग से किया है—

वहै मुसकानि वहै मृदु बतरानि वहै,
लड़काली बानि आनि उर में अरति है।

---

[1]'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

वहै गति लैनि औ बजावनि ललित बैन,
वहै हँसि दैन हियरा तें न टरति है ॥
वहै चतुराई सों चिताई चाहिबे की छबि,
वहै छैलताई न छिनक बिसरति है ।
आनंद निधान प्रान पीतम सुजान जू की,
सुधि सब भाँतिन सों बेसुधि करति है ॥[1]

अथवा इसी प्रकार 'विरह लीला' में भी घनानंद ने विरहिणी गोपियों द्वारा जैसा कहलाया है—

अनोखी पीर प्यारे कौन पावे ।
पुकारो मौन में कहिबे न आवे ॥
अचंभे की अगिन अंतर जरो हों ।
परो सीरी मरो नाहीं मरो हों ॥
... ...
... ...
अजों धुनि बाँसुरी की कान बोलै ।
छबीली छैल डोलन संग डोलै ॥
सलौनी स्याम मूरत फिरै आगे ।
कटाछैं बान सी उर आन लागें ॥
मुकट की लटक हिय में आय हालै ।
चितौनी बंक जिय में आय सालै ॥
हसन में दसन दुति की होत कौंधै ।
वियोगी नैन चेटक चाय चौंधै ॥[2]

उपरोक्त स्मृति की ही भाँति लालसा भी विरही के अंतर्जगत् में खलबली

[1] 'रसखान और घनानंद') ।
[2] 'विरह लीला' (1 मीरिच न० 15

मचाया करती है और घनानंद ने इस विषय के भी कई पद्य लिखे हैं जिन में से एक नीचे देते हैं—

छबि को सदन मोद मंडित बदन चंद,
तृषित चषनि लाल कब धौं दिखाय हौ।
चटकीलौ भेष करें मटकीली भाँति सौंही,
मुरली अधर धरें लटकत आय हौ॥
लोचन ढुराय कछू मृदु मुसिक्याय नेह
भीनी बतियानि लड़काय बतराय हौ।
बिरह जरत जिय जानि आनि प्रान प्यारे,
कृपानिधि आनंद को घन बरसाय हौ॥[1]

इस पद्य के सुंदर शब्दों द्वारा कवि ने अपने प्रियतम कृष्ण की जैसी अलौकिक मूर्त्ति की कल्पना की है वैसी किस की लालसा का लक्ष्य नहीं बन सकती! इसीलिए तो विरही की आँखों की ऐसी दशा हो गई है कि—

गहैं एक टेक टारि दीने हैं विवेक सब,
कौन प्यार पीर पूरे नीरहि रितौत हैं।
कैसे कही जाय हेली इन की दुहेली दसा,
जैसे ये वियोग निसिबासर बितौत हैं॥
कहिबे को मेरे पैं अनेरे मेरे जाहि नाहिं,
अतिही अमोही मोहि नैकौ न हितौत हैं।
जबतें निहारे घन आनंद सुजान प्यारे,
तबते अनोखे दृग कहिं न चितौत हैं॥[2]

ऐसी आँखों का खुलना अथवा मुँदा रहना दोनों ही बराबर है क्यों कि ये तो जगने के समय भी सदा सोती सी ही रहा करती हैं। और केवल आँखों की ही यह दशा हो सो बात नहीं यहाँ तो—

---

[1] 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

[2] वही।

जबतें निहारे इन आँखिन सुजान प्यारे,
तबतें गही है उर आन देखिबे की आन।
रस भीजे बैननि लुभाइ के रचे हैं तहीं,
मधु मकरंद सुधा नाँवो न सुनत कान॥
प्रान प्यारी ज्यारी घन आनंद गुननि कथा,
रसना रसीली निसि बासर करत गान।
अंग अंग मेरे उनही के संग रंग रँगे,
मन सिंघासन पै विराजै तिनही कौ ध्यान॥[1]

इसी प्रकार घनानंद ने अपने मन के विषय में एक स्थान पर कहा है—

जान प्रवीन के हाथ को बीन है
मो चित राग भरयो नित राजै।

ऐसी तन्मयता तथा ऐसे आत्म-समर्पण की दशा में, मन की लवलीनता के कारण उस का दृष्टि-कोण ही बदल जाता है और प्रकृति की सारी सुंदर सामग्री फीकी जँचने लगती है। कुंजों की मनोमोहक छटा, नदियों की तरल तरंगें एवं सुगंध समीर के सुहावने झोंके विरही के लिये सभी एक समान दुखदाई हो जाते हैं। वसंत पतझार सा दीख पड़ता है और पावस की बूंदें ऐसी जान पड़ती हैं जैसे—

बिरही को हेरि मेघ आँसुनि झरयो करै।

और होली के दिनों में तो अभागे विरही को यहाँ तक कहना पड़ता है कि—

फागुन महीना की कही ना परैं बातैं दिन-
रातैं जैसे बीतत सुने तें डफ घोर कों।
कोऊ उठै तान गाय प्रान बान पैठि जाय,
चित बिच परी पै न पाऊँ चितचोर कों

मची है सुहल चहूँ ओर चोप चाँचरि सों,

कासों कहौं सहौं हौं वियोग झकझोर कों।

मेरौ मन आली वा बिसासी बनमाली बिनु,

बावरे लौं दौरि दौरि परै सब ओर कों ॥[1]

ऐसी दशा में विरही का पागल तक हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। कवि ने ऐसे ही विरही की दशा के विषय में कहा भी है—

खोय दई बुधि सोय गई

सुधि रोय हँसै उनमाद जग्यो है।

मौन गहै चकि चाकि रहै

चलि बात कहै तन दाह दग्यो है ॥

जानि परै नहिं जान तुम्हें

लखि ताहि कहा कछु आहि खग्यो है।

सोचनि ही पचिए घन आनंद

हेत पग्यो किधौं प्रेत लग्यो है ॥[2]

वास्तव में ऐसी दशा शोक-जनक है क्योंकि ऐसा पुरुष किसी दूसरे की सहानुभूति प्राप्त करने के सिवाय और कुछ कर नहीं सकता। वह अपनी दशा तक वर्णन करने में असमर्थ है। न तो वह बोल सकता है और न पत्र ही लिख सकता है—जैसे,

जगि सोवनि मैं जगिये रहै चाह

वहै बरराय उठै रतिया।

भरि अंक निसंक ह्वै भेंटन कों

अभिलाख अनेक भरी छतिया ॥

मन तें मुख लौं नित फेर बड़ो

कित ब्यौर सकौं हिय की बतिया।

---

[1] 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

[2] वही।

घन आनंद जीवन प्रान लखौ
सुलिखी किहि भाँति परै पतिया ॥[1]

यह असमर्थता यहाँ तक पहुँचती है कि कुछ करते ही नहीं बनता और मनोरथों को दबाए हुए भीतर ही भीतर घुलते रहना भी कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में बेचैनी बेहद सताने लगती है और विरही को प्रलाप की भाँति कहना पड़ जाता है—

अंतर हौ किधौं अंत रहौ
दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं
अब कैसी करौं हिय का बिधि धीरौं ॥
जो घन आनंद ऐसी रुची तौ
कहा बस है अहा प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें
धरनी मे धँसौं कै अकासहिं चीरौं ॥[2]

अर्थात् पता नहीं चलता कि तुम बाहर हो या अंदर हो, तुम्हारे लिये आँखे फाड़ फाड़ कर घूमता फिरूँ और तुम्हें ढूँढ़ूँ अथवा अपने दुर्भाग्य को कोसता हुआ बैठा रहूँ, आग मे पड़ूँ अथवा पानी में डूब मरूँ। क्या करूँ और किस प्रकार हृदय को धैर्य बँधाऊँ, यह समझ में नहीं आता। यदि ऐसी ही रुचि हो तो कोई हानि नही, विवश तो हूँ ही, प्राण पीड़ा सहन करते रहेंगे। प्रश्न केवल यही है कि तुम्हारे दर्शन की लालसा में अब पाताल प्रवेश कर जाऊँ अथवा आकाश में कहीं उड़ भागूँ?

इसी प्रकार विवशता दिखलाते हुए एक कवित्त द्वारा कहते हैं—

कौन की सरन जैयै आपु त्यौं न काहू पैयै,
सूनो सो चितैयै जग दैया कित कूकियै।

सोचनि समैये मति हेरत हिरैयै उर,

*आँसुनि भिजैयै ताप तैये तन सूकियै ॥

क्यों करि बितैयै कैसे कहाँ धौं रितैयै मन,

बिना जान प्यारे कब जीवनि ते चूकियै।

बनी है कठिन महा मोहि घन आनँद यों,

मीचौ मरि गई आसरो न जित ढूकियै ॥[१]

तात्पर्य यह कि विवश विरही इतना निःसहाय हो जाता है कि निरंतर दुःख सहते रहने के अतिरिक्त उस के पास कोई उपाय नहीं। और तो क्या, चाहने पर उसे विपत्ति से छुटकारा देने के निमित्त मृत्यु तक भी नहीं आती। इस से बढ़ कर और दूसरी निराशाजनक बात क्या हो सकती है!

परंतु आश्चर्य तो यह है कि निराशा की अंतिम सीमा तक पहुँचने पर भी प्रेमी अपनी पुरानी टेक छोड़ नहीं सकता। वह कठिन से कठिन दुखों का भी स्वागत करता जायगा और अंत तक अपने प्रियतम का हृदय द्रवित करने की चेष्टा करता जायगा। उसका कहना है—

आसा गुन बाँधि कै भरोसो सिल धरि छाती,

पूरे पन सिंधु में न बूडत सकाय हौं।

दुख दव हिय जारि अंतर उदेग आँच,

निरंतर रोम रोम त्रासनि तपाय हौं॥

लाख लाख भाँतिन की दुसह दसानि जानि,

साहस सहारि सिर आरे लौं चलाय हौं।

ऐसे घन आनँद गही है टेक मन माँहि

एरे निरदई तोहि दया उपजाय हौं॥[२]

प्रेमी को इस बात का पूर्ण भरोसा है कि उस के प्रियतम का—

कबहूँ तो मेरियै पुकार कान खोलि है।

---

[१] 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

[२] वही

और बस इतना ही उस के जीवन का आधार भी है। कारण यह है कि अपने प्रियतम की कठोरता तक को भली समझने का उसे स्वभाव सा हो गया है और यही उस के विश्वास की जड़ है। विरही का कथन है—

अंतर गहीले मुख डीले डीले बैन बोलौ,
सुंदर सुजान तऊ प्राननि खरैं खगौ।
साँच की सी मूरति ह्वै अँखिन में पैठो आय,
महा निरमोही मोह सों मढ़े हिये ठगौ॥
आनँद के घन उघरे पैं छल छाय लेत,
कटुताई मेरे रोम रोमनि अमी पगौ।
चाह मतवारी मति भई है हमारी देखौ,
कपट करेहूँ प्यारे लिपट भले लगौ॥[१]

घनानंद ने इसी प्रकार विरही के बहुत से अन्य सूक्ष्म मानसिक व्यापारों को भी अपनी सुंदर उपयुक्त एवं प्रसादपूर्ण भाषा द्वारा अंकित करने में सफलता प्राप्त की है। जिस के उदाहरण उन के 'सुजानसागर' तथा 'विरह लीला' नामक ग्रंथों में सर्वत्र भरे पड़े हैं। किंतु इस विरह-वर्णन से भी बढ़ कर घनानंद का मुख्य विषय विरह-निवेदन है जिस के लिये कदाचित् सारे हिंदी-साहित्य भर में इन की बराबरी करने वाला कोई दूसरा कवि नहीं मिल सकता। घनानंद ने साधारण कवि-परंपरा की कृत्रिम शुष्क एवं परिमित शब्दावली को अपर्याप्त समझ कर अपनी भाषाशक्ति के बल पर एक नवीन स्वाभाविक शैली का अनुसरण किया है जिस मे विरह-निवेदन करते समय विरही की पीर, उस की सचाई, उस की आशा, उस की टेक एवं सानुरोध विनय का वास्तविक रूप सामने आ जाता है और संभव नहीं कि कितना हू तटस्थ रहने वाला भी अपने को इस के प्रभाव से बचा सके। देखिए विरह-निवेदन में अपनी दशा दर्शाता हुआ विरही कहता है—

---

[१] 'रसखान और घनानंद' (

उघरि नचे हैं लोकलाज ते बचे हैं पूरी
चोपनि रचे हैं सुदरस लोभी रावरे।
जके हैं थके हैं मोह मादिक छके हैं अब
बोले पै बके हैं दसा चितै चितचावरे॥
औसर न सोचैं घन आनँद विमोचैं जल
लोचैं वही मूरति अरबरानि रावरे।
देखि देखि फूलैं ओट भ्रम नहीं भूलैं देखो
बिन देखे भए ये वियोगी दृग बावरे॥[1]

अथवा,

बेध्यो लै बिसासी मोह गाँसी नेकु हाँसी ही मैं
घूमि घूमि मेरो घनौ मरम महा पिराय।
होत न लखाय क्यों हू हाय हाय कहा करौं
जरौं विष ज्वाल पै न काल कैसे हूँ निराय॥
जीवन की मूरि जाहि मान्यो तिन चूर करी
खरी विपरीति दई हेरि हियरो हिराय।
हेरी घन आनँद सुजान बैरी पैंडे पर्‍यो
देरी अब ऊतर यों धीरहू चल्यो धिराय॥[2]

इन उपरोक्त दोनों पद्यों में विरह-व्यथा का गहरापन, शब्दों की सादगी एवं सार्थकता तथा भाषा की शक्ति और सुंदरता ये सभी देखने योग्य हैं। इन में एक शब्द भी व्यर्थ नहीं और न ऐसे ही हैं जिन के द्वारा उचित प्रभाव न पड़ता हो। इसी प्रकार विरही की चाटुकार पूर्ण बातें भी देखिए—

घेर्‍यो घट आय अंतराय पट निपट पै
तामधि उजारे प्यारे मानुस के दीप हौ।

---

[1] 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

[2] वही

लोचन पतंग संग तजै न तऊ सुजान
प्रान हंस राखिबे कों धरे ध्यान सीप हौ ॥
ऐसे कहाँ कैसे घन आनँद बताऊँ हरि
मन सिंहासन बैठे सुरत महीप हौ।
डीठि आगे डोलौ जो न बोलौ कहा बसु लागै
मोहि तो वियोग हू मैं दीसत समीप हौ ॥[१]

अथवा,

प्रीतम सुजान मेरे हित के निधान कहौ
कैसे रहे प्रान जो अनखि अरसाय हौ।
तुम तो उदार दीन हीन आनि पर्‍यो द्वार
सुनिये पुकार पाहि कौलौं तरसाय हौ ॥
चातक है रावरौ अनोखो मोहि आवरो सु-
जान रूप बावरो बदन दरसाय हौ।
बिरह नसाय दया हिय मैं बसाय आय,
हाय कब आनँद को घन बरसाय हौ ॥[२]

प्रेमी कभी कभी अपनी ओर से हठधर्मीपन की भी सूचना देता है—जैसे,

चातिक चुहल चहुँ ओर चाहै स्वाति ही कों
सूरे पन पूरे जिन्हें विष सम अमी है।
प्रफुलित होत भान के उदोत कंज पुंज,
ता बिन बिचारनिहीं जोतिजाल तमी है ॥
चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै आनँद घन
प्रीति रीति विषम सुरोम रोम रमी है।
मोहि तुम एक तुम्हें मो सम अनेक आहिं
कहा कछु चंदहि चकोरन की कमी है ॥[३]

---

[१] 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

[२] वही।

[३] वही

एक दूसरे पद्य में इसी भाँति एक हलका सा उलाहना देता हुआ प्रेमी विनय करता है—

तेरे देखिबे कों सबही तें अनदेखी करी
　　　　तूहूँ जो न देखे तो दिखाऊँ काहि गति रे।
सुनि निरमोही एक तोही सों ल्याव मोही
　　　　सोही कहि कैसे ऐसी निठुराई अति रे॥
विष सी कथानि मानि सुधा पान कन्यो जान
　　　　जीवन निधान ह्वै बिसासी मारि मति रे।
जाहि जो भजै सो ताहि तजै घन आनँद क्यों
　　　　इति कै हितूनि कहो काहू पाई पति रे॥[1]

घनानंद ने अपने ग्रंथ 'विरह लीला' में भी गोपियों द्वारा कहलाया है—

कहैं अब कौन सों बिरहा कहानी।
न जानी ही न जानी ही न जानी॥
...　　...　　...
...　　...　　...
सुहाई है तुम्हैं कैसी अनैसी।
कहैं कासों करो तुमही जु ऐसी॥
जरावै नीर तौ फिर को सिरावै।
असी मारै कहौ जू को जिवावै॥
जो चंदा तें झरे दैया अँगारे।
चकोरनि की कहो गति कौन प्यारे॥
...　　...　　...
...　　...　　...
चढ़ाई मूँड अब पायन परैंगी।
कहो जोई अजू सोई करैंगी॥

---

[1] 'रसखान और घनानंद'

दई कौ मान कै अब आन ज्यावो।
पियासी हैं पियारे सुरस प्यावो॥
तिहारी हैं कछू क्यों हूँ जियेंगी।
बिरह घायल हियो ज्यों त्यों सियेंगी॥[1]

ऊपर अभी तक जितने उदाहरण दिए जा चुके हैं उन से स्पष्ट है कि घनानंद एक सच्चे प्रेमी कवि हैं इस कारण उन की रचनायें अनुभवी हृदय के सच्चे उद्‌गार स्वरूप हैं। उन में स्वाभाविकता है, कृत्रिमता नहीं, अतएव जो कुछ उन्हों ने कहा है एक सीधे सादे ढंग से कहा है और इसी कारण उन की शैली में बनावटी बाँकपन अथवा अत्युक्ति का भद्दापन नहीं दिखलाई देता। घनानंद को अपनी भाषा पर भी पूर्ण अधिकार है। उन के द्वारा प्रयुक्त शब्द व्यर्थ विशेषणों की सजावट नहीं चाहते और शब्दों के विन्यास, उन की योजना एवं सार्थकता से वाक्यों में एक प्रकार की स्फूर्ति अथवा जीवन का संचार होता दीखने लगता है। घनानंद एक अच्छे संगीतज्ञ थे और उन का हाथ काव्य रचना में भी भलीभाँति मँजा हुआ था इस कारण जैसा प्रवाह, जैसा गीत इन की पंक्तियों में वर्त्तमान है उतना हिंदी-साहित्य में देखने को कम मिलेगा। यहाँ पर हम घनानंद की कुछ और उत्कृष्ट कविताओं को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते—सौंदर्य के विषय में कल्पना करते हुए कहते हैं—

माधुरी गहर उठै लहर लुनाई जहाँ
कहाँ लौं अनूप रूप पानिप बिचारियै।
आरसी जो सम दीजै बूझ कों असूझ कीजै
आछे अंग हेरि फेरि आयो न निहारियै॥
मोहिनी की खानि है सुभाइ ही हँसनि जाकी
लाडिली लसनि ताकी प्राननि तैं प्यारियै।
रीझौ रीझि भीजैं घन आनंद सुजान महा
बारियै कहा सकोच सोच नहीं हारियै॥[2]

[1] 'विरह लीला'।

[2] 'रसखान और घनानंद'

इसी प्रकार चाँदनी को प्रलय के समुद्र का रूपक देकर वर्णन करते हैं—

फैलि रही घर अंबर पूरि
मरीचिनि बीचिनि संग हिलोरति।
औंर भरी उझलात खरी
सुउपाव की नाव तरेरनि तोरति॥
क्यों बचियै भजिहूँ घन आनँद
बैठि रहे घर पैठि ढढोरति।
जोन्ह प्रलै के पयोनिधि लौं बढ़ि
बैरनि आज वियोगिनि बोरति॥[1]

नीचे लिखे दो पद्यों में विरही कवि ने क्रमशः मेघ तथा वायु से सहायता के लिये प्रार्थना की है—

पर काजहि देह को धारि फिरौ
परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा की समान करौ
सबही बिधि सज्जनता सरसौ॥
घन आनँद जीवन दायक हौ
कछु मेरि यौ पीर हिएँ परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के
आँगन मों अँसुवानिहि लै बरसौ॥[2]

तथा,

एरे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन वारी,
तोसो और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान ओछे बड़े सों समान घन-
आनँद निधान सुखदान दुखियानि दै॥

---

[1] 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

[2] वही

दई को मान कै अब आन ज्यावो।
पियासी हैं पियारे सुरस प्यावो॥
तिहारी हैं कछू क्यों हूँ जियेंगी।
विरह घायल हियो ज्यों त्यों सियेंगी॥[1]

ऊपर अभी तक जितने उदाहरण दिए जा चुके है उन से स्पष्ट है कि घनानंद एक सच्चे प्रेमी कवि हैं इस कारण उन की रचनायें अनुभवी हृदय के सच्चे उद्गार स्वरूप हैं। उन में स्वाभाविकता है, कृत्रिमता नहीं, अतएव जो कुछ उन्हो ने कहा है एक सीधे सादे ढंग से कहा है और इसी कारण उन की शैली में बनावटी बाँकपन अथवा अत्युक्ति का भद्दापन नहीं दिखलाई देता। घनानंद को अपनी भाषा पर भी पूर्ण अधिकार है। उन के द्वारा प्रयुक्त शब्द व्यर्थ विशेषणों की सजावट नहीं चाहते और शब्दों के विन्यास, उन की योजना एवं सार्थकता से वाक्यों मे एक प्रकार की स्फूर्ति अथवा जीवन का संचार होता दीखने लगता है। घनानंद एक अच्छे संगीतज्ञ थे और उन का हाथ काव्य रचना में भी भलीभाँति मँजा हुआ था इस कारण जैसा प्रवाह, जैसा गीत इन की पंक्तियों में वर्त्तमान है उतना हिंदी-साहित्य में देखने को कम मिलेगा। यहाँ पर हम घनानंद की कुछ और उत्कृष्ट कविताओं को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते—सौंदर्य के विषय मे कल्पना करते हुए कहते हैं—

माधुरी गहर उठै लहर लुनाई जहाँ
कहाँ लौं अनूप रूप पानिप बिचारियै।
आरसी जो सम दीजै बूझ कों असूझ कीजै
आछे अंग हेरि फेरि आयो न निहारियै॥
मोहिनी की खानि है सुभाइ ही हँसनि जाकी
लाड़िली लसनि ताकी प्राननि तैं प्यारियै।
रीझौ रीझि भीजै घन आनंद सुजान महा
वारियै कहा सकोच सोच नहीं हारियै॥[2]

---

[1] 'विरह लीला'।

[2] 'रसखान और घनानंद' ( )

इसी प्रकार चाँदनी को प्रलय के समुद्र का रूपक देकर वर्णन करते हैं—

फैलि रही धर अंबर पूरि
मरीचिनि बीचिनि संग हिलोरति ।
भौर भरी उझनात खरी
सुउपाव की नाव तरेरनि तोरति ॥
क्यों बचियै भजिहूँ घन आनँद
बैठि रहे घर पैठि ढढोरति ।
जोन्ह प्रलै के पयोनिधि लौं बढ़ि
बैरनि आज वियोगिनि बोरति ॥[१]

नीचे लिखे दो पद्यों में विरही कवि ने क्रमशः मेघ तथा वायु से सहायता के लिये प्रार्थना की है—

पर काजहि देह को धारि फिरौ
परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ ।
निधि नीर सुधा की समान करौ
सबही बिधि सज्जनता सरसौ ॥
घन आनँद जीवन दायक हौ
कछु मेरि यौ पीर हिऐं परसौ ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के
आँगन मों अँसुवानिहि लै बरसौ ॥[२]

तथा,

एरे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन वारी,
तोसो और कौन मनै ढरकौंहीं बानि दै ।
जगत के प्रान ओछे बड़े सों समान घन-
आनँद निधान सुखदान दुखियानि दै ॥

---

[१] 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर) ।

[२] वही

जाव उजियारे गुन भारे अति मोहि प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह बिथा की मूरि आँखिन में राखौ पूरि
धूरि तिन पायनि की हाहा नैकु आनि दै॥[1]

दो उपालंभ के भी उदाहरण लीजिए—

कारी कूर कोकिल कहाँ को बैर काढ़ति री
कूकि कूकि अबहीं करेजो किन कोरि लै।
पैंड़ परे पापी ये कलापी निस द्यौस ज्यौंही
चातक घातक त्योंही तुहूँ कान फोरि लै॥
आनँद के घन प्रान जीवन सुजान बिना
जानि कै अकेली सब घेरो दल जोरि लै।
जौ लौं करैं आवन विनोद बरसावन वे
तौं लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै॥[2]

तथा,

तोहि सब गावैं एक तोही को बतावैं वेद
पावैं फल ध्यावैं जैसी भावनानि भरि रे।
जल थल व्यापी सदा अंतरजामी उदार
जगत में नाम जानराय रह्यो परि रे॥
एते गुन पाय हाय छाय घन आनँद यों
कैधौं मोहि दीस्यो निरगुन ही उघरि रे।
जरौं बिरहागिनि मैं करौं हौं पुकार कासों
दई गयो तुहूँ निरदई ओर ढरि रे॥[3]

---

[1] 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

[2] वही।

[3] वही।

इसी भाँति अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रति घनानंद कहते हैं—

चाहियै न कछू जाकी चाह तासों फल पायो
यातें वाही बनिकै सरूप नैन कीन्यो घरु।
जहाँ राधा केलि बेलि कुल की छवनि छायो,
लसत सदाई कूल कालिंदी सुदेस थरु॥
महा घन आनँद फुहार सुखसार सींचि
हित उत सबनि लगार रंग भर्यो अरु।
प्रेम रस मूल फूल मूरति बिराजौ मेरे
मन आल बालकृष्ण कृपा कौ कलपतरु॥[1]

विरही कविवर घनानंद का प्रेम आरंभ में लौकिक सौंदर्य के फेर में उत्पन्न हुआ था, किंतु अंत में कृष्ण की अलौकिक रूपराशि की दर्शन-लालसा में परिणत हुआ और वे अपने अंतिम समय में पूर्ण भक्त होकर ही मरे थे। उन के विषय में लिखते हुए गोस्वामी राधाचरण जी ने इसीलिए कहा है—

नादिरशाही ब्रजरज मिले,
किय न नैक उचाट मन।
हरि भक्ति बेलि सेचन करी,
घन आनँद आनंद घन॥

---

[1] 'रसखान और घनानंद'

सूक्ति-मुक्तावली

[लेखक—श्रीयुत कृष्णविहारी मिश्र, बी० ए०, एल्-एल्० बी०]

'सूक्ति-मुक्तावली' नाम की एक पुस्तक मेरे पुस्तकालय में है। जहाँ तक मुझे पता है यह पुस्तक अब तक कहीं छपी नहीं है। 'मिश्रबंधु विनोद' के नूतन संस्करण में भी इस पुस्तक का उल्लेख नहीं है। इस पुस्तक का रचना-काल संवत् १६९१ है। 'सूक्ति-मुक्तावली' दो जैन कविवरों की संयुक्त रचना है। इन में से एक कवि बनारसी दास का नाम तो हिंदी-संसार में प्रसिद्ध है पर दूसरे कौंरपाल (कुमार पाल, कँवर पाल अथवा कौरा) को कदाचित् बहुत कम लोग जानते होंगे। पुस्तक के अंत में दो तीन छंदों में जो परिचय दिया हुआ है उसी के आधार पर मैं ने उपर्युक्त बातें लिखी हैं। उक्त परिचय से यह भी जान पड़ता है कि सोमप्रभ नामक विद्वान जैन की बनाई 'सूक्ति-मुक्तावली' का हिंदी भाषांतर ही आलोच्य 'सूक्ति-मुक्तावली' है। यहाँ पर मैं परिचय कराने वाले छंद उद्धृत करता हूँ—

जैन बंस सर हंस दिगंबर
मुनिपति अजितदेव अति आरज।
ताके पट्ट बादि मद भंजन
प्रगटे विजय सिंह आचारज॥
ताके पट्ट भए सोमप्रभ
तिन्ह कीन्हों गरंथ हित कारज।
ताके पढ़त सुनत अवधारत
होंहि सुरुष जे पुरुष अनारज॥
नाम सूक्ति मुक्तावली द्वाविंशति अधिकार।
सत सिलोक परमान सब इति गरंथ बिसतार॥

कौंर पाल बानारसी मित्र जुगल इक चित्त।
तिन्ह गरंथ भाषा कियो बहु बिधि छंद कवित्त॥
सोलह सै इक्यानवै ऋतु ग्रीषम बैसाख।
सोमबार एकादसी करनछत्र सित पाख॥

'मिश्रबंधु विनोद' में लिखा है कि बनारसीदास जी ने 'अर्धकथानक' एक ग्रंथ की रचना की। इस में उन्हों ने संवत् १६९८ तक की अपनी जीवनी भी दी है। तदनुसार बनारसीदास जी का जन्म संवत् १६४३ मे हुआ था। इन के पिता का नाम खरगसेन जैन था। बनारसीदास जी की जन्मभूमि जौनपुर थी पर ये आगरे में प्रायः रहते थे। कहते हैं युवावस्था में इन का चरित्र उच्छृंखल था। पहले ये शृंगार रस की कविता करते थे पर अंत में जब उस से इन की विरक्ति हुई तो इन्हों ने अपनी सारी शृंगार रस की रचना गोमती जी मे विसर्जित कर दी। ये जौहरी थे। मैं ने 'अर्धकथानक' ग्रंथ नहीं देखा है परंतु इन्हीं बनारसीदास जी का बनाया 'वैराग्य बावनी' नामक एक ग्रंथ मेरे पुस्तकालय में है। इस में कवि ने अपना जो परिचय दिया है उस से आगरे के निवास और पिता के नाम की पुष्टि होती है। 'ज्ञान बावनी' का रचना-काल संवत् १६८६ है। उक्त ग्रंथ के परिचय-पद्य यहाँ पर उद्धृत किए जाते हैं—

सक बंधी साचौ सिरी साल जिनदास सुन्यो
ताके बंस मूलदास बिरद बढ़ायो है।
ताके बंसजन मैं प्रगट भो खरग सेन
बानारसीदास अवतार ताके आयो है॥
बीहोलिया गोत्र गरबन्न उद्योत भयो
आगरे नगर ताहि भेंटि सुख पायो है।
बानारसी बानारसी खलक बखान करैं
ताको बंस गाम ठाम नाम गुन गायो है॥
खुसी ह्वै के मंदिर कपूर चंद साहि बैठे
कौंरपाल सभा जुरी ऐसी मन भावनी।
बानारसी दास जी के बचन की बात चली
याकी कथा ऐसी ज्ञाता ज्ञाब मन लावनी

गुनवंत पुरुष के गुन कीरतन कीजै
पीतांबर प्रीति करी सज्जन सुहावनी।
बढ़ै अधिकार आयौ ऊंघनै बिछौना पायौ
हुकुम प्रसाद तैं भई है ज्ञान बावनी॥

जो उद्धरण ऊपर दिये गए हैं उन से यह बात स्पष्ट है कि कविवर बनारसीदास जैन-मतावलंबी खरगसेन के पुत्र थे और गोस्वामी तुलसीदास, केशवदास, राजा बीरबल एवं गंग आदि प्रसिद्ध कवियों के समकालीन थे। कविवर कौंरपाल कोई बड़े आदमी थे और बनारसीदास के अभिन्न हृदय मित्र थे। इन कविवर के विषय मे मुझे अधिक हाल नहीं मालूम है। आशा है कोई जैन विद्वान इन की कविता और चरित्र के विषय में विस्तार के साथ लिखने की कृपा करेंगे।

'सूक्ति-मुक्तावली' आज से प्रायः ३०० वर्ष पहले की रचना है। हिंदी कविता के इतिहास में इस कारण इस का महत्त्व स्पष्ट है। फिर इस के रचयिता जैनमतावलंबी कवि-युग्म हैं। यह बात भी ध्यान में रखने की है। सांप्रदायिक कवियों की रचना होते हुए भी इस पुस्तक में अन्य धर्मों पर छींटे-बाज़ी नहीं की गई है। संभवतः अनुवाद पुस्तक होते हुए भी इस के पद्यों में नीरसता नहीं है। इस में जिन विषयों पर पद्य-रचना की गई है वे प्रायः सार्वभौमिक रूप से मानव समाज से संबंध रखते हैं। आगे मैं ने जो उदाहरण उपस्थित किए है उन मे धर्म, सत्य-वचन, लोभ, सज्जन, विषयाभिलाष, अर्थाभिलाष और भावना आदि पर ही रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ मतमतांतर की कटु आलोचना से सर्वथा मुक्त हैं। मैं ने बनारसीदास की अपेक्षा कँवरपाल के उदाहरण जान-बूझ कर कुछ अधिक चुने हैं। इस कवि से हिंदी संसार का परिचय कम है इसीलिए इस के अधिक उदाहरण देना मैं ने मुनासिब समझा। मेरे ख़याल से बनारसीदास की भाषा कौंरपाल की भाषा की अपेक्षा अधिक सुलझी हुई और कोमल है।

'सूक्ति-मुक्तावली' के छंदों में उपदेश है, उन का उपयोगितावाद से अभिन्न संबंध है। वे मौलिक रचनाएँ भी नहीं हैं। इन कारणों से उन में कवित्व का जैसा चाहिए वैसा सुखद परिपाक नहीं हुआ है इस पुस्तक को ऊँचे दरजे

का काव्य-ग्रंथ नहीं कह सकते हैं। परंतु पुस्तक में जिस विषय का वर्णन है वह उत्कृष्ट है। इस पुस्तक की ओर हिंदी-संसार का ध्यान आकर्षित करने मे मेरा यह भी प्रयोजन है कि पुराने जैन विद्वानों के बनाए हिंदी-ग्रंथों की उपेक्षा न की जाय। जैन-समाज का तो यह पवित्र कर्तव्य है कि वह ऐसे ग्रंथों का संग्रह करे और क्रमशः उन के प्रकाशन का प्रबंध करे। कम से कम कविवर बनारसीदास जी के ग्रंथों का एक संग्रह तो अवश्य ही प्रकाशित होना चाहिए। अब तक उन के बनाए जिन ग्रंथों का पता लगा है उन के नाम इस प्रकार हैं—

(१) अर्ध कथानक।

(२) बनारसी विलास।

(३) नाटक समय सार।

(४) नाममाला।

(५) बनारसी पद्धति।

(६) मोक्षपदी ध्रुव बंदना।

(७) कल्याण मंदिर।

(८) मारगन विद्या।

(९) वेद निर्णय पंचाशिका।

इन ९ ग्रंथों का उल्लेख खोज की रिपोर्टों और 'मिश्रबंधु विनोद' में है। मेरे पुस्तकालय में बनारसीदासजी के निम्नलिखित ग्रंथ हैं—

(१) सूक्ति-मुक्तावली।

(२) वैराग्य बावनी।

(३) वेद निर्णय पंचाशिका।

(४) नवदुर्गा विधान।

(५) नाम निर्णय।

(६) युगलधर्म।

(७) नवरत्न।

(८) मिथ्यांत वाणी।

(९) स्फुट कवित्त

(१०) कुकर्म विंशतिका।

(११) चउदह विद्या।

(१२) बनारसी पैंडी अथवा मोक्षमार्ग पैंडी।

बनारसीदास जी की कविता के विषय में मिश्र-बंधुओं का मत है कि—"बनारसीदास की कविता धर्मोपदेशों से भरी है और पूर्ण रूपेण प्रशंसनीय है। इन की भाषा साधारण ब्रजभाषा है। इन के कई भजनों में भी अच्छी कविता की गई है। बहुत लोगों का मत है कि इन की कविता नवरत्न वाले कवियों तक से समानता कर सकती है पर हमारा मत इस कथन से नहीं मिलता। फिर भी बनारसीदास जी को हम एक अच्छा कवि, तोष कवि की श्रेणी का समझते हैं।"

काव्य कला और उस के अंतर्गत विचार-विकास की दृष्टि से बनारसीदास जी की कविता का अध्ययन बड़ा ही मनोरंजक है। काव्य-कला का आश्रय लेकर भिन्न-भिन्न धर्मों के विद्वान मुगल काल में अपने मतों का प्रचार किस प्रकार करते थे इस बात को समझने में बनारसीदास जी की कविता से अच्छी सहायता मिल सकती है। वास्तव में बनारसीदास जी विद्वान, सुकवि और सद्विचार सम्पन्न सज्जन थे। हिंदी-साहित्य उन की कृतियों से अपने को गौरवान्वित समझता है। अब मैं 'सूक्ति-मुक्तावली' के कुछ छंद उदाहरण स्वरूप उपस्थित करता हूँ। उन को पढ़ कर पाठक गण बनारसीदास और कौंरपाल की कविता के संबंध में स्वयं निर्णय कर सकेंगे कि वह कैसी है। उदाहरणों मे दिया अंतिम छंद 'सूक्ति-मुक्तावली' का नहीं है।

उदाहरण

ज्यों जर मूर उखारि कलप तरु
बोवत मूढ़ कनक को खेत;
ज्यों गजराज बेंचि गिरिवर सम
कूर कुबुद्धि मोल खर लेत।
जैसे छाँडि रतन चिंतामनि
मूरख काँच-खंड मन देत,

तैसे धरम बिसारि बनारसि
धावत अधम विषय सुख हेत ॥

❦ ❦ ❦

ज्यों मति हीन बिबेक बिना
नर साजि मतंगज ईंधन ढोवै;
कंचन भाजन धूरि भरै
सठ मूढ़ सुधारस सों पग धोवै।
बोहित काग उड़ावन कारन
डारि महामनि मूरख रोवै;
त्यों नर देह दुर्लभ बनारसी
पाय अजान अकारथ खोवै ॥

❦ ❦ ❦

गुन निवास बिस्वास बास दारिद दुख खंडन।
सुजस केलि आराम धाम सज्जन मन रंजन ॥
नाग बाघ बस करन नीर पावक भय भंजन।
... . ॥
महिमा निधान संपति सदन मंगल मीत पुनीत मग।
सुख रासि बनारसिदास भनि सत्य बचन जयवंत जग ॥

❦ ❦ ❦

पावक तैं जल होय बारिधि तैं थल होय
शस्त्र तैं कमल होय ग्राम होय बन तैं।
सिंघ तैं कुरंग होय ब्याल स्याल अंग होय
विष तै पीयूष होय माला अहि फन तें ॥
... ...
... ... ।
विषम तैं सम होय संकट न व्यापै कोय
एते गुन होय सत्यवादी दरसन तैं ॥

❦ ❦ ❦

सहै घोर संकट समुद्र की तरंगनि मैं
कंपै चीत भीत पंथ गहै बीच बन मैं।
ठानै कृषि कर्म जामैं सर्म को न लेश कहूँ
भय संका बिन ह्वै कै झुकि मरै रन मैं॥
तजै निज धाम को बिराम परदेश धावै
सेवै प्रभु कृपन मलीन रहै मन मैं।
डोलै धन कारज अनारज मनुज मूढ़
ऐसी करतूति करै लोभ की लगन मैं॥

✤ ✤ ✤

पूरन प्रताप रबि रोकिबे को धाराधर
सुकृति समुद्र सोखिबे को कुंभनंद है।
कोप दव पावक जनन को अरनि दारु
मोह विष भूरुह को महा दृढ कंद है॥
परम विवेक निसि मनि ग्रसिबे को राहु
कीरतिलता कलाप दलन गयंद है।
कलह को केलि भौन आपदा नदी को सिंधु
ऐसो लोल याही को विपाक दुख दंद है॥

✤ ✤ ✤

नहिं जंपहि पर दोष अल्प परगुन बहु मानहि।
हवै धरहि संतोष दीन लखि करुना ठानहि॥
उचित रीति आदरहि विमल नय नीति न छंडहि।
निज न सील परिहरहि, राम रुचि, विषय विहंडहि॥
मंडहि न कोप दुर्वचन सुनि सहज मधुर धुनि उच्चरहि।
कहि कँवर पाल जग जाल बसि ए चरित्र सज्जन करहि॥

✤ ✤ ✤

धर्म तरु भंजन को महामद कुंजर से
आपदा भँडार के भरन को करोरी हैं

सत्य सील रोकिबे को पौढे परदार जैसे
दुर्गति कुमारग चलाइबे को धोरी हैं ॥
कुमति के अधिकारी कुनय पथ के बिहारी
भया भाव ईंधन जराइबे को होरी है।
मृषा के सहाई दुरभावना के भाई ऐसे
विषयाभिलाषी जीव अघ के अघोरी हैं ॥

❀ ❀ ❀

नीच धनवंत ताहि निरखि असीस देत
वदन विलोकै यह चरन गहतु है।
वह अकृतज्ञ नर यह अज्ञता को घर
वह मद लीन यह दीनता कहतु है ॥
वह चित कोप ठानै यह ताको प्रभु मानै
वाके कुवचन सब याहि पै सहतु है।
ऐसी गति धारै न विचारै कछु गुन दोष
अरथाभिलाषी जीव अरथु चहतु है ॥

❀ ❀ ❀

ताही को सुबुद्धि बरै रमा ताकी चाह करै
चंदन सरूप ह्वै सुजस ताहि अरचै।
सहज सुहाग पावै सुरग सगीप आवै
बार बार मुकुति रमनि ताहि चरचै ॥
ताही के सरीर को अलिंगति अरोगताई
मंगल करै मिताई प्रीति करै परचै।
जोई नर ह्वै सुचेत चित समता समेत
धरम के हेत को सुकेत धन खरचै ॥

❀ ❀ ❀

पूरब करम दहै सरबज्ञ पद लहै
पुन्न पंथ पावै फिरि पाप मैं न आवमा

करना की कला जागै कठिन कषाय भागै
लागै दान सील तप सफल सुहावना ॥
पावै भव सिंधु तट खोलै मोख द्वार पट
सर्म साधि धर्म की धरा मैं करै धावना।
एते सब काज करै अलख को अंग धरै
चेरी चिदानंद की अकेली एक भावना ॥

* * *

परनिंदा त्याग करु मन मैं विराग धरु
क्रोध मान माया लाभ चारौ परिहरु रे।
हिरदै मैं तोष गहु समता सों सीरो रहु
धरम को भेद लहु खेद मैं न परु रे ॥
करम को वंसु खोउ मुकुति को पंथु जोउ
सुकृत को बीज बोउ दुर्मति सों डरु रे।
अरे नर ऐसो होहि बार बार कहौं तोंहि
नाहिं तौ सिधारु तू निगोत तेरो घरु रे ॥

* * *

आलस त्यागु जागु नर चेतन
बल सँभार मति करहु विलंब।
यहाँ न सुख लवलेस जगत मैं
निब बिरछ मैं लगैं न अंब ॥
तातैं तू अंतर विपच्छ हरु
करु विलच्छ निज अच्छ कदंब।
गहु गुन ज्ञान बैठि चरित्र रथ
देखि मोख मग सनमुख बंब ॥

* * *

सम्यक ज्ञान बही उर अंतर
कीरति कारन भेख बनावै।

भौन तजै बनवास गहै
मुख मौन रहै तपसों तन तावै ॥
जोग अजोग कछू न विचारत
मूरख लोगन को भरमावै ।
फैन करै बहु जैन कथा कहि
जैन बिना नर जैन कहावै ॥

'क़ायम' चाँदपुरी

[लेखक—साहित्याचार्य पंडित पद्मसिंह शर्मा]

'क़ायम' चाँदपुरी, उर्दू के महाकवि थे। उर्दू कवियों के जितने जीवन-चरित और सुभाषित-संग्रह लिखे गए हैं, 'क़ायम' का उल्लेख प्रायः उन सब में है। सभी ने 'क़ायम' की काव्य-पटुता को सराहा है, उन के आचार्यत्व को मुक्त-कंठ से स्वीकार किया है। किसी किसी ने तो उन्हें मिर्ज़ा 'सौदा' और 'मीर' तक़ी से भी बड़ा कवि माना है और उन के जोड़ का तो प्रायः सभी ने समझा है।

उर्दू-साहित्य के सर्व-श्रेष्ठ समालोचक और इतिहास-लेखक आचार्य शम्सुल् उल्मा मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' ने अपनी अमर रचना 'आबे-हयात' में 'सौदा' के प्रकरण में लिखा है—

यह साहबे-कमाल ('क़ायम') चाँदपुर के रहने वाले थे, मगर फ़ने-शेर मे कामिल थे। इन का दीवान हरगिज़ 'मीर' व मिरज़ा के दीवान से नीचे नहीं रख सकते, मगर क्या कीजिए कि क़बूले-आम कुछ और शै है, शोहरत न पाई।

'क़ायम' के समसामयिक उर्दू कवियों ने 'क़ायम' का उल्लेख 'मीर' तक़ी और मिर्ज़ा 'सौदा' की श्रेणी में किया है। मीर बाक़र 'हज़ीं' मिर्ज़ा 'जानजानाँ' के शागिर्द थे। इन का दीवान भी है। 'सौदा' ने इन्हें बड़े कवियों में गिना है 'हज़ीं' ने 'क़ायम' के बारे में अपने उद्गार इस प्रकार प्रकट किए हैं—

दाग़ हूँ इन से अब ज़माने में
बज़्मे शोअरा के जो हैं सद्र नशीं।
यानी 'सौदा' व 'मीर' व 'क़ायमो' 'दर्द'
छे हिदायत से ता क़लीमो 'हज़ीं' ॥

ऐ 'शौक़' तेरे शेर की अब तो बड़ी है धूम।
'सौदा' व 'मीरो' 'क़ायमो' 'दर्दो' अलम तलक॥

सुप्रसिद्ध महाकवि 'मसहफ़ी' ने अपने तज़करे में लिखा है—

पुख़्तगिए-कलामो चुस्तगिए-मिसराए ग़ज़ल दर क़सीदा व मसनवी वग़ैरह मुवाफ़िक़ रिवाजे ज़माना दोश बदोश उस्ताद राह मी रफ़्त बल्कि दर बाज़े मुक़ाम रुजहान मी जस्त।

अर्थात् 'क़ायम' का कलाम अपने समय के कवियों के समान चुस्त और पुख्ता है। ग़ज़ल, क़सीदा और मसनवी में अपने उस्ताद 'सौदा' के कधे से कंधा भिड़ा कर चला है, बल्कि कई जगह उन से भी आगे बढ़ गया है।

'मसहफ़ी' की इस सम्मति पर नव्वाब मुस्तफ़ा ख़ाँ 'शेफ्ता' को आपत्ति है यानी वह 'क़ायम' को 'सौदा' के बराबर नहीं मानते फिर भी उन्हों ने अपने 'गुलशने बे ख़ार' में 'क़ायम' को 'ख़ुश-गुफ़्तार' और 'बुलंद पाया' कवि माना है। 'क़ायम' के क़ितो और रुबाइयों को 'शेफ़्ता' ने सराहा है और 'कायम' की प्रतिभाशक्ति की प्रशंसा की है। 'कमाल' ने अपने तज़करे 'मजमूए-इंतख़ाब' में जो 'क़ायम' के दस बरस बाद लिखा गया है 'कायम' की अत्यधिक प्रशंसा की है। यह लिखता है कि " 'सौदा' के सिवा जो हिंदी मुसलमानों का मक़बूल शायर है वह ('क़ायम') सब से बढ़ा हुआ है।" मुंशी करीमुद्दीन ने अपने तज़करे मे 'क़ायम' के बारे मे लिखा है—

अजब तरह का शायर ख़ुशगुफ़्तार है। इस की बराबरी अच्छे अच्छे शायर नहीं कर सकते। क्योंकि वह शख़्स ('क़ायम') इस रुतबे का है कि दीवान देखने से उस की क़द्र खुलती है। बाज़ बाज़ आदमी जो इस को 'सौदा' से बेहतर कहते हैं, हक़ यह है कि सच्चे हैं। और बाज़े कम माया और बे इस्तदाद जो इस को बराबर 'सौदा' के कहने में ख़याल सौदा और दीवानगी का करते हैं।* हक़ीक़त यह है कि यह

---

*यह चोट 'शेफ़्ता' की इस सम्मति पर है—

'बाज़ ना शनासाने सख़ुन ब मकानत सौदा मी शुमारंद, हर्फ़ दर दीवानगी शान मश्र जनूनस्त अर्थात् कुछ लोग जो कविता के मर्म को नहीं समझते वे 'क़ायम'

लोग आग रश्क में जलते हैं, क्योंकि मिस्ल इस के ('क़ायम' के) शेर नहीं कह सकते। ख़सूसन क़ितआत व रुबाइयात इस की ऐसी हैं कि बारीकबीन आदमियों की आँखे खुल जाती हैं जब इस को मुताअला करते हैं।

मिर्ज़ा अली 'लुत्फ़' ने गुलशने हिंद में लिखा है—

नज़्म रेख़्ता में उस्ताद मुसल्लिमुस्सबूत थे।······सच तो यह है कि बाद 'सौदा' और 'मीर' के किसी रेख़्ता गो (उर्दू कवि) की नज़्म का नहीं यह असलूब (ढंग) है।

कवियों का श्रेणी-विभाग सदा विवादग्रस्त रहा है। प्रत्येक महाकवि के संबंध में इस प्रकार का मतभेद तो प्रायः रहता ही है। रुचि-भेद से कोई किसी कवि को महत्त्व देता है कोई किसी को। सर्व-सम्मत सर्व-श्रेष्ठ कवि तो संसार में दो चार ही होंगे। किसी कवि के कवि-श्रेष्ठ होने में इतना ही पर्याप्त है कि साहित्य-परीक्षकों द्वारा उस की गणना अच्छे कवियो मे की गई हो। निर्विवाद रूप से छोटे बड़े का फ़ैसला तो कभी होता ही नहीं। इसलिए 'क़ायम' चाहे 'सौदा' की बराबरी के हों या किसी अंश में उन से कुछ बढ़ गए हों अथवा 'सौदा' के बाद उन की गणना की जाय, 'क़ायम' का महाकवि होना तो उक्त सब प्राचीन और अर्वाचीन लेखकों के मत से सिद्ध ही है। उर्दू कविता को सुंदर साँचे में ढालने वाले और काव्य-वाटिका को कर्ण-कटु दुःश्रव्य आदि शब्दों की झाड़-झंखार से साफ़ करने वाले इने गिने लोगों में 'क़ायम' भी एक थे। उर्दू भाषा और कविता पर उन का स्मरणीय उपकार है। 'क़ायम' ने उर्दू शायरी पर अपने उपकार का साभिमान उल्लेख किया है। कहते हैं—

> 'क़ायम' मैं ग़ज़ल तौर किया रेख़्ता वरना।
> एक बात लचर सी बज़बाने-दकनी थी॥

उर्दू-साहित्य के सभी सहृदय समालोचकों ने इस बात को स्वीकार किया है।

को 'सौदा के बराबर गिनते हैं उन का ऐसा   दीवानगी और जनन या

'सौदा' और 'क़ायम'

कुछ नज़्में ऐसी हैं जो 'सौदा' और 'क़ायम' दोनों के यहाँ हैं। एक मसनवी शीत ऋतु की निंदा में—मसनवी दर हिजो मौसमे सरमा—'सौदा' की कुलियात मे उद्धृत है। मीर हसन ने और 'लुत्फ़' ने अपने तज़करों में इसे 'क़ायम' के प्रकरण में 'क़ायम' के नाम से उद्धृत किया है। इस पर मौलवी अबुलहक़ साहब ने 'मख़ज़ने-निकात' की भूमिका मे लिखा है कि—

मौसम सरमा की हिजो में जो मसनवी है और जिस का मतला यह है—

सरदी अब के बरस है इतनी शदीद।
सुबह निकले है काँपता ख़ुरशीद॥

दोनों के कुल्लियात मे बे कमोकास्त दर्ज है, लेकिन यह नज़्म ग़ालिबन् 'सौदा' की है, क्योंकि इसी के साथ की दूसरी मसनवी मौसमे गरमा की हिजो मे मौजूद है। लेकिन मीर हसन के तज़करे के देखने से मालूम होता है कि वह इसे 'क़ायम' ही की मसनवी ख़्याल करते हैं। एक और तवील इश्क़िया मसनवी जिस का पहिला शेर यह है—

इलाही शोला ज़न कर आतिशे दिल।
तपे-दिल दे ब क़द्रे ख़्वाहिशे-दिल॥

लुत्फ़ यह है कि मसनवियों के आख़िर में 'सौदा' के कुल्लियात में 'सौदा' का और 'क़ायम' के कुल्लियात में 'क़ायम' का तख़ल्लुस मौजूद है, इस से सही फ़ैसला करना और भी दुशवार हो जाता है। मगर हमारा क़यास यह है कि यह मसनवी 'क़ायम' ही की है जो ग़ल्ती से 'सौदा' के कुल्लियात में दर्ज हो गई है। इस तरह और कई मसनवियाँ जिन में छोटे छोटे क़िस्से और हिकायतें मनज़ूम की हैं दोनों के कलाम में मुश्तरक पाई जाती हैं।

मौलवी अबुलहक़ साहब ने इस फ़ैसले मे दोनों की बात रख ली है इस से और अच्छा फ़ैसला हो भी नहीं सकता था। पर मौसम सरमा वाली मसनवी 'सौदा' ही की है इस में जो दलील दी गई है वह कुछ वज़नदार नहीं। यह तो जरूरी नहीं है कि गरमी की शिकायत मे 'सौदा' ने मसनवी लिखी है तो सरदी की शिकायत में भी वह लिखें ही जब मीर हसन ने और 'लुत्फ़' ने

मौसम सरमा की मसनवी 'क़ायम' के नाम से उद्धृत की है तो वह 'क़ायम' ही की क्यों न हो ? कसरत राय तो 'क़ायम' ही के हक़ मे है। किसी की हो पर इस से इस मत की पुष्टि जरूर होती है कि कविता मे 'क़ायम' 'सौदा' के सदृश थे, क्योंकि 'क़ायम' की कविता जब 'सौदा' को कविता में इस तरह मिल जाती है कि अलग नही की जा सकती तो फिर दोनों की समानता में क्या संदेह है। यों सादृश्य में भी कुछ भेद तो रहता ही है। अस्तु। 'क़ायम' 'सौदा' के शिष्य थे, यह प्रसिद्ध है। कई लेखकों ने इस बात का उल्लेख किया है। 'क़ायम' ने अपने तजकरे 'मख़ज़ने-निकात' में 'सौदा' को स्पष्ट शब्दों मे गुरु तो नहीं माना, पर उन के संबंध मे लिखते हुए बहुत ही शिष्योचित आदर भाव प्रकट किया है। 'क़ायम' के इस शेर में भी 'सौदा' के गुरुत्व की ध्वनि सी है—

'क़ायम' य फ़ैज़ हज़रते 'सौदा' है वरना में।
तरही ग़ज़ल से 'मीर' की आता था बर कहीं॥

अर्थात् 'सौदा' की कृपा से ही मैं 'मीर' (तक़ी) की तरह पर ग़ज़ल कहने मे सफल हो सका हूँ।

'आज़ाद' ने 'आबेहयात' में लिखा है—

यह ('क़ायम') पहले शाह हिदायत के शागिर्द हुए। उन से ऐसी बिगड़ी कि हिजो कही। ताज्जुब यह है कि शाह मौसूफ़ बावजूदे कि ज़्यादह ख़ाकसारी तबियत से रखते थे मगर उन्हों ने भी एक क़िता इन के हक में कहा। फिर ख़्वाजा मीर 'दर्द' के शागिर्द हुए। इन के हक़ में भी कह सुन कर अलग हुए। फिर मिर्ज़ा 'सौदा' की ख़िदमत में आये, इन से भी फिरे। मिर्ज़ा तो मिर्ज़ा थे, उन्हों ने सीधा किया।

'सौदा' ने 'क़ायम' को किस तरह सीधा किया, इस का पता 'आज़ाद' ने यों दिया है—

हिजो में एक साक़ीनामा है, जिस में 'फ़ौक़ी' शायर की हिजो है। असल में क़यामुद्दीन 'क़ायम' की हिजो में था। वह बुज़ुर्ग बावजूद शागिर्दी के मिर्ज़ा से मुनहरिफ़ हो गए थे। जब यह साक़ीनामा लिखा गया तो घबराये और आकर ख़ता माफ़ करवाइ मिर्ज़ा ने इन का नाम निकाल डाला और 'फ़ौ [illegible]

कवियों का गुरु-शिष्य भाव

'क़ायम' में और 'सौदा' मे नोकझोक ज़रूर हुई थी। शायर उस्ताद शागिर्दों में सदा से बिगड़ती आई है।

'क़ायम' ने 'सौदा' की निंदा निस्संदेह की, और क्यों न करते आखिर 'सौदा' के शागिर्द थे। यह गुण उन्हों ने 'सौदा' ही से तो सीखा था, वही उन्हे गुरु-दक्षिणा में भेट कर दिया। उत्तर में 'सौदा' ने जो 'क़ायम' को 'आशीर्वाद' दिया उस का पता तो 'आज़ाद' ने 'फ़ौक़ीनामे' का नाम लिख कर दे दिया है (जो कुल्लियाते 'सौदा' के पृष्ठ २०४ से २०८ तक में है)।

'फौक़ीनामा' पढ़ने से मालूम होता है कि 'क़ायम' ने अपनी किसी कविता मे अपने को शेर (सिंह) और दूसरे कवियों को जिन में 'सौदा' भी शामिल थे, बकरी बतला कर आत्मोत्कर्ष का सिंहनाद किया था। उसी कविता की विस्तृत समालोचना 'सौदा' ने 'फ़ौक़ीनामे' मे की है। खेद है कि 'क़ायम' की वह सिंह-नाद वाली गर्वोक्तिपूर्ण कविता नहीं मिलती। शायद 'क़ायम' के कुल्लियात में हो, जो अभी अप्रकाशित है, और किसी तज़करे-नवीस ने उसे नक़ल नही किया। यह 'फ़ौक़ीनामे' की बात भी सिर्फ़ 'आज़ाद' ने ही लिखी है। फिर भी 'आज़ाद' का यह कहना सच ही मालूम होता है। 'फ़ौक़ीनामे' के 'फ़ौक़ी' हमारे 'क़ायम' साहब ही हों, क्यों कि 'फ़ौक़ीनामे' में सौदा ने 'फौक़ी' को 'तालिब आमली' का अनुयायी, अर्थापहर्ता, कह कर निंदा की है। 'फौक़ी' के दीवान को आकार मे भी और प्रकरण मे भी तुच्छ बतलाते हुए 'सौदा' कहते हैं—

सो भी तो इस में इक ग़ज़ल ऐसी नहीं।
चार बैतें जिस में 'तालिब' की नहीं॥

यानी एक तो ज़रा सा दीवान और उस में भी ऐसी एक ग़ज़ल नहीं जिस मे चार शेर 'तालिब' के न हों। हर एक ग़ज़ल में कुछ न कुछ मज़मून 'तालिब' से उड़ाया है।

मीर हसन ने अपने तज़करे में प्राय: प्रसिद्ध उर्दू कवियों के बारे मे यह इशारा कर दिया है कि यह किस फ़ारसी शायर के रंग में लिखते हैं या किस

के अनुयायी हैं। मीर 'दर्द' की बाबत लिखा है कि इन की कविता 'हाफ़िज़' की शायरी की तरह सुंदर है। 'क़ायम' के विषय में लिखा है—

तर्ज़श् बतर्ज़े तालिबे आमली मी माँद।

यानी 'क़ायम' के लिखने का तर्ज़ 'तालिब' के तर्ज़ पर है। 'क़ायम' ने 'तालिब' का अनुकरण किया है।

जो कवि जिस कवि का अनुकरण करता है उस के भाव, शब्द और अर्थ अनायास भी आ ही जाते हैं, इसी पर 'सौदा' ने ऊपर के शेर में 'क़ायम' पर चोट की है।

'फौक़ी' की या 'क़ायम' की वह कविता मिलती तो 'सौदा' के 'फ़ौक़ीनामे' की समालोचना पर ठीक राय दी जा सकती। 'फौक़ीनामे' की घटना पर किसी लेखक ने प्रकाश नहीं डाला। मालूम नहीं वह शेर-बकरी वाली कौन सी कविता 'क़ायम' की थी जिस पर 'सौदा' ने इतनी ले-दे की है। 'सौदा' की समालोचना से मालूम होता है कि उस शेर-बकरी वाली समालोच्य कविता मे कुल सात पद्य थे, 'सौदा' ने समालोचना के उपसंहार मे लिखा है—

सुन चुके अहवाल सातों शेर का।

वह सातों शेर कहीं मिलें तो क्या अच्छा हो। 'सौदा' की समालोचना का रहस्य खुल जाय। अब तो वह एक पहेली सी है। 'क़ायम' ने 'सौदा' की हिजो में और क्या कहा था वह भी नहीं मिलता। यह एक शेर तो मिला है। वह भी 'क़ायम' के वंशज मुंशी मुहम्मद-हुसैन साहब की ज़बानी सुना है, कही लिखा नहीं देखा—

डाल दे 'सौदा' के आगे 'क़ायम' इक टूटी सी कफ़्श।
बहस को उस की तेरी पैज़ार मुँह खोले रहे॥

हिजोगोई

हिजो (ज्व) गोई भी उर्दू कविता का एक अंग है। हिजो कहने में 'सौदा' सब से बढे चढ़े थे, इस कला के वह सर्वमान्य आचार्य थे

हिजो कहने और फोहश बकने में वह ('क़ायम') अपने उस्ताद ('सौदा') के हमपल्ला है।

इस प्रसंग में 'आज़ाद' ने एक जगह 'आबेहयात' में लिखा है—

इस लिखने से मुझे इज़हार इस अमर का मंज़ूर है कि हिजो हमारी नज़्म की एक ख़ारदार शाख़ है जिस के फल से फूल तक बेलुत्फ़ी भरी है। और अपनी ज़मीन और दहक़ान दोनों की कसाफ़ते-तबअ पर दलालत करती है, चुनांचे इस में भी मिर्ज़ा रफ़ी मरहूम ('सौदा') सब से ज़्यादः बदनाम हैं। लेकिन हक़ यह है कि इन की ज़बान से जो कुछ निकलता था बाइस इस का फ़क़त शोख़िए-तबा या कोई आरज़ी जोश नाराज़गी का होता था और माद्दा कसाफ़त फ़क़त इतना होता था कि जब अल्फ़ाज़ काग़ज़ पर आ जाते थे तो दिल साफ़ हो जाता था। .... हमारा ज़माना ऐसे मोहज़्ज़ब और शाइस्ता लोगों से आरास्ता है कि लफ़्ज़ हिजो को गाली समझते हैं, मगर दिलों का मालिक अल्लाह है।

पहिले कवि ज़बान के गंदे भले ही हों दिल के साफ़ होते थे। 'आज़ाद' के कथनानुसार, 'क़ायम' की सब से बिगड़ी; शाह हिदायतुल्ला, 'दर्द' और 'सौदा', सब से उन की खटकी रही पर, 'मख़ज़ने-निकात' में इन सब को उन्हों ने बड़े ही आदर भाव से परम-सौजन्य सूचक शब्दों में याद किया है। कहीं ज़रा भी तो मनोमालिन्य की गंध नहीं आने दी। 'अकबर' ने सच कहा है—

बदी तीनत की छिप सकती नहीं शीरीं ज़बानी से।
दिल अच्छा हो तो निभ जाती है शायद बदज़ुबाँ होकर॥

'क़ायम' ने अपने तज़करे 'मख़ज़ने-निकात' में मिर्ज़ा 'सौदा' का जहाँ ज़िक्र किया है बड़े अदब से नाम लिया है। 'सौदा' के प्रसंग में प्रशंसात्मक विशेषणों की झड़ी लगा दी है। और भी जहाँ कहीं प्रसंगवश 'सौदा' का नाम आ गया है 'हज़रतम मिर्ज़ारफ़ी साहब' 'हज़रतम् मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी 'सौदा' सलमहु अल्लाताला' आदि आदरणीय और आत्मीयता सूचक शब्दों से याद किया है। 'मख़ज़ने-निकात' पढ़ कर तो इस बात का ज़रा भी आभास नहीं मिलता कि 'क़ायम' को 'सौदा' से ज़रा भी द्वेष रहा हो इस से सिद्ध है कि

'आज़ाद' ने इन लोगों के बारे में जो लिखा है बिलकुल सच है कि जब अल-फ़ाज कागज़ पर आ जाते थे दिल साफ़ हो जाता था।

'क़ायम' की जन्मभूमि

'क़ायम' की जन्म भूमि, जैसा 'चाँदपुरी' विशेपण से प्रकट है चाँदपुर है। चाँदपुर जिला बिजनौर का एक मशहूर क़स्बा है। ग़दर के बाद बहुत दिनो तक यहाँ तहसील थी। अब कई वर्ष से तहसील तो नहीं रही, पर रेलवे का स्टेशन होने से मंडी रौनक पर है, गुड़ और ग़ल्ले का व्यापार खूब होता है। मंगल और शुक्र को बहुत बड़ी पेंठ लगती है। निवासियों मे बनिये मालदार और शिक्षित हैं। आबादी के लिहाज से मुसलमानो की संख्या काफी है। ग़दर मे मुसलमान रईसों की जायदादें ज़प्त हो गई थीं, तब से अवनत दशा में है। चाँदपुर मे एक तहसीली मिडिल स्कूल है, एक अंगरेजी प्रारम्भिक शिक्षा का स्कूल भी कुछ दिनों से चंदे से चल रहा है। एक संस्कृत पाठशाला भी है। चाँदपुर ई० आई० आर० का स्टेशन है। स्टेशन का नाम चाँदपुर स्याऊ है। मुरादाबाद से दिल्ली को जो ई० आई० आर० की बड़ी लाइन गई है उस के गजरौला जंकशन से एक छोटी लाइन निकली है, जो चाँदपुर से बिजनौर होती हुई नजीबाबाद जंकशन पर (ई० आई० आर० की मुरादाबाद से हरद्वार जाने वाली लाइन पर) जा मिली है।

पुराने तज़करा-नवीसों मे किसी ने चाँदपुर मदीना या नगीना लिखा है। किसी ने संभल मुरादाबाद से चाँदपुर का संबंध जोड़ा है। नगीना ज़िला बिजनौर की एक तहसील है जो आबनूस की लकड़ी के काम की वजह से मशहूर है। पर संभल का चाँदपुर के साथ आजकल कोई संबंध नहीं है, संभव है पहले शाही जमाने में चाँदपुर संभल की सरकार मे शामिल रहा हो। अब तो संभल मुरादाबाद जिले की एक तहसील है। मुरादाबाद और बिजनौर ज़िलों की सीमायें मिली हुई हैं। संभल एक पुराना और प्रसिद्ध स्थान है। महाराज पृथ्वीराज स भी सभल का ऐतिहासिक सबध कहा जाता है अकबर बादशाह के [illegible]

बदायूनी ने अपने ग्रंथ में संभल की सरकार का उल्लेख किया है। संभल की इसी पुरानी प्रसिद्धि के कारण पुराने लेखकों ने चाँदपुर के साथ अतेपते के तौर पर संभल का नाम जोड़ दिया हो। यह भी संभव है। जो कुछ हो, वर्तमान चाँदपुर का संभल से कोई बादरायण संबंध भी नहीं है। नगीने से तो इतना ताल्लुक़ है भी कि दोनो एक ही ज़िले के क़स्बे है, दोनो का फ़ासला बीस मील से ज़्यादा है।

'क़ायम' के पुरुषाओं का निवास

'क़ायम' के वंशज आज भी चाँदपुर मे वर्तमान है और ईश्वर की दया से यहाँ के प्रतिष्ठित नागरिकों मे हैं। उन में मुंशी मुहम्मद हुसैन साहब पेंशनर पेशकार कविता के विशेष प्रेमी और सहृदय सज्जन हैं। 'क़ायम' के संबंध मे आप से जो बातें मालूम हुई हैं उन का सार यह है—

'क़ायम' के पिता का नाम मुहम्मद हाशम और दादा का नाम मुहम्मद अकरम था। क़ौम के अलवी सैयद थे, बाद को शैख़ क़ुरैशी कहलाने लगे। इस का कारण यह बतलाते है कि 'क़ायम' के पूर्व-पुरुषा दिल्ली मे बादशाह के यहाँ प्रतिष्ठित पदाधिकारी थे, उस वक़् शासन-सूत्र अधिकांश सैयदों के हाथ मे था। बड़े अधिकारियों मे सैयदों की अधिकता थी। शासन-संबंधी किसी उपद्रव में सैयद लोग बादशाह के कोप-भाजन बन कर वहाँ से भागे, 'क़ायम' का खानदान भी उन्हीं मे था। इन लोगो ने अपने को शेख़ कह कर छिपाया और दिल्ली छोड़ कर यहाँ आ गए। दिल्ली से भाग कर पहले 'क़ायम' के पूर्वज महदूद नामक गाँव मे आ कर आबाद हुए।

महदूद एक छोटा सा गाँव है, जो चाँदपुर से चार कोस उत्तर की ओर लेखक की जन्मभूमि नायक नगला ग्राम से एक मील की दूरी पर है। महदूद मे 'क़ायम' के वंशजों की एक शाखा और है, उन लोगों का कहना है कि 'क़ायम' की जन्मभूमि महदूद ही है। 'क़ायम' यहीं पैदा हुए थे, बाद में चाँदपुर चले गए थे। महदूद में जो कुआँ है वह 'क़ायम' ही का बनवाया हुआ है। महदूद के आस पास के कई गाँवों मे—गाजीपुर, सघनपुर, कीकरखजूरी, अजीजपुर, दीपा जलालपुर आदि में 'क़ायम' के पूर्वजों को शाही दरबार से मिलकें मिली हुई थीं,

जो बीच में ज़ब्त हो गई थीं। 'क़ायम' की कोशिश से वह फिर वापस मिल गई थी, और ग़दर तक 'क़ायम' के वंशजों के अधिकार में रहीं। अब 'क़ायम' के महदूद-निवासी वंशज अपठित किसान हैं। पर 'क़ायम' के वंशधर होने का उन्हे गौरव और गर्व है। 'क़ायम' की भूली-बिसरी गुण-गाथा और नाम उन्हे अभी याद है। मैं ने उन मे से एक से 'क़ायम' के बारे मे पूछा कि तुम लोगों के पास कुछ पुराने काग़ज़-पत्तर है जिन से उस वक़्त की कोई बात मालूम हो सके। कहने लगे 'पहले बंदोवस्त तक तो ऐसे काग़ज़ात थे, अब सब जाते रहे। दीमक और कीड़े खा गए। अब तो 'क़ायम' की यादगार बस एक कुआँ ही बाक़ी रहा है और हम लोग है जो सिर्फ़ उन के नाम-लेवा है।' 'क़ायम' के दादा मुहम्मद अकरम महदूद मे 'सन्ना' के नाम से मशहूर हैं। मुंशी मुहम्मद हुसैन साहब पेशकार चाँदपुरी से इस प्रसिद्धि का कारण यह मालूम हुआ कि मुहम्मद अकरम को बादशाह के यहाँ साढ़े तीन सौ सवार का मनसब था। जिस से उन का लक़ब 'साढ़ती सती' पड़ गया था, उसी का रूपांतर 'सन्ना' है।

'क़ायम' या 'क़याम'

पुराने अधिकांश लेखकों ने तो इन का नाम 'क़ायम' लिखा है, पर किसी किसी ने 'क़याम' भी लिखा है। 'क़ायम' ने 'मख़ज़ने-निकात' के प्रारंभ में और अंत मे—'फ़कीर मुवल्लिफ़ मुहम्मद क़यामुद्दीन 'क़ायम' ' कह कर अपना परिचय दिया है। पर उन के वंशज—चाँदपुर में भी और महदूद मे भी—उन का नाम 'क़ायम' ही बतलाते हैं। 'ज़माना' कानपुर के जुलाई सन् १९२९ ई० के अंक मे 'राज़' चाँदपुरी का एक लेख "हज़रत 'क़ायम' चाँदपुरी" शीर्षक छपा है। उन्हों ने उस लेख में मुहम्मद हुसैन साहब का एक पत्र उद्धृत किया है। जो 'राज़' साहब के पत्र के उत्तर में पेशकार साहब ने नाम के बारे में लिखा था। पत्र यह है—

आप का नाम मुहम्मद क़ायम था। बाज़ तज़करों में आप का नाम जो क़यामुद्दीन लिखा हुआ है, वह ग़लत है, इस का सबूत यह है कि आप के वालिद का नाम मुहम्मद हाशिम और दादा का नाम मुहम्मद अकरम था नीज़ आप के साहबज़ादे का

अब मेरे पूछने पर भी पेशकार साहब ने वही बात दोहराई। यह पत्र उद्धृत कर के 'राज़' साहब लिखते हैं—

चूँकि तज़करों की रिवायात के मुक़ाबले में मुंशी मुहम्मद हुसैन साहब का मज़कूरा बाला बयान ज़्यादा क़ाबिले-क़बूल है, लिहाज़ा 'क़ायम' साहब के नाम में किसी इख़्तलाफ़ की गुंजाइश बाक़ी नहीं रहती, और यह मानना पड़ता है कि उन का नाम सिर्फ़ मुहम्मद क़ायम था।

'मख़ज़ने-निकात' में जो 'क़ायम ने अपना नाम क़यामुद्दीन' लिखा है, उसे उद्धृत कर के इस विरोध का समन्वय 'राज़' साहब इस तरह करते हैं कि—

एक तरफ़ मंदर्जाबाला तहरीरी शहादत 'मख़ज़ने-निकात' की मौजूद है, और दूसरी जानिब मुंशी मुहम्मद हुसैन साहब का (और महदूद वालों का भी) ज़िंदा बयान, दोनो ही अपनी जगह क़ाबिले-क़बूल हैं, और इन दोनों बयानात को मद्देनज़र रख कर यह क़यास किया जा सकता है कि दर असल 'क़ायम' साहब का नाम तो मुहम्मद क़ायम ही था मगर बाद में या तो खुद या अहबाब के कहने पर उन्हों ने अपने नाम में एक मानी ख़ेज़ तबदीली कर दी, क्यों कि मुहम्मद क़ायम के मुक़ाबले में मुहम्मद क़यामुद्दीन में मानवीयत (सार्थकता) ज़्यादा है और इस तरह नाम के बाद तख़ल्लुस (मुहम्मद क़ायम, 'क़ायम') का आना जो मुख़ल्ले फ़साहत था उस में भी ख़ूबी पैदा हो गई।

'राज़' चाँदपुरी का यह क़यास ही इस सूरत में सही मालूम होता है और इस से यह नाम का भेद दूर हो जाता है।

वंश

'क़ायम' ने अपने तज़करे 'मख़ज़ने-निकात' में अपने हाल में बाप, दादा, भाई या पुत्र आदि के नाम का उल्लेख नहीं किया। 'निगार' अगस्त सन १९२८ ई० में, जो एक विवेचनात्मक विस्तृत निबंध 'क़ायम चाँदपुरी' शीर्षक सईदी साहब का प्रकाशित हुआ है उस में वह लिखते हैं ('क़ायम' के) "वालिद का नाम किसी फ़ारसी या उर्दू के तज़करों मे नहीं मिला, अलबत्ता कुतुबख़ाने इंडिया ऑफ़िस की फ़हरिस्त में इन के वालिद का नाम 'अली' (?) दर्ज है" इंडिया ऑफ़िस की फ़हरिस्त में लिखित इस नाम के बारे में सईद

साहब ने अनुमान लगाया है कि मुमकिन है 'क़ायम' ने 'मख़ज़ने-निकात' में अपने वर्णन में पिता का नाम लिखा हो। सईदी साहब ने 'निगार' में जब सन् २८ में यह लेख लिखा था तब तक 'मख़ज़ने-निकात' छपा न था। वह सन् १९२९ ई० मे छपा है। उस में 'क़ायम' के पिता या पितामह के नाम का कहीं उल्लेख नहीं किया है। उन के बाप, दादा और पुत्र के नाम मुंशी मुहम्मद हुसेन साहब से ही मालूम हुए हैं। 'ज़माना' कानपुर में प्रकाशित उन के पत्र का उल्लेख पहले हो चुका है। उस मे 'क़ायम' के दादा का नाम मुहम्मद अकरम और बाप का नाम मुहम्मद हाशम तथा पुत्र का नाम मुहम्मद मुनइम बतलाया है। इस के अतिरिक्त मेरे पूछने पर इस सिलसिले में उन्हों ने कुछ नाम और यह बतलाए हैं—'क़ायम' की बीबी का नाम 'चाँद बीबी' था, मुहम्मद मुनइम के लड़के (यानी 'क़ायम' के पोते) फज़ले अली, उन के मेहरबान अली और मेहर-बान अली के मुंशी मुहम्मद हुसेन पेशकार। यह 'क़ायम' के बाद अब तक का यानी मुंशी मुहम्मद हुसेन साहब तक का नसब-नामा है। मुंशी मुहम्मद हुसेन 'क़ायम' की पाँचवीं पीढ़ी में हैं।

मुहम्मद 'मुनइम'

मुहम्मद 'मुनइम' क़ायम साहब के पुत्र थे। जैसा कि मुंशी मुहम्मद हुसेन और उन के दूसरे वंशज महदूद वाली शाखा के लोग भी कहते है। पर मीर हसन ने अपने 'तज़करे-शोअराए-उर्दू' में 'मुनइम' को 'मुनइम तख़ल्लुस' बिरादरे-बज़ुर्ग मियाँ मुहम्मद 'क़ायम' लिखा है। यानी 'मुनइम' क़ायम के बड़े भाई थे। मेरी दृष्टि जब मीर हसन के इस लेख पर पड़ी तो मैंने मुंशी मुहम्मद हुसेन साहब से लिख कर पूछा कि इस इख़्तलाफ़ का क्या सबब है? कौन सी बात ठीक मानी जाय? आप की या मीर हसन की? लड़के थे या भाई?

इस के जवाब में पेशकार साहब—(आप चाँदपुर में इसी नाम से मशहूर हैं)—ने लिखा, 'यह ग़लत है (यानी मीर हसन का भाई लिखना) 'मुनइम' भाई नहीं थे, बल्कि लड़के थे मैं तो खूब जानता हूँ'—(२५ ११ ३०)

ग़लती से लिख दिया है। इस के बाद मैं एक दिन 'क़ायम' का 'मख़ज़ने-निकात' पढ़ रहा था, उस में (१९ पृष्ठ पर) मुहम्मद शाकिर 'नाजी' के बयान में यह इबारत नज़र पड़ी—

बा बिरादरे फ़क़ीर कि 'मुनइम' तख़ल्लुस मी कर्द व शेरे फ़ारसी बिसियार बतलाश हाय नीकू मी गुफ़्त राबतए इत्तिहाद मरबूत दाश्त गाह गाह ब ग़रीब ख़ाना तशरीफ़ मी आवर्द। बंदा ख़ुद दरख़ुर्द साली ऊरा दो सेह बार दीदा अम···।

अर्थात् मेरे भाई जिन का उपनाम 'मुन्इम' है, और जो कि फ़ारसी के अच्छे शायर हैं, उन के साथ ('नाजी' की) मित्रता थी। कभी कभी मेरे मकान पर भी आते थे, मैं ने बचपन में उन्हें ('नाजी' को) दो तीन बार देखा है। इसे देख कर मीर हसन की बात ठीक मालूम हुई।

मैं ने पेशकार साहब से फिर दरयाफ़्त किया कि क्या बात है। मीर हसन से ग़लती हो सकती है पर यहाँ तो 'कायम' 'मुन्इम' को खुद भाई लिख रहे हैं, इस के समाधान में पेशकार साहब का यह उत्तर मिला—

मैं ने ख़ूब तहक़ीक़ कर लिया है, वाक़ई मुहम्मद 'मुन्इम' मुहम्मद 'क़ायम' के लड़के थे, 'क़ायम' के कोई भाई न था जिस को वह बिरादर लिखते। बल्कि यह लफ़्ज़ 'पिसर' (पुत्र) है ग़लती कातिब से बिरादर लिख दिया गया है। यानी यह यों हो जाता है—

बा पिसरे फ़क़ीर कि 'मुन्इम' तख़ल्लुस मी कर्द। बंदा ख़ुद दर ख़ुर्दसाली ऊरा दो सेह बार दीदा अम।

यानी शाकिर को ख़ुर्द साली में देखा है, जैसा लड़कों का रब्त लड़कों से, ऐसे वह भी 'क़ायम' के मकान पर उन के लड़के 'मुनइम' के पास आते होंगे, यही उन्हों ने लिखा है। बाक़ी सब ग़लत है, मीर हसन ने 'मख़ज़ने-निकात' की बुनियाद पर ग़लती की है। (मुहम्मद हुसेन चाँदपुरी, २३-१-२१)

कातिब (लेखक) की ग़लती भी कभी कभी बड़ा अनर्थ कर देती है, 'पिसर' پسر का 'बिरादर' برادر बना कर सिलसिला ही गड़बड़ कर देती है।

'मख़जने-निकात' जिस लिखित आदर्श कापी के आधार पर प्रकाशित हुआ है मालूम नहीं वह किसने और किस सन् में लिखी थी, वह 'क़ायम' के

वक़्त में लिखी गई थी या उन के बाद, इस का उल्लेख सुयोग्य सम्पादक ने अपनी विस्तृत भूमिका में कहीं नहीं किया। यह भी पता नहीं कि आदर्श की सिर्फ़ एक ही पुस्तक थी या कई ? कोई और कापी कहीं है भी या नहीं। ठीक निर्णय तो उसी दशा में संभव है जब 'मख़ज़ने-निकात' की कई प्राचीन लिखित प्रतियाँ प्राप्त हों। उन्हे मिला कर देखा जाय कि सभी कातिबों ने 'पिसर' को 'बिरादर' लिखने की ग़लती की है या किसी ने 'पिसर' भी लिखा है। जो कुछ हो, अब तो पेशकार साहब का जीवित कथन ही प्रमाण मानना चाहिए। उन के ख़ानदान में यही प्रसिद्ध है कि 'मुनइम' 'क़ायम' के लड़के थे, 'क़ायम' के कोई भाई था ही नहीं।

चाँदपुर में आज से बीस पचीस वर्ष पहले एक बूढ़े बुज़ुर्ग ज़िंदा थे जिन्हों ने अपने बचपन में 'मुनइम' को देखा था। उन का भी यही बयान बतलाते हैं कि 'मुनइम' 'क़ायम' के लड़के थे। इस से मानना पड़ता है कि 'मख़ज़ने-निकात' में कातिब की ग़लती से ही 'पिसर' का 'बिरादर' हो गया है।

'क़ायम' का काल

पुराने कवियों के काल का, जन्म-तिथि और निधन-समय का निर्णय अक्सर अटकल और अनुमान के आधार पर ही किया जाता है। प्राचीन कवियों ने अपने संबंध में स्वयं बहुत ही कम लिखा है। किसी पहले कवि की जन्म-तिथि का उल्लेख पिछले लेखक करे तो किस आधार पर करें ? क़यास से ही काम लेते हैं। उर्दू-फ़ारसी कवियों में पद्य के वाक्यांश द्वारा तिथि, 'माद्दए तारीख़' निकालने का रिवाज एक ख़ास बात है। उस से किसी ग्रंथ के निर्माण का समय या किसी के निधन की तिथि का पता चल जाता है। उर्दू-लेखक प्रायः अपने ग्रंथ का नाम छाँट कर ऐसा ही रखते हैं जिस से मालूम हो जाय कि ग्रंथ किस सन् में बना है। मौलाना शिबली का 'शेर उल् अजम' ऐसा ही नाम है, 'क़ायम' का 'मख़ज़ने-निकात' भी इसी ढंग का नाम है। 'क़ायम' के समकालीन ख़्वाजा अकरम ने 'क़ायम' के तज़करे की तारीफ़ में एक क़िता लिख कर 'क़ायम' के पास भेजा था, जिस के ' पद से सन् ११६८ हिज्री निक-

का नाम यही रख दिया। 'क़ायम' ने ख्वाजा अकरम के प्रसंग में पृष्ठ ६७ मे इस का उल्लेख किया है—

क़िता—

क़ायम रखे हमेशा खुदा तेरे नाम को,
करने से ज़िक्रे ख़ैर के है मूजिबे-निजात,
तारीख़ इस किताब की मै ने की जब तलाश,
पीरे ख़िरद ने मुझ से कहा, 'मख़ज़ने-निकात'।

इस से 'क़ायम' के एक ग्रंथ के जन्म का सन तो मालूम हो गया।[1] पर खुद 'क़ायम' के जन्म का सन् किसी को मालूम नहीं कि वह किस सन् में पैदा हुए, न किसी पुराने तज़करे मे लिखा है, न अब उन के वंशजों को ही याद है। मरने के सन मे भी विवाद है, किसी ने सन् १२०७, तो किसी ने १२०८ हिज्री और किसी ने १२१० हिज्री लिखा है। पर यह बीच वाला सन् १२०८ 'जुरअत' के एक शेर मे 'माद्दए-तारीख़' की सूरत में आया है, इसलिए यही सन् १२०८ हिज्री सही जान पड़ता है।

'जुरअत' ने कही य रोके तारीख़े वफ़ात, यकताई के साथ,
क़ायम बुनियादे शेरे-हिंदी न रही, क्या कहिये अब आह।

'जुरअत' के इस 'तारीखे वफ़ात' वाले शेर का भला हो, इस ने मृत्यु के सन् की समस्या हल कर दी। 'क़ायम' की मृत्यु सन् १२०८ हिज्री में हुई यह निश्चित हो गया। बाक़ी बातें जन्म-संवत्, आयु आदि सब पर काल का काला परदा पड़ा है। कालाय तस्मैनमः।

---

[1] सईदी साहब ने 'क़ायम' के दीवान की समाप्ति का समय इंडिया ऑफ़िस की पुस्तक सूची के आधार पर निर्णय किया है कि 'क़ायम' का दीवान सन् ११९३ हिज्री, (१७७९ ई०) में लिखा गया है। दीवान की समाप्ति पर यह शेर लिखा है—

हुआ है जिस सन् में यह नामा रक़म।
है बारह सौ हिज्री मियाँ सात कम॥—लेखक

अब तो न गुल् न गुल्सिताँ है याद,
उस के मुखड़े की हर ज़माँ है याद।
आह ऐ पीरे-चर्ख़ ! 'क़ायम' नाम,
याँ जो रहता था इक जवाँ, है याद ?

'क़ायम' जानते थे कि दुनिया कब किसी को याद रखती है सब को भूल जाती है। इसी से मानों बूढ़े आसमान से पूछ रहे हैं कि कभी कोई हमें पूछने लगे कि—'क़ायम' नाम याँ जो रहता था—इक जवाँ, है याद ?" तो मियाँ बूढ़े, क्या कहोगे ? याद रक्खोगे ? हमारा पता दे सकोगे ? पर यह कमबख़्त पीरे-चर्ख़ किसे याद रखता है। इस ने न जाने कितनों को अपनी चक्की में पीस कर उन का नामोनिशाँ मिटा डाला।

'क़ायम' के ग्रंथ

'क़ायम' की सिर्फ़ एक ही किताब अब तक प्रकाशित हुई है 'मख़ज़ने-निकात'। जिस में उर्दू के ११४ कवियों की कविता के नमूने और संक्षिप्त वृत्तांत दिए हैं। इसी में 'क़ायम' ने अपना भी ज़रा सा हाल लिखा है। ख़ुद अपनी कविता के नमूने तो बहुत ही मुख़्तसिर दिए हैं, दूसरे तज़करों में अलबत्ता ज्यादा नमूने मिलते हैं। 'मख़ज़ने-निकात' की भूमिका के परिशिष्ट में सब से अधिक संग्रह इन के चुने हुए पद्यों का है, पर वह भी इतना नहीं जिस से तृप्ति हो सके। 'क़ायम' का दीवान लखनऊ के एक प्रेस की खटाई मे कई वर्ष से पड़ा है। दीवान की एक हस्त-लिखित पुरानी प्रति जो मुंशी मुहम्मद हुसेन साहब पेशकार के पास थी, वह उन्हों ने 'अल्नाज़िर प्रेस' के मालिक मौलाना ज़फ़रुल्मुल्क को प्रकाशनार्थ दे दी थी। मौलाना साहब जेल में हैं और दीवान प्रेस में। तीन वर्ष पहले मैं ने लखनऊ में मौलाना साहब से मिल कर निवेदन किया था कि दीवान को प्रेस से जल्दी निकालिए, बहुत देर हो रही है। उन्हों ने उस के कुछ छपे हुए फार्म दिखला कर कहा कि 'छपना शुरू तो हो गया है, देर इसलिए हो रही है कि एक और कापी की तलाश है, वह मिल जाय तो सही हो कर छपे जो कापी

चला है वह मिल जाय तो उस से मिला कर किताब छापी जाय, मुझे खुद ख्याल है और शायकीन का तक़ाज़ा है। पेशकार साहब भी बार बार लिख रहे हैं, इंशा-अल्ला अब देर न होगी। आप इत्मीनान फ़रमाइये।' उस के बाद भी मैं ने कई बार मालूम किया, पेशकार साहब से भी लिखवाया, हर दफ़ा यही जवाब मिला कि 'अभी कुछ देर है, बस अनक़रीब, इंशाअल्ला'। देखिये इस 'अनक़रीब' की मियाद कब क़रीब आती है।

प्राचीन उर्दू कवियों की ओर उर्दू-साहित्य के विशेषज्ञों का और प्रेमियों का ध्यान कुछ दिनों से विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। उर्दू मासिक पत्र, कवियों के नाम पर स्मारक अंक निकालते हैं। उन के संबंध मे बड़े बड़े विद्वान् आलोचनात्मक निबंध लिखते हैं। काव्यों के सटीक संस्करण निकाल रहे हैं। कई कवियों के नामों पर क्लब खुल रहे हैं। जिन में व्याख्यानों और निबंधों द्वारा उन उन कवियों के काव्य की चर्चा और आलोचना की जाती है। प्राचीन महा कवियों की कीर्ति-रक्षा का यह उद्योग प्रशंसनीय है। साहित्य के लिये शुभलक्षण है। 'कायम' को अब तक साहित्य-संसार भूला हुआ था, सिर्फ तज़करों ही मे उन का नाम मिलता था। कुछ पद्य थे, जो उन्हीं तज़करों में उद्धृत थे। पर अब विद्वानों का ध्यान इस विस्मृत महाकवि की ओर गया है, अनेक प्रतिष्ठित पत्रों में 'क़ायम' पर विशेषज्ञ-विद्वानों के निबंध निकल चुके हैं और अभी यह सिलसिला जारी है।

निःसंदेह 'क़ायम' भाग्यशाली थे जो अपनी काव्य-कीर्ति के प्रकाश में आज भी विद्यमान दिखाई दे रहे हैं। 'कीर्तिर्यस्य स जीवति।' ईश्वर की कृपा से उन का वंश भी अभी प्रतिष्ठित है। उन के वर्तमान वंशजों मे कई सुशिक्षित और सहृदय सज्जन हैं। क्या ही अच्छा हो यदि उन की जन्म-भूमि चाँदपुर मे एक 'क़ायम-क्लब' क़ायम हो जाय, जो 'क़ायम' के ग्रंथों का प्रचार और प्रकाशन करे। 'क़ायम' पर अब तक पत्रों मे जो कुछ लिखा जा चुका है और आगे लिखा जाय, उस का संग्रह कर के छपावे। काम कुछ कठिन नहीं है, इस के लिये चंदा भी हो सकता है सदस्य भी मिल सकते हैं मै इस के लिये चाँदपुर के प्रतिष्ठित और साहित्य प्रेमी नागरिकों से और 'क़ायम' क [illegible] वालों

से अनुरोध करूँगा। बिजनौर का ज़िला उर्दू के अनेक सुप्रतिष्ठित विद्वान सुलेखकों और कवियों की जन्मभूमि होने का गौरव रखता है। स्वर्गीय शमसुल उल्मा डाक्टर नज़ीर अहमद, डाक्टर अब्दुलरहमान, एम० ए०, पी-एच्० डी०, मौलवी सज्जाद हैदर साहब, बी० ए० उर्दू-लेखकों मे शिरोमणि माने जाते है, और भी अनेक सुलेखक है, जो कोई कही, कोई कहीं, बिखरे पड़े हैं। बिजनौर ज़िले ने उच्च कोटि के उर्दू साहित्य की रचना मे प्रसिद्धि प्राप्त की है। इसलिए उर्दू के एक महाकवि के स्मारक रूप 'क़ायम-क्लब' की स्थापना मे ज़िले भर के साहित्य-सेवी सहयोग करेंगे इस की पूरी आशा है।

'क़ायम' के फुटकर काम

कवि का असली काम तो उस की कविता ही है। वही उस का जीवन-सर्वस्व है। कवि के जीवन में और जीवनी मे बाक़ी बाते तो यों ही 'बराए-बैत' भर्ती की होती हैं। कविता का रोग कवि को संसार के और किसी काम का छोड़ता ही नहीं, दूसरी ओर उस की चित्तवृत्ति जाती ही नहीं। कवि, कवि-रूप मे सांसारिक झंझटों से अलग रहने वाला एक ऋषि या मनन-शील मुनि होता है। इस कारण कवि के जीवन में सांसारिक व्यापार के चिह्न की खोज एक व्यर्थ व्यापार है। निःसंदेह कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं जिन्हों ने सांसारिक क्षेत्र में, राज-काज में भी बड़े बड़े काम किए हैं, यथा अमीर ख़ुसरो, ख़ानख़ाना, फ़ैज़ी और अबुल् फ़ज़्ल इत्यादि या वर्तमान समय में महाकवि 'अकबर'। पर ये व्यापक नियम का अपवाद हैं। इसी अपवाद का उदाहरण 'क़ायम' भी हैं।

'क़ायम' दिल्ली मे शाहआलम बादशाह के यहाँ शाही तोपख़ाने के दारोग़ा थे। 'क़ायम' के जीवन का अधिकांश दिल्ली में ही बीता। पढ़ लिख कर जब होश सम्हाला तो यह दिल्ली चले गए। बहुत समय तक वहीं रहे। उस समय बादशाही तो बूढ़ी हो चली थी, मरणोन्मुख थी, पर उर्दू कविता अपने पूरे यौवन पर थी। वह मीर तक़ी 'मीर', मिर्ज़ा 'सौदा', मीर 'दर्द' जैसे कविता युग-प्रवर्तकों का युग था। दिल्ली कवियों से भरी पडी थी। अमीर, ग़रीब, हिंदू-मुसल्मान सब कविता क रग में रँगे हुए थ कवि समाजों की धूम थी, जो कवि नहीं थे वह

का क़द्रदान था। उस समय के समाज का जो चित्र 'आज़ाद' आदि ने खींचा है वह इस समय अतिरंजित सा प्रतीत होता है। अवनति के दिनों में उन्नति-कालीन यथार्थ घटनाएँ भी कोरी कल्पना मालूम हुआ करती हैं। अस्तु।

उर्दू महाकवियों में ये तीन महाकवि 'मीर', 'सौदा' और 'दर्द' सर्व-सम्मत, सर्वश्रेष्ठ कवि माने गए है। इन की महत्ता के आगे सब ने सिर झुकाया है। 'क़ायम' को इन सब के सहवास, शिक्षा और शिष्यत्व तथा मित्रता से लाभान्वित होने का गौरव प्राप्त है। 'क़ायम' को, उस समय के कवि-समाज मे, अच्छी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। उन दिनों जो दिल्ली में थोड़े दिन भी रह आता था, वह ज़बाँ-दानी के लिहाज़ से भाषा-विज्ञान की दृष्टि से, आदरणीय समझा जाता था। 'क़ायम' तो होश सम्हालते ही दिल्ली जा पहुँचे थे और वहाँ के नागरिक बन गए थे। इसलिए दिल्ली वालों की तरह इन की भाषा भी टकसाली मानी जाती है। मीर हसन ने अपने तज़करे में इस बात की ओर इशारा किया है—

चूं अज़ इब्तिदाए जवानी दर शाहजहाँनाबाद आमदा बसर बुर्द बिनाबर आँ मुहावरए ओ दुरुस्त गश्त।

अर्थात् 'क़ायम' जवानी के शुरू में ही दिल्ली मे आकर रहने लगे थे। इसलिए इन का 'मुहावरा' दुरुस्त हो गया था। मुहावरे की दुरुस्ती उर्दू कवि के लिये एक महत्त्व-पूर्ण प्रमाणपत्र है। और यही वह बात है जिस ने उर्दू कवियो की भाषा को टकसाल से बाहर नहीं होने दिया। हिंदी-वाले भाषा के लिये कोई टकसाल ही नहीं मानते। सब अपनी अपनी जगह स्वयंसिद्ध 'अहले ज़बाँ,' आचार्य हैं, जो लिख दे वही मुहावरा है। इसलिए भाषा में वैसी चारुता नहीं आने पाती।

'क़ायम' ने दिल्ली में रह कर साहित्य-सेवा के साथ राज-सेवा भी की थी, मुद्दत तक शाही तोपख़ाने के दारोग़ा रहे।

बादशाह से बिगाड़

कवि स्वतंत्र स्वभाव और निरंकुश होते ही हैं, किसी तरह का और किसी का फिर चाहे वह अपने साथ हो या सर्व के, उन्हें

सह्य नहीं होता। ज़रा सी प्रतिकूल घटना पर बिगड़ उठते हैं, सब कुछ कह गुज़रते हैं। कहते हैं कि मनमौजी बादशाह ने तरंग में आकर आदमियों से भरी हुई एक किश्ती यमुना में यह तमाशा देखने के लिये डुबवाई कि किश्ती डूबने के समय का दृश्य कैसा 'सुहावना' होता है! इस से प्रजा में असंतोष की आग भड़क उठी। निर्बल प्रजा क्या करती, रो पीट कर बैठ रही। पर इस दुर्घटना पर 'क़ायम' से चुप न रहा गया, इन्हों ने अपनी कविता के तोपख़ाने से हिजो का गोला दाग ही दिया—

कैसा य शाह ज़ुल्म पर जिस की निगाह है,
हाथों से इस के एक जहाँ दाद ख़्वाह है,
अहमक़ तो और भी हैं पर यह बादशाह है।

यानी अहमकों का बादशाह है।[1]

किसी तरह जान बचा कर 'क़ायम' दिल्ली से भाग निकले पर उन की जायदाद ज़ब्त कर ली गई। दिल्ली छोड़ने का 'क़ायम' को बड़ा दुःख हुआ। इस का वर्णन उन्हों ने 'मख़ज़ने-निकात' में भी किया है। पर उस में उक्त दुर्घटना की ओर संकेत नहीं, बल्कि दिल्ली की, मुग़लिया सल्तनत की तबाही की वजह से दिल्ली छोड़ने को विवश होना पड़ा, यह लिखा है। 'क़ायम' ने किसी नवाब से भी दुःख पाया था, जिस का पता इस रुबाई से चलता है—

'क़ायम' जो तू नव्वाब से दुख पाया है,
कह भड़वे को जो ज़बान पर आया है।
सुरमा नहीं खाया कि रहूँगा ख़ामोश,
खाया है तू तो नमक खाया है॥

मुमकिन है वह शाह और यह नवाब एक ही व्यक्ति हों।

---

[1] किश्ती वाली इस घटना का उल्लेख किसी तज़करे में तो नहीं देखा गया, मुंशी अहमद हुसेन साहब पेशकार की ज़बानी सुना है 'हिजो की कविता का यह अंश भी उन्हों ने ही सुनाया था पूरी कविता मिले तो इस घटना पर प्रकाश व पड़

टाँडे के नवाब के यहाँ

टाँडे के नवाब मुहम्मद यार खाँ 'अमीर' जो तत्कालीन नवाब रामपुर के भाई थे, कवियों के क़द्रदान और कविता के प्रेमी थे। उन्हें जब कविता सीखने का शौक हुआ तो उस्तादी के लिए मिर्ज़ा 'सौदा' और मीर 'सोज़' को अपने यहाँ बुलाना चाहा। पर ये दोनों कवि उस समय नवाब मेहरबान खाँ 'रिंद' के दरबार में थे, इसलिए न आ सके। नवाब साहब की नज़र 'क़ायम' पर पड़ी। 'कायम' दिल्ली छोड़ चुके थे, नवाब के बुलाने पर टाँडे चले गए। सौ रुपये माहवार वृत्ति नियत हुई। नवाब के उस्ताद हो गए। उन की गजलें बनाते और कविता सिखाने लगे। यह नया आश्रय पाकर 'क़ायम' संतुष्ट हुए, कहते हैं—

> जो 'क़ायम' ख़ूबिये को नैन है क़स्द।
> तो ख़िदमत कर मुहम्मद यार ख़ाँ की॥

नवाब के दरबार में उन दिनों और भी बहुत से प्रसिद्ध कवि मौजूद थे। 'फ़िद्वी' लाहौरी, परवाना अलीशाह 'परवाना' मुरादाबादी, मीर मुहम्मद नईम 'नईम' मसहफ़ी, जैसे शायरों से दरबार भरा था। इसी पर ख़ुश होकर 'क़ायम' ने कहा है—

> तुझ को 'क़ायम' रखे अल्लाह बहुत सा ऐ 'अमीर'।
> मुजतमा साये में हैं जिस के सुखन दाँ ऐसे॥

टाँडे के यह नवाब जब मरहठा-गर्दी से तंग आकर टाँडे से रामपुर अपने भाई के पास चले गए तो 'क़ायम' भी इन के साथ रामपुर पहुँचे। वहाँ नवाब अहमद यार खाँ ने इन की कुछ तनख्वाह मुकर्रर कर दी। पर टाँडे में जो आराम था वह रामपुर में न मिला। वहाँ की तनख्वाह में इन का गुज़ारा न हुआ। जब अर्थ-कष्ट ने अधिक सताया तो लखनऊ पहुँचे और महाराजा टिकैतराय से अपने वतन के हाकिम के नाम अपनी ज़ब्तशुदा मिलक फिर बहाल कराने के लिये परवाना प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस में सफलता मिली मिलक वापस करने का महाराजा टिकैतराय से मिल गया इस

यात्रा से लौट कर रामपुर पहुँचे ही थे कि महायात्रा के लिये प्रस्थान कर दिया। सब से बड़े दरबार के दरबारी बनने को चल दिए। वतन में न पहुँच सके। अंत काल में जन्मभूमि की गोद में सोना नसीब न हो सका। भाग्य से रामपुर की मिट्टी में मिलना लिखा था।

न मरने देते हम 'क़ायम' को, लेकिन।
ख़ुदावंदी से कुछ चारा नहीं है॥

शिष्य समुदाय

'क़ायम' के बहुत से शिष्य कवि थे, जिन में से दस का उल्लेख सईदी साहब ने अपने लेख में किया है। एक तो वही टाँडवाले नवाब मुहम्मद यार ख़ाँ 'अमीर', जिन की चर्चा ऊपर आ चुकी है।

(२) अब्बास ख़ाँ, 'अब्बास'।
(३) परवाना अली 'परवाना', मुरादाबादी।
(४) क़ुदरतुल्ला '.क़ुदरत', रामपुरी।
(५) गिरधारीलाल 'तर्ज़', देहलवी।
(६) बिहारीमल, देहलवी।
(७) संतोषराय 'बेताब', देहलवी या चाँदपुरी।
(८) शाहमुहम्मदी 'सायल', देहलवी।
(९) अब्दुलहादी 'हादी', देहलवी।
(१०) कमालुद्दीन हुसेन 'कमाल', कड़ा-मानकपुरी।

किसी ने उल्लिखित कवियों के अतिरिक्त क़ुदरतुल्ला 'शौक़' को भी 'क़ायम' का शागिर्द लिखा है। 'क़ायम' ने अपने तज़करे में लाला ख़ुशवक़्त राय 'शादाब', चाँदपुरी को भी अपना शिष्य बताया है। पहले यह गद्य-लेखक थे। 'क़ायम' के मशवरे से बाद में पद्य भी लिखने लगे थे। 'क़ायम' ने इन के सौजन्य और शील को भी सराहा है।

स्वभाव

मीर तक़ी 'मीर' ने अपने तज़करे में क़ायम के स्वभाव

जवानेस्त खीरा व तीरा व हुस्न परस्त ।

अर्थात् उद्दंड, उग्र और सौंदर्योपासक एक जवान ।

एक जवान कवि का ऐसा होना कोई अनहोनी बात नहीं । उस युग के प्राय: प्रत्येक कवि में ये बातें पाई जाती हैं । पर सईदी साहब ने अपने लेख में इन के स्वभाव की बहुत प्रशंसा की है । लिखा है—

" 'क़ायम' निहायत मुतवाज़ा और ख़लीक़ व वज़ादार थे । तबीयत में सोज़ो गुदाज़ था । अपने ख़सायल पाकीज़ा की वजह से लोगों को गरवीदा कर लिया । ख़ुश-नगोई की वजह से वह क़द्रो मंज़िलत व शोहरत हासिल कर ली कि उस्तादाने वक़्त के हमसर ख़याल किये जाने लगे । मआश की बेफ़िक्री ने मश्क़ेसुख़न का अच्छा मौक़ा दिया । दिल्ली में जो मुशायरे होते थे इन में शिरकत करते थे । 'सौदा' 'दर्द' और 'मीर' से अच्छे ताल्लुक़ात थे । इन के यहाँ आते जाते रहते थे ।"

'मीर' साहब और जनाब सईदी के स्वभाव-चित्रण में कुछ विरोध प्रतीत होता है, पर वह ऐसा नहीं जिस का समन्वय न हो सके ।

'मीर' साहब ने केवल कवि के रूप में 'क़ायम' का वर्णन किया है और सईदी साहब ने कवि और संसारी 'क़ायम' के व्यवहार का उल्लेख किया है ।

'क़ायम' के वतन के लोग तो परंपरा से सुने हुए 'क़ायम' के अनेक सद्‌गुणों की अब तक प्रशंसा ही करते हैं ।

जवानी के दिनों में, दिल्ली के क़याम' में, वहाँ की उस वक़्त की सोसाइटी के असर में आ कर संभव है 'क़ायम' कुछ दिनों के लिये वैसे भी हो गए हो, जैसा 'मीर' साहब ने लिखा है । पर सईदी साहब ने तो 'ख़ीरगी', 'तीरगी' व 'हुस्न परस्ती' के लिहाज़ से उस वक़्त के सब कवियों को जिन में 'मीर' साहब क़िबला भी शामिल हैं, समानशील ही सिद्ध किया है । अपने कथन की पुष्टि में 'शेर उल् हिंद' का हवाला भी दिया है । कहा है—"उस वक़्त यह रविश (हुस्न-परस्ती) आम थी और उस ज़माने की आबहवा ही कुछ ऐसी थी ।" इस के आगे उस वक़्त के दो एक प्रसिद्ध कवियों के बारे में कुछ ऐसी बातें सईदी साहब ने लिखी हैं जिन का यहाँ न लिखना ही अच्छा है । 'क़ायम' में कुछ दोष भी हो सकते हैं, पर कुल मिला कर 'कायम' अपने कवियों में स्वभाव

और आचार व्यवहार की दृष्टि से अच्छे ही थे। जो कुछ हो, 'क़ायम' स्वतंत्र प्रकृति के मनस्वी मनुष्य थे। वह किसी से दब कर चलने वाले न थे। यह उन के जीवन की घटनाओं से और इन पद्यों से पता चलता है—

वज़ा दौरॉ गर ,ख़ुशामद दोस्त है 'क़ायम' तो हो।
हरकसो नाकस से दब चलना हमारी ख़ु नहीं॥
क्या पशम हैं दुनिया के यह सब अहले-नईम।
बेक़द्र करें हम को जो दे कर ज़रो सीम॥
मस्जिद में ख़ुदा को भी न कीजे सिज्दा।
महराब जो ख़म न हो बराये ताज़ीम॥

'क़ायम' के कलाम का नमूना

'क़ायम' के काव्य पर व्यापक और तुलनात्मक दृष्टि से तो तभी विचार किया जा सकेगा जब उन का दीवान छप कर सामने आएगा। तजकरों मे 'क़ायम' के कलाम के जो अवतरण मिलते है, उन में से बानगी के तौर पर दस पाँच पद्यों का अन्य कवियो की समानार्थक सूक्तियों के साथ लेख की समाप्ति पर उद्धृत करना उचित प्रतीत होता है।

१—हरगिज़ नहीं मक़दूर तेरी हम्द ज़बाँ का।
बुरहान है दावे की मेरे, इज्ज़ बयाँ का॥

तेरी हम्द अर्थात् स्तुति वाणी की शक्ति से परे है, मेरे इस दावे की दलील यही है कि वर्णन-शक्ति इस मे कुंठित है। कवि सब कुछ कहने में समर्थ है पर ईश्वर की विभूति का यथार्थ वर्णन वह भी नहीं कर सकता। वाणी और मन की शक्ति की वहाँ गति ही नहीं—"यत्र वाचो निवर्तते अप्राप्य मनसा सह।" अमीर 'ख़ुसरो' ने कहा है—

सुख़न आँ जा कि अज़ ख़ुदा दानीस्त।
लाफ़े दानिश

मक़दूर नहीं उस की तजल्ली के बयाँ का।
जूँ शमा-सरापा हो अगर सर्फ़ ज़बाँ का॥
('सौदा')

उस की ज्योति का निरूपण असंभव है, चाहे शमा की तरह सारी ज़बान ख़र्च कर दी जाय।

मक़दूर हमें कब तेरे वस्फ़ों के रक़म का।
हक़्क़ा कि ख़ुदावंद है तू लौहो क़लम का॥
('दर्द')

तेरे गुणों के लिखने की शक्ति हमे कहाँ है? क़लम और काग़ज़ का भी तो तू ही मालिक है।

२—जल्वा हर रंग में है, उस बुते-हरजाई का।
य परेशाँ नज़री जुर्म है बीनाई का॥

हर रंग में उसी की ज्योति का चमत्कार है, भेद भावना, दृष्टि का दोष है।

३—जब तक कि है तू हम हैं तेरे साथ हमेशा।
जूँ मौज कि नित लाज़मा है आबे-रवाँ का॥

जब तक कि तू है हम भी सदा तेरे साथ हैं, अनादि संबंध है। जब तक जल का प्रवाह है पानी की लहर भी मौजूद है, जल और तरंग का साथ है।

४—ऐ इश्क़! मेरे दोश पर तू बोझ रख अपना।
हर सर मुतहम्मिल नहीं इस बारे-गराँ का॥

ऐ प्रेम तू अपना बोझ मेरे कंधों पर रख, हर एक सिर इस भारी भार को नहीं सम्हाल सकता।

'क़ायम' के ऊपर के शेर में जो भाव है, वह 'हाफ़िज़' के इस पद्य की छाया है। 'हाफ़िज़' ने कहा है—

आसमाँ बारे-अमानत नतवानस्त कशीद।
क़ुरए-फ़ाल बनामे-मने-दीवाना ज़दंद॥

आसमान 'अमानत' के बोझ को न उठा सका इसलिए उस के उठाने का पाँसा मेरे नाम पर पड़ा।

सूफ़ियों की परिभाषा में 'अमानत' का मतलब 'इश्क़े हक़ीक़ी' है, जो मनुष्य के सिवा किसी प्राणी को प्राप्त नहीं। मनुष्य ही ईश्वर के ज्ञान और भक्ति का अधिकारी है।

क़ुरान मे आया है कि—

हम ने (ईश्वर ने) अपनी 'अमानत' को आसमान और ज़मीन पर पेश किया, सब ने इन्कार किया और डर गए, लेकिन आदमी ने इस बार (भार) को उठा लिया।

अर्थात् ईश्वर के प्रेम और भक्ति का अधिकारी मनुष्य ही है।

५—उठ जाय गर य बीच से पर्दा हिजाब का।
दरिया ही फिर तो नाम है हर एक हुबाब का॥

वेदांत का उपदेश है, माया का पर्दा बीच से उठ जाय तो फिर वही वह है। हवा ने पानी में गाँठ लगा दी, बुलबुला बन गया। 'तमाशा है हवा ने इक गिरह दे दी है पानी में।' गाँठ खुल गई, बुलबुला मिट गया, पानी रह गया।

दरिया ही फिर तो नाम है हर एक हुबाब का।

इसी भाव को 'आतिश' ने प्रकारांतर से प्रकट किया है—

हुबाब आसा मैं दम भरता हूँ तेरी आशनाई का।
निहायत ग़म है इस क़तरे को दरिया की जुदाई का॥

ईश्वर दरिया है, जीव हुबाब—बुलबुला है, उसी में है, वही है, पर अपने को जुदा समझ कर दुःख उठा रहा है, ग़म खा रहा है।

६—क्यों छोड़ते हो दुर्द तए-जाम मैकशो!
ज़र्रा है यह भी आख़िर उसी आफ़ताब का॥

'दुर्द तए-जाम' का अर्थ है प्याले की तलछट।

७—होते तेरे महाल है हम दरमियाँ न हों।
जब तक वजूदे-शख़्स है साया न जायगा।

जब तक बिंब है प्रतिबिंब भी रहेगा शरीर के साथ ... भी रहेगी

कहता है आईना कि है तुझसा ही एक और।
बावर नहीं तो ला मैं तेरे रूबरू करूँ॥

८—उस से ले हस्ती तक अपनी तफ़रक़ा यक मू नहीं।
नुक़्ता वो ख़त दो हैं जव्वाले में लेकिन दो नहीं॥

ईश्वर में और मनुष्य की सत्ता में बाल बराबर भी भेद नहीं, दोनों एक ही हैं। जव्वाला—अलातचक्र में रेखा और बिंदु यद्यपि पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं, पर दो नहीं हैं, दृष्टि के भ्रम से दो दिखाई देते हैं।

९—जुज़ वो कुल के फ़र्क़ पर मत जा टुक इक आतिश को देख।
है जो तूदे में वही ज़र्रा सी चिनगारी में है॥

जो जुज़ में है वही कुल मे है, जो व्यष्टि में है वही समष्टि में है। आग को देखो तो यह बात समझ में आ जाय। जो अग्नि तत्त्व आग के ढेर में है वही ज़रा सी चिनगारी में भी है।

१०—वही मानी हैं, गो धोका है, सूरत के अज़ाले का।
अगर ज़ाला हो पानी से, वगर पानी हो ज़ाले का॥

पदार्थ एक ही है, सूरत बदलने से धोका हो जाता है, आकृति-भेद से पदार्थ-भेद या उस का विनाश नहीं हो जाता। चाहे पानी जम कर ओला बन जाय या ओला पिघल कर पानी हो जाय, है हर हालत में पानी ही, चाहे पानी का बरफ़ कहो, या बरफ़ का पानी चीज़ एक ही है।

११—खोली थी चश्म दीद को तेरे पै जूं हुबाब।
अपने तईं मैं आप न आया नज़र कहीं॥

ईश्वर का साक्षात्कार मनुष्य की सत्ता को मिटा देता है, उसे ईश्वर मे लीन कर देता है। 'ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति'। बुलबुला तभी तक है जब तक बंद है, जहाँ आँख खोली और ग़ायब हुआ! बुलबुले का आकार बंद आँख जैसा होता है, बड़ा ही अनुरूप दृष्टान्त है।

१२—क्या सागरे हलाहले क्या जामे आबे-ख़िज़्र।
आजाय बज़्मे-दोस्त में जो कुछ सो पीजिए॥

१३—कशाकश मौज से करना कोई मकदूर है ख़सका।
मैं और तेरी रज़ा, प्यारे जिधर चाहे उधर ले जा॥

१४—वाक़िफ़ नहीं हम कि क्या है बेहतर।
जुज़ य कि तेरी रज़ा है बेहतर॥
देता है वही तबीबे-हाज़िक़।
बीमार को जो दवा है बेहतर॥

इन तीनों शेरों में ईश्वरावलंबन या प्रभुपरायणता की शिक्षा दी गई है।

मित्र गोष्ठी में जो कुछ मिल जाय, चाहिए कि आँख मीच कर पी जाय, चाहे हलाहल का प्याला हो या अमृत का कटोरा।

तिनके की क्या शक्ति है कि पानी के बहाव का मुकाबला कर सके! उसे नम्रता से यही कहना चाहिए 'मैं और तेरी रज़ा प्यारे जिधर चाहे उधर ले जा'।

ख़सनमत् साथ मौज के लगले।
बहते बहते कहीं तो जायेगा॥
('क़ायम')

ख़सनमत् अर्थात् तिनके की तरह।

मनुष्य नहीं समझ सकता कि उस की भलाई किस बात में है, जो ईश्वर की इच्छा हो वही भली है। समझे कि ईश्वर सुख या दुख जो देता है उसी में भलाई है, वैद्य वही दवाई देता है जो बीमार को हितकर होती है।

१५—इस को न रास्त कह तू न उस को बता ग़लत।
क्या जाने क्या सही है वाक़े में क्या ग़लत॥

मनुष्य का ज्ञान भ्रमात्मक है; यही कारण है कि एक वस्तु को कोई कुछ कहता है कोई कुछ मनुष्य को जिज्ञासु भाव से विचार करना चाहिए, हठ-वादिता का ढोल न पीटना चाहिए. कि जो मैं समझा हूँ और कहता हूँ वही ठीक

जब आदमी की अंदर की आँखें खुल जाती हैं, भीतरी ज्ञान हो जाता है तो उस का जी इन बाहर की किताबों मे नहीं लगता, इन्हें व्यर्थ समझ कर छोड़ देता है, और तत्व-ज्ञानी मुंशी सूर्यनारायण साहब मिहर की तरह किताब के कीड़ों को डाँट कर कहता है—

ज़िन्दा किताब दिल है, बाक़ी कुतुब हैं मुर्दा।
तुम क्या चबा रहे हो, बोसीदा उस्तख़्वाँ हैं॥

१७—तने आसूदा को कम लेते हैं बाज़ारे-मुहब्बत मे।
जो हाँ चाहे तो टूटा दिल कोई या चश्मेतर ले जा॥

प्रेम की हाट में मोटे ताज़े 'वृथा पुष्ट' सुखी की पूछ नहीं, वहाँ तो टूटे हुए दिल और आँसुओं से भीगी आँख ही पसंद की जाती है। तत्व-ज्ञानी प्रेमी की दृष्टि में रोने का महत्त्व कितना है—चश्मेतर कितनी क़ीमती चीज़ है, यह कोई 'मीर' से पूछे। फ़र्माते हैं—

मुख़्तार हँसने रोने पै तुझ को अगर करें।
तू अख़्तियार गिरियए-बे अख़्त्यार कर॥

यानी अगर तुझे हँसने और रोने में एक चीज़ माँगने को कहा जाय, तेरी मर्ज़ी पर छोड़ा जाय कि दोनों में से चाहे जो पसंद कर ले, तो तू 'गिरियए-बे अख़्त्यार' ही को अख़्त्यार कर, दिल का मैल धोने को यही चश्मा दरकार है। हँसना तो ना-आक़बत-बीनी की दलील है, परिणामदर्शी हँसता नहीं। या चुप रहता है या रोता है, जो हँसते है उन्हे भी आखिर में रोना ही पड़ता है—

रोही कर उट्ठे हैं इस बज़्म से हँसने वाले।

'अकबर' ने इस फ़िलसफ़े को खूब समझाया है।

आक़बतबीं है बशर से य सिवा।
जानवर को हँसी नहीं आती॥

१८—कुछ तुरफ़ा मरज़ है ज़िंदगी भी।
इस से जो कोई जिया सो मर कर॥

ज़िंदगी के रोग से छुटकारे की सूरत मौत ही है, ज्ञान-द्वारा सांसारिक

जीवन की समाप्ति पर ही शाश्वत जीवन मिलता है। 'सौदा' ने भी इसी बात को निराले ढंग से कहा है—

समझे अगर तू इतना, य ज़िंदगी मरज़ है।
हो दर्द जिस तरह का, फिर वह तुझे दवा है॥

मौत सांसारिक जीवन से थके हुए प्राणी को आगे चलने के लिये दूसरा जीवन प्रारंभ करने के लिये—सुस्ताने—दम लेने—की जगह है, इस बात को 'मीर' ने कैसी सादगी और सचाई से कहा है—

मर्ग इस माँदगी का वक़्फ़ा है।
यानी आगे चलेंगे दम लेकर॥

१९—क़िस्मत को देख टूटी है जाकर कहाँ क़मंद।
कुछ दूर अपने हाथ से जब बाम रह गया॥

'कायम' का यह शेर इतना प्रसिद्ध है कि 'लोकोक्ति' बन गया है।

सांसारिक जीवन की असफलता के किसी प्रसंग में हर किसी को कभी न कभी क़िस्मत की नारसाई का यह रोना रोना ही पड़ता है, इस शेर को दोहराना ही पड़ता है।

२०—बहुत सा ग़ौर को मत दख़्ल दे नुसख़े में आलम के।
कि हासिल दूर है नज़रों से तेरी इस रिसाले का॥

प्रकृति अनिर्वचनीय है, प्रकृति की पुस्तक के तात्पर्य तक मनुष्य की दृष्टि नहीं पहुँचती, वह अज्ञेय है।

२१—झगड़े में हम मबादी के याँ तक फँसे कि आह।
मक़सूद था जो अपने तईं काम रह गया॥

मनुष्य बाह्य प्रपंच में—ऊपर के झगड़ों मे—फँस कर जीवन के उद्देश्य, ईश्वर की प्राप्ति से वंचित रह जाता है।

२२—फ़लक जो दे तो खुदाई को ले है अब 'क़ायम'।
वह दिन गए कि इरादा था बादशाही का॥

तत्त्व ज्ञानी को सांसारिक प्रलोभन नहीं लुभा सकते, वह संसार के

२३—नै वादा उस के साथ न पैग़ाम क्या कहूँ ।
पूछे कोई सबब जो मेरे इंतज़ार का ?

आदमी कभी कभी किसी ऐसी चीज़ से लौ लगा कर बैठ जाता है, जिस के मिलने की संभावना तक नहीं होती, जब होश आता है तो अपनी दशा पर यही कहता है, जो 'क़ायम' ने ऊपर के शेर मे कहा है।

२४—नालों से अंदलीब के आया है जी ब तंग ।
किस ने मेरे मज़ार पर आकर चढ़ाए गुल ॥

समवेदनाशील सहृदय मनुष्य किसी को दुःख पहुँचा कर आप सुखी होना नहीं चाहता। अपने प्यारे फूलों को मज़ार पर चढ़ा देख बुलबुल रोने लगी, सुन कर प्रेमी हृदय व्याकुल हो कह उठा—

किस ने मेरे मज़ार पर आकर चढ़ाए गुल ।

फूल क्या तोड़ बुलबुल बेचारी का दिल ही तोड़ कर रख दिया !

मुंशी लछमी नरायन 'शफ़ीक़' ('चमनिस्ताने शोअरा' के लेखक) ने इसी भाव को यों चमकाया है—

मत कोई रोशन करो तुरबत पै मजनूँ की चिराग़ ।
रूह जल जावेगी दीवाने की परवाने के साथ ॥

प्रेमी के हृदय की पीड़ा को प्रेमी-हृदय ही जानता है, परवाना और दीवाना मजनूँ, दोनों ही प्रेमी है, अपने सहधर्मी प्रेमी परवाने को जलता देख कर दीवाने मजनूँ की रूह से न रहा जायगा, वह भी जल मरेगी ! इसलिए मजनूँ की तुरबत पर चिराग़ न जलाओ।

२५—हँसने का यार यह भी कोई तौर है कि आज ।
'क़ायम' ने तेरे हाथ से घबरा के रो दिया ॥

ऐसी हँसी जिस से तंग आकर दूसरा रो दे हँसी नही अत्याचार है।

२६—भरती आती हैं 'क़ायम' पै ब पै आँसू से ।
कहे तू चश्म को मेरी कि हैं य रहट की घड़ियाँ ॥

२७—ज़ालिम तू मेरी सादा दिली पर तो रहम कर ।
रूठा था तुझ से आप ही और आप ही मन गया ॥

इस शेर की 'ग़ालिब' ने भी दाद दी है, सचमुच सादा दिली की क़ाबिल रहम हालत का नक़्शा है।

२८—बहका फिरूँ हूँ यॉ मे अकेला हर एक सिम्त।
ऐ हमरहान पेशक़दम! तुम किधर गए॥

साथियों से छूट कर भटकते हुए एकाकी वियुक्त जन की क्या ही करुणा-जनक उक्ति है! सुन कर दिल पर चोट सी लगती है।

'सौदा' ने भी यही बात कही है—

किधर को छोड़ गए मुझ को हमरहाँ तनहा।
फिरूँ हूँ दश्त मे ज्यों गर्द-कारवाँ तनहा॥

२९—काबा अगर्चे टूटा तो क्या जाय ग़म है शेख़।
कुछ कस्रे-दिल नहीं कि बनाया न जायगा॥

कस्रे-दिल अर्थात् हृदय-मंदिर।

'क़ायम' का यह शेर बहुत मशहूर है। सब तज़करों मे यह 'क़ायम' ही के नाम से लिखा मिलता है। पर 'आज़ाद' ने 'आबेहयात' में इसे 'सौदा' का कहा है, और इस का मुक़ाबला 'मीर' के इस शेर से किया है।

मत रंज कर किसी को कि अपने तो एतक़ाद।
दिल ढाय कर जो काबा बनाया तो क्या किया?

दोनों के भाव एक हैं, कहने का ढंग जुदा है। बड़ी सुंदर शिक्षा है। दीन-दार लोग इस के महत्त्व को समझें तो धर्म के नाम पर यह उपद्रव कभी न हों, मस्जिद और बाजा जैसे सवाल ही न उठें। किसी का दिल दुखाना धार्मिकता नहीं है।

'क़ायम' ने क्या ख़ूब कहा है—

३०—सिवाय दिल शिकनी सब मुबाह है यॉ शेख़।
ख़बर नहीं तुझे रिंदों के दीनो मज़हब की॥

क़िता—

३१—अंदाज़ा निगाह रख सुख़न में,
यानी जो कहे है नेक कह तू

दो गोश तेरे हैं और ज़बाँ एक,
ता दो न सुने न एक कह तू॥

'ज़ौक़' ने इसी भाव को इन दो शेरों में कहा है—

हक़ ने तुझ को इक ज़बाँ दी और दिए हैं कान दो।
इस के ये मानी, कहे इक और सुने इन्सान दो॥
कहे एक जब सुन ले इन्सान दो।
कि हक़ ने जबाँ एक दी कान दो॥

३२—दुनिया में हम रहे तो कई दिन पै इस तरह।
दुश्मन के घर में जैसे कोई मेहमाँ रहे॥

दुःख-ग्रस्त सांसारिक जीवन की असह्यता के लिये क्या अच्छा दृष्टांत देया है—'दुश्मन के घर में जैसे कोई मेहमाँ रहे।'

एक और, और बस—

३३—मजलिसे-वाज़ तो तादेर रहेगी 'क़ायम'।
य है मैख़ाना अभी पी के चले आते हैं॥

'क़ायम' का यह शेर मौलाना 'आज़ाद' को बहुत पसंद था। इसे उन्हों ने कई जगह उद्धृत किया है और दाद दी है, पर ताज्जुब है 'क़ायम' के कलाम के इंतख़ाब में इस पर किसी तज़करा-नवीस की नज़र नहीं पड़ी। इसे प्रकाश में लाने का श्रेय 'आज़ाद' ही को है, उन के बाद मौलाना 'शिबली' ने 'शेरउल्-अजम' में नक़ल किया है। यह 'हाफ़िज़' के एक शेर का तर्जुमा है, पर है ला-जवाब। 'क़ायम' के तख़ल्लुस ने इस पर अपना क़ब्ज़ा कर लिया है, मज़मून के असली मालिक—'हाफ़िज़'—को बे-दख़ल कर दिया है। 'हाफ़िज़' का शेर है—

गर ज़े मस्जिद ब ख़राबात रवम् ऐब मगीर।
मजलिसे-वाज़ दराज़स्तो ज़माँ ख़्वाहदशुद॥

मुझे तो 'क़ायम' का यह शेर इसलिए भी पसंद है कि इसी ने सब से पहले मेरा ध्यान 'क़ायम' की कविता की ओर आकृष्ट किया था

इस लेख को लिखने में जिन के उपजीव्य लेखों से सहायता ली गई है उन सब का कृतज्ञ हूँ, खास कर मुंशी मुहम्मद हुसेन साहब पेशकार और उन के भतीजे मुंशी शाहिद हुसेन विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। उन से बहुमूल्य सहायता मिली है।

ध्वनिविज्ञान में प्रयोग

[लेखक—श्रीयुत बाबूराम सक्सेना, एम्० ए०]

भाषा वाक्यों का समूह है। वाक्य का विश्लेषण करने से शब्दों का अलग अलग अस्तित्व प्रकट होता है। और शब्द ध्वनियों का समूह है। मनुष्य बोलते समय प्रत्येक शब्द अलग अलग नहीं बोलता—वह तो वाक्य बोल कर अपना अभिप्राय प्रकट करता है। इसीलिए यदि किसी बिना पढ़े लिखे मनुष्य से कहा जाए कि अपने बोले हुए वाक्य के टुकड़े करो तो तुरंत प्रकट हो जाएगा कि जिन को हम शब्द कहते हैं उन के अस्तित्व का उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। इस से विदित है कि मनुष्य को केवल वाक्य और ध्वनि-समूह का ज्ञान रहता है। वाक्य के अंशों का (अर्थात् शब्दों का) ज्ञान व्याकरण पढ़ने से प्राप्त होता है। बोलते समय अनजान में ही हमारे शब्दों की ध्वनियों में हेर फेर हो जाता है। उदाहरण के लिए 'एक गिर गया' यह वाक्य ले लीजिए। इस के तीनों शब्द लिखने में अलग अलग हैं, परंतु बोलने में इस की ध्वनियाँ इस प्रकार निकलती हैं—'एग्गिरगेया'। इन में से 'ए' और 'ि =इ' के बीच में दो 'ग् ग्' आती दिखाई पड़ती हैं किंतु वास्तव में केवल एक ध्वनि 'ग्' है। अंतर केवल इतना है कि साधारण ग् (अर्थात् एक ग्) के बोलने में समय की जितनी मात्रा लगती है उस से अधिक मात्रा इस 'ग् ग्' में लगती है किंतु 'ग्' की दूनी कदापि नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार हम अपनी ध्वनियों को लिखने की कला से अंकित करते हैं वह ढंग ठीक ठीक जिस प्रकार हम बोलते हैं उस का परिचय नहीं कराता। इसलिए यदि हम को अपनी ध्वनियों का समुचित ज्ञान प्राप्त करना है तो सम्प्रदाय-प्राप्त लेखन कला से ही संतुष्ट न रह कर ध्वनियों का ठीक स्वरूप क्या है, एक ध्वनि के और ध्वनियों के समीप रहने से क्या क्या परिवर्तन हो जाते हैं और क्या क्या समय हैं यह बातें जानने का उद्योग करना

ध्वनियाँ भाषा की अंग हैं; इस कारण ध्वनि-विज्ञान भाषा-विज्ञान का अंग मात्र है। इस के अध्ययन में पिछले पचास साठ वर्ष में बहुत उन्नति हुई है। इस उन्नति का एक कारण प्रयोग की सहायता भी है। प्रयोग द्वारा ध्वनियों के अध्ययन को ही प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान (एक्स्पेरिमेंटल् फ़ॉनेटिक्स्) कहते हैं।

ध्वनियों के वर्गीकरण के पूर्व एक बार मनुष्य शरीर के उन अंगों पर जिन के व्यापार से ध्वनियों का उच्चारण होता है एक दृष्टि डालना आवश्यक है। जब हम चुप रहते हैं तो वायु नाक के द्वारा फेफड़ों तक जाती है और वहाँ से लौट कर आती है, यही श्वास-प्रश्वास है। इस के लिए अधिकतर मुख की सहायता नहीं लेनी पड़ती। फेफड़ों में से वायु निकल कर एक नली में हो कर नथुनों से बाहर हो जाती है। परंतु जब हमारी बोलने की इच्छा होती है तब मुख के अन्य अवयव भी काम मे लाए जाते हैं। बोलते समय कुछ ध्वनियों (यथा क, त) के उच्चारण में श्वास केवल मुख से बाहर जाती है, कुछ में थोड़ी नाक से और शेष मुख से (यथा ङँ, न) और दो एक ध्वनियों (यथा अनुस्वार) के उच्चारण में केवल नाक से बाहर जाती है। ओष्ठ कभी फैलते हैं, (यथा ई में) कभी गोल होते हैं (यथा ऊ में) और कभी एक दूसरे का स्पर्श करते हैं (यथा प में), कभी नहीं (यथा ह में)। कभी ओष्ठ दाँतों के पास आकर उन को छूते हैं (यथा व मे) कभी नहीं। मुख कभी बहुत खुलता है, (यथा आ के उच्चारण में) कभी कम (यथा इ के उच्चारण मे)। जिह्वा कभी दाँतों (त) ओठों (प) वर्त्स भाग (च) तालु (ट) आदि का स्पर्श करती है, कभी नहीं। कभी जिह्वा का अग्र भाग (यथा ई में) कभी मध्य भाग (यथा अ में) और कभी पश्च भाग (यथा उ में) काम में आता है। कभी उस को लौट कर उस के पृष्ठ भाग से तालु के भिन्न भिन्न प्रदेशों से स्पर्श कराया जाता है (यथा ट, ड़ में)। कभी केवल ऊपरी सतह ही काम में आती है (यथा च में   कभी वह भाग विशेष का स्पर्श कर के उस स्थान से तुरत हट जाती है,

कर के एक क्षण की अल्प मात्रा के लिए हट जाती है और फिर स्पर्श करती है (यथा र मे) कौआ कभी निष्क्रिय पड़ा रहता है (यथा ऑ में), कभी तन कर नासिका द्वारा श्वास का निर्गम रोक देता है (यथा क में)। श्वास नली के ऊपरी भाग में सितार के तारों की तरह बड़े सूक्ष्म तार हैं। यह कभी अलग अलग रहते हैं (यथा प्, त्, च् में), कभी एक दूसरे के निकट आकर संघर्ष और तनने से ऐसी स्थिति उपस्थित कर देते हैं कि भीतर से आने वाली वायु में घोष की प्रतीति होती है (यथा ब्, द्, आ में)। कभी यही तार इतने निकट आ जाते हैं कि श्वास को निकलने ही नही देते और श्वास को नीचे के भाग मे छिद्र बना कर निकलना पड़ता है (यथा फुसफुसाहट में)। इस प्रकार यह हमारी बोलने की मशीन अथवा हमारे इस मनुष्य गीत–भाषा–का साज़ एक अनोखी परम अद्भुत वस्तु है। बढ़िया से बढ़िया सितार बजाने वाला सहस्रांश में भी वह लीला और कौशल नहीं प्रकट कर सकता जो प्रकृति इस साज़ द्वारा प्रकट करती है।

ध्वनियों का वर्गीकरण मोटे तौर से निम्न लिखित कोष्ठकों में दिखाया गया है। ध्वनियों का इस से भी सूक्ष्म वर्गीकरण है। स्फोटात्मक ध्वनियों मे स्फोट साधारणतया बाहर श्वास फेंक कर होता है। किंतु किसी किसी भाषा मे श्वास को बाहर फेंकने के पूर्व पहले भीतर की ओर खींच कर फिर बाहर फेंकते हैं इन को भेद करने के लिये अंतः स्फोटात्मक कह सकते हैं और अन्यों को बहिः स्फोटात्मक। सिंधी में दोनों प्रकार की स्फोटात्मक ध्वनियाँ पाई जाती हैं। इस के अतिरिक्त अफ्रीका की जातियों में ऐसी भाषाएँ बोली जाती है जिन मे क्लिक् ध्वनियों का बहुधा प्रयोग होता है। भारतीय भाषाओं मे तो केवल विस्मयादि की सूचना देने के लिये ही उन का प्रयोग होता, यथा किसी पर दया का भाव प्रकट करने के लिये च्च् च् च्, घोड़े को प्रेरित कर ने के लिये ट् ट् शब्द विन्यास में उन का कोई स्थान नहीं। अँगरेज़ी में ल् दो प्रकार का होता है एक शुद्ध और दूसरा अस्फुट् यथा लिट्ल् (little) का प्रथम ल् शुद्ध और अंतिम अस्फुट् है। इसी प्रकार ध्वनियों के और सूक्ष्म भेद हैं जिन को दिखाना यहाँ अभिप्रेत नहीं है यहाँ तो वर्गीकरण पर्याप्त होगा

हिंदुस्तानी

	द्वयोष्ठ	दंत्योष्ठ	दंत्य	वर्त्स्य	मूर्धन्य	कंठ्य	कौआ-स्थानीय (अलिजिह्व)	उपालिजिह्व	स्वरयंत्रमुखी
स्फोटात्मक अल्पप्राण	प्, ब्		त्, द्		ट्, ड्	क् ग्	क़्		? (हमज़ा)
,, महाप्राण	फ्, भ्		थ्, ध्		ठ् ढ्	ख् घ्			
स्पर्श संघर्षी अल्प प्राण				च्, ज्					
,, महाप्राण				छ्, झ्					
अनुनासिक अल्प प्राण	म्		न्		ण्	ङ्			
,, महाप्राण	म्ह्		न्ह्		ण्ह्	ङ्ह्			
पार्श्विक अल्प प्राण			ल्						
,, महाप्राण			ल्ह्						

	द्व्योष्ठ	दंत्योष्ठ	दंत्य	वर्त्स्य	मूर्धन्य	कंठ्य	(अलिजिह्व)	जिह्व	मुखी
लोड़ित अल्प प्राण ,, महाप्राण			र् र्ह्						•
संघर्षी		फ़्, व़्	थ्, द् स् ज़्	श् ज़्	ष्		ख़् ग़्	(अर्बी) ह़् अ़्	ह् ह्
उत्क्षिप्त अल्प प्राण ,, महाप्राण					ड़् ढ़्				
उपव्यंजन (अन्तस्थ)	व्			य्					

नोट—ऊपर यदि किसी कालम में दो वर्ण साथ साथ दिए हैं (यथा प् ब्) तो उन में से प्रथम अघोष है (यथा प्) और द्वितीय घोषवत् (यथा ब्)।

(ख) स्वर

अग्र　　　　　　　　मध्य　　　　　　　पश्च

संवृत ई　　　　　　　　　　　　　　　ऊ संवृत

इ

अर्ध संवृत ए　　　　　　　　　　　　　ओ अर्ध संवृत

ए　　　　　　　　　उ

ओ

अर्ध विवृत ए　　　　अ　　　　　　　ओ अर्ध विवृत

ऐ

विवृत आ　　　　　　　　　　　　　　आ विवृत
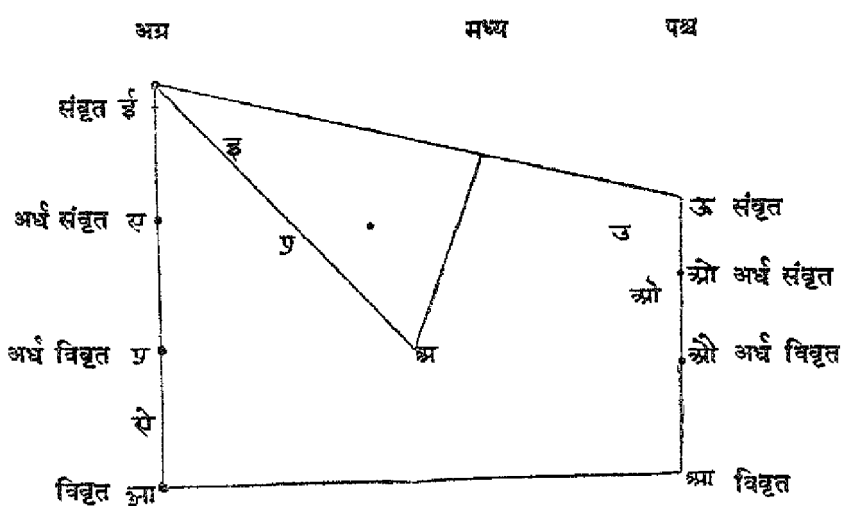
ध्वनियों के तीन गुण बतलाए जाते हैं—मात्रा, स्वराघात और सुर। मात्रा से अभिप्राय समय का है यथा मोटे तौर से यह कहते हैं कि *अ* एक मात्रा का स्वर है, *आ* दो मात्रा का। इसी प्रकार व्यंजनों मे भी मात्रा का भेद हो सकता है यथा *पता* मे त् एक मात्रा की है और *पत्ता* में दो मात्रा की। यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो स्वरों की अपेक्षा व्यंजनों में मात्रा का प्रयोग अधिक उपयुक्त है, स्वरों में तो मात्रा के अनुसार बहुधा स्थान परिवर्तन हो जाता है परंतु व्यंजनों में नहीं। उदाहरण के लिये हिंदी के *अ आ* और *त् त्त्* को ले लीजिए। *अ* के उच्चारण में मुख उतना नहीं खुलता जितना *आ* के उच्चारण मे, इस के उच्चारण में जिह्वा का मध्य भाग तालु की ओर उठता दिखाई देता है और *आ* के उच्चारण में पश्च भाग। इस प्रकार स्थान भेद हो गया। परंतु *त्* और *त्त्* में केवल इतना भेद है कि जिह्वा अधिक समय तक अपने स्थान पर टिकी रहती है।

स्वराघात से अभिप्राय यह है कि किसी शब्द के उच्चारण में किसी अक्षर विशेष पर अधिक ज़ोर डाला जाए; उस अक्षर के उच्चारण में मोटे तौर से सामान्य से अधिक परिश्रम पड़े। यथा 'तुम् जाओ' इस वाक्य को या तो *तुम्* पर ज़ोर दे कर कह सकते हैं या *जा* पर। इसी ज़ोर के कारण वाक्य
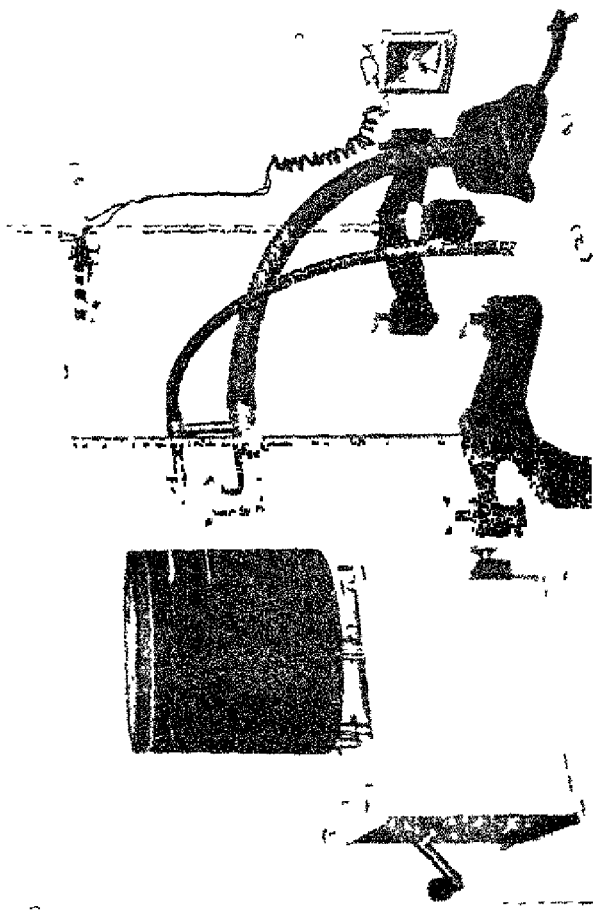
के अभिप्राय में अंतर पड़ जाता है। स्वराघात का व्यवहार अपनी भारतीय भाषाओं में बहुत कम है, पर इस से अँगरेज़ी में अधिक काम लिया जाता है यथा कण्डक्ट (conduct) शब्द यदि प्रथम अक्षर पर आघात हो तो संज्ञा होगा (con'duct) और यदि द्वितीय पर तो क्रिया (conduct')।

सुर से तात्पर्य गले के अंदर के उन तारों के जिन से घोष की उत्पत्ति होती है तनने से है। सुर साधारण रीति से तीन माने जाते हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इन का भी व्यवहार आधुनिक भारतीय भाषाओं में बहुत कम है पर चीनी भाषाओं में बहुत अधिक। अपनी हिंदी में तो केवल आश्चर्य आदि का बोध कराने के लिये सुर आता है; जैसे यदि किसी को दावत मे निमंत्रित किया जाए और वह आ तो जाए पर खाना खाने से इनकार करे तब कहेंगे—क्या खाना खा आए, यहाँ आए के सुर से ही आश्चर्य की प्रतीति होगी।

इस प्रकार ध्वनियों का वर्गीकरण कर के देखना यह है कि प्रयोग के द्वारा ध्वनियों की वस्तुता जानने में कितनी सहायता मिलती है। प्रयोग के दो मुख्य साधन हैं—एक कायमोग्राफ् मशीन और दूसरे कृत्रिम तालु।

(१) कायमोग्राफ् (चित्र नं० १)—इस मशीन में एक ढोल सी होती है, उस के चारों ओर खूब चिकना काग़ज़ लपेट दिया जाता है। काग़ज़ को पहले ही से धुँआ डालकर काला कर लेते हैं। फिर बोलने वाला एक रबड़ की नली मुँह पर लगा कर बोलता है (चित्र नं० २); ढोल बराबर बिजुली की बैटरी के कारण घूमती रहती है। रबड़ की नली के अंत में एक बहुत सूक्ष्म सुई रहती है यह उस ढोल पर बोलते समय (सफ़ेद) निशान करती चलती है। साथ ही साथ एक नली घड़ी से संबद्ध कर दी जाती है उस की सूई भी साथ ही साथ निशान करती चलती है; एक सेकेंड में यह सुई सौ निशान बनाती है। यदि यह देखना हो कि बोलते समय श्वास का निर्गम नासिका से भी होता है या नहीं तो नासिका के भी एक विवर में एक नली लगा ली जाती है। इस से मालूम हो जाता है कि नासिका से श्वास बोलते समय निकली है या नही। इस के कारण किसी ध्वनि का अनुनासिकत्व मालूम किया जा सकता है। बोल चुकने पर काग़ज़ को निकाल कर उसे स्पिरिट् में भिगोकर सुखा लेते हैं,

नशान पक्के पड़ जाते है। फिर इन्हीं निशानों का अध्ययन
(२) कृत्रिम तालु—इस का भी चित्र (नं० ३) दिया जाt
ले से बनाते हैं; प्रत्येक मनुष्य को जिसे प्रयोग करना हो
नवाना पड़ता है। इस की सतह पर बहुत महीन पिसी
ते हैं जिस से वह सफ़ेद हो जाती है; फिर इस को तालु प
हैं और जिस वर्ण का स्पर्श जानना हो वह वर्ण बोलते
' जिह्वा स्पर्श करती है वहाँ से खड़िया मिट जाती है। इ
कर लेते हैं कि किसी वर्ण विशेष के उच्चारण में स्पर्श कहाँ
कायमोग्राफ़ से इन बातों का निश्चय किया जा सकता है—
(क) घोषत्व—कोई वर्ण अघोष है अथवा घोषवत् इस
ाफ़् से किया जा सकता है। अघोष वर्ण का निशान सादी र
घोषवत् का लहरदार लकीर यथा बंटा (चित्र नं० ४) इ
में ट् और ड।
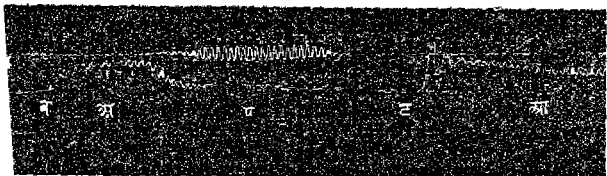
चित्र नं० ४—बटा

त्व—इस का भी निश्चय ट्रेसिंग देख कर हो सकता है।
स प्रकार का होता है—

तरह का—

के लिये देखिए *पाती* (चित्र नं० ६) का प् और पुँ
ा फ्। महाप्राण वर्ण केवल अल्पप्राण वर्ण और ह्
कार त्+ह और थ् में कोई भेद नहीं है।

चित्र नं० ६—पाती

चित्र नं० ७—फुँकिवा

ःकत्व, स्पर्श संघर्षित्व तथा संघर्षित्व में भी सूक्ष्म भेद र
ः सोँचति (चित्र नं० ८) के स्, च् और त् के कर्व देि
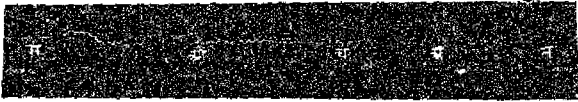
चित्र नं० ८—सोंचति

घ) अनुनासिकत्व का बहुत निश्चित ज्ञान इस प्रयोग के द्व
ुरण के लिये बंटा (चित्र नं० ४) और बंडा (चित्र
ए। उन में ऊपर की लकीर-नासिका श्वास, बीच की मुर
समय बतलाती है। देखने से मालूम होता है कि जब
तब ण् के उच्चारण के अन्त के साथ ही नासिका से श्वास
है, किन्तु जब बंडा बोला जाता है तब ड् के कुछ भाग में
िकला करती है। अथवा ईंधन (चित्र नं० ९) शब्द ले ली
े अंत तक नासिका से भी श्वास निकला करती है, केव
समय कुछ मंद पड़ जाती है। इसलिए यदि 'ईंधन' को
। 'ई दँ ह् अँ न्' लिखना होगा।

चित्र नं० ९—ईंधन

(च) मात्रा—किस वर्ण के उच्चारण में कितना समय लग
श्चित ज्ञान कायमोग्राफ् से हो जाता है; उदाहरण के लि
) और पत्ता (चित्र नं० ११) की त् त्त् ले लीजिए अथव
) के आ और पता (चित्र नं० १०) के अ की तुलना कर

न १३—कृत्रिम तालु पर 'ट'
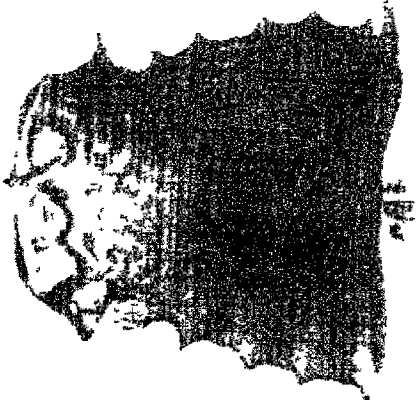
चित्र नं० १२—कृत्रिम तालु पर 'त'

चित्र नं० ११—पत्ता

(छ) स्पर्श—कृत्रिम तालु से केवल जिह्वा के स्पर्श का ज्ञान प्राप्त कि जाता है। इस से कोई वर्ण दंत्य है अथवा वर्त्स्य, मूर्धन्य अथवा कंठ्य र निश्चय हो सकता है। पार्श्विक वर्ण में जिह्वा का स्पर्श कहाँ होता है यह जान सकते हैं। उदाहरण के लिये त, (चित्र नं० १२) ट (चित्र नं० १३ और ल (चित्र नं० १४) के रूप दिखाए जाते हैं।

(ज) प्रयोग द्वारा सुर की भी प्रतीति हो सकती है, पर यह कष्ट सा है। सुर केवल घोषवत् वर्णों में संभव है। किसी वाक्य या शब्द की ट्रेसिं लेकर उस को खुर्दबीन के नीचे रख कर प्रत्येक तरङ्ग के उच्चारण में कितने शत सेकंड के लगे और कितनी ऊँची वह उठी इस का चार्ट बनाया जाता है उस गणना के अनुसार ग्राफपेपर पर कर्व खींच कर यह मालूम किया सकता है कि सुर उदात्त है तो कितना अथवा अनुदात्त है तो कैसा। उदाहर के लिये अवधी के 'तुम खाइ आएउ' के कर्व इस प्रकार निकलते हैं—

(१) वर्णनात्मक—चित्र नं० १५

(२) आज्ञात्मक—चित्र नं० १६

(३) प्रश्नात्मक—चित्र नं० १७

(४) किंविस्मयात्मक—चित्र नं० १८
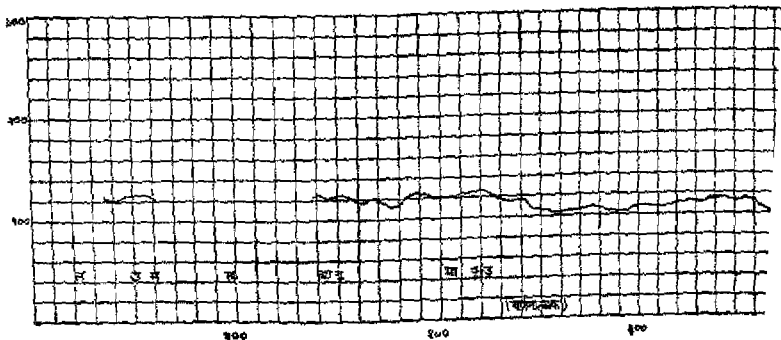
चित्र नं० १५—कर्व (१) वर्णनात्मक

हिंदुस्तानी
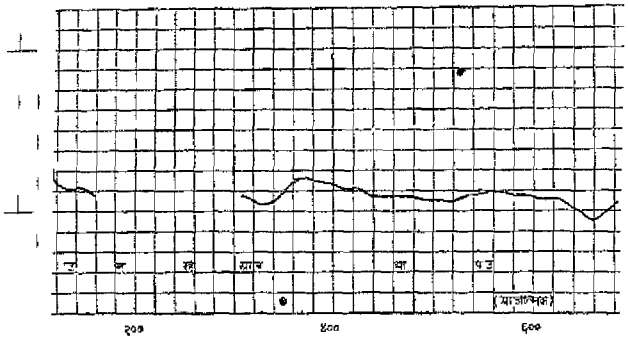
चित्र नं० १६—कर्व (२) आज्ञात्मक
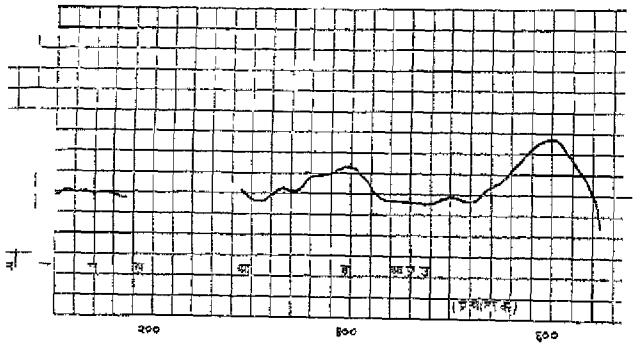
चित्र नं० १७—कर्व (३) प्रश्नात्मक
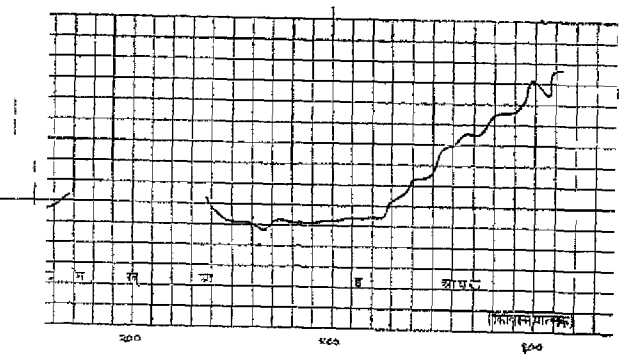
चित्र नं० १८—कर्व (४)

अभी तक प्रयोग से केवल इतनी ही सहायता ली जा सकी है। परंतु पश्चिम के विश्वविद्यालयों में विद्वान लोग सतत परिश्रम में जुटे हैं। इन पंक्तियों के लेखक को अंतर्राष्ट्रीय ध्वनि-विज्ञान परिषद् के वार्षिक अधिवेशन में जो गत वर्ष ९ से १३ जून तक बॉन (जर्मनी) में बड़े समारोह से हुआ था संमिलित होने का अवसर मिला था। उस में विद्वानों ने अपने अपने परिश्रम का दिग्दर्शन कराया था। उन की लगन को देख कर भक्ति के भाव उठते थे। अभी तक स्वरों के विषय में प्रयोग बहुत सहायक नहीं हुआ है। उदाहरण के लिये जैसे यह प्रयोग द्वारा सरलता से जान सकते हैं कि किसी शब्द में त् है अथवा थ् अथवा ट्, उसी सरलता से प्रयोग यह नहीं बतलाता कि किसी शब्द में ए है अथवा ए़। परंतु उन के उद्योग को देख कर जान पड़ता था कि शीघ्र ही प्रयोग इस का भी निर्णय कर सकेगा। अथवा स्वराघात के विषय में अभी प्रयोग कुछ भी सहायता नहीं पहुँचा सका है; उसे जानने के लिये केवल कान का सहारा ले कर अभी काम चलाया जाता है। परंतु संभव है कि शीघ्र ही प्रयोग इस में भी सहायक हो सके। सुर का निश्चय करने के लिये प्रयोग सहायक अवश्य है पर बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। लंदन के यूनिवर्सिटी कालेज की ध्वनि-विज्ञान प्रयोगशाला के अध्यक्ष श्री० स्टिवेन जोन्स् महोदय रीडों का कायमोग्राफ पर व्यवहार कर के सुर जानने का प्रयत्न कर रहे हैं; संभव है शीघ्र ही वह सफल हो जाएँ।

अपने भारत में तो ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन करने वाले तो दूर उस में रुचि रखने वाले ही इने गिने हैं। फिर प्रयोग द्वारा ध्वनियों का अध्ययन करना तो बड़ी दूर की बात है। आधुनिक भारतीय भाषाओं का स्वरूप जानने में प्रयोग से कितनी सहायता मिल सकती है यह संक्षेप से ऊपर दिखाया जा चुका है। आशा है कि 'शिक्षा' के रचयिता पाणिनि, निरुक्तकार यास्क और प्रातिशाख्यकार आदि संसार के आदिम भाषाविज्ञानतत्वविदों और ध्वनि-विज्ञान के आचार्यों के उत्तराधिकारी आधुनिक भारतवासियों का ध्यान इस ओर जाएगा और वह ज्ञान की इस शाखा का मूल्य समझेंगे।

अंत में इतना वक्तव्य है कि अंग्रेजी तथा अन्य पाश्चात्य भाषाओं में

प्रचलित वैज्ञानिक शब्दों के लिये हिंदी में पर्यायवाची शब्दों की जो नितांत कमी है उस से प्राय: सभी लोग खूब परिचित हैं। इस लेख में लेखक को बहुत शब्दों की गढ़ंत करनी पड़ी है। जिन वैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग किया गया है उन का एक कोष इस लेख के साथ संमिलित कर दिया जाता है। इन शब्दों के हिंदी अनुवाद में श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा जी से भी यथेष्ट परामर्श किया गया है। एतदर्थ लेखक उन का आभारी है।

शब्द कोष

अग्र जिह्वा	front of the tongue
अग्र स्वर	front vowel
अघोष	breathed, unvoiced
अनुदात्त सुर	rising pitch
अनुनासिक	nasal
अन्तः स्फोटात्मक	implosive
अर्ध विवृत स्वर	half-open vowel
अर्ध संवृत स्वर	half-closed vowel
अलि-जिह्व (कौआस्थानीय)	uvular
अलिजिह्वा (कौआ)	uvula
अल्प प्राण	non-aspirated
अस्फुट	dark
उत्क्षिप्त	flapped
उदात्त सुर	rising pitch
उपव्यंजन	semiconsonant
उपालिजिह्व	pharyngal
कौआ (अलिजिह्वा)	uvula
कौआस्थानीय (अलिजिह्व)	uvular
कंठ्य	velar

क्लिक्	click
घोषवत्	voiced
दंत्य	dental
दंतोष्ठ	labiodental
द्वयोष्ठ	bilabial
ध्वनि विज्ञान	phonetics
पश्चजिह्वा	back of the tongue
पश्चस्वर	back vowel
पार्श्विक	lateral
प्रयोगात्मक ध्वनि विज्ञान	experimental phonetics
फुसफुसाहट	whisper
मध्य जिह्वा	middle of the tongue
मध्य स्वर	central vowel
महाप्राण	aspirated
मात्रा	duration, length
मूर्धन्य	retroflex, cerebral
लोड़ित	rolled
वर्त्स भाग	alveolar region
वर्त्स्य	alveolar
बहिः स्फोटात्मक	explosive
विवृत स्वर	open vowel
शुद्ध	clear
सुर	pitch, tone, intonation
संघर्षी	fricative
संवृत स्वर	closed vowel
स्पर्शसंघर्षी	appricate

स्फोटात्मक	plosive
स्वरयंत्रमुखी	glottal
स्वराघात	stress
स्वरित सुर	level pitch

चित्र—१

राजा बीरबर—चाकदार पहनावे में

अकबर-काल का हिंदू-पहनावा और उस की परंपरा

[लेखक—श्रीयुत राय कृष्णदास]

हुमायूँ के समय तक मुग़लों का पहनावा, मध्य एशिया और फ़ारस के वेष का संमिश्रण था; अर्थात्—सिर पर कुलाहदार पग्गड़, तन पर सामने बुतामदार—और कभी कभी बग़ल में बंददार—पिंडली से नीचा कबा, कमर में कमरबंद, ऊपर से चौड़ी आस्तीन का अबा,—जो कबे से भी कुछ नीचा होता,—और पैर में पाजामा।

किंतु अकबर के समय मे, मुग़लों की पोशाक में एकबारगी परिवर्तन हो गया। उस समय का दरबारी पहनावा था—सिर पर लटपटी पाग, तन पर घुटने तक वा उस से कुछ नीचा जामा और पैर में पाजामा; कमर में पटका (कमरबंद) और कभी कभी ऊपर से दुपट्टा भी रहता, जिस के छोर बायें कंधे से आगे पीछे लटकते रहते और मध्यभाग दहिनी कमर पर से सेल्ही की तरह छाती पर होता हुआ कंधे पर जा पहुँचता। तत्कालीन हिंदुओं का भी साधारणतः यही वेष था।

अकबर-काल में परिच्छद का एकाएक ऐसा महत् परिवर्तन बड़े मार्के की बात है। किंतु इस का कारण स्पष्ट है। अकबर के अनुकरण में ही—'राजा कालस्य कारणम्' के अनुसार—पहनावे का यह परिवर्तन हुआ था।

इस बात का उल्लेख मिलता है कि अकबर ने भारतीय पहनावा ग्रहण कर लिया था[1]। किंतु ऐसा कर ने में उस ने, निश्चय ही, अपनी उस समन्वय

बुद्धि का उपयोग किया था, जिसे हम उस के जीवन की सभी प्रवृत्तियों और पहलुओं में नियम-पूर्वक व्यापक रूप से पाते हैं; अर्थात्—भारतीय संस्कृति को प्रमुख रखते हुए उस में फ़ारस-मध्य-एशिया की संस्कृति का मिश्रण कर देना। ऐसा कर ने की उस में लोकोत्तर प्रतिभा और क्षमता थी,—सीकरी का स्थापत्य, तानसेन का संगीत, उस के दरबार की चित्रकला, उस का दीन-इलाही, राजपूतों से वैवाहिक संबंध-स्थापन[1], उस के आचार-विचार—रहन-सहन, उस पहनावे का परिवर्तन; सारांश यह कि उस की विचार और कार्य्य-पद्धति मात्र उस वृत्ति के ज्वलंत प्रमाण हैं। इतना ही नहीं, उस की यह क्षमता सफल भी हुई थी, किंतु केवल इस अर्थ में कि उस ने इस प्रकार का जो भी संयोजन किया था, वह बहुत कैंड़े का था। उस में कहीं भी भद्दा वा बेतुकापन न था। किंतु खेद है कि उस समय के हिंदू अथवा स्वयं अकबर के उत्तराधिकारी ही उस के दृष्टिकोण से न देख सके और वह बात उसी के साथ समाप्त हो गई। नहीं तो, भारत आज एक बहुत बड़ा राष्ट्र होता, जिस में प्रधानता हिंदू भावना और संस्कृति की ही होती; अर्थात् वह सच्चा हिंदु-स्तान होता। क्योंकि महामना अकबर भारतीय संस्कृति की महत्ता को खूब समझ और मान गया था। बल्कि यों कहिए कि उस समय तक भारतीय संस्कृति में इतना प्राण और आकर्षण रह गया था कि उस ने निगाहदार अकबर को अपना अनुगत बना लिया था और इसी से सम्राट् ने उसे देश-काल के अनुकूल बनाने के लिये ही, उस में केवल अपेक्षित परिवर्तन और संयोजन किए थे। हम अपने प्रसंग से कुछ अलग हो गए, पर उसी प्रसंग में इतना कहे बिना काम न चलता।

अप्रासंगिक होने पर भी, यहाँ एक बात और कहे बिना आगे बढ़ने को जी नहीं चाहता कि एक जनश्रुति है—और हम उस जनश्रुति में अकबर की मनोवृत्ति की ओर ध्यान देते हुए, ऐतिहासिक संभावना देखते हैं—कि अकबर ने एक बार अपने लाडले और मुखर मुसाहब बीरबर से कहा कि बीरबर, मुझे

---

[1]अकबर अपने घराने की कन्यायें राजपूतों को देने के लिये भी तैयार था। किंतु धर्म की तमसावृत बुद्धि वाले हिंदू कैसे इसे गवारा करते!
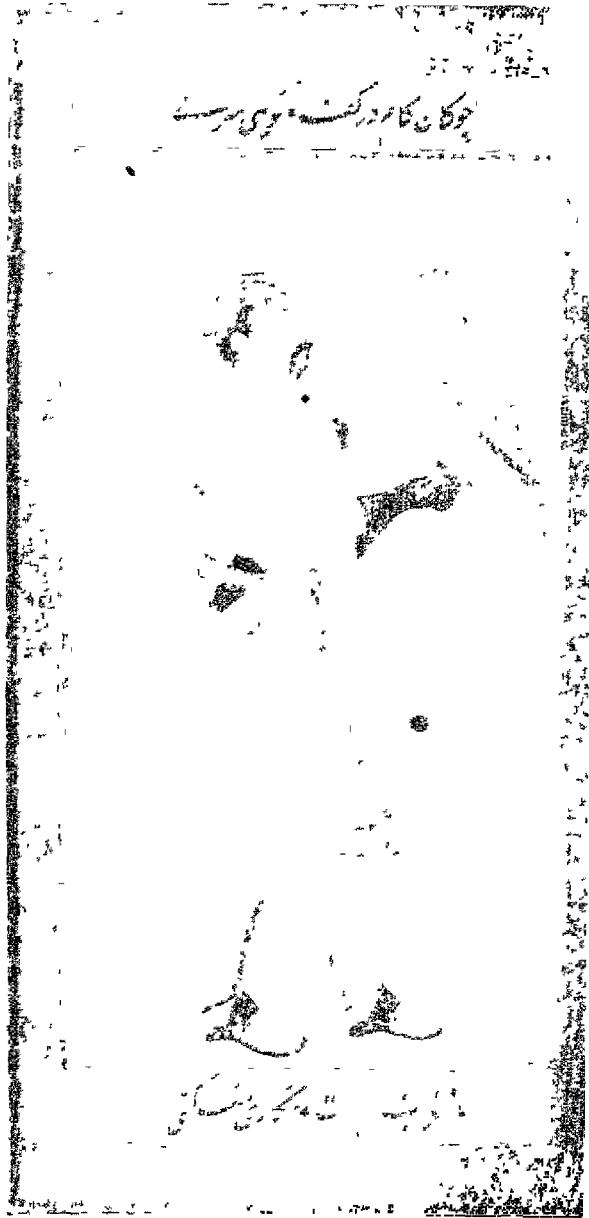
चित्र—२

अज्ञात शबीह—घेरदार पहनावे में

(कान में कुंडल न होने के कारण निश्चय पूर्वक किसी मुसलमान
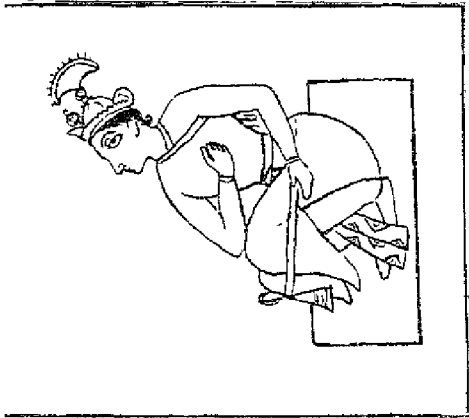
चित्र—३

कृष्ण—राधा की प्रतीक्षा में
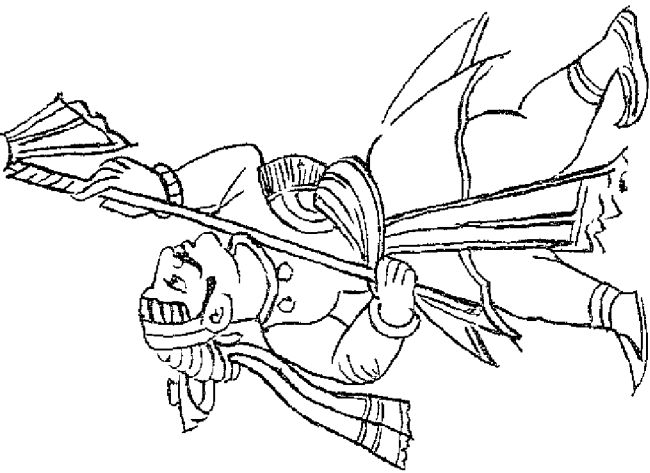
चित्र—४

छत की मंडलाकार चित्रकारी का एक अंश

हिंदू बना ले। ब्राह्मणकुमार यद्यपि दीन-इलाही ग्रहण कर के बादशाह के चेले बन चुके थे तो भी उन्हों ने इस का उत्तर देने के लिये समय चाहा। दूसरे दिन बादशाह अपने महल से क्या देखते हैं कि सामने जमुना में बीरबर एक गधे को मल मल कर नहला रहे हैं। बादशाह से न रहा गया। उन्हो ने आवाज़ दी—बीरबर, क्या कर रहा है ? बीरबर ने जवाब दिया—जहाँपनाह, गधे से घोड़ा बना रहा हूँ। सम्राट ने हँस कर पूछा—क्या कहीं गधे से घोड़ा हुआ है ? हाज़िरजवाब बीरबर ने इसीलिए तो यह प्रसंग उपस्थित किया था, उन्हों ने भी गंभीर होकर जिज्ञासा की—जहाँपनाह, तो क्या तुरक से हिंदू हो सकता है ?

चाहे इस उत्तर ने अकबर को उस घड़ी चुप कर दिया हो, क्योंकि एक महत्त्वपूर्ण समस्या हँसी में उड़ा दी गई थी, तथापि वह घड़ी भारत के लिये थी बड़ी बुरी। किंतु क्या किया जाता, उस समय हिंदुओं की दृष्टि में धर्म शब्द का अर्थ ऐसा ही संकीर्ण हो चुका था।

अस्तु। अब यह विचार करना है कि उस समय की भारतीय पोशाक का (हिंदू पहनावे का); जिस का अकबर ने संस्कार किया था[1]—जो अकबरी परिच्छद की जड़ थी; स्वरूप और उद्गम क्या था।

उस समय के जो व्यक्ति-चित्र (=छवि, शबीह) मिलते हैं, उन में चित्रित व्यक्तियों के पहनावे में जामा दो काट का पाया जाता है।

एक में तो आगे पीछे का दामन नीचे से अलग अलग रहता है—(जैसा कुर्ते मे)। और इन दामनों के कोने लंबे त्रिकोण के आकार मे नीचे की ओर लटके रहते हैं; इसे आज कल चाकदार दामन का जामा और संक्षेप में चाकदार जामा कहते हैं। (चित्र १)

दूसरे में—आगे पीछे का दामन एक में मिला और सीधा रहता है; इसे घेरदार (दामन का) जामा कहते हैं। (चित्र २)

---

[1]ऐसे प्रति-संस्कृत वस्त्रों के नाम अकबर ने भारतीय ही रक्खे थे इस से पता लग सकता है कि उन में कितनी भारतीयता थी, उन में के कुछ नाम ये हैं—सर्वगाती, आत्मसुख, चित्रगुप्त, कटिजेब आदि

इस प्रबंध में हम इन दोनों को क्रमशः चाकदार और घेरदार कहेंगे।

भारतीय चित्र-शास्त्र के श्रेष्ठतम विद्वान डार्क्टर कुमारस्वामी का मत है कि उक्त चाकदार का तर्ज़ अकबर-काल के पिछले भाग मे प्रचलित हुआ।[1] किंतु हमारा अनुमान इस से भिन्न है। हम इसे ही उस समय का परंपरागत हिंदू-पहनावा मानते हैं, जिसे कुछ परिवर्तन-पूर्वक, उस का लबड़भबड़ पन दूर कर के, अकबर ने अपना लिया था। ऐसा करने मे ही उस ने इस में उक्त घेरदार दामन की योजना की थी।

हमारे इस अनुमान का मुख्य, साथ ही प्रबल आधार यह है कि चाकदार पोशाक वाले जो भी चित्र मिलते हैं वे सभी हिंदू व्यक्तियों के हैं। उस काल के किसी भी मुसलमान का चित्र इस पोशाक में नहीं मिलता[2]। उन के सभी चित्र घेरदार पोशाक में मिलते हैं; साथ ही कितने ही हिंदुओ के चित्र भी उस पोशाक में मिलते हैं। अर्थात्—

(१) चाकदार जामा केवल हिंदुओं का पहनावा था।

---

[1]'कैटलॉग अव् राजपूत पेंटिंग्ज़्', बोस्टन म्यूज़ियम अव् फ़ाइन आर्ट्स्—पृष्ठ ७१, तथा—

'मेट्रापालिटन म्यूज़ियम स्टडीज़', जिल्द २, भाग १, पृष्ठ १८, कालम १।

[2]केवल एक नाम मात्र के मुसल्मान का चित्र इस पोशाक मे अभी तक हम ने देखा है—नौबात ख़ाँ बीनकार का। ये जहाँगीर के समय में थे। तानसेन के कुल मे थे। इसीलिए इस पोशाक में हैं, क्योंकि सेनिए (तानसेन के वंशज) तो आज भी बारह आने हिंदू बने हुए हैं। अतः नौबात ख़ाँ का पारंपरीण हिंदू पोशाक बनाए रखना आश्चर्य नहीं—स्वाभाविक था।

हुमायूँ-अकबर-काल में शाही आज्ञा से हमज़ानामा-संबंधी हज़ारों चित्रपट तैयार किये गए थे। इन में के अनेक पात्र चाकदार में भी हैं। किंतु इस चित्रावली के बनाने में अधिकांश हाथ हिंदू चितेरों का था यह इस के अनेक आभ्यंतर प्रमाणों

चित्र—६

नाग, अमर

कु० श्याम　　　　　　　　कु० कार्म
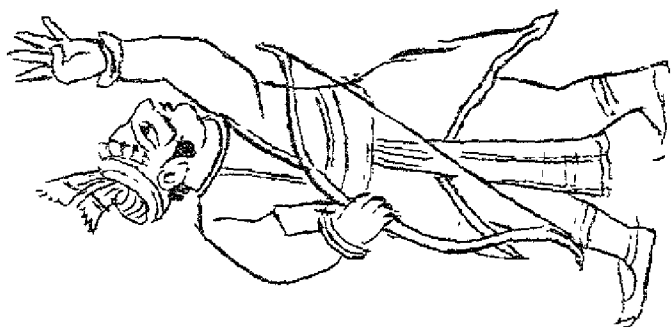
(२) मुसल्मान उस हिंदू-पहनावे को न ग्रहण कर के, उस का अकबर द्वारा संस्कृत रूप ही व्यवहार में लाते थे। तथा—

(३) हिंदुओं में भी पुराना रिवाज उठता जा रहा था, फलतः कितने ही हिंदू भी चाकदार पहनावे को छोड़ कर, नई तरहदारी को अपना रहे थे।

संभवतः डा० कुमारस्वामी का ध्यान इन बातों की ओर नहीं गया है। वे अपने निष्कर्ष पर केवल इस आधार-वश पहुँच गए हैं कि अधिकांश चित्रों में घेरदार, और बहुत थोड़े चित्रों में चाकदार जामा मिलता है। हालाँ कि घेरदार की अधिकता का स्पष्ट कारण यही है कि उस के पहिनने वालों में सारे मुसलमानों और कितने ही हिंदुओं की भी संख्या संमिलित है, और चाकदार के पहिनने वाले केवल वे ही गिनती के हिंदू हैं जो प्राचीन पद्धति को पकड़े हुए थे।

यदि चाकदार का रिवाज अकबर-शासन के पिछले काल में हुआ होता तो हम उसे बीरबर (चित्र १)[1] के तन पर न पाते, क्यों कि अकबर के राजत्व के मध्य ही में उन का परलोक हो चुका था; साथ ही यदि ऐसा होता तो जहाँगीर काल में इस की प्रथा का प्राचुर्य होना चाहिए था। किंतु, इस के विपरीत, उस काल में तो यह किसी के ही बदन पर दिखाई देता है, सो भी हिंदुओं

---

[1]दिल्ली कॉरनेशन दरबार इक्ज़िबिशन कैटलॉग से उद्धृत हो कर बीरबर के नाम से जो चित्र 'हिंदुस्तानी' के प्रथम अंक में प्रकाशित हुआ है, वह उन का चित्र नहीं हो सकता। उस के पहनावे की चाल अकबर के बहुत बाद की है, और स्वयं चित्र तो अठारहवीं शताब्दी का बना है। किसी चित्र पर कोई नाम पा लेने ही से—बिना चित्रण-शैली, वेश-भूषा आदि का विचार किए—उसे सही न मान लेना चाहिए।

चित्रों के नामों की जालसाज़ी पहिले से होती आई है; इधर तो उन की माँग के कारण खूब बढ़ गई है।

इसी प्रकार डाक्टर बेनीप्रसाद ने अपने जहाँगीर के इतिहास में शाहज़ादा सलीम के नाम से जो चित्र मुख-पृष्ठ पर दिया है वह फर्रुखसियर-मुहम्मदशाह के ज़माने के किसी छोकरे का है। वेश-भूषा वा रूप-सरूप से जहाँगीर से उस से कोई निस्बत नहीं

ही के; जो हमारी उक्त रूढ़ि वाली दलील को पुष्ट करता है।[1] जहाँगीर-काल के पिछले भाग मे तो यह बिलकुल लुप्त हो जाता है।[2] और, क्या हिंदू क्या मुसलमान, सभी घेरदार—अकबरी काट का वा उस से विकसित—जामा पहिनने लगते हैं। सो, इस चाकदार जामे को अकबर-जहाँगीर-काल की एक तर्ज न मान कर हिंदुओं का पहनावा मानना ही पड़ेगा।

लगभग १५५० ई० के राजपूत-क़लम के एक शृंगारिक चित्र में, कृष्ण—जो राधिका की प्रतीक्षा कर रहे हैं—इसी चाकदार जामे में अंकित हैं (चित्र ३)। यह चित्र इस समय बोस्टन के ललित कला-संग्रहालय में है, और अब तक मिले राजपूत-चित्रों में संभवतः सब से पुराना है। इस चित्र में ऐसा पहनावा मिलना उस की प्राचीनता को अकबर-काल के पूर्व ही ले जाता है, जो १५५६ ई० मे प्रारंभ होता है।

झाला-रा-पाटन मे मिला, छत मे की मंडलाकार चित्रकारी का एक खाका भारत-कला भवन, काशी, में है। यद्यपि उस का निर्माण-काल १८वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध जान पड़ता है, किंतु इस में कोई संदेह नहीं कि उस की परंपरा बहुत प्राचीन है; क्योंकि उस में अंकित देवताओं और घर इत्यादि की आकृ

---

[1]अभी तक, जहाँगीर-काल में अंकित केवल तीन चित्रों में मुझे ऐसी पोशाक मिली है। एक में तो वह भोजपुर (आरा) के ढलती उमर के राजा दलपत उज्जैनियाँ के तन पर है जो जहाँगीर के यहाँ हाज़िर हुए हैं। इस चित्र में एक अन्य हिंदू भी है जो उम्र में अपेक्षाकृत कम हैं और घेरदार पोशाक में हैं। यह चित्र 'विक्टोरिया एंड एलबर्ट म्यूज़ियम पोर्टफोलियोज़—इंडियन ड्राइंग्ज़' के सातवें प्लेट में प्रकाशित हुआ है।

दूसरा चित्र जामवंत की तरह, अकबर के पुराने सचिव आमेर के प्रसिद्ध राजा मानसिंह के बुढ़ापे का है ('बोस्टन म्यूज़ियम पोर्टफ़ोलियो अव इंडियन आर्ट,' प्लेट १०, ए)। अर्थात् ये दोनों ही व्यक्ति पुराने ढंग के थे।

तीसरा नौबातखाँ कलावंत का, जिस का उल्लेख पीछे हो चुका है।

[2]डा० कुमारस्वामी ने भी यह लक्ष किया है
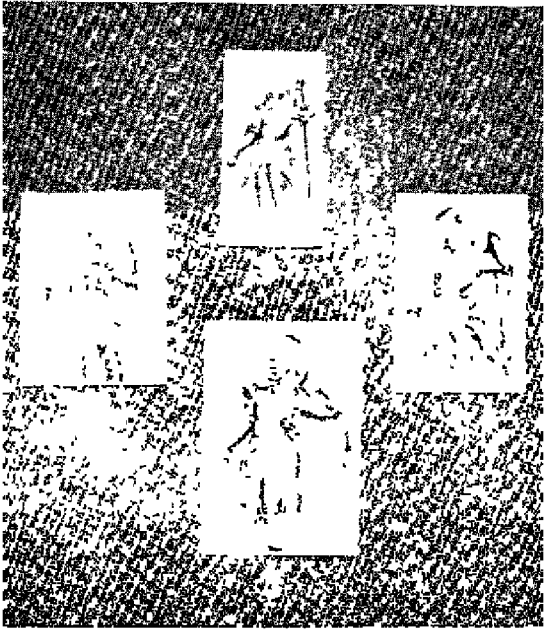
चित्र—७

गुप्त सम्राट्

तियाँ ठेठ १३वीं—१४वीं शताब्दी के हिंदू चित्रों के शैली की हैं। इतना ही नहीं, उस संपूर्ण मंडल की कल्पना ही उन्हीं शताब्दियों की है। अस्तु। इस में अंकित व्यक्ति भी इसी चाकदार पोशाक में हैं। (चित्र ४ तथा ५)

महाराणा प्रताप के पुत्र राणा अमर (१५९५-१६१९) और उन के बेटे कर्ण और भीम का एक समूह-चित्र (ग्रूप) लंदन के साउथ केंसिंग्टन संग्रहालय के भारतीय विभाग में है (चित्र ६)। यद्यपि इस का निर्माण-काल अठारहवीं शताब्दी का उत्तर भाग जान पड़ता है, किंतु वह निःसंदेह प्रारंभिक सत्रहवी शताब्दी के, उन लोगों के सम-सामयिक चित्र की प्रतिकृति है।[1] अस्तु। इस मे वे तीनों ही व्यक्ति चाकदार पहिने हैं। चित्तौर-कुल प्राचीन रीति-नीति का हामी और संरक्षक था। यह असंभव था कि उस ने आनुक्रमिक परिच्छद का त्याग कर के एक नए रिवाज के वस्त्रों का ग्रहण कर लिया हो।

बात थी भी ऐसी ही, क्यों कि भारत मे चाकदार काट का अस्तित्व अकबर से १६०० बरस पहिले तक, अर्थात्—आज से २००० बरस पहिले तक, तो मूर्त प्रमाणों द्वारा सिद्ध है, यथा—

(१) गुप्त सम्राटों के सिक्कों पर (जो सब के सब प्रतिमांकित है) उन का जो वेष मिलता है, उस मे तन का पहनावा साफ़ साफ़ घेरदार का पूर्वज है। ऐसे कुछ सिक्कों की प्रतिकृतियाँ हम चित्र ७ तथा ८ में दे रहे हैं। इन में से चित्र ७ की आकृति १, २ और ३, सम्राट् समुद्रगुप्त की है। आकृति ४, सम्राट् चंद्र-गुप्त द्वितीय की है।[2]

---

[1] साउथ केंसिंग्टन म्यूज़ियम के विद्वानों ने तो इसी चित्र को समसामयिक माना है। किंतु हम उन से सहमत नहीं। इस की विवेचना हम फिर कभी करेंगे। यह चित्र 'विक्टोरिया एंड अलबर्ट म्यूज़ियम पोर्टफ़ोलिओज़—इंडियन ड्राइंग्ज़' का उन्नीसवाँ प्लेट है।

[2] ये चारों आकृतियाँ एलन के गुप्त सिक्कों की सूची के आधार पर बनी हैं। इन का क्रम यों है—आकृति १, प्लेट, १ के तीसरे फ़िगर के आधार पर। आकृति २, प्लेट १. फ़िगर ११ के आधार पर। आकृति ३, प्लेट २, फ़िगर ३ के आधार पर तथा आकृति ४ प्लेट ६ फ़िगर २ के आधार पर

चित्र ८ काशी के श्री० दुर्गाप्रसाद-द्वारा संगृहीत मुद्राओं में के तीन सिक्कों का फ़ोटो है। इन में से द्वितीय और तृतीय आकृति, चंद्रगुप्त द्वितीय की अशर्फ़ियों की हैं। प्रथम आकृति, कुमारगुप्त के मोहर की है।

इन के सिवा, चित्र ९ कुमारगुप्त के एक सिक्के पर की आकृति से बढ़ाया गया है (एलन, प्लेट १५, फ़िगर ९)।

उक्त उदाहरणों से प्रत्यक्ष है कि चाकदार, गुप्तों के ऊर्ध्ववस्त्र की औरस संतान है।

(२) गुप्तों के अभ्युदय के प्रायः २०० वर्ष पूर्व, अर्थात् प्रथम शताब्दी के अंत वा दूसरी शताब्दी के आरंभ में अंकित अजंता के एक चित्र में भी, ऊर्ध्व-वस्त्र उसी चाल का है (चित्र १०);[1] यहाँ तक कि यदि इस चित्र के समय का निर्देश न किया जाय तो यह निर्णय करना कठिन होगा कि यह हिंदू-कालीन है वा अकबर-कालीन।

(३) इस के सौ वा डेढ़ सौ वर्ष पूर्व कनिष्क का राज्य काल है। उस के सिक्के भी सचित्र हैं। उन पर उस की प्रतिमा भी अंकित है। इन प्रतिमाओं में वह किसी में एक प्रकार के वस्त्रों में अंकित है किसी में दूसरे प्रकार के; जिन का ढंग एक दूसरे से भिन्न है।

शक होते हुए भी कनिष्क ने बौद्ध धर्म एवं भारतीय संस्कृति स्वीकार कर ली थी—अतएव, इस बात पर ध्यान देते हुए, यह अनुमान करना असंगत न होगा कि इन दो प्रकार के वस्त्रों में से एक तो उस का स्वदेशी पहनावा है (जो मुग़लों के, जिन का मूल स्थान भी शकों के पड़ोस में था—मौलिक पहनावे से, जिस का उल्लेख इस प्रबंध की प्रारंभिक पंक्तियों में हुआ है, बहुत मिलता है) (चित्र ११, आकृति १); और दूसरा (चित्र ११, आकृति २) वही भारतीय पहनावा है जिसे उस ने अपना लिया था; एवं जो सुदूर अजंता के गुहा-चित्रों तथा गुप्त सिक्कों पर भी मिलता है—अर्थात्, हमारे इसी चाकदार पहनावे का प्रपितामह।

---

[1] इंडिया सोसाइटी-द्वारा प्रकाशित 'अजंता फ़्रेस्कोज़' के आठवें प्लेट से उद्धृत।

चित्र—८

गुप्त सम्राट

चित्र—१

सम्राट कुमा गुप्त
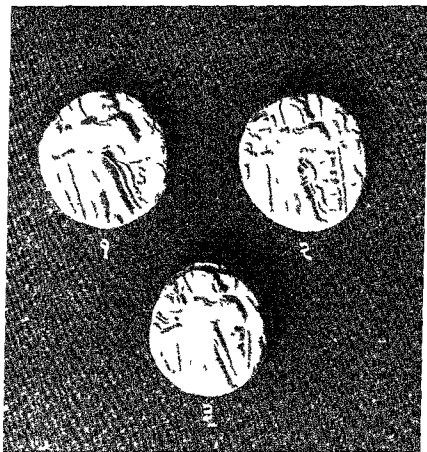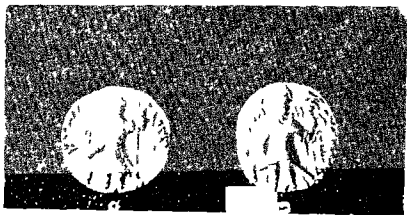
इसी प्रकार, इस तर्ज की दो हजार वर्ष की परंपरा तो चित्रों और सिक्कों से प्रमाणित हो जाती है। किंतु, ऐसा प्रतीत होता है कि उस के बहुत पहिले से हमारा यही पहनावा था। शतपथ ब्राह्मण (५। २—५) में राजसूय प्रकरण में, परिधेय वस्त्रों की चर्चा है। वहाँ तन पर के कपड़े का नाम पांड्य-कम्बल[1] मिलता है।

हमारे विचार्य वस्त्र का अर्थात्, चाकदार का मूल नाम 'चोल' है जो उस के लिये संस्कृत-साहित्य से लेकर अकबर के समय तक बराबर प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि हम आगे दिखावेंगे। हमें ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों नाम, जिस रेजे से ये ऊर्ध्व वस्त्र बनाए जाते थे, उस के कारण पड़े हैं, क्योंकि पांड्य और चोल, सुदूर दक्षिण में आपस में मिले हुए दो प्राचीन प्रदेश थे जहाँ के कपड़े संभवतः वैदिक काल के पूर्व भी मिस्र और बाबुल के बाजारों तक में आदर-पूर्वक खोजे जाते थे।

शतपथ ब्राह्मण में पांड्य (देश वाले रेजे से तैयार किए पहनावे) का रूप जरायु-जैसा लिखा है जिस से यह अनुमान असंदिग्ध हो जाता है कि वह चोल का पूर्वरूप था। ब्राह्मण-काल के बाद, जान पड़ता है, पांड्य देश का व्यापार मंदा पड़ गया और बाजार चोल देश के हाथ में चला गया। फिर तो वहाँ का रेजा ऐसा चालू हुआ कि उस दिसावर के बंद हो जाने के बाद भी वही नाम बना रह गया और परिधान-वस्त्र ही क्या उस के धारण करने वाले शरीर तक के लिये, 'चोला' रूढ़ि हो गया।

हम ऊपर कह चुके हैं कि अकबर के समय तक इस वस्त्र का नाम चोला वा चोलना ('ना'-लघुवाची प्रत्यय) ही था। सूरदास एक पद में कहते हैं—

अब हौं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम-क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल॥

---

[1] चूँकि आर्य लोग पहिले ऊनी कपड़े ही पहिनते थे अतएव कंबल उन के यहाँ वस्त्र मात्र के लिये रूढ़ि हो गया था। महीन से महीन वस्त्र के लिये कंबल प्रयुक्त होता है यह प्रयोग भी वैसा ही है

उन के समसामयिक अष्ट-छाप के कवि परमानंददास के एक पद का प्रथम चरण है—

पीतांबर को चोलना पहिरावति मैया ।

इसी चोले से दामन का संयोग अकबर ने कर दिया। आज भी हमारे यहाँ एक मुहाविरा है—चोले दामन का साथ—अर्थात् बहुत मेल। इस मुहाविरे में 'चोला' शब्द, हिंदी का, तथा 'दामन' फारसी का है, और इस मे अकबर ने जिस नये वस्त्र की अवतारणा की थी, उस का इतिहास भरा हुआ है, एवं यह (प्रयोग) निश्चय उसी समय से चला भी है। उस ने भारत के चोल (ऊपरी भाग) में फ़ारस के दामन (निचले भाग) को मिला कर उस वस्त्र की कल्पना की—जिसे अब घेरदार जामा कहते हैं अर्थात् जो चित्र २ मे अंकित है। हमारे इस तर्क का एक प्रबल प्रमाण है। वल्लभ-संप्रदाय में आज भी ठाकुर जी को यह अकबरी प्रकार का वस्त्र पहनाया जाता है और वहाँ इस का नाम 'चोला-दामन' है। सम्राट् के समकालीन वल्लभाचार्य ने अकबर की अनेक सांस्कृतिक बारीकियों को अपनी भगवत्-सेवा मे स्थान दिया था, जो आज भी बिंदु-बिसर्ग के भेद बिना उन के संप्रदाय में प्रचलित हैं। उन्ही में से उक्त वस्त्र भी है।

किंतु वहाँ के सिवा चोला शब्द अब या तो कोश में मिलता है या झुल्ला (पूर्वी ज़िलों मे ग्रामीण स्त्रियों की लंबी मिरज़ई), झोला (लंबा वस्त्र अथवा लंबा बटुआ—अपने लंबेपन के कारण), झोल झाल (ढीला ढाला वस्त्र), झूल (हाथी का) आदि रूपों में[1]।

अस्तु।

१६वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे प्रस्तुत की गई, आचार्य केशवदास के 'रसिकप्रिया' की एक चित्रित प्रति के ३२ सचित्र पृष्ठ बोस्टन-कला-संग्रहालय में हैं। इस चित्रावली के चित्रकार हिंदू थे, जो स्वभावतः अपने वस्त्रों से खूब परिचित थे। अतएव, उन्हों ने नायक-नायिका, दोनों, की वेश-भूषा बड़े ध्यान से, खूब ब्यौरेवार ठीक ठीक अंकित की है। उन में का एक चित्र हम यहाँ उद्धृत

चित्र—१०
अजंता भित्ति-चित्रों में की एक आकृति

करते हैं—(चित्र १२)—इस में कृष्ण का पहनावा अर्थात्, कौंछनीदार धोती पर चाकदार जामा उस काल का ठेठ-हिंदुआनी वेश है। अब यदि यह गुप्तकालीन पहनावे से मिलाया जाय तो दोनों के मुकुट, चोले और काँछनी में बहुत कम अंतर मिलेगा। मिलेगा केवल उतना ही जितना क्रम-विकास से अनिवार्य है; सोलहवीं शताब्दी वाले ऊर्ध्व वस्त्र का दामन कुछ नीचा हो गया है। किंतु उस की. कोना-निकली-हुई, गोल काट गुप्त परिच्छद की प्रत्यक्ष औरस संतान है। गुप्त-चोल की यह मार्के की विशेषता इस में ज्यों की त्यों बनी है।

हाँ, गुप्तकालीन ऊर्ध्व वस्त्र से एक बात में इस का विशेष अंतर है कि उस के सामने को, गरेबाँ को, बुताम-जैसी किसी वस्तु से बंद कर ने की योजना है और इस मे बग़ल मे बंद हैं। जान पड़ता है कि यह अंतर उस समय का है, जब प्रारंभिक मध्यकाल (८—१० शताब्दी) में भारत की घनिष्ठता तिब्बत मे हुई। इस बग़ल में बाँधने की प्रथा को तिब्बत ने चीन से पाया था और उस से इसे भारत ने ग्रहण किया। चीनी-तुर्किस्तान, फ़ारस ने भी बग़ल-बंदी की चाल चीन ही से ली है। किंतु गुप्तकालीन गरेबाँ की पद्धति भी हम ने छोड़ न दी थी; उस को भी हम ने बना रक्खा था। राणाओं के चित्र (चित्र ६) में राणा-कुमार कर्ण के वस्त्र का सामना गुप्त-परिपाटी का है।

इस चोले (=चाकदार) पर जो कमरबंद बाँधते थे, वह भी यहीं का रिवाज था। ईसवी-पूर्व पाँचवी शताब्दी की शैशुनाक मूर्त्तियों में जो कमरबंद बने हैं, जिस प्रकार उन की डेढ़ गाँठ लगाई गई है—अथवा उन के परवर्ती गुप्तों के कमरबंदों में लगाई गई है (चित्र ७, ८, ९)—अकबर के समय में भी ठीक वैसी ही डेढ़ गाँठ लगाई जाती थी (चित्र २)—फिर, उस कमरबंद का नाम 'पटका' (=पट्टक) भी तो भारतीय है। इसी प्रकार शैशुनाक मूर्त्तियों का दुपट्टा भी, अकबर के समय तक क्या, अब तक प्रचलित है।

पाजामा भी—जिस का जामे का साथ एक प्रकार नित्य है, कोई बाहरी चीज़ नहीं। यह भी 'एतद्देश-प्रसूत' है। गुप्त सम्राट भी इसे पहिनते थे—चित्र ७, की आकृति १ तथा चित्र ८ की आकृति ३ मे पाजामे की चूड़ियाँ साफ़ दिखाई दे रही हैं, चित्र १० में अजंता वाला व्यक्ति भी पहिने हुए है

इस का भारतीय नाम सूथना था, जिसे आज भी बड़े-बूढ़े पाजामे के लिये बर्तते हैं। यह शब्द 'सूत्र-नद्ध' शब्द का अपभ्रंश है, जिस का अर्थ है—सूत्र (=नड़े, इजारबंद) से नद्ध, बँधा हुआ (नड़ा इसी नद्ध से बना है)। सूर ने भी रास के समय, गोपियों का इसे पहिने हुए वर्णन किया है, यथा—

बेनी सुभग नितंबनि डोलति मंदगामिनी नारि।

सूथनि जघन बाँधि नाराबँद तरनी पर छबि भारि॥

सूरसागर[1]

इस से जान पड़ता है कि फुर्तीले कामों के समय स्त्रियाँ भी इसे पहिनती थीं। यह है भी इस योग्य।

उस समय हिंदू जो लटपटी पाग बाँधते थे, वह भी यहीं की चीज़ थी। उसे भी अकबर ने अपनाया था और आगे शाहजहाँ आदि ने उसे कई प्रकार परिष्कृत तथा अलंकृत किया था। यह न समझना चाहिए कि अकबर के अनुकरण पर राजपूतों तथा अन्य हिंदुओं ने उसे बाँधना आरंभ किया था। मुग़लों में तो कुलाहदार पग्गड़ का रिवाज था। जिस की इतिश्री हुमायूँ के साथ हो गई थी।

हमारी यह पगड़ी तो अकबर-काल के आरंभ के कम से कम पचास बरस पहले के कुछ ऐसे चित्रों में अंकित है, जिन (चित्रों) पर भारत के बाहर की क्या, भारत की ही राजपूत कला अथवा वेषभूषा की कोई छाया तक नहीं। ये चित्र उस शैली के हैं जिन का उपयोग जैन-धर्मग्रंथों अथवा गुजरात के वैष्णव वा श्रृंगारिक ग्रंथों में हुआ है। इस शैली की पर-सीमा १३-१४ वीं शताब्दी अपर-सीमा १६ वीं शताब्दी है। १६ वीं शताब्दी के साथ ही यह शैली निःशेष हो जाती है।

वस्त्र की जिस लंबी धज्जी से पगड़ी बनाई जाती है, उसे चीरा कहते हैं। यह संस्कृत 'चीर' शब्द से व्युत्पन्न है चीरना इसी का हिंदी नाम-धातु है,

लाक्षणिक प्रयोग हैं। अस्तु। इस चीरे से निर्मित पाग के क्रम-विकास पर अधिक विचार हम फिर करेंगे।

यहाँ का जूता उस प्रकार का होता था, जैसा बीरबर के चित्र में है। इस की फुँदनदार ऊँची चोंच, उस की वंशावली कात्यायन श्रौत सूत्र (२२। ४। २१) में उल्लिखित जूतों से मिला देती है। अकबर कालीन सभी हिंदू ऐसे ही जोड़े पहिनते थे; हिंदुत्व का चित्रों में यह निश्चित प्रमाण है। मुग़लई जूते इन से भिन्न होते थे, जैसे चित्र २ में अथवा अन्य मुग़ल बादशाहों और उमरावों के पैरों में पाये जाते हैं और जिन्हे आज भी जहाँगीर की युवराजावस्था के नाम पर सलीमशाही कहते हैं।

शिला-लेखों में ग्राम-संबंधी संख्यायें तथा भूमि का माप

[लेखक—डाक्टर प्राणनाथ, विद्यालंकार, पी-एच्० डी० (वियना), डी० एस्-सी० (लंदन)]

हुआँन्च्यांग की परिधि-विषयक संख्याओं की समस्या पर प्रकाश डालते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचे थे[1] कि भारतवर्ष पाँच खंडों और चौरासी देशों में बँटा था। प्रत्येक देश का क्षेत्रफल, जो कि जंगलों को साफ़ कर बस्ती तथा खेती बारी के काम में लाया गया था, मापा जा चुका था। अब हम इस बात का पता लगाने का यत्न करेंगे कि देशों के अंदर माप का काम कहाँ तक पहुँच चुका था।

[१]

ज़मीनों का माप तथा गणना-विभाग

कौटल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में जमीनों के माप तथा अन्य बातों की गणना के संबंध में लिखा है कि :—

'समाहर्ता (राज्यस्व एकत्रित करनेवाला) जनपद को चार भागों में विभक्त कर, ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ आदि के भेद से 'ग्रामाग्र' (गाँवों की कुल संख्या) 'परिहारक' (राज्य कर से सर्वथामुक्त) 'आयुधीय' (सैनिकों को आवश्यकतानुसार देनेवाला), 'धान्य,' 'पशु,' 'हिरण्य,' 'कुप्य' (जांगलिक-द्रव्य), (बेगार), 'विष्टि' आदि कर में देने वाला—इत्यादि के अनुसार इतने इतने ग्राम हैं यह निबंध-पुस्तक (रजिस्टर) में दर्ज करे।

---

[1]देखो, 'हिंदुस्तानी', भाग १ अंक १।

पाँच ग्राम से दस ग्राम तक का प्रबंध 'गोप' नामक राज्य कर्मचारी करे। सीमा के अनुसार ग्रामों का कुल योग—जुता हुआ, बेजुता हुआ, खाली पड़ा, चावल का खेत, बाग़, तरकारी का खेत, बग़ीचा, जंगल, मकान, मंदिर, चैत्य, तालाब, श्मशान, सत्र (दलदल झाड़ आदि या वह स्थान जहाँ भोजन दान मे मिले या यज्ञस्थान), प्रपा (प्याऊ), तीर्थ, चरागाह, मार्ग आदि के अनुसार खेतों का कुल योग; ग्रामो की सीमा तथा खेतो के विषय में यह लिखा जाय कि उन की अपनी अपनी हद क्या है कितने मे अरण्य तथा मार्ग है कौन सी जमीन खरीदी गई है या दान से मिली है किस को किस ढंग की राजकीय सहायता मिली है और कौन सी जमीन राज्य-कर से मुक्त है। मकानो के विषय मे निबंध-पुस्तक में लिखा जाय कि कौन सा मकान राज्य-कर देता है और कौन सा मकान नही। और साथ ही स्पष्टरूप से यह प्रकट किया जाय कि अमुक गाँव में इतने चारों वर्णों के लोग हैं; किसान, ग्वाले, बनिये, कारीगर, मेहनती, मजदूर तथा दास इतने हैं; दो पैर वाले जानवरो तथा चौपायो की संख्या इतनी है; और हिरण्य, बेगार, चुंगी या शुल्क तथा जुरमाना इन इन गाँवो से इतना इतना मिलता है; किन किन स्त्रियों तथा पुरुषों को कौन कौन सी विद्या आती है; उन में बालक, वृद्ध, कितने हैं; उन का काम, पेशा, आमदनी तथा खर्च कितना है इत्यादि बातों का परिगणन करते हुए 'स्थानिक' जनपद के चौथे भाग का प्रबंध करे। 'प्रदेष्टा' लोग 'गोप' तथा 'स्थानिक' के कामों का निरीक्षण करे और 'बलि' (धर्मविषयक कर) नामक कर को एकत्रित करें।'[1]

---

[1]समाहर्ता चतुर्धा जनपदं विभज्य ज्येष्ठमध्यमकनिष्ठविभागेन ग्रामाग्रं परिहारकमायुधीयं धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिकरप्रतिकरमेतावदिति निबंधयेत्।

तत्प्रदिष्टः पंचग्रामीं दशग्रामीं वा गोपश्चिन्तयेत्।

सीमावरोधेन ग्रामाग्रं कृष्टाकृष्टस्थलकेदारारामषण्डवाटवनवास्तुचैत्यदेवगृहसेतुबं- ——————ण्यस्थानविवीतपथि संख्यानेन क्षेत्राग्रं, तेन सीम्नां क्षेत्राणां च मर्यादा-रण्यपथि कारयेत्

यहाँ पर ही बस न कर कौटल्य ने माप, राज्य-कर तथा गणना संबंधी कामों मे शिथिलता या बेईमानी न हो इस के लिये खुफिया लोगों को नियुक्त करना उचित समझा। वह कहता है कि 'समाहर्ता खुफिया लोगों को गृहस्थ के भेष (गृहपतिक व्यंजन) में भिन्न भिन्न गाँवों मे यह जानने के लिये भेजें कि किन किन गाँवों में खेतों, मकानों तथा लोगों की क्या स्थिति है? वह खेतों के परिमाण तथा उपज का, मकानों की आय तथा परिहार (राज्य-कर से छुटकारा) का और लोगों की जात (वर्ण) तथा काम का पता लगाएं और उन की कुल संख्या के साथ साथ उन की आमदनी तथा खर्च का पता लेवें। गाँव से कौन आया और कौन गया, उस के आने जाने का क्या कारण है, कौन स्त्री-पुरुष बुरा काम करते हैं और दुश्मनों ने कहाँ कहाँ पर अपना खुफिया रख छोड़ा है इत्यादि बातों का भी साथ ही मे वह लोग ज्ञान प्राप्त करते रहें।'[1]

ऊपर लिखे दो उद्धरणों से यही स्पष्ट है कि जमीन का माप आवश्यक समझा गया था। कहाँ तक वह काम में लाया जाता था इस के लिये क्या प्रमाण? इस में संदेह नहीं कि यदि मैगस्थनीज़ की बात सच मानी जाय तो 'उत्पत्ति तथा मृत्यु' की गणना का काम तो होता था। उस के अनुसार चंद्रगुप्त के राज्य में 'अध्यक्षों के तृतीय वर्ग मे वह राज्यकर्मचारी थे जो कि उत्पत्ति तथा मृत्यु के विषय में यह पता चलाते थे कि ऐसा कब तथा कैसे हुआ। उन

गृहाणांच करदाकरदसंख्यानेन।

तेषु चैतावच्चातुर्वर्ण्यमेतावंत: कर्षकगोरक्षकवैदेहककारुकर्मकरदासाश्चैतावश्च द्विपदचतुष्पादमिदं च हिरण्यविष्टिशुल्कदण्डं समुत्तिष्ठतीति। कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् (मैसूर संस्करण १९१९) पृष्ठ १४१-१४२,

[1]समाहर्तृ प्रदिष्टाश्च गृहपतिक व्यंजना येषु ग्रामेषु प्रणिहितास्तेषां ग्रामाणां क्षेत्रगृहकुलाग्रं विद्युः। मानसंजाताभ्यां क्षेत्राणि भोगपरिहाराभ्यां गृहाणि वर्णकर्मभ्यां कुलानि च। तेषां जंघाग्रमायव्ययौ च विद्युः। प्रस्थितागतानां च प्रवासावास च स्त्रीपुरुषाणां चारप्रचारं च विद्यु पूर्व ग्रंथ पृष्ठ १४२

का मुख्य उद्देश राज्य-कर लगाने के सिवाय यह भी था कि राज्य को पता रहे कि अमीरों ग़रीबों मे उत्पत्ति तथा मृत्यु की क्या स्थिति है।'[1]

मैगस्थनीज़ के साथ साथ और कौन कौन से लेखक हैं, जिन्हों ने इस विषय पर लिखा है, इस के लिये बहुत सा अन्वेषण आवश्यक है। शिलालेखों मे इस का कुछ तो वर्णन अवश्य ही मिलना चाहिए। ज़मीनों का ख़रीदना बेचना, लेना-देना, तथा पिता के मरने पर लड़कों का आपस में बाँटना बिना नाप जोख के हो नहीं सकता। राज्य-कर लग नहीं सकता, यदि खेतों के टुकड़ों का हिसाब पटवारी के पास न हो। बँटाई के ज़माने में तो इस का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। सारांश यह है कि ज़मीनों के माप के विषय में यदि कोई स्थान है, जो कि सामग्री से भरपूर हो, वह शिला-लेख ही हो सकते है।

[२]

शिला-लेखों में संख्यायें

सरकार की ओर से जो शिला-लेख प्रकाशित हुए हैं उन में से दक्खिन भारत के ऐसे बहुत से शिला-लेख हैं जिन मे देशों तथा गाँवों के साथ कुछ संख्यायें जुड़ी हैं। यह संख्यायें बहुत सालों से पत्थर की लकीर बन गई हैं। इन की उलझन को बहुतों ने सुलझाना चाहा परंतु पूरी तरह से यह किसी से न सुलझी। यहाँ तक कि सर रामकृष्ण भंडारकर ने भी बांबे गजेटियर में इन को ज्यों का त्यों पड़ा रहने दिया।

शिला-लेखों की संख्याओं के नमूने देखने हों तो दक्खिन भारत को ही लीजिये। उन में किसुकाड़ को सत्तर,[2] तोड़गरे को साठ,[3] मासवाड़ि को एक

---

[1]श्रीयुत नरेंद्रनाथ लॉ की पुस्तक 'स्टडीज़ इन एंशंट हिंदू पॉलिटी' में उद्धृत। 'मेगस्थनीज़,' तृतीय पुस्तक, अंश ३२। लॉ साहब की पुस्तक के पृष्ठ १०६-१६ भी देखिए।

[2]एपीग्राफिया इंडिका—भाग १२—संख्या २२ पृ० २९६ टिप्पणी।

[3]वही भाग १५ संख्या ६ पृ० ७९

सौ चालीस,[1] सागर को तीन सौ,[2] करटिकल्लु को ऐड़ोर के दो हजार में तीन सौ,[3] नोर्लवाड़ि को बत्तीस हजार,[4] कंगाल को पाँच सौ,[5] हगड़िटगे को तीन सौ,[6] कुक्कुनूर को तीस,[7] बाल्लकुंद को तीन सौ,[8] एलांबि को बीस,[9] कंदूर तथा संतलिगे को एक एक हजार,[10] बनवास को बारह हजार,[11] वेल्वोला या वेलुवाल् को तीन हजार,[12] हुलिगेले को भी तीन हजार,[13] पलासिगे को बारह हजार,[14] कूंडि को तीन हजार,[15] पानुंगल्लू को पाँच सौ,[16] नियुं-वोल को सत्तर,[17] कुंदबुर को तीस,[18] संख्याओं से सूचित किया है। संपूर्ण

---

[1]एपीग्राफ़िया इंडिका—भाग १५—संख्या ६ पृ० ७९।

[2]वही भाग १२ संख्या ३२ पृ० २७२-३।

[3]वही भाग १२ संख्या ३४ पृ० ३१३।

[4]वही भाग १६ संख्या ७ पृ० २८।

[5]वही भाग १६ संख्या ७ पृ० २८।

[6]वही भाग १२ संख्या ३४ पृ० ३०७।

[7]वही भाग १६ संख्या ८ पृ० ३७।

[8]वही भाग १६ संख्या ८ पृ० ३७।

[9]वही भाग १६ संख्या १० पृ० ७२।

[10]वही भाग १६ संख्या ९ पृ० ५९।

[11]वही भाग १६ संख्या ९ पृ० ५९।

[12]वही भाग १६ संख्या ९ अ० पृ० ५६।

[13]वही भाग १६ संख्या ९ पृ० ३५।

[14]वही भाग १६ संख्या ९ पृ० ५०।

[15]वही भाग १६ संख्या १ पृ० ३।

[16]वही भाग १२ संख्या १ पृ० २०८।

[17]वही भाग १२ संख्या ३२ पृ० २९०।

[18] वही भाग १२ संख्या ३२ पृ० २९८

दक्खिन को सार्ध सप्तलक्षे दक्षिणापथे साढ़े सात लाख वाला दक्खिन का नाम दिया है।[1]

स्वाभाविक है कि प्रश्न उठे कि इन संख्याओं का क्या तात्पर्य है? भूमि के दान के संबंध मे इन का क्या महत्त्व है? किस उद्देश्य को यह पूरा कर रही हैं? क्या यह भारतीयों की अत्युक्ति का नमूना हैं? या क़िस्से कहानियो की तरह यह कल्पनात्मक हैं? डाक्टर फ्लीट् का विचार है कि "यह बात भ्रमपूर्ण है—इस का प्रारंभ डाक्टर बर्नेल करते हैं (देखो उन की 'साउथ इंडियन पेलियोग्राफी', द्वितीय संस्करण, पृ० ६७, एक को छोड़ कर अंतिम वाक्य)—कि ग्रामों तथा देशों के साथ जो संख्यायें है वह लगान की राशि को सूचित करती है। निस्संदेह ऐसे विचार के लिये प्रमाण यह हो सकता है कि मैसूर में २० हजार गाँव और बंबई प्रांत मे ४४ हजार गाँव आज तक भी नही पाये जाते।..............परंतु ऐसे वाक्यों की कमी भी नही है जो कि इस ढंग की संख्याओं को देते हैं चाहे वह संख्यायें असली हों, अत्युक्तिपूर्ण हों या लोक-प्रथा से चली आई हों। यह संख्याये नगरों, पुरों तथा गाँवों के संबंध मे हैं। दृष्टांत-स्वरूप एहोले शिला-लेख मे जो कि ईसा के ६३४-५ साल बाद का है निन्नानबे हजार गाँव वाले महाराष्ट्र, (इंडियन एंटिक्वेरी, भाग ८, पृ० २४४) शिलाहार के १०२६ तथा १०९५ के शिला-लेखो में कोंकण के एक भू-प्रदेश को चौदह सौ गाँव वाला (पूर्व ग्रंथ, भाग ५, पृ० २८०, तथा भाग ९, पृ० ३८); खान देश में पाटनपर के १२२२ ईस्वी के शिला-लेख में सोलह सौ गाँवों का देश (एपीग्राफिया इंडिका, भाग १, पृ० ३४५); और वेणु ग्राम संबंधी भू प्रदेश के साथ सत्तर संख्या की व्याख्या स्पष्ट रूप में सत्तर गाँवों का भू-प्रदेश (जर्नल—बांबे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसायटी भाग १० पृ० २५२)—ऐसा पाया जाता है। बड़ी बड़ी संख्याओं के दृष्टांत—नोलंबवाड़ि बत्तीस हजार बेल्लारी जिले मे; कावड़ि द्वीप सवा लाख, जो कि कोंकण का उत्तरीय भाग था; साढ़े सात लाख का देश जो कि राष्ट्रकूटों तथा

---

[1] 'बांबे गजेटियर', भाग १, खंड २ पृ० ३४१, टिप्पणी २।

उन के बाद चालुक्यों के राज्य को सूचित करता था—हैं। यही बड़ी संख्यायें अत्युक्ति की अंतिम सीमा है। इन का आधार या तो लोक-प्रथा या क़िस्से कहानियाँ हो सकती हैं। परंतु ऐसी ऐसी छोटी संख्याओं को व्यर्थ समझ कर फेंक देने से कुछ भी अर्थ-सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे कि 'कोंकण चौदह सौ और नौ सौ', 'पानुंगल पाँच सौ' तथा-'वेणबोल तीन सौ'—ख़ास कर ऐसी हालत में जब कि हम यह पूरी तरह से जान जायँ कि किस प्रकार से कूंडी तीन हज़ार, करहाट चार हज़ार, टोलगले छः हज़ार, यलसिंग बारह हज़ार और बनवासि बारह हज़ार आदि छोटी संख्याये संमिलित हैं। देशों को दस, बीस, सौ, हज़ार गाँवों में विभक्त कर शासन करने का मानव धर्म-शास्त्र ७, ११३ तथा ११७ में उल्लेख[1] मिलता है।"[2]

[३]

ग्राम का तात्पर्य

ऊपर लिखे हुए उद्धरण से तो यह प्रतीत होता है कि डाक्टर फ़्लीट् को छोटी छोटी संख्याओं की सचाई में कुछ भी संदेह नहीं है। परंतु बड़ी संख्याओं

---

[1] राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्।
सुसंगृहीत राष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते॥
द्वयोस्त्रयाणां पंचानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्राम शतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम्॥
ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशंच सहस्रपति मेव च॥
ग्राम दोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद्ग्राम दशेशाय दशेशो विंशतीशिनम्॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्।
शंसेद्ग्राम शतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम्॥
मनुस्मृति। अध्याय ७।

[2] 'बांबे गजेटियर' जिल्द 1, भाग २ पृ० २९८, नोट २

को वह अत्युक्ति-पूर्ण या क़िस्से कहानियों की तरह परंपरा से चली आती हुई झूठी मानते हैं। परंतु जहाँ तक मेरा विचार है—मैं उन को या तो झूठ ही या सर्वथा सच मानने के लिये तैयार हूँ। चाहे वह बड़ी हों और चाहे वह छोटी हो। इस में संदेह भी नहीं है कि किसी भी एक परिणाम पर पहुँचने से पहिले मैं उन को कसौटी पर पूरी तरह कसना उचित समझता हूँ। प्रश्न तो यह है कि संख्याओं के साथ आने वाले 'ग्राम' 'क्षिति' आदि शब्दों के अर्थ क्या हैं? आंग्ल भाषा में गाँव, क़स्बा या शहर का, 'विलेज' 'टाउन' 'सिटी' शब्दों के द्वारा अनुवाद किया गया है।

इंग्लैंड मे 'प्रज्ञापनोपांग' नामक जैन ग्रंथ का कैटलॉग अर्थात् वैज्ञानिक रीति से सूचीपत्र तैयार करते समय उस की टीका में ग्राम शब्द का 'रियासत' या 'मौज़ा' अर्थ देख कर मुझ को अचंभा हुआ। वहाँ यह लिखा था कि ग्राम उस को कहते हैं जो कि अठारह प्रकार के राज्यकरों को दे।[1] इस के बाद मै ने बहुत से संस्कृत-कोष देखे परंतु कुछ भी सफलता न हुई। इस से मुझ को कुछ भी असंतोष न हुआ क्योंकि साधारणतया संस्कृत के सभी कोष साहित्य पढ़ने वालों की सुगमता के लिये साहित्य मे विद्वान् पंडितों द्वारा संकलित किये गए हैं। लगान के बहीखातों में किन किन शब्दों का किन किन अर्थों में प्रयोग है इस पर उन्हों ने ध्यान नही दिया। कौटलीय अर्थ-शास्त्र तक से तो उन्हों ने शब्दों का संग्रह न किया। 'सत्र' शब्द का अर्थ 'यज्ञ' या 'क्षेत्र' अर्थ तो मिल जायगा परंतु कँटीला, झरंकड़, दलदल आदि अर्थ कदाचित् ही किसी कोष ने दिया हो। अधिक दूर क्यों जायँ? डाक्टर शाम शास्त्री अपने कौटल्य अर्थ-शास्त्र के अनुवाद में 'सेतु' जैसे साधारण शब्द की उलझन

---

[1] ......महाविदेहेसु चक्कवट्टिखंधावारेसु वासुदेवखंधावारेसु बलदेवखंधावारेसु मंडलियखंधावारेसु महामंडलियखंधावारेसु गामणिवेसेसु णगरनिवेसेसु णिगमणिवेसेसु..
(टीकाः—महाविदेहेषु, किंतु चक्रवर्त्ति-स्कंधावारेषु......ग्रामणिवेसेसु इत्यादि, ग्रसत्ति बुद्ध्यादीन् गुणान् इति ग्रामः, यदि वा गम्यः शास्त्रप्रसिद्धानामष्टादशकराणामिति ग्राम श्री , पत्र ४६ भाग १)

न सुलझा सके। सब कोषों के होते हुए भी आज से आठ साल पहिले लेखक ने जो कौटल्य अर्थ-शास्त्र का हिंदी अनुवाद किया उस में लगभग २०० से ऊपर त्रुटियाँ हो गई और पंडित उदयवीर शास्त्री ने इन त्रुटियों की संख्या अपने अनुवाद में ५०० से भी ऊपर पहुँचा दी। श्रीयुत मेयर का जर्मन अनुवाद भी कहीं कहीं पर गर्त मे पड़ गया। यद्यपि सब से अधिक त्रुटि-रहित यही अनुवाद है। सारांश यह है कि संस्कृत-कोषों का शब्द-संग्रह बहुत ही परिमित-क्षेत्र से हुआ है। इसी से यह सब कठिनाइयाँ पैदा हो गई हैं। 'अभिधान-राजेंद्र' एक जैन कोष है जिस मे भिन्न भिन्न शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थ दिए है।

विजयी समुद्रगुप्त आदि गुप्तों के युग में और कदाचित् कुछ सदियाँ उन से पूर्व 'ग्राम' सरकारी लगान संबंधी कागजों मे 'रियासत' के अर्थ में और साधारण व्यवहार में 'बस्ती' के लिये प्रयुक्त होता था। इस के भिन्न भिन्न अर्थों के संबंध मे विवाद भी था। वह इस बात पर तो सहमत थे कि 'ग्राम' रियासत के अर्थ में आता है चाहे उस रियासत मे जंगल हो, चाहे परती या जुती जमीन हो। उस का परिमाण क्या है इस पर वह सहमत न थे।

'प्रज्ञापनोपांग' के टीका-लेखक के सदृश 'अभिधान राजेंद्र' के संकलयिता ने भी 'ग्राम' शब्द की व्याख्या करते हुए यह लिखा है कि 'ग्राम' शब्द उस रियासत के लिये भी आता है जो कि अठारह प्रकार के सरकारी कर दे। भारत मे बहुत पुराने ज़माने से 'ग्राम' शब्द का व्यवहार भिन्न भिन्न दस अर्थों मे होता था जो कि इस प्रकार है[1]—

(१) गउएँ (गावः)

(२) घास (तृणानि)

---

[1]गाम—ग्राम—पुं० गम्यो गमनीयोऽष्टादशानां शास्त्रे प्रसिद्धानां कराणा इतिव्युत्पत्त्या, ग्रसते वा बुध्यादीन् गुणानिति व्युत्पत्त्या वा पृषोदरादित्वात् निरुक्त-विधिना ग्राम 'प्राकृतम्' प्रश्न २ आस्त्र द्वार मा ज्ञा कंटक-

(३) हद (सीमा)
(४) आमोद-प्रमोद के लिये बगीचा (आराम)
(५) कुआँ (उदपान)
(६) नौकर चाकर (चेट ?)
(७) वाड़ा (वहिः)
(८) मंदिर (देवकुल)
(९) रियासत (अवग्रह)
(१०) स्वामी (अधिपति)

गावो तणाई सीमा आराममुदपाणचेटरूपाणि ।
वाहीयवाणमंतरनुग्गहतत्तो य आहिपती ॥

परिस्थूरमपि परग्राममपि चरितुं व्रजन्ति, ततः किमेवं सोप्येकएव ग्रामो भवतु अपिचैवं ब्रुवतो भूयसामपि परस्परमतिदवीयसां ग्रामाणामेकग्रामत्वैव प्रसज्जति, न चैतदुपपन्नम् तस्मानैतावान् ग्रामः किंतु यत् यावन्मात्रं क्षेत्रं तृणहारककाष्ठहारकादयः सूर्यउत्थिते तृणाद्यर्थं गताः सन्तः सूर्येऽस्तमयति तृणादिभारकं बद्ध्वा पुनरायान्ति, एतावत् क्षेत्रं ग्रामः ।

पर सामंपि वयंतिहु, सुद्धतरो भणति जा स सीमातु ।
उज्जाण अवत्ता वा, उक्कीलंता सुद्धपरो ॥

शुद्धतरो नैगमो भणति—यद्यपि गवा गोचरक्षेत्रादासन्नतरं भूभागं तृणकाष्ठहारका व्रजन्ति, तथापि ते कदाचित् परसीमानमपि व्रजंति तस्मान्नैतावान्ग्राम उपपद्यते । अहं ब्रवीमि—यावत् वा आत्मीया सीमा एतावान् ग्रामः । ततोपि विशुद्धतरः प्राहमैवं । अतिप्रचुरं क्षेत्रं ग्राम इत्यवोचः, किंतु यावत् तस्यैव ग्रामस्य संबंधी कूपः तावद्ग्रामइति । ततोपि विशुद्धतरो ब्रूते—उद्यानमारामस्तावद् ग्राम इति भण्यते विशुद्धतमः प्रतिभणति—एतदपि भूयस्तरं क्षेत्रं न ग्रामसंज्ञानं लब्धुमर्हति अहं भणामि यावदुदपानं तस्यैव ग्रामस्य संबंधी कूपः तावद्ग्राम इति । ततोऽपि विशुद्धतरो ब्रूते—इदमप्यतिप्रभूतं क्षेत्रं, अतो यावत्क्षेत्रं अव्यक्तानि चेटरूपाणि रममाणानि गच्छन्ति तावद्ग्रामः । ततोऽपि विशुद्धतरः प्रतिवक्ति एतदप्यतिरिक्ततया न समीचीनमाभाति, ततो यावंतं [illegible] यासो उत्क्रीडतो [illegible] प्रयान्ति तावान् ग्राम इति

ऊपर लिखे अर्थों की व्याख्या 'अभिधानराजेंद्र' में बहुत उत्तम रूप से की गई है। दृष्टांत-स्वरूप पहिले अर्थ गौ को ही लीजिये। बहुत से विद्वानों (नैगमाः) का मत था कि 'गाँव' उस एक भूभाग का नाम है जहाँ तक कि गउएँ चरने को जाती हैं। इस पर विशुद्ध नैगमों का कहना है कि गउएँ तो दूसरों के गाँवों मे भी घास चरती हैं तो क्या वह भी एक गाँव समझा जाय? इस से तो दूर दूर बसे गाँव भी एक गाँव बन जायँ। इसलिए यह तो ठीक नहीं है। जितनी ज़मीन को पार कर लकड़हारे सबेरे उठ कर लकड़ी काटने के लिये जाते हैं और शाम को लौटते हैं उस सारी ज़मीन का नाम गाँव है। विशुद्ध नैगम कहता है कि यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि कभी कभी वह भी दूसरे गाँव की सीमाओं में चले जाते हैं। हमारी समझ मे तो अपनी सीमा जितने मे हो वही ग्राम है। इस पर विशुद्धतर नैगम का कहना है कि यह भी ठीक नहीं है। हम तो अति प्रचुर क्षेत्र को गाँव समझते हैं। जहाँ तक जिस गाँव के कुएँ हो वहाँ तक गाँव है। इस पर दूसरा विशुद्धतम कहता है कि कुएँ, आराम, बाग़-बगीचे आदि जहाँ तक हों वहाँ तक गाँव है। इस मे दोष यह है कि यदि इस से भी ज़्यादा ज़मीन हो तो वह गाँव नहीं कहला सकता। जहाँ तक प्याऊ और उस गाँव से संबंध रखने वाला कुआँ हो वहाँ तक सब गाँव हैं।......इस ढंग के विचित्र विचित्र विचारों को तिरस्कृत कर सब से विशुद्ध नैगम के अनुसार जो ज़मीन जहाँ तक बाड़ से घिरी हुई हो वहाँ तक एक गाँव हुआ। गाथा का आठवाँ, नवाँ तथा दसवाँ अर्थ 'संग्रहनय' 'ऋजुसूत्रनय' तथा 'शब्दनय' के अनुसार बहुत स्पष्ट हो जाता है।[1]

एव विसुद्धनिगमस्स वै परिक्खेव परिखुमो गामो।
ववहारस्स वि एवं, संगह जहि गामसमवाओ॥

एवं विचित्राभिप्रायाणां पूर्वनैगमानां सर्वं अपि प्रतिपत्ति व्युपोह्य सर्वविशुद्ध-नैगम-नयस्य यावान् वृतिपरिक्षेपपरिवृतो भूभागस्तावान् ग्राम उच्यते...(अभिधान-राजेंद्र, शब्द—"ग्राम या गाम" पृ० ८६५-७)।

[1]पंडित नीलकंठ शास्त्री ने जो कि मद्रास [illegible] में इतिहास तथा

(१) संग्रहनय—इस के अनुसार ग्राम का अर्थ देवकुल, सभा, गोष्ठ या प्रपा (प्याऊ) है।

(२) ऋजुसूत्रनय—इस के अनुसार ग्राम किसी एक व्यक्ति की संपत्ति को सूचित करता है। संपत्ति के लिये वहाँ 'वास्तु' शब्द लिखा है जो आंग्लभाषा में 'इस्टेट' से सूचित किया जाता है।

(३) शब्दनय—इस के अनुसार 'ग्राम' शब्द बहुधा 'स्वामी' या 'अधिपति' या 'ज़मींदार' के लिये आता है।

इसी प्रकार कामिकागम, कारणागम तथा मयमत में जो 'ग्राम शब्द का लक्षण दिया है वह भी ध्यान देने के योग्य है।[1] कामिकागम के अनुसार 'ग्राम' उस का नाम है जिस का ब्राह्मण या अन्य जाति के लोग उपभोग करें। जहाँ एक ग्रामणी अपने नौकरों चाकरों के साथ रहता हो उस को 'कुटिक' नाम से पुकारते हैं क्योंकि उस का उपभोग करने वाला एक व्यक्ति होता है। विद्वान् ब्राह्मण को ऐसा दान करना चाहिए। यह सब से उत्तम दान समझा जाता है। इत्यादि।

वैदिक तथा उपनिषत्काल में भी 'ग्राम' का यह अर्थ प्रचलित था। दृष्टांत-स्वरूप बोधायन-धर्म-सूत्र में एक स्थान पर ग्राम का अर्थ टीकाकार ने

को ऊपर लिखे तीन (संग्रह, ऋजु तथा शब्द) नयों के द्वारा पुष्ट किया है। देखो ('जर्नल अव् ओरियन्टल रिसर्च', मद्रास, भाग ४। लेख "ग्राम—एन् एकज़ामिनेशन अव् ए न्यु इन्टरप्रिटेशन" पृष्ठ २१८-२१९) लेख समालोचनात्मक है। इस लेख का उत्तर लिखा जा रहा है। प्रसन्नता की बात होगी, यदि हिंदी लेखक इस प्रश्न पर विचार करें। हम को भी सचाई तक पहुँचने में सुगमता हो जायगी। पंडित नीलकंठ शास्त्री को हमारा अनेक हार्दिक धन्यवाद।

[1] विप्रैरथान्यैर्वर्णैर्वा भोग्यो ग्राम उदाहृतः।

एको ग्रामणिको यत्र सभृत्य परिचारतः।

पृष्ठ सु॥ ॥

'वास्तु' किया है। कौटल्य के अनुसार 'वास्तु' उस रियासत का नाम है जो कि भूमि या बाग या घर या कुआँ के रूप में हो।[1] छांदोग्योपनिषद् में रैक ब्रह्मज्ञानी की गाथा में एक-विजन देश को 'ग्राम' कहा है।[2] अथर्व वेद की 'संग्रामाः समितयः' कदाचित् रियासत वालों की सभा से संबंध रखता हो।[3] जंगली रियासतों को बहुत संभव है कि 'अरण्य' कहते हों।[4] क्योंकि बहुत जगहों में ग्राम तथा अरण्य साथ साथ आते हैं।

प्रागुक्तगुणयुक्ताय वेदार्थे निपुणायच।

कुर्यात्तज्ज्ञाननिधये दानं स्यादुत्तमोत्तमम्।

एकभोगमिति ख्यातं प्रशस्त मतिदुर्लभम्॥ कारणागम॥

अन्यदशक्तानां चेद्दानं दशभूसुरान्तमेकादि।

एककुटुम्बिसमेतं कुटिकं स्या (त्त) देकभोगमिति कथितम्॥ मयमत॥

(उद्धृत, देखो, एपीग्राफ़िका इंडिका भाग १५, संख्या ५, पृ० ५५)

[1]निर्गत्य ग्रामांते ग्रामसीमांते वाऽवतिष्ठेत तत्र कुटीं मठं वा करोति कृतं वा प्रविशति।

(टीका) ग्रामांतो वास्तुसीमा, इतरः क्षेत्रसीमा, कुटी एकस्थूणं वेश्म।

मठो बहुस्थूणः। बोधायन-धर्मसूत्र, ३, १, सूत्र १३, पृ० ३००।

सामंत प्रत्यया वास्तु विवादाः। गृहं क्षेत्रं आरामसेतुबंधस्तटाकमाधारो वा वास्तुः। (कौटल्य-अर्थशास्त्र, पृ० १६६)।

[2]सो 'धस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणं उपोपविवेश'......(शंकराचार्य कृत टीका'...इत्युक्तः क्षत्ता अन्विष्य तं 'विजनेदेशे'......अयंच 'ग्रामः' यस्मिन्नासे......(छांदोग्योपनिषत् अध्याय ४, खंड १-२, मंत्र ८ तथा ४)।

[3]ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदरमते (अथर्ववेद, १२, १, ५६)। रियासत या इलाक़े वाले के लिये 'ग्रामणी' शब्द कदाचित् प्रयुक्त होता था। देखो—ग्रामण्यं गृहान् परेत्य (शतपथ, ३, १, ६); ग्रामण्यो गृहे (मैत्रेयसंहिता, भाग २, ६, ५; भाग ३, ३, ८)। सिंधुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः (महाभारत। सभापर्व ३२)

[4]यद्ग्रामे यदरण्ये　　　　यदिंद्रिये (अथर्ववेद, ५, २०, १७　　देखो

सांरांश यह है कि शिलालेखों की संख्याओं को कल्पनात्मक समझने के स्थान पर यदि उन्हें हम रियासत या इलाके के अर्थ में लें तो कुछ भी कठिनाई नहीं उपस्थित होती। इस के साथ साथ लगान, माप आदि की दृष्टि से उन सब शिलालेखों का महत्त्व बढ़ जाता है जिन में देशों के संमुख संख्यायें दी हैं।

[४]

ग्रामों में देश का विभाग; ग्रामों की संख्या

ऊपर लिखे उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'ग्राम' शब्द का प्रयोग, बस्ती के अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी होता था। सरकारी लगान संबंधी कागज़ात में इस का तात्पर्य वह रियासत या ज़मींदारी थी जो कि सरकारी करों तथा राज्य के अन्य हक़ों को स्वतंत्र रूप से दे। किसी और रियासत का भाग न हो। जिस का अपना-मालिक हो और जो कि सरकार के प्रति उस हिस्से के करों आदि के लिये ज़िम्मेदार हो। दृष्टांत-स्वरूप 'कुंदबुर तीस' संबंधी ताम्र-पत्र लीजिये।[1] हमारी व्याख्या के अनुसार 'कुंदबुर' तीस टुकड़ों में बँटा था। हर एक टुकड़ा सरकारी कागज़ात में अलग से दर्ज था और हर एक का अपना अपना मालिक था। वह उस टुकड़े के सरकारी हक़ों के संबंध में ज़िम्मेदार था। इसी प्रकार जयसिंह द्वितीय के मोराज ताम्रपत्र में लिखा है कि राजा ने एक 'ज़मीन' दी (जिस का अनुवाद संपादक ने 'ग्राम' किया है।[2]) जो कि 'करटिकल्लु तीन सौ' और 'एड्दोरे दो हज़ार' में थी।[3] डाक्टर जे० एफ० फ़्लीट् के विचार में एड्दोरे का देश कृष्णा नदी के उत्तर और तुङ्गभद्रा के दक्खिन के बीच का देश था। आज कल के रायचूर ज़िले का एक बड़ा भाग इस को

---

[1]एपीग्राफ़िया इंडिका, भाग १६, संख्या ८, पृष्ठ ३५; भाग १२, संख्या, ३२, पृष्ठ २९०।

[2]वही, भाग १२, संख्या ३४।

[3]वही, भाग १२, संख्या ३२, पृष्ठ २९६, डाक्टर फ़्लीट् की टिप्पणी; इंडियन एंटिक्वरी, भाग ८ पृष्ठ १८ एपीग्राफ़िया इंडिका, भाग १२ संख्या २१, पृष्ठ २०२

समझना चाहिए।[1] इस भू-प्रदेश में ग्रामों की संख्या डाक्टर फ्लीट् के समय में ८९३ थी।[2] यदि 'ग्राम' का अर्थ ऐसे स्थानों में रियासत लिया जाय तो कोई कारण नहीं मालूम पड़ता कि ऊपर लिखी संख्यायें क्यों अत्युक्ति पूर्ण मानी जायँ। ऐसा मालूम पड़ता है कि करटिकलु एक बड़ा क़स्बा होगा जिस में तीन सौ पट्टियाँ या रियासतें थीं। यदि एड़दोरे के २००० को ३०० से विभक्त करें तो ६ संख्या प्राप्त होती है जिस का मतलब यह है कि एड़दोरे में करटिकलु जैसे कुल मिलाकर छः क़स्बे थे। इस से छोटे छोटे एलंबे, कुकनूर, किसुकाद, कुंदनुर, तोडुगरे आदि गाँव या क़स्बे थे जिन मे २० से ७० तक रियासतें थीं और जो कि राज्य कर एकत्रित करने के स्थान (संग्रहण) थे।[3] यदि ५० रियासतों को 'संग्रहण' के लिये आवश्यक माना जाय तो एड़दोरे में 'संग्रहण-स्थान' कुल मिला कर चालीस आते हैं।

दक्खिन भारत के ताम्रपत्रों मे देशों के आगे जो संख्यायें दी हैं वह सब की सब महत्त्व पूर्ण हो जाती हैं यदि 'ग्राम' का तात्पर्य रियासत लिया जाय। आश्चर्य की बात तो यह है कि ईसा के २२६ साल पहिले से यह संख्यायें चली आ रही हैं। आज तक लेखकों से सुलझीं नहीं। यदि इन को सुलझा लेते तो टोडरमल के लगान-संबंधी तिलस्म कभी के टूट जाते। यह स्पष्ट हो जाता कि मुसल्मानों ने किस प्रकार हिंदू राजाओं के ज़मीन-माप तथा लगान के काग़ज़ात के सहारे राज्यकरों को इकट्ठा किया और उन के अधिकारों को अपना अधिकार बना लिया। आईन-ए-अकबरी में जो लगान का पट्टा दिया है उस में सेना देने की राशि का रहस्य भी खुल जाता।

---

[1] इंडियन एंटिक्वेरी, भाग ८, पृष्ठ १८; एपीग्राफ़िया इंडिका, भाग १२, संख्या ३२, पृष्ठ २९६, डाक्टर फ्लीट् की टिप्पणी; एपीग्राफ़िया इंडिका, भाग १२, संख्या ३४, पृष्ठ ३०३।

[2] इंपीरियल गज़ेटियर, भाग २१, पृष्ठ ३९।

[3] एपीग्राफ़िया इंडिका, भाग १५, संख्या ६, पृष्ठ ७९ भाग १२, पृष्ठ २९८

अलेक्ज़ेंडर महान के समय में भिन्न भिन्न देशों के संबंध में इतिहासकारों ने बहुत सी बातों का पता लगाया। पोरस के छोटे से राज्य के विषय में प्लूटार्च लिखता है कि 'इस देश में १५ जातें ५००० क़स्बे और असंख्य गाँव है।'[1] डाक्टर फ़्लीट् के सदृश ही जनरल बैंबरी की संमति थी कि 'जब यूनानी लेखक कहते हैं कि हिदास्पस तथा हिफ़ासिस के बीच के देश में ५००० क़स्बे (?) थे और जिन में से एक भी कॉस (स्ट्राबो, १५, पृष्ठ ६८६) से छोटा न था और पोरस का राज्य हिदास्पस और अकेसाइन्ज़ के बीच में था जो कि ४० मील से ऊपर चौड़ा न था और जिस में कि ३०० क़स्बे थे—इस से स्पष्ट है कि यूनानी लोग अत्युक्ति पूर्ण समाचार सुन कर धोखा खा गए—ऐसे समाचार देना तो पूर्वीय देशों के लोगों का स्वभाव है। यूनानी ऐतिहासिकों ने ऐसी गप्प को निगल लिया क्योंकि अलेक्ज़ेंडर महाविजयी के कारनामों को यह और बड़ा बना देता था।'[2]

ग्राम को रियासत अर्थ में लेने से हिंदू राजाओं के लगान तथा भूमि मापने तथा उन पर राज्य-कर लगाने आदि के प्रबंध-विषय पर बहुत प्रकाश पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में एक देश को 'जनपदों' में, 'जनपदों' को 'गणों' में और 'गणों' को ग्रामों में बाँटा जाता था। दृष्टांत स्वरूप वनवासक राष्ट्र मे १२०००, नोलंबवाड़ी में ३२०००, गंगवाड़ी में ९६०००, तीनों महाराष्ट्रों में ९९००० और दक्खिन भारत में ७५०००० गाँव या रियासतें थीं।[3] विनयचंद्र ने अपनी काव्य-शिक्षा मे पूर्वीय, पच्छिम तथा मध्य भारत के देशों की संख्या इस प्रकार दी है—[4]

---

[1] मैक्रिंडल, 'दि इन्वेज़न अव् इंडिया बाइ अलेक्जेंडर दि ग्रेट्'। पृष्ठ ३०९।

[2] वही, पृष्ठ ३०९ टिप्पणी; बैंबरी, 'हिस्टरी अव् एंशियंट जिआग्रफ़ी', १, पृष्ठ ४५३।

[3] 'बांबे गज़ेटियर', भाग १, खंड २, पृष्ठ २९८, टिप्पणी २।

[4] कोंकणः प्रभृतिचतुर्दशाधिकानि चतुर्दशशतानि। चंद्रावतीप्रभृति अष्टादशलक्षानि महीतटम् सुराष्ट्रा।

देशों के नाम	गाँवों या रिश्रासतों की संख्या
१ कोंकण	१४१४
२ चंद्रावती	१८००
३ महानदी के जनपद	२२००
४ सुराष्ट्र	९०००
५ लाट देश	२१,०००
६ गुर्जर देश (उपरांत मिला कर)	७००००
७ अहूड़ तथा ब्राह्मपाटक	१०००००
८ डाहल	९०००००
९ मालव देश	१८९२०००
१० कान्यकुब्ज (साम्राज्य ?)	२६०००००
कुल संख्या =	५५९७४१४

श्रौसत लगभग ५५ लाख ।

इन संख्याओं को देने के बाद विनयचंद्र ने लिखा है कि केवल दक्खिन तथा उत्तर भारत के संबंध में संख्यायें नही दी गई है । यही कारण है कि कन्नौज के २६ लाख वस्तुतः कन्नौज राज्य से संबंध रखते हैं । ऊपर लिखे देश हर्ष-वर्धन के साम्राज्य में बहुत सीमा तक संमिलित थे । ऐसा तो नहीं हुआ कि उस के समय में जमीन का माप, लगान की राशि नियत करना आदि काम नए सिरे से किया गया हो ।

इन संख्याओं की सचाई के संबंध में अन्य भी बहुत से प्रमाण हैं । दृष्टांत-स्वरूप कोंकण के संबंध में विनयचंद्र की संख्या १४१४ है । चित्तराज देव के 'भांडूप' ताम्रपत्र में पुरी के विषय में लिखा है कि चौदह सौ वाले

लाटदेशः । सप्ततिसहस्राणि गुर्जरदेशः पारतश्च । अहूड़ लक्षाणि ब्राह्मणपाटकम् । नव-लक्षाणि डाहला [illegible] मालवो देस [illegible]

देश का मुख्य शहर है।[1] ईस्वी १०१७ के थाना ताम्रपत्रों में, ९९७ ईस्वी के भादान दानपत्र में, १०९५ के खारेपाटन ताम्रपत्रों में कोंकण की १४०० संख्या दी है।[2] गंभीर अध्ययन के बाद डाक्टर फ्लीट् इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि पुरी या कोंकण १४०० में बसीन, साल्सट्, भ्यूंडी, और कल्याण तालुक़े संमिलित थे। इस में थाना तालुक़े का कर्जात, पन्वल, पेण, कुलाबे का अलीबाग तालुका आदि का कुछ कुछ हिस्सा भी था।[3] गुजरात तथा मालवा के लिये विनयचंद्र ने क्रमशः ७०००० और १८९२०० संख्याये दी हैं। अब्दुल्ला वस्साफ का कहना है 'कि अनुभवी यात्रियों तथा प्रामाणिक लोगों का कहना है कि ' '''सवालक में १२५००० शहर, क़स्बे, गाँव, मालवा में १८,९३००० शहर, क़स्बे, गाँव'' गुजरात में जिस का नाम खंबायत (कंबुद्वीप) है ७०००० गाँव, क़स्बे आदि हैं। सब के सब आबाद हैं। लोग धन-दौलत तथा भोग-विलास से भरपूर हैं।[4] इसी प्रकार रशीदुद्दीन ने अपने ग्रंथ जामियुत्-तवारीख में लिखा है कि यह कहा जाता है कि गुजरात मे ८०००० (१,७०,००० होना चाहिए) क़स्बे, गाँव, पुरवे हैं, सब के सब आबाद हैं। ''''''''इस के बाद 'सवालक' देश है जिस में १२५००० अर्थात् सवा लाख क़स्बे और गाँव हैं। इस के बाद मालवाल आता है जिस मे १८९३००० (१,१८९२००० होना चाहिए) संख्या है।[5] बहुत संभव है कि हस्तलिखित प्रति उतारते समय जामियुन्-तवारीख के लेखक ने मालवा में दो के स्थान पर तीन और गुजरात में सात की जगह आठ उतार दिया हो। यद्यपि विनयचंद्र ने सवालक के संबंध मे कोई संख्या नहीं दी, हेमचंद्र ने अपने प्रभावक-चरित मे अर्णो राज को १२५००० भूमियों का

---

[1] 'एपीग्राफ़िया इंडिका'—भाग १२ संख्या ३१ पृष्ठ २५६-७।

[2] वही। देखो भाग ३ संख्या ४०।

[3] वही।

[4] इलियट्, 'दि हिस्टरी अव् इंडिया', भाग ३ पृ० ३१।

[5] वही, भाग १, पृष्ठ ६७-८

मालिक कहा है।[1] हो सकता है कि अर्णो राज सवालक का राजा हो। इसी प्रकार जालंधर के देश के विषय में लिखा है कि यह भी सवालाख वाला देश है।[2] यह संख्याये मुसलमानी जमाने तक चली आई। अब्दुल्ला वस्साफ का कहना है कि मलिक नव्बू और जाफर खाँ मालवा जीतने के बाद तलिंगाना के प्रांत को जीतने के लिये गए। उन के सीमा पर पहुँचते ही 'राजा ने ...... सालाना राज्य-कर देना और सरकारी मालगुज़ारी या राज्यस्व एकत्रित करने वाला रखना स्वीकृत किया। इस प्रकार वह समृद्ध, देश जिस में ३०००० टुकड़े थे, मुसल्मानी साम्राज्य मे जोड़ लिया गया।'[3] इस वाक्य में 'टुकड़ा' शब्द महत्त्व पूर्ण है। हमारी समझ में यह उसी अर्थ में है जिस में कि 'ग्राम' शब्द का प्रयोग संख्या वाले देशों मे है।

मंडन पंडित ने अपने शिल्प-शास्त्र मे रियासतों की संख्याओं के अनुसार महल के बड़े छोटे बनाने का उल्लेख किया है। उस के अनुसार २००,००० ग्रामों का शासक 'महामंडलिक', ५०००० ग्रामो का 'मांडलिक', २००० ग्रामों का 'सामंत-मुख्य', १००० ग्रामो का 'सामंत' और १०० ग्रामों का 'शताधिप' कहलाता है।[4] मेकल के चित्तौरगढ़ संबंधी शिला-लेख मे मेवाड़ (मेदपाट)

---

[1] सपादलक्षभूमीशमर्णोराजं मदोद्धुरम्।
विगृहीतुमना: सेनां असावेनाममज्जयत्।
(प्रभावकचरित पृ० ३२१)।

[2] कुरुक्षेत्रे कान्यकुब्जे गौड़श्रीकामरूपयोः।
सपादलक्षवंजालं धरे च खसमध्यतः॥ पूर्व ग्रंथ १०८। देखो पृ० ३०२ भी।

[3] इलियट्, 'दि हिस्टरी अव् इंडिया', भाग ३ पृ० ४९।

[4] ग्रामैक लक्षद्वयमस्ति यस्य,
प्रोक्तो महामंडलिको नरेंद्रः.........
पंचायुतेशो नृपमंडलीको,.........
सामन्तमुख्यो द्व्युताधिपोसौ,.........
सामंतसंज्ञो युतनाथ एव.........
ग्रामाधिपा येतु शताधिपाश्च.........
पृ० ८१-८२

का राज्य १००००० 'क्षिति' (=ग्राम=रियासत) का था।[1] प्रबंध चिंतामणि के लेखक के अनुसार पृथ्वीराज के राज्य में १२५००० 'क्षिति' या गाँव थे।[2] अल् कज्वीनी का कहना है कि सोमनाथ के मंदिर को १०००० रियासतों का दान मिला था। उस के अनुसार 'स्थान का अनोखापन इसी से समझना चाहिए कि उस में सोमनात् (सोमनाथ) का मंदिर है। क़ीमती से क़ीमती चीज़ें उस पर चढ़ाई जाती हैं। मंदिर को १०००० गाँवों का दान मिला है।'[3] सर ई० सी० रेले के अनुसार 'अमीनख़ाँ, फ़तेहख़ाँ और तातारख़ाँ गोरी को जूनागढ़ में ९००० गाँवों की जागीर मिली थी। जूनागढ़ में ८७ महल थे।'[4]

ऊपर लिखे प्रमाणों से स्पष्ट है कि विनयचंद्र ने गाँवों की जो संख्याये दी हैं वह अत्युक्ति पूर्ण नही हैं। पूर्वीय, पश्चिमीय तथा मध्य भारत मे रियासतों की संख्या लगभग ५५ लाख थी। दक्षिण भारत को तो सार्धसप्त लक्ष अर्थात् साढ़े सात लाख का नाम ही मिला है। यही संख्या यदि उत्तर भारत की मानी जाय तो ५५ लाख में १५ लाख जोड़ने पर सत्तर लाख संख्या प्राप्त होती है। सारांश यह है कि भारत में कुल रियासते ७०००००० के लगभग थीं।

---

[1]वीरालक्षक्षितीशाज्जगति नहि परः ख्यातभुक्तिः सुभुक्तिः ('एपीग्राफ़िया इंडिका' भाग २, संख्या ३२, पृ० ४१५-१७)। टिप्पणी, यहाँ पर संपादक ने 'क्षिति' का अनुवाद टुकडा (खेत) किया है।

[2]स च सपादलक्षक्षितिपतिना श्रीपृथ्वीराजेन सह संजातविग्रहः समराजिर मधिरूढः स्वसैन्ये पराजिते कांदिशीकः कामपि दिशं गृहीत्वा पलायनपरः स्वराजधानी-माजगाम······(प्रबंधचिंतामणि, पृ० २२९-३०० वत्सराज के रूपकाष्टक की भूमिका में उद्धृत)।

[3]इलियट्, 'दि हिस्टरी अव् इंडिया', भाग १, पृ० ९७-८।

[4]सर् ई० सी० बेले की 'दि लोकल मुहमडन डाइनस्टीज़ अव् गुजरात', पृ० १७

[९]

रियासतों का औसत क्षेत्रफल

रियासतें क्षेत्रफल में भिन्न भिन्न थीं। कोई बहुत बड़ी और कोई बहुत छोटी। यदि हम सारे भारतवर्ष की दृष्टि से उन का औसत क्षेत्रफल निकालना चाहें तो उस का सब से अच्छा तरीका यही है कि लगान संबंधी निबंध-पुस्तक (रजिस्टर) में जो भी भारत का क्षेत्रफल दिया हो उस को गाँवों की संख्या से भाग दें। परिणाम औसत क्षेत्रफल होगा। पहिले लेख में यह दिया जा चुका है कि भारत का क्षेत्रफल ह्युआँ च्यांग तथा अन्य लेखकों के अनुसार ८६२८०० वर्गमील होता है, इस को यदि ७० लाख से भाग दें तो ७९ अर्थात् लगभग ८० एकड़ क्षेत्रफल प्रत्येक ग्राम या रियासत का प्राप्त होता है। चूंकि 'ग्राम' में चरागाह, परती ज़मीन, जुती ज़मीन, तालाब, बाग़-बग़ीचे आदि संमिलित थे स्वाभाविक है कि यह प्रश्न उठे कि जुती ज़मीन गाँव में कितनी थी ? और इस का किस ढंग से पता लगाया जाय। क्योंकि बिना यह जाने प्राचीन भारत की आबादी का पता नहीं लग सकता।

इंपीरियल गज़ेटियर[1] के अनुसार बसे हुए क्षेत्रफल में जिस से कि परती तथा जुती दोनों ज़मीनें संमिलित हैं मद्रास, बंबई, बंगाल, संयुक्त प्रांत, पंजाब, मध्य-भारत तथा बरार में जुती तथा परती का अनुपात १ : २ है। बर्मा, आसाम आदि में यह १ : ३ या ४ तक है। आज से हज़ार साल पहिले जब कि रेल तार न थे, उत्पत्ति स्थानीय बाज़ार के लिये होती थी जुती तथा परती का अनुपात १ : ४ के लगभग होगा। ८० एकड़ को यदि ४ से भाग दें तो प्रत्येक रियासत या गाँव में जुती ज़मीन २० एकड़ आती है।

भूमि-दान के संबंध में जो भी शिलालेख या ताम्र-पत्र मिले हैं उन से यह प्रतीत होता है कि ग्राम के दान देने की लोक-प्रथा बहुत ही अधिक प्रचलित थी। भूमि इतनी दान में अवश्य दी जाय जिस से एक परिवार अर्थात्

---

[1] भाग ३ पृष्ठ ९७ १९०७ का संस्करण

लगभग ५ व्यक्ति का पालन-पोषण सुगमता से हो सके। विनयराजेंद्र राज्य-कर का आधार ५ परिवार मानता है[1]। किसी अन्य लेख में हम यह स्पष्ट करने का यत्न करेंगे कि एक एकड़ की उपज एक व्यक्ति के लिये पर्याप्त समझी जाती थी। पाँच व्यक्तियों का परिवार जिन में बच्चे तथा औरतें भी संमिलित हैं ३ या ४ एकड़ की उपज पर सुगमता से पल सकता है। इस का तात्पर्य यह है कि पाँच परिवार के लिये १५ से २० एकड़ भूमि पर्याप्त है।

कुमारसंभव के टीकाकार ने लिखा है कि 'पञ्चभिः हलैर्ग्रामं कर्षति ग्रामणीः' अर्थात् ग्रामणी पाँच हलों से गाँव को जोतता है। इस से स्पष्ट है कि एक गाँव पाँच हल का समझा जाता था। इसी प्रकार 'कृषि-शास्त्र' में लिखा है कि पाँच हलों में लक्ष्मी या धन रहता है। तीन हलों मे खाना-पीना सुगमता से प्रति दिन मिल जाता है।[2] यह भी आगे चल कर किसी अन्य लेख में स्पष्ट किया जायगा। एक हल लगभग ५ एकड़ के बराबर पड़ता है। इस प्रकार ऊपर लिखे टीकाकार के अनुसार गाँव पचीस एकड़ का होता है।

रत्नमंदिरगणि की उपदेश-तरंगिणी के अनुसार कुमारपाल ने प्रति गाँव से एक सुवर्ण गद्याणक एकत्रित किया। इस प्रकार उस को १८९२००० गद्याणक मिले।[3] एक गद्याणक १४४ ग्रेन का होता है। एक निष्क या कलंजु के २५६ पैसे उस जमाने में मिलते थे। सुवर्ण गद्याणक इस से दुगुना भारी था। इसलिए इस का ताँबे के पैसे में विनिमय ५१२ होता है। यदि 'गाँव' पर यह सरकारी कर हो और यह उपज का एक चौथाई हो तो एक गाँव अर्थात्

---

[1]देखो 'अभिधानराजेंद्र' में 'कर' शब्द।.........स चायं ग्रामेषु पंचकुलादीनधिकृत्य प्रसिद्धएव......भाग ३, पृष्ठ ३५६।

[2]नित्यं पंचहलेधनम्—नित्यञ्च त्रिहले भोक्तम्......८४ (कृषिशास्त्र श्रीदशरथशास्त्रिद्वारा संकलित)

[3]राज्ञा स्वदेश-प्रति ग्राम-स्वर्ण-गद्याणक-दानं दत्तम्। ततस्तस्य प्रतिवर्षं १८ लक्ष ९२ सहस्र ग्राम गद्याणकैः ९४६ मणप्रमाणं स्वर्णं मिलतिस्म....(रत्नमंदिरगणि की 'उपदेस-तरंगिणी' पृ० २५८

२० से २५ एकड़ की आमदनी २०४८ पैसे हुई। यदि रियासत आधी उपज पर किसानों में बँटी हो तो कुल उपज का दाम ४१०० पैसे हुआ। क़ीमतों से संबंध रखने वाले लेख में हम स्पष्ट करेंगे कि ११ वीं सदी में मोटे चावल का दाम २ अक्क अर्थात् १४ पैसे प्रति मन था। इस प्रकार मोटे चावलों में ४१०० पैसे २९२ मन चावल के बराबर हुए। एन० जी० मुकुर्जी के अनुसार[1] एक एकड़ में चावलों की उपज १६ मन होती है। यह उस ज़मीन की उपज है जो कि बहुत ही अधिक उपजाऊ हो। इस के अनुसार बीस एकड़ की उत्पत्ति ३२० मन होता है। हमारी ऊपर लिखी गणना के अनुसार बीस एकड़ की उत्पत्ति २९२ मन है। २८ मन का भेद कोई भेद नहीं है जब यह जानते हैं कि बीस एकड़ों में सभी एकड़ एक बराबर उपजाऊ नहीं होते।

इन सब ऊपर लिखे प्रमाणों से हम एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं। एक ग्राम या गाँव या इलाक़ा या रियासत में लगभग पंद्रह से पचीस एकड़ ज़मीन औसतन थी—यदि हम ऐसा मान लें तो हम सचाई से दूर न होंगे।

ग्राम की इस व्याख्या का महत्त्व इस बात में है कि इस के सहारे प्राचीन भारत की माप का प्रश्न सरल हो जाता है। इस के सहारे यह भी स्पष्ट हो सकता है कि शेरशाह, टोडरमल आदि ने, पुराने माप को आधार बना कर काम किया। इस विषय में उन का अपना महत्त्व बहुत कम हो जाता है।

१

अल्बेरूनी

[लेखक—प्रोफ़ेसर मुहम्मद हबीब, एम्० ए० (ऑक्सन)]

अल्बेरूनी का पूरा नाम था अबू रैहान मुहम्मद इब्ने अहमद अल्बेरूनी। उस का जन्म ख्वारज़्म में ९७३ सन् ईस्वी में हुआ था। अपने जन्म-स्थान में रहते हुए ही उस ने राजनीति में तथा विज्ञान और साहित्य में अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी। परंतु अन्य मध्य एशियाई राज्यों की भाँति ख्वारज़्म भी सुल्तान महमूद की तृष्णा का ग्रास बना और जब १०१७ ईस्वी में ख्वारज़्म उस के हाथों में चला गया तो अल्बेरूनी राजनीतिक क़ैदी बना कर कुछ ख्वारज़्मी शहज़ादों के साथ, जिन का कि वह पक्षपाती था, हिंदुस्तान में भेज दिया गया। इस देश में उसे जैसा जीवन व्यतीत करना पड़ा उस का पूरा अनुमान करना कठिन है। औरों के विषय में बहुत कुछ लिखते हुए भी वह अपने विषय में मौन है। अपने वैरियों के प्रति रोष प्रकट कर के उस ने अपने लेखों की वैज्ञानिक निष्पक्षता में भेद नहीं आने दिया है। हाँ, केवल सुल्तान महमूद की चर्चा करते समय कुछ निःस्नेह का परिचय देता है। यह स्पष्ट है कि उसे स्वेच्छा पूर्वक भ्रमण करने की आज्ञा नहीं थी। अर्थाभाव भी था। परंतु हिंदू पंडितों से मिलने-जुलने की उसे स्वतंत्रता थी और यद्यपि उस समय उस की अवस्था चौआलीस वर्ष की थी, उस ने थोड़े ही समय में हिंदू दर्शन और विज्ञान के सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त कर लिया और संस्कृत व्याकरण, काव्य तथा साहित्य की भी उतनी जानकारी प्राप्त कर ली जितनी कि ऐसी

में एक विदेशी के लिये संभव थी। हिंदुओं के दर्शन विज्ञान और सामाजिक संस्थाओं पर लिखने वाले मसल्मानों में अल्बेरूनी निःसंदेह सब से

उस की पुस्तक का नाम है 'किताबुल् हिंद'[1]। इस के मुकाबले की, प्राचीन या अर्वाचीन, इतने निष्पक्ष भाव से लिखी गई, इतनी व्यापक और ज्ञान के विस्तार और विभिन्नता का ऐसा परिचय देनेवाली शायद ही कोई दूसरी पुस्तक हो।

अल्बेरूनी का ज्योतिष संबंधी कार्य, मध्ययुग के मुसलमानों के, इस विषय के ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। अपनी जानकारी का दावा करना उस के लिये स्वाभाविक था। वह लिखता है—'हिंदू ज्योतिषियों का और मेरा पहिले गुरु शिष्य का संबंध था। मै परदेशी था और उन के विशिष्ट जातीय तथा परंपरागत वैज्ञानिक रीतियों से अपरिचित। जब मैंने थोड़ी बहुत उन की विद्या भी सीख ली तब मैं उन्हें इस विज्ञान के मूलों को समझाने लगा। उन्हें गणित के वैज्ञानिक ढंग और तर्क शास्त्र के नियमों से परिचित करने लगा। फिर तो वे सभी भागों से आकर मुझे घेरे रहने लगे; आश्चर्य प्रकट करते, मुझ से सीखने के लिये उत्सुक रहते, यह भी पूछते कि मैं ने किस हिंदू गुरु से यह ज्ञान प्राप्त किया हैं। मैं तो वास्तव मे उन का खंडन करता था, मैं ने अपने को उन से श्रेष्ठ

---

[1]इस समय अल्बेरूनी के जीवन पर प्रकाश डालने वाली अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। इतिहासों और तज़किरों मे उस के विषय में जहाँ तहाँ कथाएँ मिलती हैं परंतु उन्हें सदा सच न मानना चाहिए। उदाहरण के लिये निज़ामी आरूज़ी समरक़ंदी का 'चहार मक़ाला' (गिब मेमोरियल सीरीज़) देखिए।

अल्बेरूनी की दो पुस्तकें—एक तो प्राचीन जातियों के काल-क्रम पर और एक 'किताबुल हिंद' (२ जिल्द, ट्रूबनर ओरियंटल सीरीज़, १९१०)—बर्लिन के प्रोफ़ेसर डाक्टर एडवर्ड सी० सचाउ ने अनुवाद की हैं। सभी पूर्वीय लेखकों में अल्बेरूनी ऐसा है जिस के ग्रंथों का अनुवाद करना तथा उन का संपादन करना बड़ा कठिन काम है। यह आवश्यक है कि अनुवादक न केवल अरबी ही जानता हो वरन् गणित और हिंदू, मुस्लिम और यूनानी दर्शन और विज्ञान का भी ज्ञाता हो।

भारतीय, इतिहास के विद्यार्थी डाक्टर सचाउ का इस विद्वत्तापूर्ण कार्य के लिये बड़ा उपकार मानेंगे। इस समय कोई दूसरा ऐसा विद्वान नहीं है जो इस कार्य को

बताया और उन को बराबरी में रक्खा जाना पसंद न किया। उन्हों ने मुझे जादूगर समझा। अपनी भाषा में अपने प्रमुख लोगों से मेरी चर्चा करते हुए वे लोग मुझे 'सागर' कहा करते थे।"

कोई भी जातीय अथवा धार्मिक पक्षपात 'किताबुल् हिंद' की दार्शनिकता में भेद नहीं आने देता। इस में पढ़ने वालों को मध्य-युग की संस्कृति तथा सामाजिक इतिहास की प्रचुर सामग्री मिलेगी। हिंदुस्तान में आने से बरसों पहिले उस ने यूनानी दर्शन शास्त्र का ध्यान पूर्वक मनन किया था। इस शास्त्र का वह पूर्ण ज्ञान प्रदर्शित करता है। इस अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि उस ने अपने सहधर्मियों के अनेक तुच्छ पक्षपातों और क़ुरान की मूर्खता पूर्ण व्याख्या को अलग रख दिया। हिंदुस्तान में जो कुछ ज्ञान उस ने सीखा, उस से यह बात उस के विचारों में स्पष्ट हो गई कि यूनानी दार्शनिकों, मुस्लिम सूफ़ियों और हिंदुस्तान के विचारकों में एक सामंजस्य है। इस विचार ने ईश्वर के प्रति उस के विश्वास को दृढ़तर बना दिया और सभी प्रकार के मूढ़ विश्वासों के प्रति उस के हृदय में बड़ी घृणा उत्पन्न कर दी। उस की पुस्तक से आने वाले युग के अंधकार के दुखमय आभास का पता चलता है।

राजपूतों के प्रभुत्व में हिंदू दर्शन और विज्ञान का ह्रास होने लगा था। उसे आशंका थी कि तुर्की राज्य के उदय होने पर, राजाओं और मुल्लाओं के संमिलित प्रभावों से नीति और राजनीति के भावों का जो हनन होगा उस से इस्लाम की भी यही दशा हो जायगी। नए नए राजे तुकबंदों के ऊपर मोती और जवाहिरात भले ही लुटावें, लेकिन उन से वैज्ञानिकों का कोई लाभ न होगा। वह लिखता है—"विद्याओं की संख्या बहुत अधिक है। यह संख्या और भी बढ़ सकती है, यदि जनता अपनी उन्नति के दिनों में इस ओर ध्यान दे, और न केवल विद्याओं का आदर करे वरन उन लोगों का जो इन विद्याओं के ज्ञाता हैं। यह कर्तव्य, सर्व प्रथम, शासकों का, राजाओं और शहज़ादों का है। क्योंकि वे ही उन के जीवन-निर्वाह का प्रबंध करके विद्यानुरागियों को नित्य की चिंताओं से मुक्त करने में समर्थ हो सकते हैं परन्तु यह ज़माना ऐसा नहीं है वे लोग तो इस के विपरीत करते हैं यह संभव नहीं कि हमारे समय में कोई नई

विद्या उदय हो या कोई शोध का कार्य हो सके। हमारे (मुसल्मानों के) पास जो भी विद्यायें हैं पूर्व काल के अच्छे दिनों की अवशेष मात्र है।" एक निराधार परंपरागत पूर्वीय धारणा है कि अल्बेरूनी एक अच्छा ज्योतिर्विद् और भविष्य-दर्शी था। कम से कम अपनी इस सब से बड़ी भविष्य-वाणी में यह बुद्धि-मान वैज्ञानिक, ग़लत नहीं साबित हुआ। क्योंकि अल्बेरूनी और उस के प्राणि-शास्त्रज्ञ, हिकमती मित्र शेख़अली सेनार (जिस के साथ उस ने ख़्वारज़्म में कई सुखी वर्ष बिताए थे) के समय में मध्य युग के ज्ञान का परिपाक भी होता है और अंत भी। तुर्कों का सैनिक राज्य और मुस्लिम मुल्लाओं की घोर धर्मांधता भविष्य में प्रधान हो जाती है। इतनी बात सांत्वना की अवश्य है कि सुल्तान मसूद की उदारता के कारण, अल्बेरूनी अपने अंतिम दिवस ग़ज़नी में रह कर कुछ आराम के साथ बिता सका और यहीं पर उस ने अपने ज्योतिष और गणित विषयक प्रधान ग्रंथ 'कानूने मसूदी' की रचना की।

जब हम यह विचार करते हैं कि अल्बेरूनी हिंदुस्तान में सुल्तान महमूद के आक्रमणों के समय में अध्ययन कर रहा था और उसी समय में उस ने 'किताबुल हिंद' की रचना की तब कहीं हम इस बात का पूर्ण अनुमान कर सकते हैं कि ऐसे पक्षपात पूर्ण समय में ऐसे निष्पक्ष ग्रंथ की रचना करने के लिये कितनी दृढ़ता और मानसिक उदारता की आवश्यकता थी। एक तो वह बिलकुल अकेला पड़ गया था। हिंदू पंडितों से, जिन से कि वह बहुत मिलता-जुलता था, उस का अधिक मेल इसलिए न था कि वह उन के विश्वासों से अधिकांश सह-मत न था, उन की दृष्टि को संकुचित समझता था तथा उन की वर्णव्यवस्था का वह विरोधी था। बार बार उस ने इस वर्णव्यवस्था के विरोध में लिखा भी है। दूसरी ओर उस के सह-धर्मी लोग उस से इस कारण से अलग हो गए थे कि वह सभी प्रकार के अंध विश्वासों का विरोधी था और उन के दुराग्रह के संमुख घुटना नहीं झुकाना चाहता था। अल्बेरूनी ने बार बार सुक़रात का उदाहरण देते हुए कहा है कि दार्शनिकों को तथा न्यायवादियों को अपने विश्वासों के लिये कष्ट झेलने के लिये तैयार रहना चाहिए। उस के लिये यह संभव था कि वह हिंदुओं का वर्णन कर के सत्य को छिपाते हुए और उन के सामाजिक जीवन की

मय बातों पर ज़ोर देते हुए, मुसल्मानों के बीच में प्रिय बन सके। परंतु अल्बेरूनी सत्य और न्याय का सच्चा पुजारी था और हिंदुओं और मुसल्मानो के रोष और विरोध उसे सीधे मार्ग से हटा न सकते थे।[1]

---

[1]डाक्टर सचाउ का कथन है कि—“सुल्तान महमूद के लिये तो हिंदू लोग काफ़िर थे, जो—यदि वह लुटने से इन्कार करें तो—जहन्नुम भेज देने के योग्य थे। अल्बेरूनी उन्हें बहुत अच्छा दार्शनिक, गणितज्ञ और ज्योतिर्विद मानता था। यद्यपि अपने को सरलता पूर्वक उन से श्रेष्ठतर मानता था। वह हिंदुओं में जो त्रुटियाँ अथवा अव्यवहारिक बातें पाता है उन पर परदा नहीं डालता परंतु उन में वास्तव में जो गुण तथा ज्ञान हैं उन्हें ग्रहण करने में पूरा उद्योग करता है। ऐसी बातें भी ग्रहण करने के लिये तैयार रहता है जिन की उसे अथवा उस के पाठकों को कदाचित् आवश्यकता भी न हो, जैसे संस्कृत पिंगल। जहाँ कहीं उसे कोई उत्तम और ग्राह्य बात मिलती है—चाहे उन की विद्याओं के संबंध मे हो चाहे व्यवहारों में—अल्बेरूनी उसे अपने पाठकों के संमुख बड़ी प्रसन्नता मे प्रस्तुत करता है।

पवित्र तीर्थों में, स्नान के तालाबों के निर्माण की चर्चा करते हुए वह लिखता है—“इस में उन्हों (हिंदुओं) ने बड़ी कुशलता प्राप्त कर ली है। हम लोग (मुस्लिम) जब उसे देखते हैं तो आश्चर्य से चकित हो जाते हैं। हमारे लिये ऐसे तालावों का वर्णन करना कठिन हो जाता है, निर्माण करना तो बहुत दूर रहा।” यह जान पड़ता है कि अल्बेरूनी भारतीय दर्शनों से बहुत आकृष्ट हुआ था। उस की ऐसी धारणा मालूम होती है कि यूनान और भारत दोनों देशों के दार्शनिकों के विचार—जिन्हें वह बुत-परस्त जनता के विचारों से बार बार भिन्न ठहराता है—वास्तव में एक से थे। स्वयं उस के विचार भी उस से मिलते जुलते जान पड़ते हैं—अर्थात् एक ईश्वर को मानना। जान पड़ता है कि भगवद्गीता के सिद्धांतों में उसे बहुत आनंद मिलता था और यह बात मनन के योग्य है कि वह दो स्थलों पर व्यास की इस उक्ति को उद्धृत करता है ‘जीवन के पचीस तत्वों का ज्ञान प्राप्त करो इन पर निश्चय रूप से अधिकार

अल्बेरूनी सत्य का बहुत बड़ा उपासक था। वह कहता है "आँख-देखी बात का मुक़ाबला कान-सुनी बात से नहीं हो सकता।" परंतु खेद है कि हमारी पिछले काल की जानकारी अधिकांश कान-सुनी बातों पर ही अवलंबित है। इसलिए आवश्यक है कि हम ऐसे साक्षियों को ढूंढें जो घटनाओं को और

डाक्टर सचाउ आगे कहते हैं—"यह सब होते हुए भी वह (अल्बेरूनी) था मुस्लिम। सुन्नी मत का था अथवा शिया मत का इस का 'किताबुल हिंद' से पता नहीं चलता। परंतु उस की इस्लाम धर्म की स्वीकृति संकोच के भाव से ख़ाली नहीं है। वह इस्लाम पर तो आक्षेप नहीं करता परंतु अरबों पर आक्षेप करता है। जब वह हिंदू-जीवन के किसी अँधेरे स्थल का वर्णन करता है तो उसी के साथ उन की तुलना पुराने अरबों की चाल-चलन से भी करता है और उन की भी यदि अधिक नहीं तो उतनी ही निंदा करता है। यह केवल मुसल्मान पाठकों के प्रति इस बात का संकेत है कि बादशाह महमूद के पाशविक सैनिकों द्वारा दलित बेचारे हिंदुओं के प्रति अत्यंत अभिमान पूर्ण व्यवहार न करें और यह न भूल जायँ कि इस्लाम धर्म के पूर्वज स्वयं देवदूत न थे। वह धर्म और दर्शन के विषय में अपने विचारों में स्वतंत्र और दृढ़ तथा स्पष्ट-वादिता का प्रेमी है। वह आंशिक सत्य, छिपे हुए शब्दों तथा संदिग्ध कृतियों से घृणा करता है। सर्वत्र वह अपने विश्वासों को वीरोचित साहस से प्रकाशित करता है। स्वयं वह पूर्णतया निष्कपट है और दूसरों में भी वह इसी गुण को पसंद करता है। यदि वह किसी विषय को अच्छी तरह नहीं समझता, या उस का केवल एक अंश जानता है तो वह अपने पाठकों के प्रति अपनी त्रुटि प्रकट कर देगा। यदि उसे कहीं पर धूर्त-पन की आशंका हुई तो वह अपनी संमति स्पष्ट कर देगा। उस ने जो पुस्तक प्रस्तुत की है उस का ध्येय तर्क नहीं है। वह हिंदुओं को अपने धर्म में मिलाना नहीं चाहता, न धर्म प्रसारकों को उस की रचनाओं से सहायता मिलेगी। वह केवल हिंदू धर्म का वर्णन करता है; अपने को उस का पक्षपाती नहीं प्रदर्शित करता। उस की कृति लड़ती हुई तलवारों, जलते हुए नगरों, लुटते हुए मंदिरों की दुनिया के बीच में शांति और खोज के एक द्वीप की भाँति है वह हिंदुओं की सभ्यता का स्व

संमतियों को विकृत रूप न दें। वह आगे कहता है—"तारीफ के योग्य वही व्यक्ति है जो कि झूठ से ठिठकता है और सदा सत्य को आधार मानता है। जो कि झूठ बोलने वालों के बीच में भी सत्य के लिये प्रतिष्ठित है औरों का तो कहना क्यों। कुरान में कहा गया है कि 'सत्य ही बोलो चाहे वह तुम्हारे खिलाफ पड़े।' मसीह के इंजील से यह आशय प्रकट होता है—'सच बोलने में राजाओं के रोष की परवा न करो, केवल तुम्हारे शरीर उन के अधिकार में हैं तुम्हारी आत्मा नहीं।' इन शब्दों से मसीह हमें अपने नैतिक बल का व्यवहार करने की आज्ञा देता है।"

में एक स्पष्ट तारतम्य प्रकट होता है। न शब्दों की खपत की गई है न व्यर्थ बातें भरी गई हैं। शब्द अपने विषय के लिये उपयुक्त हैं। संपूर्ण रचना के सुंदर क्रम में हमें उस के गणितज्ञ होने का पता चलता है। वह प्राचीन परंपराओं को ज्यों का त्यों स्वीकार करना नहीं चाहता है। वह उन्हें समझना और उन की आलोचना करना चाहता है। वह गेहूँ को उस की भूसी से पृथक करना चाहता है। प्रकृति तथा बुद्धि के विरुद्ध जो भी बातें हों उन्हें त्याग करना चाहता है। वह लिखित परंपरा की आलोचना एक आधुनिक युग के भाषा वैज्ञानिक की भाँति करता है। कभी कभी वह किसी ग्रंथ के मूल को विक्षिप्त बताता है और उन के ऐसा होने के कारण की खोज करता है। वह पाठांतरों पर विचार प्रकट करता है और उन में संशोधन प्रस्तुत करता है। वह खंडित अंशों को बताता है, अनुवाद की त्रुटियों पर तथा नक़ल करने वाले की असावधानी पर आलोचना करता है। उस की कृतियों के मुख्य क्षेत्र थे—ज्योतिष, गणित, काल-क्रम, गणित-भूगोल, भौतिक विज्ञान, रसायन और धातु-विद्या। अपने विशेष कार्य के अतिरिक्त उस ने हिंदुस्तान संबंधी बीस पुस्तकें लिखीं। इन में मौलिक रचनाएँ और अनुवाद दोनों संमिलित हैं।

हिंदुस्तान और ईरान की प्राचीन कथाओं से लेकर उस ने कुछ क़िस्से, कहानियाँ भी लिखी थीं। इतिहास के क्षेत्र में उस का सब से मूल्यवान ग्रंथ, उस की जन्म भूमि ख्वारज़्म का इतिहास था एक दूसरी पुस्तक थी फारमेसियन लोगों के प्रसिद्ध पंथ का इतिहास परंतु यह दोनों पुस्तकें हैं।

अल्बेरूनी ने लिखा है कि 'तारीखुल् हिंद' लिखने का आदेश उसे अपने उस्ताद अबू सह्ल अब्दुल मुनीम इब्ने अली इब्ने नूहुन् तिफ़लिसी से मिला। उस्ताद के घर पर वाद-विवाद होते समय अबू सह्ल ने बताया था कि किसी लेखक ने मुताज़िला फिरक़े के मंतव्यों की व्याख्या करने के बहाने उन को बिल्कुल उलट दिया है। अल्बेरूनी ने कहा था कि समस्त धार्मिक और दार्शनिक साहित्य में यह दोष विद्यमान है। मुस्लिम फ़िरक़ों के वर्णन में तो यह दोष पकड़ा भी जा सकता है लेकिन यही दोष विजातियों के विषय में पकड़ लेना प्रायः असंभव है। किसी उपस्थित व्यक्ति ने हिंदू धार्मिक मंतव्यों की चर्चा की। अल्बेरूनी ने बतलाया कि—'हमारे साहित्य में इस विषय पर जो कुछ भी उपलब्ध है वह गौण साधनों द्वारा प्राप्त हुआ है। एक लेखक ने दूसरे से नक़ल मात्र कर लिया है। यहाँ ऐसी सामग्री का ढेर है जो आलोचना की चलनी मे चाली नहीं गई है।'

अल्बेरूनी के कहने का अबू सह्ल पर यह असर हुआ कि उस ने अपने यहाँ का हिंदू धर्म संबंधी सब साहित्य पढ़ डाला। इस से संतुष्ट न होकर उस ने अल्बेरूनी से इस विषय पर एक निबंध लिखने को कहा, जिस से उन लोगों को सहायता मिले जो कि हिदुओं से वाद-विवाद करना चाहते हैं अथवा जो उन के संपर्क में आना चाहते हैं। अल्बेरूनी ने अपने उस्ताद की आज्ञा का पूर्णरूप से पालन किया।

वह लिखता है—"मैं ने हिंदुओं के संबंध मे यह पुस्तक लिखी है। ऐसा लिखने में मैं ने उन के—अपने धार्मिक विरोधियों के—ख़िलाफ़ कोई निराधार लांछन की बात नहीं कही है और सुगमता के लिये आवश्यकतानुसार उन के शब्दों को विस्तार पूर्वक उद्धृत कर देना मैं ने अपने धार्मिक कर्तव्य के विरुद्ध नहीं समझा है। यदि ये उद्धरण सत्य के अनुयायियों (मुस्लिमों) को नितांत कुफ़् प्रमाणित हों तो हमें केवल यही कहना है कि ये हिंदुओं के विश्वास हैं, जिन की रक्षा का भार उन्हीं के ऊपर है। यह पुस्तक विवादात्मक नहीं है। इस में मैं अपने विरोधियों (हिंदुओं) के पक्ष की बात इसलिए न उद्धृत करूँगा कि उन के प्रत्युत्तर दूँ अथवा उन्हें ग़लत साबित करूँ ' मेरी पुस्तक में सीधे-सादे ऐतिहासिक वर्णन के अतिरिक्त कुछ न मिलेगा मैं पाठकों के सम्मुख

हिंदुओं के मंतव्यों का यथातथ्य वर्णन करूँगा। इसी के साथ मैं यूनानियों के मंतव्यों का वर्णन भी करूँगा। जिस मे दोनों के बीच के संबंध का पता लग जाय। यूनानी दार्शनिक यद्यपि निगूढ़ सत्य के अन्वेषक थे तथापि साधारण प्रश्नों पर अपने धर्म और क़ानून के मंतव्यों के साधारण बाह्य रूप से बहुत ऊपर नहीं उठते थे। यूनानियों के विचारों के अतिरिक्त हम जहाँ तहाँ सूफ़ियों अथवा किसी ईसाई फिरके के विचारों की भी चर्चा करेंगे। क्योंकि आत्मा की देहांतर प्राप्ति के संबंध में और ईश्वर के एकत्व के विषय में इन विभिन्न विचार-धाराओं मे एक साम्य है।...अपने विषय का ज्ञान उपार्जन करने मे मुझे बड़ी कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ा है। मुझे इस विषय से बहुत प्रेम है (और इस ख़याल से मैं अपने समय मे अकेला हूँ) ऐसा करने मे मैं धन-व्यय या कष्ट का ध्यान नहीं करता और जहाँ कहीं से भी संस्कृत पुस्तकें प्राप्त हो सकती हैं वहाँ से मै उन्हे एकत्रित करता हूँ और दूर दूर से हिंदू पंडितों को बुला कर उन्हे समझने का प्रयत्न करता हूँ। परंतु किस विद्वान को ऐसी सुविधाएँ प्राप्त हैं जो कि मुझे प्राप्त हैं? यह तो केवल उसे प्राप्त हो सकती है जिसे कि ईश्वर पूर्ण रूप से सब जगह, आने जाने की स्वतंत्रता दे—जो मुझे प्राप्त नही है। क्योंकि मेरा कभी यह सौभाग्य नहीं रहा है कि इस विषय में मैं पूर्ण रूप से स्वतंत्र रहूँ। तौ भी मैं ईश्वर का धन्यवाद देता हूँ कि उस ने जो स्वतंत्रता मुझे दी है, मेरे कार्य के लिये प्रर्याप्त है।"

हमारे समय में बहुत से ऐसे योग्य और सूक्ष्मदर्शी आलोचक हुए हैं जो कि राजनीति के ऊँचे आसन से दृष्टि डालते हुए हिंदुस्तान के विभिन्न वर्गों की चर्चा कर के ही प्रसन्न रहे हैं और जो कि इस बात का अनुभव करने मे असमर्थ रहे हैं कि इन संस्थाओं, रीति-रिवाजों की विभिन्नता के पीछे एक एकता है। ये लोग हिंदू धर्म की नैसर्गिक एकता को और उस के बल को समझ ही नहीं सके हैं।

अल्बेरूनी ने दसवीं सदी में हिंदुओं में एक एकता पाई, उन्हें अविभाज्य पाया। इस संबंध में वह [illegible] नही करता वह इस स्थिति को स्वीकार कर के आगे चलता है यह सत्य है कि देश में अगणित देवताओं का मान होता था, कम से

कम दो मत और कई विभिन्न दार्शनिक शाखाएँ थी। परंतु इस से क्या होता है? देवताओं की विभिन्नता किसी प्रकार बाधक नहीं थी। एक भी शिक्षित हिंदू ऐसा नहीं था जो कि सचमुच उन में विश्वास करे। जिस प्रकार अफ़लातून ईश्वर को एक मानता था उसी प्रकार शिक्षित हिंदू भी ईश्वर को एक मानता था। ईश्वर के लिये बहुवचन शब्द नहीं था। अपने आख्यानों और दंत-कथाओं की विभिन्नता के कारण किसी जाति की एकता नष्ट नहीं हो जाती। रही दर्शनों की और उस के विषय में बताई गई विभिन्नता की बात, तो ध्यान पूर्वक मनन करने से उन में भी एक समान आधार मिल जायगा। जन साधारण में प्रचलित जगद्विवरणों—शहद की नदियां और चावल के पर्वतों—पर भी ध्यान न देना चाहिए। ये व्यक्तिगत कल्पना के क्षेत्र में आती हैं। कोई मनुष्यों के स्वप्नों को नियंत्रित नहीं कर सकता। देवता गण, दार्शनिक, भिन्न मतावलंबो सभी एक व्यापक सहनशीलता के समुद्र में तैर रहे थे। किसी भी एक मतावलंबी हिंदू ने दूसरे से युद्ध नहीं ठाना है। अल्बेरूनी का कथन है कि "सब कुछ देखते हुए यह कहा जायगा कि हिंदुओं में आपस में आध्यात्मिक विषयों पर झगड़े बहुत कम होते हैं। अधिक से अधिक वह शब्दों द्वारा लड़ेंगे। धार्मिक विवाद पर वे अपने जीवन को या शरीर को या संपत्ति को होम करने के लिये तैयार न होंगे"—जैसा कि ईसाई और मुसल्मान करते रहे हैं। इन सब को एक सूत्र में बाँधने के लिये आर्यावर्त के रीति-रिवाज थे। नाप और तौल चाहे भिन्न भिन्न प्रांतों में पृथक् हों परंतु एक ही ब्राह्मण-संस्कृति की छाप और जीवन पर एक ही दृष्टि-कोण हम सर्वत्र पावेंगे।

अठारहवीं शताब्दी के व्यापारिक तथा वैज्ञानिक यूरोपीय आविष्कारों ने पूर्वीय देशों को उन्नति के मार्ग में बहुत पीछे छोड़ दिया। इस कारण एक पूर्वीय जाति के लिए यह संभव नहीं था कि जिस समय पाश्चात्य जातियाँ उन पर आक्रमण करें वह अपनी रक्षा कर सके। यूरोपीय व्यवसायिक क्रांति ने जो भेद उत्पन्न कर दिया है जब तक वह क़ायम रहेगा और जब तक प्राच्य देशों वाले आधुनिक वैज्ञानिक ढंगों को ग्रहण न करेंगे और उस के अनुसार अपने रीति-रिवाजों में परिवर्त्तन न करेंगे तब तक वह अवश्य निस्सहाय रहेंगे

इस परिवर्तन के युग में, जब कि कम से कम दो—जापानी और तुर्की—जातियों ने अपना सिर उठाया है हम यह कह सकते हैं कि पूर्व की अपरिवर्तनशीलता का विचार ग़लत सिद्ध हुआ है। फिर भी अन्य प्राच्य देशों की गिरी दशा उन के पूर्वजों की प्रतिष्ठा को कलंकित करती है और इस से प्राच्य के संपूर्ण इतिहास पर भ्रांतिपूर्ण प्रकाश पड़ता है। परंतु इतिहास का विद्यार्थी, जिसे कि अपने कार्य के लिये उपयुक्त साधारण कल्पना प्राप्त है वास्तविकता को समझेगा। और उसे यह जान कर विस्मय और संतोष होगा कि अल्बेरूनी और उस के समसामयिक मुसल्मान, सुल्तान महमूद के विस्तृत आक्रमणों के अनंतर भी हिंदुओं को 'ग़ुलामों का समूह' नहीं समझते थे। उन की दृष्टि में हिंदुओं के जातीय लक्षणों में एक विभिन्न प्रकार का ही दोष था। उन की एकदेशीयता, उन का गर्व, किसी को अपने बराबर या अपने से ऊँचा न मानना 'यह सब उन की जातिगत विशिष्टताएँ थीं। अल्बेरूनी कहता है—"हम केवल यह कह सकते है कि मूर्खता एक ऐसा रोग है जिस का कोई उपचार नहीं। हिंदुओं का विश्वास है कि उन के देश से बढ़ कर कोई देश नहीं, उन की जाति से बढ़ कर कोई जाति नहीं, उन के राजाओं की बराबरी के कहीं दूसरी जगह राजे नहीं, उन के धर्म के बराबर दूसरा धर्म नहीं, और उन की विद्याओं की सी कहीं विद्याएं नहीं। उन में बड़ा अहंकार है, बड़ा मिथ्याभिमान है, बड़ी मूढ़ता है। वह जो कुछ जानते है उसे दूसरों को बताने में बड़े कृपण है; यहाँ तक कि अपनी ही जाति से दूसरे वर्ण वालों से अपने ज्ञान को छिपाए रखने का पूरा प्रयत्न करते हैं, परदेशियों से तो कहना ही क्या। वह समझते हैं कि संसार में हमारे देश के अतिरिक्त दूसरा देश नहीं, हमारी जाति के बराबर दूसरी जाति नहीं; और उन्हे छोड़ कर कोई ऐसा नहीं जिसे समुचित ज्ञान हो या जो विद्याये जानता हो।"

यद्यपि अल्बेरूनी हिंदू और मुस्लिम दोनों ही समाजों की त्रुटियों को बतलाने में कसर नहीं करता, वह हिंदू धर्म को उन कुप्रथाओं के लिये दोषी नहीं ठहराता है, जिस का उत्तर दायित्व स्वयं धर्म पर नहीं है और न उन कुरीतियों पर अत्यधिक ज़ोर देता है इब्न-ए खुरदाद बा नाम के एक अरबी लेखक

मदिरा को धर्म-विरुद्ध समझते है।" निस्संदेह यह कथन नर्तकियों और वेश्याओं को हिंदू मंदिरों के समर्पित किये जाने से संबंध रखता है। मंदिरों की पवित्र सीमा के भीतर इन की व्यवस्था स्वभावत: एक दूर देशीय यात्री को खटकी होगी और उस ने यह समझ लिया होगा कि नर्तकियों और वेश्याओं का मंदिरों मे प्रवेश यहाँ के लोगों के धर्म के विरुद्ध नहीं है। विचारशील हिंदू सदा इस कुप्रथा के लिये लज्जा-प्रकाश करते रहे हैं परंतु एबी डूबाय सदृश विदेशी पादारियों ने इस के संबंध में बड़ा तूमार खड़ा किया है। अल्बेरूनी समझता था कि वास्तव मे बुराई की जड़ कहाँ है और उस ने सत्य पर परदा डालने का प्रयत्न नहीं किया। वह लिखता है कि—

"इस मे दोष राजाओं का है, जाति का नहीं। ऐसा न होता तो कोई ब्राह्मण और पुरोहित अपने मंदिरों में नाचने और गाने वाली स्त्रियों को स्थान न देता। राजागण जो उन्हे अपने नगरों के आकर्षण की वस्तु समझते है, और अपनी प्रजा के लिये आनंद का प्रलोभन, वह केवल आर्थिक कारणों से। इस व्यवसाय से कर और जुर्माने दोनों रूपों से जो आय होती है उस से उन के खजाने सेना-संबंधी व्यय की पूर्ति करते हैं।"

इस से भी बड़ी बुराई, वर्ण-व्यवस्था, (जिस के पक्ष मे और भी कम बातें कही जा सकती हैं) के संबंध में भी उस का निर्णय विचारपूर्ण तथा संयमित है। यह व्यवस्था अल्बेरूनी के पूर्व की दो तीन शताब्दियों में अत्यधिक कठोर हो गई थी। वह वर्ण व्यवस्था का पक्षपाती नहीं है परंतु वह इस बात से भी अपरिचित नहीं कि अन्य देशो मे अन्य शासकों ने, जो कि दूरदर्शी होने की अपेक्षा ऐश्वर्याकांक्षी अधिक थे (उदाहरण के लिये, फ़ारस के मुस्लिम काल से पूर्व के बादशाह) अपनी प्रजा को वर्गों और उपवर्गों में विभाजित कर दिया था और ये वर्ग तथा उपवर्ग पूर्णतया स्वाभाविक समझे जाते थे। उस का कहना है कि—

"हिंदुओं में ऐसी संस्थाएँ बहुतायत से हैं हम मुसल्मान लोग तो उन से बिल्कुल विभिन्न हैं और मनुष्य मात्र को धर्मशीलता के विषय में छोड़ कर

बराबर समझते हैं। और यही ऐसी रुकावट है जो हिंदुओं और मुसल्मानों के निकट तर आने में और आपस के समझौने में बाधक है।"

परंतु वर्ण व्यवस्था की व्यापकता देखते हुए भी अल्बेरूनी ने भारतीय विचारकों पर उन सिद्धांतों का आरोपण नहीं किया, जिन में वह विश्वास नहीं रखते थे। हिंदू धर्म अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में—और अल्बेरूनी सभी मतों के उत्कृष्ट रूपों पर ही ध्यान देता है—वर्णव्यवस्था से जकड़ा नहीं है। वह कहता है—

"हिंदू लोग आपस में ही इस विषय पर बहुमत हैं कि कौन कौन वर्ण वाले मुक्ति के अधिकारी हैं। कुछ के अनुसार केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय इस के अधिकारी हैं क्योंकि दूसरे वेद नहीं पढ़ सकते। परंतु हिंदू दार्शनिकों के मत से सभी वर्ण क्या सारी मनुष्य जाति मोक्ष की अधिकारिणी है यदि उन की इस हेतु इच्छा दृढ़ हो। यह विचार व्यास के कथन पर आश्रित है—'पचीस बातों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करो। तब तुम, चाहे जिस धर्म को मानोगे, मोक्ष प्राप्त करोगे।' इस विचार का आधार इस बात पर भी है कि स्वयं वासुदेव शूद्र वंश के थे, और इस पर भी कि उन्हों ने अर्जुन के प्रति कहा था कि 'ईश्वर बिना अन्याय या पक्षपात के बदला देता है। यदि अच्छे लोग अच्छा कार्य करते हुए भी उसे भुला दें तो उन्हें वह बुरा समझता है। यदि बुरे आदमी बुरा काम करते हुए भी उस की याद करते हैं तो उन्हें वह अच्छा समझता है—ये लोग वैश्य हों, चाहे शूद्र चाहे स्त्रियाँ।' यदि ये ब्राह्मण या क्षत्रिय हुए तो यही बात और भी कितनी अधिक ठीक होगी?"

यह किसी विवाद-कुशल आधुनिक हिंदू सुधारक के, मुल्लाओं और पादरियों के आक्षेपों से बचने के लिये और हिंदुओं को वर्तमान युग का अधिकारी प्रमाणित करने के लिये कहे गए उद्गार नहीं हैं। यह एक मुस्लिम न्याय-वादी की आवाज़ है जिसे कि मरे हुए नौ शताब्दियाँ बीत गईं परंतु जो आज भी हमारे युग के निकट प्रतीत होता है। हिंदुओं के मंतव्यों की तथा उन की संस्थाओं की सूक्ष्म समीक्षा के परिणाम स्वरूप उस ने हिंदू समाज की यथार्थ बुराइयों को बार बार दिखलाया है। हिंदू विचारकों की महान त्रुटि, जैसा कि उस ने निरंतर बताया है, स्वधर्म-प्रचार के विषय में निरुत्साह है इस का कारण साहस

की कमी हो अथवा न हो, स्वयं इस बात में संशय नहीं हो सकता है। एक ओर तो वह देखता था कि हिंदुओं में शिक्षित लोगों का एक बहुत व्यवस्थित और समझदार समुदाय है जो कि एक नित्य और सर्वव्यापी ईश्वर मे विश्वास करता है और युक्तिसंगत पुनर्जन्म और अवतार के सिद्धांतों का पोषक है। दूसरी ओर पुरोहितों मे अंध विश्वास रखने वाला समुदाय है जो कि हठधर्मी है, अंध विश्वासी है, अनेकानेक मिथ्याडंबरों में पड़ा हुआ है और दंभियों और धूर्तों के वश में है। इस का कारण क्या था? एक बात स्पष्ट थी जब कि विचारकों के वैज्ञानिक परिणामो में और 'जनता के मूर्ख विचारों' मे सम न होता तो इन वैज्ञानिक विचारों को जनता के सामने से हटा लेना पड़ता था। हिंदू दर्शन सदा गुप्त भाव लिए रहा है। इसे इस बात का गर्व रहा है कि वह अंध विश्वासों से मुक्त है, परंतु यह अपने विश्वासों का जनता मे प्रचार करना और उन्हें अपने ही विचार का बना लेना अपना पवित्र कर्तव्य नहीं समझता था। अल्बेरूनी यह मानने के लिये तैयार नहीं था—कम से कम बहादुर और साहसी आदमियों के लिये—कि ऐसा गुह्य भाव उचित अथवा क्षंतव्य है। यदि स्वच्छ विज्ञान अंध विश्वास का हनन नहीं करता तो स्वयं उस का गला दबा दिया जायगा। यूनानी दार्शनिकों और उन के बाद मुस्लिम सूफियों ने ऐसे संकोच का त्याग कर दिया था और उस के लिये युद्ध करने के लिये निकले थे। उन्हों ने विजय भी पाई। सर्व प्रथम सुक़रात ने (जिसे अल्बेरूनी कभी भूलता नही) यह साहस का कार्य किया। उसे अपने प्राण खोने पड़े परंतु उस के आदर्श ने विजय पाई। दर्शन और विज्ञान को भी धर्म की भाँति शहीदो की आवश्यकता है।

मुस्लिम जगत पर दृष्टि डालते हुए उसे इस बात का विश्वास हो गया था कि मुसल्मानो मे वैज्ञानिक उन्नति की आशा व्यर्थ है। उसे इस बात का डर था कि तुर्की शासकों और उद्दंड मुल्लाओं के कारण मुस्लिम विद्वान भी ऐसे ही असाहसी न हो जायँ और मुस्लिम समाज पर उन्हीं बुराइयों का आतंक हो। उस की शंकाएं व्यर्थ नहीं। परंतु एक नया विचार-प्रवाह, जिस का कि दसवीं सदी मे अंदाजा नहीं किया जा सकता था, इस बुराई को दूर करने में कुछ दर्जे तक सहायक हुआ शासकों के दंड के भय ने मुस्लिम वैज्ञानिकों में ज्ञान-वृद्धि

करने में रोका परंतु मुस्लिम धार्मिक विचारकों, या सूफियों ने साहस-पूर्वक अपनी गुह्य परंपरा का त्याग किया और जहाँ तक उन अवस्थाओं में बन पड़ा जनता में ज्ञान फैलाते रहे।

('हिंदुस्तानी' के लिये लिखित अंग्रेजी लेख से)

संपादकीय

स्वर्गीय श्रीयुत कृष्णबलदेव वर्मा

काशी से हमें यह अत्यंत दुखद सूचना मिली है कि विगत शनिवार, २८ मार्च, को रामनवमी के दिन प्रातः काल, हमारे संपादक-मंडल के सुयोग्य सदस्य श्रीयुत कृष्णबलदेव जी वर्मा का परलोकवास हो गया।

वर्मा जी का हम से जो निकटतर संबंध था उस के कारण इस दुख का हमें विशेष अनुभव होना स्वाभाविक है परंतु आप की मृत्यु से संपूर्ण हिंदी जगत को एक भारी क्षति पहुँची है। आप हिंदी के बहुत पुराने साहित्य-सेवी थे। आप का साहित्य-सेवा संबंधी उत्साह अनुकरणीय था।

डाक्टरों की राय के विरुद्ध आप पटने में होने वाली पिछली ओरियंटल कान्फ्रेंस में संमिलित होने के लिये गए थे। वहाँ से लौटने पर काशी में आप को शय्या ग्रहण करनी पड़ी। इस की हमें आशंका न थी कि उन के संबंध में ऐसा शोकप्रद समाचार मिलेगा।

वर्मा जी हिंदुस्तानी एकेडेमी के कौंसिल के तथा कार्यकारिणी समिति के भी मान्य सदस्य थे।

हम उन के संबंधियों के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं और उन की आत्मा की शांति के लिये प्रार्थी हैं।

अगले अंक में हम आप का विशेष परिचय प्रकाशित करेंगे

हिंदुस्तानी एकेडेमी का द्वितीय वार्षिक संमेलन इस ईस्टर की छुट्टियों में ४, ५, ६, अप्रैल को होना निश्चित हुआ है। पिछले वर्ष के संमेलन की भाँति इस का भी उद्देश है कि हमारे प्रांत के तथा बाहरी हिंदी और उर्दू के विद्वान एकत्र होकर इन दोनों भाषाओं तथा साहित्य की उन्नति के विषय में परामर्श तथा विचार विनियम कर सकें। इस वर्ष संमेलन में बहुत से प्रमुख साहित्यिकों तथा विद्वानों के संमिलित होने की आशा की जाती है। संमेलन के संमुख कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार होने की संभावना है।

सब से पहिले तो भाषा ही का प्रश्न है। यद्यपि हमारी भाषा दिनों दिन उन्नति कर रही है तथापि उस में बहुत सी अव्यवस्थायें हैं। उन का सुधार किस भाँति हो इस विषय पर हमारे यहाँ इतनी विभिन्न संमतियाँ प्रचलित हैं कि साधारण जनता कोई स्पष्ट आदर्श मान लेने में नितांत असमर्थ है। हिंदुस्तानी एकेडेमी की ओर से इस विषय में एक निश्चित नीति के स्थिर करने की आवश्यकता का, कुछ काल हुआ, अनुभव हो चुका है और उस के कुछ योग्य सदस्य इस विषय में विचार शील रहे हैं और उन्हों ने इस संबंध में कुछ प्रस्ताव भी किए हैं। आशा है कि इन्हीं विषयों पर विशेष रूप से विचार कर संमेलन एकेडेमी के विचारार्थ कुछ ऐसी संमतियाँ प्रस्तुत करेगा जो कि कार्यरूप मे परिणत हो कर उस के भविष्य के कार्य-क्रम में सहायक हों।

हिंदी उर्दू के निकटतर आने का प्रश्न भाषा के प्रश्न से सन्नद्ध है। जिस प्रकार भाषा में प्रामाणिकता के संस्थापन की आवश्यकता है उसी प्रकार अक्षर-विन्यास या हिज्जे मे भी। फिर विराम चिह्नों के प्रयोग के विषय में भी नियमों के निर्धारित करने का सवाल उठता है।

संमेलन का यह भी कर्तव्य होगा कि वह यह बतावे कि हमारी भाषा में किन किन विषयों पर मौलिक रचनाओं की आवश्यकता है और उन की पूर्ति किस प्रकार की जावे। इसी प्रकार हमें अनुवाद ग्रंथों के विषय में क्या करना चाहिए? किन विषयों की पुस्तकों के अनुवाद हों? अनुवादों के विषय

अथवा रचना में पर्यायवाची पारिभाषिक शब्दों की गढ़ंत के लिये क्या किया जाय ? यह सब प्रश्न हल होने चाहिए।

हिंदुस्तानी एकेडेमी पिछले चार वर्षों से साहित्य-निर्माण के कार्य में तत्पर है। उस में वह किन प्रकारों से अधिकाधिक सहायक और सफल हो सकती है, इस बात का निर्देश करना संमेलन का प्रधान कर्तव्य होना चाहिए।

* * *

एकेडमी की कार्य-कारिणी समिति ने इस वर्ष हिंदी और उर्दू में नीचे लिखे विषयों पर सर्वोत्तम ग्रंथों के लिये पाँच पाँच सौ रुपये के पुरस्कार नियत किये हैं—

१—समाज शास्त्र।

२—पदार्थ-विज्ञान।

३—समालोचना।

पुरस्कार के लिये प्राप्त पुस्तकें विचाराधीन हैं।

विगत वर्ष जिन पुरस्कारों की विज्ञप्ति प्रकाशित हुई थी उस के अनुसार नीचे लिखे पाँच पाँच सौ रुपये के पुरस्कार इस वर्ष प्रदान किये गए हैं।

हिंदी में—

१—बाबू जयशंकर 'प्रसाद' को 'स्कंदगुप्त' नाटक पर।

२—पंडित रामनरेश त्रिपाठी को 'स्वप्न' नामक कविता ग्रंथ पर और

३—बाबू गुलाब राय को 'तर्कशास्त्र' नामक ग्रंथ पर।

उर्दू में—

१—सैयद खुरशेद हुसैन 'उरूज' को 'मेराजे सखुन' नामक पुस्तक पर।

२—मौलाना सुलेमान अशरफ़ को 'अल्मुबीन' नामक कविता-ग्रंथ पर। और

३—सैयद बहाउद्दीन कंतूरी की 'नफ्सियात तरगीब' नामक पुस्तक पर।

* * *

इस प्रांत की विभिन्न यूनिवर्सिटियों के विद्यार्थियों को उत्साहित करने के लिये भी हिंदुस्तानी एकेडेमी ने कुछ पुरस्कार नियत किए हैं [illegible]

कारिणी समिति ने इस कार्य के लिये १०००) अलग कर दिए हैं जो हिंदी और उर्दू के लिये दो बराबर हिस्सों में बाँट दिए जायँगे। रचनाओं के लिये निश्चित किये गए विषय निम्न हैं। इन पर हिंदी और उर्दू में सर्वोत्कृष्ट रचनाओं के लिये सौ सौ रुपये पुरस्कार मे दिए जायँगे—

१—साहित्य विषयक निबंध।

२—पद्य-कथा।

३—गल्प।

४—एकांकी नाटक।

५—व्यंग।

इस संबंध में प्राप्त रचनाएँ भी विचाराधीन हैं।

समालोचना

काव्य-संग्रह

स्त्री-कवि-कौमुदी—लेखक, श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल', प्रकाशक 'गाँधी-हिंदी-पुस्तक-भंडार', प्रयाग। मूल्य ५), कागज और छपाई सुंदर, चित्र संख्या तेरह।

आज कल जातीय जीवन में भारतीय महिलाएँ स्वर्णाक्षरों मे अपनी सुकृति का इतिहास लिख रही हैं। उन के सामने ही नहीं बल्कि देश के सामने नवीन उषा का प्रकाश फूट रहा है। भावी भारत मे स्त्रियों के पूर्ण सहयोग और उत्साह की आवश्यकता पड़ेगी। ऐसी सामयिक स्थिति में 'निर्मल' जी ने उपर्युक्त कौमुदी का प्रकाशन कर के हिंदी-साहित्य और भारतीय समाज का उपकार किया है। समालोच्य ग्रंथ लगभग पाँच सौ पृष्ठों का है, जिस मे कम से कम पचास हिंदी साहित्य सेविकाओं और स्त्री-कवियों का उल्लेख है। ग्रंथ सर्वथा संग्रहणीय है।

मीराबाई से लेकर आज तक जितनी प्रतिभाशालिनी स्त्री-कवि हुई है उन का आवश्यक परिचय और उन की मनोरंजक, सुंदर और उपयोगी कविताओं के प्रशस्त उदाहरण उपर्युक्त ग्रंथ में दिये गए हैं। 'निर्मल' जी ने पुस्तक की सामग्री इकट्ठा करने में यद्यपि सराहनीय परिश्रम किया है फिर भी वे पुस्तक को त्रुटि-रहित नहीं समझते और आशा करते हैं कि विद्वज्जन उन की सहायता करेंगे जिस से दूसरा संस्करण और भी सर्वाङ्ग पूर्ण और दोष-रहित हो सके। त्रुटियों का होना आश्चर्य जनक नहीं क्योंकि जब सूर, तुलसी, केशव, देव और विहारी आदि पुरुष-कवियों के जीवन की घटनाएँ संशय और विवाद-ग्रस्त हैं तब परदानशीन स्त्री-कवियों के विषय में कहना ही क्या। यदि संकलन-कर्ता महाशय केवल मीराबाई जी की ही जीवनी की गवेषणा और ऐतिहासिक

अनुसंधान के गर्तावर्त में फँस जाते तो यह उपादेय पुस्तक न जाने कितने वर्षों तक विचार की खटाई में पड़ी सड़ा करती, संभव है कि कभी प्रकाशित ही न होती। अतएव 'निर्मल' जी ने पुरातत्व और ऐतिहासिक अनुसंधान के अनंत वितान का मोह त्याग कर और शास्त्रीय पद्धति का प्रलोभन छोड़ कर सर्व-साधारण के लिये लोकोपयोगी सामग्री एकत्रित कर देना ही श्रेयस्कर समझा। आप ने मार्ग खोल दिया और उस पर आगे बढ़ते हुए अन्य विद्वानों को प्रकाश डालने के लिये आमंत्रित किया है। एक स्थान पर इतनी सामग्री इकट्ठा कर के 'निर्मल' जी ने हिंदी और हिंदी प्रेमियों का सराहनीय उपकार किया है, और हिंदी के पुस्तक-भांडार में एक भारी कमी की पूर्ति करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

पुस्तक के आरंभ में 'निर्मल' जी का आठ पृष्ठों का वक्तव्य है। श्रीमती चन्द्रावती त्रिपाठी एम० ए० ने चार पृष्ठों का परिचय लिखा है। श्रीयुत रामशंकर जी 'रसाल' एम० ए० ने अट्ठावन पृष्ठ की भूमिका में स्त्रियों की साहित्य-सेवाओं और उन की कविताओं की विशेषताओं आदि की साहित्यिक विवेचना की है जिस से अनेक ज्ञातव्य बातें मालूम हो जाती हैं और संग्रह की उपादेयता भी बढ़ जाती है। 'इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापितन्वी' के सिद्धांत के अनुकूल मैं आप की समय और साहित्योपयोगी कौमुदी का स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि हिंदी संसार भी उस के स्निग्ध आलोक का अवश्य आदर करेगा।

रा० प्र० मि०
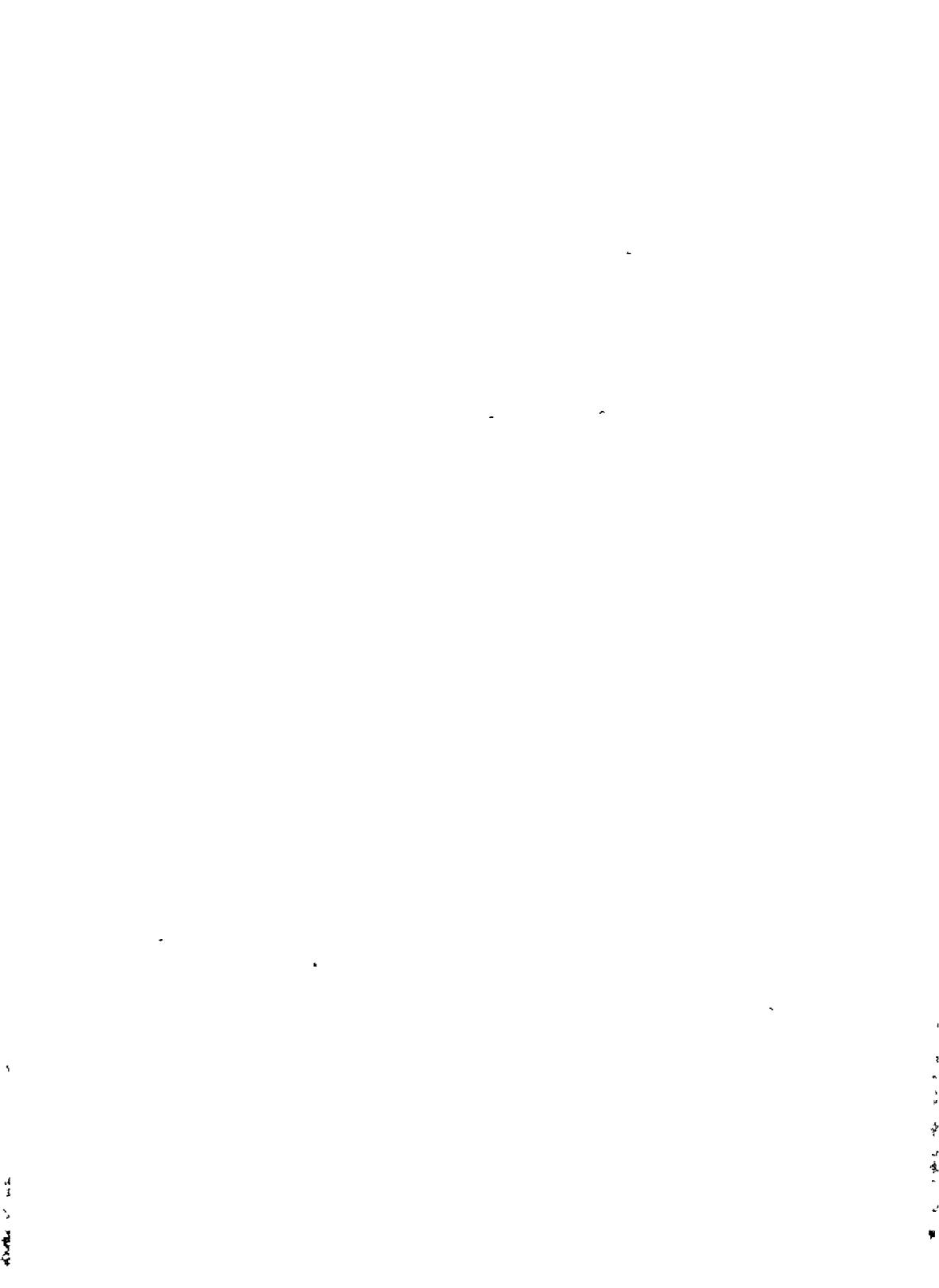
हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग १ | जूलाई १९३१ | अंक ३

जनतावाद

[लेखक—डाक्टर बेनीप्रसाद, एम० ए०, पी० एच्-डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)]

प्रारंभ

उन्नीसवीं सदी के उत्तर भाग में चार्ल्स डारविन ने "ऑरिजिन अव् स्पीशीज़" (जीव योनियों की उत्पत्ति) और "डिसेंट अव् मैन" (मनुष्य की पैदाइश) में, रसेल वालेस ने कुछ लेखों मे, और तत्पश्चात् वाइज़मैन, स्पेंसर आदि विद्वानों ने विकासवाद की जड़ जमाई और यह साबित किया कि पेड़-पौधे, पशु-पक्षी और आदमी सब ही हज़ारों लाखों बरस के क्रमिक विकास के परिणाम हैं। इधर ७०-८० बरस में मनुष्य के शरीर और मस्तिष्क, भाव और प्रवृत्ति, भाषा, समाज, आचार, धर्म, राजनीति आदि विषयों के अनुसंधान और शास्त्र का आधार विकासवाद हो गया है। मनुष्यशास्त्र (एंथ्रोपालोजी) और समाज शास्त्र (सोशियालोजी) के आचार्यों ने आज कल की असभ्य या अर्ध सभ्य जातियों के निरीक्षण से और आइसलैंड इत्यादि कुछ देशों के ऐतिहासिक जन-समूहों के परिशीलन से नतीजा निकाला है कि राज्य या शासन की उत्पत्ति समाज के पीछे हुई थी अथवा यों कहिए कि मनुष्य सदा से ही सामाजिक जीव है पर सदा से राजनैतिक जीव नहीं है। सत्रहवीं सदी के टॉमस हॉब्स

आदि ने समाज और राज्य की उत्पत्ति को एक कर दिया था पर अब यह भ्रम दूर हो गया है और राज्य-हीन समाज की संभावना और ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित हो गए हैं। सच तो यह है कि समाज के लक्षण बहुत से पक्षियों और बहुत से पशुओं में, जैसे हिरन, हाथी और बंदरों में पाये जाते है। मनुष्य जो गोरिला, चिपेंजी और ओरंग-ऊटांग बानरों का चचेरा भाई है—शुरू से ही समाज मे रहता था।

वृत्तियाँ

जीवों में समाज का विकास आवश्यकता और अनुकूलन के अनुसार हजारो लाखों बरस में हुआ था। सब जीवों को परिस्थिति से टक्कर लेना पड़ता था, जीवन शक्ति अपनी रक्षा और प्रसार के उद्योग में नई नई वृत्तियाँ धीरे धीरे प्रगट करनी रही और इन के कारण बहुत से प्राणी साथ साथ अर्थात् समाज बना कर रहने लगे। इसी तरह मनुष्य स्वभाव भी बना और समय पाकर इतना दृढ़ हो गया कि अब उस में परिवर्तन धीरे धीरे और कठिनता से ही होता है। मनुष्य स्वभाव का पूरा पूरा विश्लेषण मनोविज्ञान (साइकालोजी) शास्त्र का विषय है। पर राजनीति का प्रारंभ भी इस सिद्धांत से होता है कि मनुष्य का स्वभाव सामाजिक जीवन के लिये उपयुक्त है, एकाकी जीवन के लिये नहीं। मनुष्य के हृदय में काम या प्रेम है जो स्त्री पुरुष के संबंध में प्रगट होता है, एक विशेष रूप मे अपने बच्चों पर बरसता है और जो शेष समाज के भिन्न भिन्न अंशों पर, यहाँ तक कि मनुष्य मात्र और प्राणी मात्र पर भी, फैल सकता है। प्रीति, सहानुभूति, दया, कृपा, मित्रता भक्ति आदि इसी प्रेम के भिन्न भिन्न रूप हैं जो परिस्थिति अर्थात् समय, संबंध, पद और आंतरिक आवश्यकता के अनुसार उभड़ते हैं। इसी तरह मनुष्य स्वभाव मे डर भी है जो अंधेरे मे या मौत या चोट की आशंका होने पर प्रगट हो जाता है। मनुष्य के स्वभाव मे नेता होने की एवं अनुयायी होने की सहज वृत्तियाँ हैं। ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध भी स्वभाव के अंग हैं और मान अथवा अहंकार तो उसका एक प्रधान लक्षण है। मनोविज्ञान क पंडित अभी तक एक मत नहीं हैं कि मनुष्य की प्रकृति में कितनी

वृत्तियाँ हैं और उन सब के विकास का कारण, उन के अस्तित्व का प्रयोजन, यह है कि जीवन की रक्षा और वृद्धि हो अर्थात् जहाँ तक हो सके आदमी चोट या मृत्यु से बचे, अपना बल बढ़ाए और मरने के बाद जीवन की धारा को जारी रखने के लिये अपनी संतान छोड़ जाय। तमाम सहज प्रवृत्तियाँ जीवन की शक्ति से निकली हैं और जीवन की सिद्धि में सहायक होती हैं। सच है कि कभी कभी हम देखते हैं कि किसी एक या अधिक सहज वृत्ति के वेग में आदमी का जीवन नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। पर इस से वृत्तियों के मूल प्रयोजन का खंडन नहीं होता। बात यह है कि सभ्यता की परिस्थिति में वृत्तियों के सामंजस्य की आवश्यकता है, बुद्धि के द्वारा उन के नियमन की आवश्यकता है। अगर यह आवश्यक अनुकूलन किसी व्यक्ति या समाज में नहीं है तो वृत्तियों की उच्छृंखलता से हानि की संभावना है। पर इस में कोई संदेह नहीं कि व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन का आधार वही सहज वृत्तियाँ हैं जिन का विकास जीवन के प्रयोजनों के लिये हुआ है।

भाव, संबंध और संस्था

आदमी समाज में ही पैदा हो सकता है, समाज में ही रह सकता है और समाज में ही अपनी जीवन-शक्ति का विकास और प्रसार कर सकता है। सदा औरों के साथ रहने की अनिवार्य आवश्यकता से सहज वृत्तियाँ तरह तरह के भावों से मिल-जुल गई हैं। सामाजिक व्यक्ति की सहज वृत्तियों का सन्निकर्ष सामाजिक परिस्थिति से होता है और इस टक्कर के अनुसार तरह तरह के भाव—प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, सहानुभूति, उदासीनता, प्रभुता, कायरता, निर्भरता इत्यादि इत्यादि—पैदा होते हैं और जीवन के अंग बन जाते हैं। वृत्तियों और भावों के चारों ओर तरह तरह के सामाजिक संबंध स्थापित होते हैं और सामाजिक संस्थाएँ जैसे कुटुंब इत्यादि प्रगट होती हैं। सहज वृत्ति, भाव, सामाजिक संबंध और के द्वारा जो पेचीदा व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन बनता है उस में प्रत्येक स्थिति पर प्रत्येक में बुद्धि का भी थोड़ा बहुत

समाज और नियमन

अगर समाज के प्रत्येक व्यक्ति में यथेष्ट सामाजिकता हो और यथेष्ट विवेक भी हो तो समाज को नियमन की बहुत आवश्यकता न होगी अर्थात् अगर हर एक आदमी ठीक ठीक जान ले कि सामाजिक हित क्या है और किसी तरह के स्वार्थ के वश हो कर कभी उस सामाजिक हित की अवहेलना न करे तो न किसी दंड की आवश्यकता होगी, न किसी दंड-नायक की। पर मानसिक और नैतिक विकास की इस स्थिति तक मनुष्य जाति अभी तक नहीं पहुँची है। इने गिने महात्माओं को छोड़ कर प्रायः सभी लोग थोड़े बहुत स्वार्थ के वश में हैं। माना कि निपट स्वार्थी कम हैं लेकिन अधिकांश मनुष्यों में परार्थ अर्थात् समाजार्थ की मात्रा स्वार्थ की मात्रा से घट कर है। बहुत से लोगों में अहं की भावना इतनी प्रबल है कि उन को दूसरों के हित—समाज के हित—नजर नहीं पड़ते। कुछ न कुछ प्रेम और सहानुभूति सब जगह मौजूद हैं पर अधि-कांश मनुष्यों में इन का क्षेत्र संकुचित है और सारे समाज की सीमा के बराबर नहीं है। बहुत से लोगों के भाव तो कुछ सामाजिक हैं पर यथेष्ट बुद्धि या विवेक न होने से वह सामाजिक हित को समझ नहीं सकते या उस के अनुसार व्यवहार के उपाय नहीं निकाल सकते। परिणाम यह है कि समाज स्वार्थ, परिमित परार्थ, पूर्ण परार्थ, परिमित सहानुभूति और पूर्ण सहानुभूति, ज्ञान और अज्ञान, विवेक और अविवेक, मित्रता और वैमनस्य, सहनशीलता और असहनशीलता की अनगिनित क्रीड़ाओं का रंगमंच है। जीवन के विकास और प्रसार का तक़ाज़ा है कि मनुष्य अपनी असामाजिकता को दबाने के लिये नियम स्थापित करे और उन नियमों के प्रयोग के लिये अधिकारियों की सृष्टि करे। जब तक समाज बहुत सादा था, आवश्यकताएं कम थीं, जीवन सरल और एक-सा था तब तक नियम के बिना काम चल सकता था और कहीं कहीं बहुत दिन तक चलता भी रहा पर जब सामाजिक जीवन के विकास ने पेच दर पेच पैदा किए, ज़रू-रतें बढ़ाईं और नई नई समस्याएं प्रगट कीं तब असामाजिकता के दमन के लिये शासन अनिवार्य हो गया समय समय की परिस्थिति और विचार के

निदा, धार्मिक नियम, साधारण नैतिक आदर्श, वर्ग विशेष या समुदाय विशेष के नियम, राज्य और क़ानून। आज भी यह सब रूप दृष्टिगोचर है।

राज्य

मनुष्य समाज के इतिहास में दो ऐसे घटना-चक्र हैं जिन के कारण नियमन बहुत कुछ राज्य के हाथ में रहा है, जिन से राज्य का बल और महत्त्व खूब बढ़ा है और जिन के कारण राज्य की महा-शक्ति का दुरुपयोग भी बहुत हुआ है। विकासवाद की भाषा में यों कहना चाहिये कि मनुष्य की प्रकृति और समाज के प्रसार ने कुछ ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दीं कि सामाजिक जीवन की शक्तियों ने अनुकूलन के सिद्धांत के अनुसार प्रभावशाली राज्य बनाए। यह राज्य भी अनिवार्य रूप से संपूर्ण सामाजिक परिस्थिति के अंग थे पर यहाँ भी प्रकृति और परिस्थिति के अनुसार मनोवृत्ति का पूरा पूरा अनुकूलन नहीं हुआ है और व्यक्तित्व और सामाजिकता में पूरा सामंजस्य नहीं स्थापित हुआ है।

संपत्ति

दो क्रांतिकारी घटना-चक्र थे संपत्ति और समर। जंगली अवस्था में आदमी वन के कन्द, मूल, फल और शिकार में मारे हुए पशु-पक्षी और मछलियों को खा कर जीवन निर्वाह करता था। पर बुद्धि से ज्ञान बढ़ रहा था और ज्ञान की बढ़ती हुई शक्ति ने प्रकृति की वह विजय प्रारंभ की जो अब तक जारी है और जो सभ्यता की एक कसौटी मानी जाती है। मनुष्य ने जंगली जानवरों को पाल कर खाने पहिनने की और अस्त्र-शस्त्र की सामग्री और सुविधा बढ़ाई। इस के बाद खेती शुरू की और अपूर्व परिमाण में अन्न और फल पैदा किए। इस के साथ ही उद्योग-धंधों के आविष्कार हुए और आवश्यकता, सुविधा या ऐश्वर्य के तरह तरह के सामान बनने लगे। चीज़ों का लेन देन अर्थात् व्यापार प्रारंभ हुआ जिस ने व्यक्तियों के बीच तरह तरह के संबंध स्थापित किए इन आर्थिक क्रांतियों ने आदिम समाज का रूप बिल्कुल बदल दिया व्यक्तियों के जीवन को नई धाराओं में बहाया समाज के संबंधों और

संपत्ति और समाज

पहली बात तो यह है कि संपत्ति के उदय से समानता जाती रही और असमानता की बहुत सी मात्राएँ प्रगट हुईं। किसी व्यक्ति, कुटुंब या समुदाय के पास थोड़ी संपत्ति थी अर्थात् वह थोड़े पशु, जमीन या और माल असबाब रखता था, किसी के पास कुछ अधिक थी, किसी के पास और अधिक थी। इस तरह के अनगिनित भेद थे। संपत्ति से जो सुख और स्वाभिमान, चिंता और भय उत्पन्न होते हैं उनकी मात्राएँ भी अलग अलग थीं। संपत्ति के दान के द्वारा दूसरों से अपना काम कराया जा सकता है, और दूसरों पर थोड़ा बहुत अधिकार जमाया जा सकता है। इस मनुष्य-प्रयोग और अधिकार के रूप और परिमाण भी बहुत हुए और तरह तरह के हुए।

पशुपालन, खेती और उद्योग ने, जो संपत्ति-क्रांति के अंग थे, जीवन-निर्वाह की सामग्री बहुत बढ़ा दी थी। इसलिये अब आबादी भी बहुत बढ़ने लगी और आदमियों की संख्या दिन पर दिन अधिक होती गई। जन-संख्या बढ़ने से और भी जंगल काटे गए, खेती बढ़ी, नये नये गाँव बसे और बहुत से लोग इधर उधर जा कर बसने लगे। यह संपत्ति-क्रांति का दूसरा महान् परिणाम था।

वर्ग

तीसरा परिणाम यह हुआ कि व्यवसाय के भेदों के कारण और संपत्ति की मात्रा के भेदों के कारण भिन्न भिन्न वर्ग बनने लगे। जो एक तरह का काम करते थे या एक ही आर्थिक श्रेणी का जीवन निर्वाह करते थे वह अपने अलग अलग वर्ग बनाने लगे। समय के अनुसार वर्गों के आचार विचार पृथक् होते गए। वर्ग बहुत से थे; कुछ मुख्य थे, कुछ गौण थे; बड़े बड़े वर्गों के भीतर छोटे छोटे वर्ग थे और कभी कभी तह पर तह जमी थी। एक और बात स्मरण रखनी चाहिये—वर्गीकरण स्थिर नहीं है, गतिशील है अर्थात् वर्गों के पद, परिमाण आदि परिस्थित के अनुसार बदलते रहते हैं पर वर्गीकरण आज

समर

संपत्ति-क्रांति से जो घटना-चक्र प्रारंभ हुआ वह एक दूसरे क्रांतिकारी चक्र से इस तरह मिल गया था कि दोनो के प्रभाव की मात्रा पृथक् पृथक् स्थिर नहीं की जा सकती। जन-संख्या बढ़ने से कुछ लोगो ने दूसरों की संपत्ति छीनने का उद्योग किया और युद्ध प्रारंभ हुए। समाज के सारे संगठन पर समर का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा है और जनतावाद से उस का ऐसा घनिष्ट संबंध है कि दो चार शब्द कहना आवश्यक है। बहुत दिन तक समाज-शास्त्रियो की धारणा थी कि मनुष्य स्वभावतः लड़ाकू है और जंगली अवस्था में बिना कारण ही आस पास के लोगों से युद्ध किया करता था। पर अब इस मत का निरा-करण हो रहा है। मनुष्य के मन मे क्रोध, ईर्ष्या आदि के भाव अवश्य हैं पर बिना किसी कारण दल बाँध कर युद्ध करना उस के स्वभाव का अंग नहीं है। इस का कोई प्रमाण भी नहीं है कि अत्यंत प्राचीन काल मे मनुष्य आपस मे यों ही लड़ा करते थे।

किसी भी समुदाय मे या भिन्न समुदायों के लोगो मे आपस के झगड़े जरूर होते होंगे पर वैसी समर, जैसी इतिहास में दृष्टिगोचर है, उन दिनों नही थी। समर का प्रारंभ संपत्ति के उदय से और जन-संख्या की वृद्धि से है। दूसरों के पशु या धन-धरती छीनने के लिये युद्ध शुरू हुए। जिन की विजय होती थी वह हारने वालों को बहुधा मार डालते थे और उन की संपत्ति को अपना लेते थे।

दासता

पर खेती के बढ़ने पर लोगों ने देखा कि हारने वालों से काम लिया जा सकता है और मारने की अपेक्षा उन को दास बनाना अच्छा है। दासता या पराधीनता के अनेक भेद हो सकते हैं पर लड़ाइयों के बाद किसी न किसी रूप में यह सब जगह प्रगट होने लगी। समाज में संपत्ति के कारण तो बहुत से वर्ग बन ही रहे थे, अब समर के कारण और भी तीव्र भेद उत्पन्न हुए जिन का आधार किसी न किसी मात्रा में पराधीनता थी कवि कहता है कि "परा-

धीन सपनेहु सुख नाहीं।" पराधीन लोग बहुधा ग़रीब होते हैं, अत्याचार से पीड़ित रहते हैं, सामाजिक संमान से कोसों दूर रहते हैं। इस प्रकार अब समाज दो बड़ी श्रेणियों में विभक्त हो गया—एक तो स्वाधीनता की और दूसरी पराधीनता की।

नये नये वर्ग और भेद

ऊपर दिखा चुके हैं कि स्वाधीन लोगों में संपत्ति के कारण आपस में बहुत भेद हो चुके थे। यह बताना भी आवश्यक है कि पराधीन भी आपस में बराबर नहीं थे। उन में भी बहुत से वर्ग थे, ऊँच-नीच के भेद थे। इस के कई कारण थे। एक तो पराधीनता के पहिले ही वह वर्गों में विभक्त हो चुके थे जो युगांतर के बाद भी किसी न किसी रूप में जारी रहे। दूसरे इन में भी संपत्ति के नये भेद अवश्यंभावी थे। तीसरे, विजेताओं ने इन से तरह तरह के काम लिए और व्यवसाय के अनुसार इन के बहुत से भेद हो गए। इस प्रकार समाज के दो बड़े मुख्य भेद थे—स्वाधीन और पराधीन। प्रत्येक भेद के भीतर बहुत से वर्ग थे।

परिवर्तन

पर यह सारी अवस्था गतिशील थी। परिवर्तन के कई कारण थे। एक तो मानवी वृत्तियों का वेग सदा ही कुछ न कुछ परिवर्तन सर्वत्र किया करता है। दूसरे, स्वाधीन श्रेणी के नीचे वर्गों में और पराधीन श्रेणी के ऊँचे वर्गों में कुछ समानता सी थी जिस के कारण समय बीतने से स्वाधीन-पराधीन का भाव निर्बल होने पर वह आपस में संबंध करने लगे। इस से नये वर्ग और नये भेद पैदा हुए। तीसरे, आविष्कारों से व्यवसाय के प्रयोगों में अंतर पड़ता जाता था, नये उद्यम निकलते थे, पुराने वर्गों और भेदों की सीमाएँ बदलती थीं। चौथे, मानवी सहानुभूति जो कभी कभी धार्मिक और नैतिक आंदोलनों के रूप में प्रगट होती थी वर्गीकरण की कठोरताओं को कुछ कुछ मिटाती थी, और जीवन के किसी किसी क्षेत्र में समानता उत्पन्न करती थी। धार्मिक और नैतिक प्रभावों ने और हेलमेल ने कहीं कहीं तो समय बीतने पर विजय   का

राज्य का प्रादुर्भाव

सम्पत्ति और संपत्ति से जो क्रांतियाँ समाज में पैदा हुई थीं इन्होंने धीरे धीरे एक और परिवर्तन किया जिसे राजनीति की क्रांति कह सकते हैं। नई परिस्थितियों से राज्य का प्रादुर्भाव हुआ।

पहिला कारण यह था कि संपत्ति की विषमता से ईर्ष्या बहुत बढ़ गई थी और लड़ाई झगड़े का सामान हमेशा तैयार था। सब लोगों को कष्ट की संभावना थी, जीवन की नई नई सुख-सुविधाएं जो संपत्ति से पैदा हो रही थी संकट में थीं। इस दृष्टि से सब लोगों का हित इस में ही था कि समाज का नियमन हो अर्थात् सुसंगठित शासन की स्थापना हो जिस में कि असामाजिकता का दमन हो सके, झगड़ों का फ़ैसला हो सके, लोगों की संपत्ति की रक्षा हो सके। अस्तु, धीरे धीरे शासन का संगठन सारे समाज की सुविधा के अनुसार होता रहा। दूसरे, जिन लोगों के पास विशेष संपत्ति थी उन का तो सर्वस्व ही शासन पर निर्भर था। वह खास तौर से राज्य का समर्थन कर रहे थे। तीसरे, अब कुछ ऐसे सामाजिक कर्म शुरू हो गए थे जो सामाजिक सहकारिता और सामाजिक नियमन की अपेक्षा करते थे। व्यापार के लिये शांति और न्याय की आवश्यकता थी और यह नियम और विधान से ही पूर्ण हो सकती थी।

इन कारणों से राज्य स्थापित हुआ अर्थात् सामान्यतः सारे समुदाय की ओर से और विशेषतः कुछ वर्गों की ओर से एक या अधिक व्यक्तियों को नियम बनाने का, प्रबंध करने का और आततायियों को दंड देने का अधिकार मिल गया। पर शासन बिल्कुल निरंकुश नहीं था, समाज ने जिस रीति रिवाज का विकास अपनी रक्षा के लिये और अपनी आवश्यकता के अनुसार किया था वह शासकों को बहुत कुछ मानना पड़ता था। शासन की नीति स्थिर करने में भी जनता का थोड़ा बहुत और विशेष वर्गों का ज्यादा, हाथ रहता था।

राज्य पर युद्ध का असर

राज्य के विकास का चौथा मुख्य कारण था युद्ध। लड़ाई में सफलता के बहुत से साधन हैं एक मुख्य साधन यह है कि सामरिक नीति में निश्चय

चटपट हो, सारी शक्ति का संगठन हो, सब लोग एक व्यक्ति या समिति की आज्ञा सिर पर धारण करें। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि नियमन की एकता हो अर्थात् संगठित शासन हो। जब लड़ाइयों का रिवाज स्थिर हो गया तब राज्य भी स्थिर हो गया। जय-पराजय के परिणाम से शासन की जड़ और भी जम गई। इन को राज्य के विकास का पाँचवाँ मुख्य कारण कह सकते हैं। पराजित समुदाय को बस में रखने के लिये कठोर नियमन की आवश्यकता थी। धन-धरती खो जाने के खेद से, पराधीनता के क्लेश से, अपमान की वेदना से विद्रोह के विचार स्वभावतः उत्पन्न होते हैं। मानवी जीवन की यह धाराएँ सुसंगठित शासन के द्वारा ही थम सकती हैं या पलट सकती हैं। पुराने इतिहास में भिन्न भिन्न समयों पर लगभग प्रत्येक समाज विजेताओं और पराजितों का समूह हो गया था। अतएव सब जगह शासन ने स्थायी रूप धारण किया और शक्ति को अपना आधार बनाया।

पेच दर पेच

व्याख्या की सुविधा के लिये यहाँ सामाजिक परिवर्तन और राज्य के विकास के कारण अलग अलग बताए हैं। अतएव इस बात पर जोर देना जरूरी है कि इतिहास के तागे बेतरह गुँथे हुए हैं अथवा यों कहिए कि भिन्न भिन्न शक्तियाँ मिल जुल कर एक दूसरे को पलटती हुई और नई शक्तियों का संचार करती हुई पेच दर पेच पैदा करती हैं। तरह तरह के प्रभावों की टेढ़ी खीर का विश्लेषण असंभव है। ऊपर जिन क्रांतियों, परिवर्तनों और कारणों का उल्लेख किया है वह सब नई नई पहेलियाँ रच रहे थे। समाज, प्रेम और घृणा, मित्रता और शत्रुता, अहंकार और नम्रता, जय और पराजय, स्वार्थ और सहानुभूति, सुख और दुख, भय और आशा, के अनगिनित परिमाणों का नानारूपी प्रकाश-मय और अंधकार-मय लीला मंच था। भिन्न भिन्न समाजों में भिन्न भिन्न संबंध थे और प्रत्येक समाज में समुदायों की तह पर तह जम गई थी दुनिया की इन ग्रंथियों का , अनिवार्य भाग था शासन वह समाज के जीवन से अलग न था, उस में पूरी तरह बिंधा [illegible] समाज

की सारी शक्तियों का प्रभाव उस पर पड़ता था और समाज के लगभग सारे अंगों पर वह अपना प्रभाव डालता था। आज तक यह क्रम ऐसा अटूट चला आया है कि शासन का परिशीलन समाज के संदर्भ में ही हो सकता है।

वर्ग और शासन

कह चुके हैं कि संपत्ति, समर और जय-पराजय ने प्रत्येक समाज को बहुत से वर्गों में बाँट दिया था। वर्ग आज तक सब जगह मौजूद हैं, इन के रूप और आपस के संबंध बदलते रहे हैं, पुराने वर्गों के स्थान पर नये वर्ग प्रगट होते रहे हैं, पर वर्गीकरण स्थाई रहा है। किसी किसी देश में यह ऐसा कड़ा हो गया कि प्रत्येक वर्ग आपस में ही सगाई ब्याह करता था। और अपनी ढाई चावल की खिचड़ी अलग पकाता था। यह वर्णभेद, जातियों और उपजातियों का यह संगठन मीडिया, ऐसिरिया, वैबिलोनिया आदि और देशों से तो मिट गया है पर हिंदुस्तान में अब तक मौजूद है, हिंदू सामाजिक व्यवस्था के भीतर आर्थिक भेद और जय-पराजय के सैकड़ों खेल छिपे हुए हैं। वर्ग या वर्ण के हानि-लाभों का प्रसंग यहाँ नहीं है। केवल यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि समाज के संगठन का एक आधार वर्ग रहा है और इसलिये शासन का भी एक आधार वर्ग रहा है।

शक्ति और शासन

शासन की विवेचना दो अर्थों में हो सकती है। संकुचित अर्थ में शासन का प्रयोजन केवल राजा या अधिकार-समितियों की कार्यवाही से है। विस्तृत अर्थ में शासन का प्रयोजन सारे सामाजिक नियमन से है। भेद यह है कि सामाजिक नियमन राज्य के अधिकारियों के अलावा धर्म, आचार-नीति, स्वीकृत आदर्श और लोकमत के द्वारा भी होता है। संकुचित हो या विस्तृत, सारे नियमन का स्रोत सामाजिक या वर्गीय आकांक्षा और आवश्यकता है। धर्म और नीति के आदर्श भी सामाजिक शक्तियों के लीलाचक्र से बच नहीं सकते। एक ओर इन्होंने दया और प्रेम का उपदेश दिया पर दूसरी ओर कहीं कहीं वर्ण या [illegible] पर इन्होंने अपनी मुहर लगा दी आदमी को आदमी से

दूर रखने में सहायता की, कभी कभी ऐसी राजभक्ति और स्वामिभक्ति की तान छेड़ी जिस से केवल पराधीनता की कठोरता ही बढ़ सकती थी।

बाहुबल

सामाजिक नियमन भी एक जटिल प्रभावचक्र है। उस के संबंध में बहुत व्यापक कथन भ्रांतिमय होंगे पर यह स्पष्ट है कि सामाजिक नियमन कई तरह की शक्तियों के आश्रित है।

जिन की भुजाओं में बल है उन का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य ही रहेगा। थोड़ा बहुत बल समाज के लगभग सब लोगों के पास है। इसलिये नियमन में थोड़ा सा प्रभाव लगभग सब लोगों का है। और कुछ न सही, वह शासन की सीमा ही निश्चित करते हैं।

संगठन

पर जो समुदाय अपने बाहुबल को एकत्र और संगठित करता है वह एक एक ग्यारह की कहावत को चरितार्थ करता है। अस्तु, नियमन में संगठित समुदायों का हाथ बहुत रहता है।

पर संगठन मानसिक और नैतिक गुणों पर निर्भर है। इसलिये वह समुदाय विशेष प्रबल होता है जिस में बुद्धि है और सहकारिता का कठिन अभ्यास है। इतिहास में पाशविक बल की अपेक्षा मानसिक बल, और मानसिक बल की भी अपेक्षा नैतिक बल अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। सामाजिक नियमन में भिन्न भिन्न समुदायों का प्रभाव उन के बाहुबल, मानसिक और नैतिक बल और संगठन के अनुसार रहा है। पर इस प्रश्न पर समुदाय के दृष्टिकोण के अलावा व्यक्ति के दृष्टिकोण से विचार करना भी आवश्यक है।

व्यक्तिगत प्रतिभा

कुछ व्यक्तियों में ऐसा मानसिक और नैतिक बल होता है कि चारों ओर अपना सिक्का जमा देते हैं। गौतम बुद्ध, जरतुस्त, ईसा मसीह, शंकराचार्य, अरिस्टाटल, सेंट फ्रांसिस आदि बहुत से नाम गिनाए जा सकते हैं इन महात्माओं का व्यक्तित्व सामाजिक परिस्थिति के प्रभाव से [illegible]

है पर इन की आत्मशक्ति इतनी विकसित होती है कि, अनुकूल साधन होने पर, वह सामाजिक परिस्थिति के अंशों को बदल देती है। वह विचारों और भावों की ऐसी लहरें बहाते हैं कि पुराने संगठन के भाग कटते कटते गिर जाते हैं। जो क्रियायें महापुरुष बड़े पैमाने पर करते हैं वह साधारण व्यक्ति छोटे पैमाने पर किया करते हैं। समाज में संगठन और आत्मत्व का एक द्वंद है जो तरह तरह के रूप धारण करता है और तरह तरह के प्रभाव पैदा करता है।

संपत्ति का प्रभाव

आत्मत्व के प्रभावों को छोड़ कर, यह कहा जा सकता है कि समुदायों के मानसिक और नैतिक बल और संगठन के अनुसार सामाजिक नियमन होता है। पर यह देखना ज़रूरी है कि मानसिक और नैतिक बल किन बातों पर निर्भर है। इने गिने प्रतिभाशाली व्यक्तियों को छोड़ दीजिए तो मानना पड़ेगा कि मानसिक बल किसी न किसी तरह की शिक्षा पर निर्भर है, शिक्षा अवकाश पर निर्भर है और अवकाश संपत्ति पर। जिन के पास खाने पहिनने को भी काफ़ी नहीं है वह बहुधा न अपनी मानसिक उन्नति कर पाते हैं और न अपने बच्चों को शिक्षा दिला पाते हैं। "भूखे भक्ति न होइ गुसाईं।" संपत्ति न होने से बहुधा जीवन की कली अधखिली रह जाती है या पैदा होते ही मुरझा जाती है। अवसर की कमी से जीवन का सारा अनुभव संकुचित हो जाता है। जीवन का कठोर संग्राम बहुधा दरिद्रता के नैतिक पतन का भी कारण होता है। जिन के पास संपत्ति है वह मानसिक और नैतिक बल के अधिकारी होते हैं और बहुत सा सामाजिक नियमन करते हैं। पूँजी वाले ग़रीबों को काम देते हैं अर्थात् उन से काम लेते हैं और उन के जीवन का क्रम स्थिर करते हैं।

संपत्ति की श्रेणियाँ

पर यह स्मरण रखना चाहिये कि संपत्ति वालों का केवल एक संगठित समुदाय नहीं है। उन के बहुत से वर्ग हैं, बहुत सी श्रेणियाँ हैं, जिन में आपस की ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा है और जो क्रमशः दरिद्रता के किनारे तक पहुँचती हैं

कार्ल मार्क्स की तरह यह समझना भूल है कि समाज केवल दो समुदायों में विभक्त है—पूँजीवाले और श्रमजीवी। वास्तव में बहुत से समुदाय हैं, उन का संगठन कहीं कड़ा है, कहीं ढीला है, कहीं बिल्कुल नहीं है। एक नहीं किंतु तरह तरह के बहुत से सामाजिक प्रभाव उन से प्रगट होते हैं। इतना अवश्य स्पष्ट है कि उद्योग के भेद और समर के परिणामों से कुछ वर्ग बहुत प्रभुता रखते हैं, अन्य वर्ग थोड़ी रखते हैं और कोई कोई तो प्रभुता से लगभग शून्य हैं। संक्षेप से यों कहिए कि विस्तृत अर्थ में सामाजिक नियमन समाज के हाथ में है पर भिन्न भिन्न समुदायों और श्रेणियों में भिन्न भिन्न परिमाण में बँटा हुआ है और प्रधानता उन लोगों की है जो समर और संपत्ति की, मस्तिष्क और चरित्र की सफलता के सहारे ऊँचा पद पा चुके हैं।

राजनैतिक अधिकरण

अब ज़रा संकुचित अर्थ में सामाजिक नियमन पर विचार कीजिए अर्थात् राजनैतिक शासन के आधार और तात्पर्य की परीक्षा कीजिए। ऊपर जिन प्रभावों का उल्लेख किया है वह यहाँ और भी स्पष्ट हैं। राजनैतिक अधिकार बहुधा विजेताओं के और संपत्ति वालों के हाथ में रहा है। इस में कोई संदेह नहीं कि समय बीतने पर विजय की सुध मिट गई या धुंधली हो गई पर उस के परिणाम किसी न किसी रूप में अधिकांश समाजों में दृष्टिगोचर हैं। बहुत सा हेल-मेल हो जाने पर भी विजेताओं की और पराजितों की तह पर तह लगी हुई हैं। संपत्ति के भेदों ने कुछ उथल-पथल कर दी है और नये प्रभुताशील वर्ग पैदा कर दिए हैं। पर कभी कभी इन भेदों की सीमा भी वही है जो पुराने भेदों की। धर्म ने भी कहीं कहीं नये वर्ग पैदा किए हैं और पुरोहित-वर्गों को प्रभुता दी है पर कभी कभी यह वर्ग भी पुराने वर्गों की शाखा मात्र सिद्ध होते हैं। समाज की इन राजनैतिक पहेलियों को सुलझाने की आवश्यकता यहाँ नहीं है। इतना कह देना ही काफ़ी है कि ज्यादातर राजनैतिक अधिकार कुछ विशेष वर्गों के हाथ में रहा है माना कि अन्य वर्गों का भी कुछ प्रभाव रहा है पर सारी जनता की न हो कर कुछ समुदायों की ही रही है

ऐतिहासिक उदाहरण

प्राचीन ग्रीस अथवा यों कहिए प्राचीन एथेंस जो जन-सत्ता का क्रीड़ा-स्थल माना जाता है इस सिद्धांत का अपवाद नहीं है। एथेंस में स्वतंत्र नागरिकों की अपेक्षा गुलामों और अनागरिक परदेशियों की संख्या कई गुनी थी। वहाँ भी वास्तव में वर्गसत्ता ही थी। प्रकृत व्यवहार तो दूर रहा तत्त्व ज्ञान मे भी ग्रीस कभी पूर्ण जनतावाद तक न पहुँच सका। प्लेटो की "रिपब्लिक" और अरिस्टाट्ल की "पॉलिटिक्स" आज तक राजनैतिक विचार के स्रोत हैं पर दोनों में सामाजिक और राजनैतिक संगठन गुलामी के आधार पर हैं। प्राचीन रोमन समाज का भी यही आधार था। हिंदुस्तान में तो वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी और सच्चे जनतावाद का कोई प्रश्न ही न था। दूसरी प्राचीन सभ्यताओं की हालत भी बेहतर न थी। यूरुप में मध्य-काल में 'सर्फडम' प्रचलित थी जिस के अनुसार किसान आधे चौथाई गुलाम थे और प्रभुता से वंचित थे। यूरोपियन देशों में अठारहवीं सदी तक जमींदारी-शासन रहा और कहीं तो, जैसे रूस मे उन्नीसवीं सदी में भी जारी रहा। इस तरह के तीव्र या मंद उदाहरण हर एक देश के इतिहास से दिए जाते हैं। संसार के राजनैतिक इतिहास पर वर्गीय शासन ज्वलंत अक्षरों में लिखा हुआ है।

वर्गसत्ता का पक्ष

साधारणतः लोगों में कल्पना शक्ति इतनी कम होती है और मानसिक आलस्य इतना ज्यादा होता है कि वह प्रचलित व्यवस्था को ही स्वाभाविक, अनिवार्य और अच्छी व्यवस्था मान बैठते हैं। जीवन मे अनुकूलन की ऐसी आश्चर्यकारी शक्ति और प्रवृत्ति है कि आदमी परिस्थिति के अनुसार अपने विचार, भाव और आचार बहुत कुछ बना लेता है। कभी कभी वह विद्रोह करता है पर साधारणतः वह अपने 'भाग्य' से संतुष्ट हो कर रह जाता है। इस लिये संपत्ति, समर, वर्गीकरण आदि कारणों से जो व्यवस्था उत्पन्न हुई वह बहुधा इतिहास में स्वीकृत हुई है। बहुत तत्त्व-ज्ञानियों ने भी खोज और विवाद के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि वर्गमूलक सामाजिक संगठन और राज-

नैतिक शासन सब के लिये अच्छा है। उन की दलील है कि साधारण जनसमूह अज्ञान, दरिद्रता, स्वार्थ और तुच्छता के अंधकार में ऐसा डूबा हुआ है कि न अपना हित देख सकता है और न पराया। उस में आत्म-शासन की न तो आकांक्षा है और न शक्ति। उस का हित इसी में है कि कुछ बुद्धिमान् दूरदर्शी आदमी उस पर शासन करते रहें और स्वयं उसे शासन का अधिकार न दें। तेईस सौ बरस से ज्यादा हुए अरिस्टाट्ल ने कहा था कि स्वयं प्रकृति ने कुछ लोगों को ऐसा बनाया है कि वह शासक होने के योग्य हैं और कुछ लोगों को ऐसा बनाया है कि वह शासित होने के ही योग्य हैं। यह सिद्धांत स्वाभाविक मानवी अयोग्यता के विचार पर अवलंबित है और किसी न किसी रूप में मेकियावेली, टॉमस हाब्स, एड्मंड बर्क, हेनरी मेन इत्यादि इत्यादि प्रचंड राजनैतिक तत्त्वज्ञानियों में पाया जाता है। साम्राज्यवाद के रूप मे इस का प्रयोग वह राष्ट्र करते हैं जो दूसरी जातियों पर शासन कर रहे हैं या करना चाहते हैं कुलीनसत्ता या धनिकसत्ता के रूप मे इस का प्रयोग वह वर्ग करते हैं जो दूसरे वर्गों के जीवन की बागडोर अपने हाथ मे रखना चाहते हैं।

परंपरा का विरोध

पर वर्गसत्ता का कुछ न कुछ विरोध भी होता रहा है। इतिहास में बहुत से विद्रोह हैं जो अधिकार से वंचित रहने वाले लोगों ने इस धारणा के अनुसार किए हैं कि वह भी शासन के योग्य हैं। तत्वज्ञान मे, विशेष कर अठारहवीं सदी के क्रांतिकारी फ्रांसीसी लेखक रूसो के समय से, यह सिद्धांत दृष्टिगोचर है कि साधारण जन समूह स्वभावतः निकम्मा नहीं है, वह शासन के योग्य है या बनाया जा सकता है और श्रेष्ठ शासन आत्म-शासन ही है। राजनैतिक क्षेत्र के अलावा साधारण सामाजिक जीवन के संबंध में इस सिद्धांत का निष्कर्ष यह है कि साधारण सामाजिक नियमन में विशेष वर्गों की नहीं किंतु जनता की प्रधानता होनी चाहिये। जनतावाद का पूरा पूरा व्यवहार तो कहीं भी नहीं हुआ है पर १७८९ ई० के फ्रांसीसी राज्य-विप्लव से लेकर आज तक जनसत्ता की प्रगति अमरीका मे, बहुत से यूरोपियन देशों में और कुछ कुछ एशियाई देशों में भी दिखाई देती है ऐतिहासिक दृष्टि से, यह आंदोलन असीम महत्त्व

का है। इस का अभिप्राय है कि हजारों बरस से जो संगठन चला आया है वह बिल्कुल पलट दिया जाय, मनुष्य का जीवन नई धाराओं में बहाया जाय। इस की ललकार यह है कि संपत्ति और समर के क्रिया-कांडों ने जो सामाजिक संस्थाएं स्थापित की थी उन के दिन गए और अब साधारण जनता के हित, बल और चरित्र की नींव पर नया सामाजिक जीवन रचा जाय। सिद्धांत और व्यवहार दोनों ही क्षेत्रों में जनतावाद परंपरा का ऐसा घोर विद्रोह है कि उस के मूल आधारों की एवं व्यवहार के उपायों की समीक्षा आवश्यक है।

विकास-क्रम और जनतावाद

और सब प्रश्नों की तरह जनतावाद पर भी पहिले विकास-क्रम की दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। अगर हजारों बरस के विकास-क्रम ने वर्ग सत्ता पैदा की है तो क्या इस समय भी विकास-क्रम कोई ऐसा पलटा खा रहा है जिस से भविष्य में जनतावाद के लिये आशा की जा सकती है? गत दो सौ बरस के इतिहास में दो तीन ऐसे घटना-चक्र अवश्य हैं जो जनतावाद की ओर संकेत करते हैं। एक तो आने-जाने की सुविधाएं बे तरह बढ़ गई हैं। रेल, जहाज़, मोटर और अब विमान इतने सामान्य हो गए हैं या हो रहे हैं कि सर्व-साधारण को ज्ञान और अनुभव प्राप्त करने की अपूर्व सुविधाएं मिल गई हैं। छापे के प्रचार ने हज़ारों समाचार-पत्र स्थापित कर दिए हैं और सारे साहित्य को सस्ता कर दिया है। बेतार के तार से घर बैठे लोग देश देशांतर के व्याख्यान, वाद-विवाद और गाने सुन सकते हैं। जो साधन पहिले राजा-महाराजाओं और धनकुबेरों के स्वप्न के भी बाहर थे वह अब ग़रीबों की पहुँच के भीतर आ रहे हैं। जनसाधारण के मार्ग में जो रुकावटें थीं वह अब दूर हो रही हैं। दूसरी बात यह है कि विज्ञान के अपूर्व संचय और प्रयोग से खेती और उद्योग के तरीक़े यूरुप और अमरीका में बिल्कुल बदल गए हैं और एशिया एवं अफ़्रीका में बदल रहे हैं। ज़मीन की पैदावार बहुत बढ़ गई है और इतनी बढ़ाई जा सकती है कि सब लोगों को आसानी से काफ़ी और अच्छा खाना मिल सके। खाने की चिंता में किसी का जीवन नष्ट न होना चाहिये, खाने के प्रयास में

किसी का सारा समय और बल न लगना चाहिये। मशीनों के द्वारा जीवन की और आवश्यकताओं और सुविधाओं के सामान भी इतनी बहुतायत से बन रहे हैं और बन सकते हैं कि सब लोग कपड़ा, मकान इत्यादि का उचित सुख भोग सकें। यदि अभी तक यह राम-राज्य दृष्टिगोचर नहीं हुआ तो कारण यह है कि मनुष्य ने प्राप्य सामग्री का पूरा संगठन नहीं किया है और पुराने वर्गीय एवं जातीय विद्वेष मिटे नही है। महत्त्व की बात यह है कि सारी जनता के लिये सुखमय जीवन की संभावना, जो पहिले कभी नहीं थी, अब हमारे क्षितिज पर आ गई है। यथेष्ट संगठन और कुछ नये विचारों और भावों की सहायता से हम उस के पास पहुँच सकते है। इस संभावना से बहुत सी पुरानी वर्गीय ईर्ष्या और शत्रुता दूर हो जानी चाहिये। इस मशीनयुग के उद्योग के तरीक़े भी ऐसे हैं कि पुराने भेद निरर्थक होते जाते है। तीसरा घटना-चक्र जो जनतावाद की आशा दिलाता है जन साधारण का संगठन है। पुराने समयों मे छोटे छोटे वर्ग ही संगठन के द्वारा अपना बल सौ गुना करते थे। अब वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण, विशेष कर रेल, तार, बेतार, और छापे के कारण, संख्या और आबादी मे नगरों की अभूतपूर्व वृद्धि के कारण एवं उद्योग-परिस्थितियो के कुछ परिणामों के कारण साधारण श्रेणियों के सब लोग, ख़ास कर मज़दूर और किसान, अपना संगठन कर रहे हैं। संगठन और शिक्षा उन का बल बढ़ा रही हैं और, संख्या के बाहुल्य के कारण, उन को महत्त्व के स्थान पर पहुँचा रही हैं।

शेख़चिल्ली की कहानी

विकास-क्रम की वर्तमान अवस्था मे यह तीन घटना-चक्र मनुष्य जाति को जनतावाद के पथ पर ला रहे हैं। अभी तक संसार मे इतना क्लेश, अन्याय और अत्याचार है कि जनतावाद बहुतों को शेख़चिल्ली की कहानी मालूम होगा। पर सभ्यता के सात आठ हज़ार बरसों के इतिहास में वर्तमान प्रवृत्तियों को रखिए तो इन की महिमा छिपी न रहेगी। अभी तक हम भूतकाल के बोझों से दबे हुए हैं पर जल्द नहीं तो धीरे धीरे अवश्य ही हमें अपने जीवन को नये

पर जीवन की अनुकूलन शक्ति भी बड़ी प्रबल है। इस शक्ति ने ही प्राणियों की हज़ारों योनियाँ पैदा की हैं, पशु जगत् से मनुष्य को निकाला है, असभ्यों को सभ्य बनाया है। यह सभ्यता में अवश्य ही बड़े बड़े परिवर्तन करेगी। उन का पूरा पूरा रूप कोई भी अनुमान नहीं कर सकता पर वर्तमान प्रवृत्तियाँ आशा दिलाती हैं कि वह रूप जनतावाद के तत्त्वों से खाली न होंगे।

प्रयत्न का महत्त्व

एक बात और है। मनुष्य-समाज के विकास मे और दूसरे प्राणियों के विकास में एक बड़ा अंतर है। इस अंतर का कारण है बुद्धि की उपस्थिति। पेड़-पौधों में और पशु-पक्षियों मे जो विकास होता है वह अनुकूलन की शक्ति के द्वारा और उस से पैदा होने वाली सहज वृत्तियों के सहारे ही होता है। मनुष्य का विकास इन के सहारे तो होता ही है पर एक नई वृत्ति—बुद्धि—के सहारे भी होता है। बुद्धि से मनुष्य अपने बारे मे विचार कर सकता है, आदर्श स्थापित कर सकता है, अपने भविष्य का नक़्शा बना सकता है और उद्देश्य तक पहुँचने के लिये तरह तरह के प्रयत्न कर सकता है। इसलिये मनुष्य का विकास, और प्राणियों की अपेक्षा, अधिक शीघ्रता से होता है, और अधिक सुसंबद्ध होता है। ज्ञान और संगठन की वृद्धि के अनुसार भविष्य पर मनुष्य का अधिकार बढ़ता जायगा और वह अपने भाग्य का विधाता बनता जायगा। उन्नीसवीं सदी में एक समय विकास-वादियों और समाज-शास्त्रियों की यह धारणा हुई थी कि मनुष्य भी प्राकृतिक शक्तियों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं पर निर्भर है। कुछ मनोविज्ञानियों ने कहा था कि मनुष्य-जीवन का दारमदार सहज वृत्तियों पर है और बुद्धि केवल उन की दासी है। पर इन मतों का निराकरण हो गया है। यदि कुछ अंशों में प्रकृति और परिस्थिति मनुष्य का नियमन करती हैं तो कुछ अंशों में मनुष्य उन को जीत भी सकता है और स्वयं उन का नियमन कर सकता है। यदि कुछ वृत्तियाँ सहज और प्रबल हैं तो बुद्धि भी सहज और प्रबल है। बुद्धि के द्वारा मनुष्य को यह स्थिर करना चाहिये कि जनतावाद ग्रहण करने के योग्य है या नहीं और अगर ग्रहण करने के योग्य है तो इस के साधन क्या हैं?

जनतावाद और जनसत्तावाद

सब से पहिले इन दो शब्दों के अर्थ अलग अलग स्थिर करना जरूरी है। अंग्रेजी में 'डेमोक्रेसी' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है, एक तो राजनैतिक और दूसरा साधारण सामाजिक। राजनैतिक अर्थ यह है कि शासन जनता के या जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में हो। साधारण सामाजिक अर्थ यह है कि शासन का ही नहीं किंतु सारे संगठन का, धर्म, आचार व्यवहार, आर्थिक संस्था, कला, साहित्य इत्यादि का आधार जनता का हित हो। अर्थात् 'डेमोक्रेसी' राजनीति का ही नहीं किन्तु सारे जीवन का सिद्धांत है; जीवन का दृष्टिकोण है। इन दोनों अर्थों में अंतर स्पष्ट है पर शब्द की एकता ने साहित्य में बड़ी अस्पष्टता पैदा कर दी है। उचित है कि हिंदी में इन दोनों अर्थों को दो भिन्न शब्दों से प्रगट किया जाय। राजनैतिक अर्थ में जनसत्तावाद या संक्षेप से केवल जनसत्ता का प्रयोग हो सकता है और साधारण सामाजिक अर्थ में जनतावाद। जनतावाद अधिक व्यापक है; और अंत में जनसत्ता उस का एक भाग ही है। अस्तु, यह परीक्षा करनी है कि जनतावाद मनोविज्ञान के तथ्यों के अनुकूल है या नहीं और अगर है तो वह किस प्रकार के संगठन की अपेक्षा करता है। उस के बाद यह सोचना चाहिये कि जनसत्ता का क्या रूप हो सकता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि विषय इतना बड़ा है कि एक लेख में केवल कुछ मोटे मोटे सिद्धांतों का दिग्दर्शन मात्र हो सकता है।

जनतावाद और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान अब कोरा सिद्धांत-शास्त्र नहीं रहा है, वह परीक्षात्मक शास्त्र हो रहा है अर्थात् व्यक्तियों पर शालाओं में परीक्षा कर के और व्यक्तियों एवं समूहों के आचरण का सूक्ष्म निरीक्षण कर के उस के सिद्धांत स्थिर किए जाते हैं।

मनोविज्ञान की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण शाखा है सामाजिक मनो-

मनुष्य की वृत्तियों का, मस्तिष्क का या हृदय का विकास समाज में ही संभव है। परीक्षात्मक सामाजिक मनोविज्ञान की दृष्टि से जनतावाद पर संमति स्थिर करने में एक बड़ी कठिनाई है। कहीं जनतावाद का पूरा व्यवहार नहीं हुआ। इसलिये ताल ठोक कर कोई नहीं कह सकता कि साधारण जनसमूह पूरा सामाजिक नियमन आप ही कर सकता है या नहीं कर सकता है। कोई धारणा स्थिर करने के दो ही साधन हैं—एक तो मनोविज्ञान के साधारण सिद्धांत और दूसरे उन संस्थाओं का वैज्ञानिक अवलोकन जो जनसत्ता के सिद्धांत को थोड़ा बहुत मान कर इतिहास में या वर्तमान समय में स्थापित हुई है।

मानवी स्वभाव

कह चुके हैं कि मनुष्य की प्रकृति में तरह तरह की वृत्तियाँ है जो जीवन की रक्षा और प्रसार के लिये विकसित हुई हैं। मनुष्य की प्रकृति में बुद्धि भी है जो वृत्तियों के सामंजस्य का, और साधारण अनुकूलन का महान् साधन है। मनुष्य का स्वभाव न तो बुरा है और न अच्छा है। सामाजिक हित या सुख के आदर्श को मान कर हम इतना ही कह सकते हैं कि मानवी वृत्तियाँ अच्छा मार्ग भी ग्रहण कर सकती हैं और बुरा भी। सारा मामला तीन बातों पर निर्भर है। एक तो यह कि सहानुभूति का क्षेत्र संकुचित है या विस्तृत है। जहाँ शिक्षा, संस्था और जीविका के मार्ग ऐसे हैं कि आदमी अपने कुटुंब, गाँव या जाति के छोटे से दायरे मे ही पड़ा रहता है वहाँ सहानुभूति संकुचित होगी। दूसरी बात यह है कि अगर सामाजिक संगठन ऐसा है कि स्वार्थ परायणता से व्यक्ति या कुटुंब का सुखसाधन हो तो मनुष्य स्वार्थी अवश्य होगा। जीवन मे सब से बड़ी, सब से महत्त्वपूर्ण, चीज है अनुकूलन शक्ति। प्रत्येक जीव अनुकूलन में सदा व्यग्र है। अगर अनुकूलन का प्रयोजन—आत्म-रक्षा और आत्म-विकास—स्वार्थ से सिद्ध होता है तो समाज मे स्वार्थ की प्रधानता होगी। किंतु यदि सामाजिक संगठन किसी तरह व्यक्तिगत और सामाजिक हित का समीकरण कर दे तो निपट स्वार्थपरायणता की मात्रा अनिवार्य रूप से मिट जायगी या कम हो जायगी। तीसरी बात है बुद्धि का विकास। अगर आदमी में इतनी बुद्धि नहीं है कि अपने हित को, समाज के हित को और दोनों के

सन्निकर्ष को ठीक ठीक समझ सके तो वह मूर्ख या पागल की तरह अपने को और दूसरों को जब चाहे नुक़सान पहुँचाएगा।

जनतावाद की शर्तें

मनोविज्ञान के अनुसार विचार करने से जनतावाद के बारे में यह नतीजा निकलता है कि उस की सफलता सहानुभूति के विस्तार, बुद्धि के विकास और सर्वहितसाधक सामाजिक संगठन पर निर्भर है। सहानुभूति और बुद्धि के विषय में आशय यह है कि इन का विस्तार और विकास कुछ इने गिने लोगों या वर्गों में नहीं किंतु सारी जनता या लगभग सारी जनता में हो। वर्तमान युग में इस की आवश्यकता पुराने समय की अपेक्षा सौ गुनी अधिक है। एक तो वैज्ञानिक प्रयोगों ने सारे संसार को एक आर्थिक मंडल बना दिया है और दूर दूर के देशों मे तरह तरह के मानसिक, सामाजिक और राजनैतिक संबंध स्थापित कर दिए हैं। अब तक तो जातियों के संपर्क से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हुई है अर्थात् संसार में सुख की मात्रा बढ़ने की अपेक्षा घट गई है। बहुत सी जातियाँ नष्ट हो गई हैं, बहुत सी पराधीन हो गई हैं, चारों ओर राष्ट्रीय स्वार्थपरायणता और अंतर्राष्ट्रीय वैमनस्य का दौरदौरा है। वर्तमान युग उदार चरित और "वसुधैव कुटुंबकम्" के आदर्श की अपेक्षा करता है। दूसरी बात यह है कि इस उद्योगशील युग में सारा संगठन इतना पेचीदा हो गया है कि उस की पहेलियों को सुलझाने के लिये, उस के अनुसार जीवन को अनुकूल बनाने के लिये, उस के जंगल में व्यक्तिगत और सामाजिक हित के समीकरण का मार्ग बनाने के लिये तीव्र संस्कृत बुद्धि की आवश्यकता है। वर्तमान सभ्यता कगारों से भरी हुई है। तुलसीदास का वचन याद आता है कि "धर्म की पंथ कृपाण की धारा। परत खगेश न लागहि बारा।"

जनसत्ता पर एक दृष्टि

मानव समाज में सहानुभूति का यथेष्ट विस्तार हो, बुद्धि का यथेष्ट विकास हो और संगठन ऐसा हो कि स्वार्थ परार्थ से मिल जाय तो स्थाई सम्भव है भिन्न भिन्न देशों में इन की पूर्ति के परि

श्रण के अनुसार ही जनसत्तात्मक प्रयोगों की सफलता हुई है। स्विट्ज़रलैंड में शिक्षा खूब फैली हुई है देशभक्ति अर्थात् देशव्यापी सहानुभूति बहुत दृढ़ है; संगठन ऐसा है कि न कोई बहुत अमीर है और न कोई बहुत ग़रीब है। जनता को सहकारिता का अभ्यास है। स्विट्ज़रलैंड की परिस्थिति आदर्श नहीं है पर और देशों की अपेक्षा अवस्था अच्छी है। यहाँ जनसत्तात्मक शासन सब से अधिक सफल हुआ है।

नार्वे, स्वीडन और डेनमार्क में मानसिक और सामाजिक परिस्थिति स्विट्ज़रलैंड से कुछ घट कर है। यहाँ जनसत्ता की सफलता भी कुछ घट कर है। इसी तरह आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड में कुछ और कमी है, इंग्लैंड, फ्राँस और संयुक्त राज्य, जहाँ संपत्ति के भेद बहुत हैं, कुछ और नीचे हैं। श्रेणी की अंतिम शृंखला है मध्य अमरीका और दक्षिण अमरीका जहाँ के देश मानसिक और नैतिक विकास में बहुत पिछड़ गए हैं और जिन का संगठन भी बहुत दोषपूर्ण है। यहाँ जनसत्ता के सिद्धांत पर जो विधान हुआ उस का रूप ही खून और लोहे से पलट गया है। अस्तु, सामाजिक मनोविज्ञान और राजनैनिक इतिहास दोनों से ही यह नतीजा निकलता है कि जनतावाद व्यापक दृढ़ सहानुभूति, विस्तृत शिक्षा और सर्वहितसाधक संगठन के सहारे ही सफल हो सकता है। ऐसी परिस्थिति को उत्पन्न करने के उपायों की चर्चा अभी नीचे की जायगी पर मनोविज्ञान का विषय छोड़ने के पहिले यह बताना अनुचित न होगा कि उस से जनतावाद की आवश्यकता का समर्थन कहाँ तक होता है।

आत्मविकास

"जीवन का स्रोत क्या है?" इस जटिल धार्मिक और तात्त्विक समस्या पर विचार करना यहाँ ज़रूरी नहीं है। स्रोत कुछ भी हो जीवन का रहस्य है विकास। सच पूछिए तो विकास ही जीवन है। पेड़-पौधे, पशुपक्षी, सब स्वभावतः जीवन का विकास करते हैं अर्थात् जहाँ तक हो सके अपने जीवन की रक्षा करते हैं, अपने जीवन की शक्ति बढ़ाते हैं। मनुष्य का जीवन बहुत उन्नत श्रेणी का है; उस के विकास के मार्ग बहुत हैं, विकास की सीमा अपरिमित सी है मनुष्य का धर्म यही है कि इस विकास को तक पहुँचाए इस-

लिये समाज का कर्त्तव्य है कि सब लोगों के लिये इस विकास के उपाय और साधन प्रस्तुत करे। समाज का संगठन ऐसा होना चाहिये कि आत्मविकास की रुकावटें दूर हों और सुविधाएँ बढ़ें। प्रत्येक मनुष्य को जितनी हो सके उतनी स्वतंत्रता मिलनी चाहिये, शर्त यही है कि उस की स्वतंत्रता किसी दूसरे मनुष्य की उचित स्वतंत्रता की घातक न हो।

स्वतंत्रता

इस शर्त को मानते हुए कह सकते हैं कि यदि जीवन का रहस्य विकास है तो विकास का रहस्य स्वतंत्रता है अर्थात् स्वतंत्रता भी जीवन का रहस्य है। स्वतंत्रता और उच्छृंखलता एक चीज़ नहीं हैं। मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिकता के कारण सच्ची स्वतंत्रता सामाजिक हित से सामंजस्य रखती है और उस आत्म-विकास में सहायक है जो क्षणिक आत्मतुष्टि से भिन्न है। इसे सामाजिक अथवा यों कहिए नैतिक स्वतंत्रता मानना चाहिये। अज्ञान इस का बाधक है। एक दूसरी प्रबल बाधा व्यक्तियों के स्वार्थ से उत्पन्न होती है अर्थात् व्यक्ति स्वार्थांध हो कर एक दूसरे की स्वतंत्रता नष्ट करते हैं। सामाजिक संगठन का आदर्श यह है कि इस घातक संघर्षण के अवसरों को मिटा दे और व्यक्तियों के हितों का सामंजस्य कर दे।

वर्गीय सत्ता

ऐतिहासिक अनुभव सिद्ध करता है कि अगर किसी वर्ग को प्रभुता सौंप दी जाय और दूसरों के जीवन के नियमन का अधिकार दे दिया जाय तो वह अपने ही वास्तविक या कल्पित हितों के अनुसार शासन करता है और दूसरों के हितों की यथेष्ट रक्षा नहीं करता। वह अपने वर्गीय हित को सर्वहित समझ बैठता है और तदनुसार नियम बनाता है और साधारण कार्यवाही करता है। ग्रीस में जहाँ नाम की जनसत्ता थी वहाँ स्वतंत्र नागरिक परदेसियों और गुलामों को अपने सुख का साधन समझते थे। जहाँ खुल्लमखुल्ला वर्गीय सत्ता थी वहाँ कुलीन गण ग़रीबों को सब राजनैतिक स्वत्वों से वंचित कर के कभी कभी करते थे रोम में पहिले कुलीन पेट्रिशियनों ने ग़रीब

प्लेबियनों को ऋण के कानूनों के सहारे, और अदालती अन्याय के द्वारा पददलित कर दिया। उस के बाद सेनेटोरिल वर्ग ने राज्य की सारी ज़मीन दबा कर, मज़दूरों की जगह गुलामों को रख कर, और सारे अधिकार अपने हाथ में एकत्र कर के ग़रीबों को भिखारी बना दिया। हिंदुस्तान में तो द्विजों ने अपने स्वार्थ को धर्म की पदवी पर पहुँचा कर उपदेश दिया कि शूद्रों का एकमात्र कर्तव्य उन की सेवा करना है। मध्य-काल में यूरुप में ज़मींदार-वर्ग ग़रीब किसानों की गाढ़ी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाता था। अर्वाचीन युग में ज़मींदारों ने या पूँजी वाले उद्योगियों और व्यापारियों ने राज्य की सारी शक्ति अपने वर्गीय हितों के साधन में प्रयोग की है। यह कहने का आशय नहीं है कि वर्गीय सत्ता से कोई भी लाभ नहीं होता। यह भी सच है कि कभी कभी वह आवश्यक और अनिवार्य होती है। पर जहाँ लाभ होते हैं वहाँ यह हानि अवश्य होती है कि कुछ लोगों को स्वार्थ-साधन के अनगिनित अवसर मिल जाते हैं और दूसरे लोगों को आत्म-विकास के, स्वतंत्रता के, उचित अवसर नहीं मिलते। एक ओर उच्छृंखलता और दूसरी ओर दमन के बीच में सच्ची नैतिक स्वतंत्रता पिस जाती है। वर्गीय सत्ता आत्म-विकास के उस सिद्धांत के प्रतिकूल ठहरती है जो सामाजिक मनोविज्ञान के सिद्धांतों से निकलता है।

समाज और शासन

इस बहस में याद रखना चाहिये कि जनतावाद और जनसत्तावाद का घनिष्ट संबंध है। असल में राजनैतिक जनसत्तावाद सामाजिक जनतावाद का अंग है। सामाजिक संगठन से ही राजनैतिक व्यवहार रंग पकड़ता है। काग़ज़ पर शासन का रूप कुछ भी हो, उस में प्रधानता उन्हीं शक्तियों या वर्गों की रहेगी जो समाज में प्रबल हैं। अगर जनता पुरोहितों के चंगुल में है, जैसे पुराने पैलेस्टाइन में और बहुत कुछ पुराने हिंदुस्तान में, मध्य-कालीन यूरुप में एवं पच्छिम एशिया के मुसलमानी राज्यों में थी, तो शासन पर भी पुरोहितों की छाप रहेगी। अगर समाज में कुलीन जमींदारों का दौरदौरा है तो शासन भी जमींदारों के हाथ में जा पहुँचेगा अगर उद्योगी व्यापारी पूँजी वाले मध्य वर्ग

ने समाज में अपना पद ऊँचा कर लिया है तो अमरीका, इंग्लिस्तान आदि की तरह जनसत्ता का विधान रहते हुए भी राजनीति की बागडोर उस के हाथ में रहेगी। इस के साथ यह भी स्पष्ट है कि राजनैतिक प्रभुता सामाजिक प्रभुता को बढ़ाती है।

निष्कर्षों का संक्षेप

अस्तु, सामाजिक मनोविज्ञान से सिद्ध होता है कि स्वतंत्र आत्मविकास जीवन का रहस्य है, इसी में जीवन का सुख है। यह भी सिद्ध होता है—और इतिहास इस सिद्धांत का समर्थन करता है—कि किसी वर्ग के लिये स्वार्थ के अवसर खोलना दूसरों के आत्मविकास को रोकना है। तीसरा निष्कर्ष यह है कि सामाजिक प्रधानता और राजनैतिक प्रधानता एक दूसरे से गुथी हुई है। चौथे, जनसत्ता के लिये विस्तृत सहानुभूति, जागृत बुद्धि और समुचित संगठन की आवश्यकता है। अब यह देखना है कि यह समुचित संगठन क्या है, सहानुभूति और बुद्धि का विकास कैसे हो सकता है, स्वार्थ और परार्थ को कैसे एक किया जा सकता है?

समर और जनसत्ता

ऊपर दिखा चुके हैं कि समर के प्रचार से बहुत से भेद पैदा हुए थे और कठोर वर्गीय सत्ता स्थापित हुई थी। समर और जनसत्ता की शत्रुता आज भी दृष्टिगोचर है। जब तक युद्ध की प्रणाली रहेगी तब तक जनसत्ता का पूरा प्रचार न हो सकेगा। युद्ध के द्वारा एक जाति दूसरी को पराधीन बनाती है। युद्ध की आशंका से शासन किसी छोटे वर्ग के हाथ में आ जाता है क्योंकि युद्ध मे नीति और निश्चय की एकता और शक्ति का केंद्रीकरण चाहिये। उन्नीसवीं सदी मे और बीसवीं सदी में भी १९१८ ई० तक जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस में सैनिक वर्ग ने जनसत्ता का विकास रोक दिया। समर की आशंका से भयभीत जनता ने भी बहुत आंदोलन नहीं किया, जनसत्ता का जो थोड़ा बहुत आंदोलन हुआ वह आसानी से दब गया। युद्ध की तैयारी इतने बड़े पैमाने पर होती है कि शासक-वर्ग के हाथ में विशाल शक्ति आ जाती है उस के

गठित विप्लव के द्वारा अपनी बात मनवा सकती है। शासक-वर्ग जब चाहे अपनी केंद्रित शक्ति का दुरुपयोग कर के दूसरों के आत्मविकास में रुकावट डाल सकता है।

अहिंसा

समर का सिद्धांत है दूसरों पर पाशविक बल के द्वारा प्रभुता जमाना। जनतावाद का सिद्धांत है सब को नैतिक स्वतंत्रता देना। इन सिद्धांतों में परस्पर विरोध है, एक की ही प्रधानता रह सकती है। अब तक समर का सिद्धांत प्रचलित रहा है और जनतावाद गौण रहा है। अगर मनुष्य जाति जनतावाद को अंगीकार करेगी तो समर को तिलांजलि देनी होगी। इस तथ्य को अब तक यूरुप और अमरीका में बहुत कम लोगों ने समझा है। सच पूछिए तो मानवी जीवन में अहिंसा का महत्त्व पूरी तरह केवल काउंट टाल्सटाय और महात्मा गांधी ने देखा है। जब तक संसार के मानवी संबंध अहिंसा के सिद्धांत पर न संगठित किए जायँगे तब तक जनसत्ता अधूरी और अरक्षित रहेगी और सच्चा जनतावाद अगर रहेगा तो सिर्फ काग़ज़ पर। ट्रायश्के, बर्नहार्डी, महन, क्रैब आदि लेखकों ने समर के गुण गाए हैं और उसे प्राकृतिक आवश्यकता या उन्नति का साधन बताया है। पर यहाँ समर के हानि-लाभ का प्रसंग नहीं है। समर से लाभ भले ही होते हों पर जब तक वह मौजूद है तब तक संसार-व्यापी जनतावाद की जड़ नहीं जम सकती।

दरिद्रता

वर्गीय सत्ता बनाने में समर के बाद दूसरा नंबर संपत्तिभेद का है। इधर सौ बरस से निजी संपत्ति के नैतिक औचित्य पर बड़ी बहस हो रही है। संपत्तिवादियों की राय है कि निजी संपत्ति आत्मविकास के लिये आवश्यक है, सामाजिक या राष्ट्रीय उन्नति के लिये अनिवार्य है। समष्टिवादी कहते हैं कि निजी संपत्ति क्लेश और अत्याचार का मूल है; अतएव, सारी संपत्ति राष्ट्रीय अर्थात् सामाजिक होनी चाहिये इस विषय पर हज़ारों पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं और लिखी जा रही हैं से न तो समष्टिवाद का कोई

संबंध है और न निजी संपत्ति से कोई आवश्यक विरोध है। संपत्ति के राष्ट्रीय-करण पर बहस करना यहाँ जरूरी नहीं है। केवल जनतावाद की दृष्टि से संपत्ति की जटिल समस्या पर विचार करना है। यह मानना पड़ेगा कि दरिद्रता आत्म-विकास को रोक देती है और पराधीनता पैदा करती है। दरिद्रों का सारा जीवन जैसे तैसे पेट भरने में बीत जाता है और मानसिक सुखों से वंचित रहता है। कहावत है कि "जब दो कौर भित्तर, तब सूझे देव पित्तर।" इसलिये दरिद्रता को मिटाना जनतावाद का एक मुख्य सिद्धांत है।

संपत्ति के भेद

दूसरी ओर यह मानना पड़ेगा कि दरिद्रता न होते हुए भी अगर संपत्ति के भेद बहुत विशाल हों, जैसे कि अगर कुछ आदमी करोड़पति हों और कुछ सिर्फ खाते-पीते हों, तो धनिक वर्ग की सत्ता फिर जम जायगी। जनता-वाद के लिये आवश्यक है कि संपत्ति के भेद बहुत बड़े न हों। पर यह आव-श्यक नहीं है कि सब के पास बराबर बराबर संपत्ति हो या किसी के पास निजी संपत्ति बिलकुल न हो। मानना पड़ेगा कि व्यक्तियों की स्वाभाविक, मानसिक और नैतिक शक्ति बराबर नहीं होती। एक तरह की परिस्थिति में रहते हुए भी वह बुद्धि और चरित्र के भेद प्रगट करते हैं। इन के कारण सुख संपत्ति के कुछ भेद भी अवश्यंभावी हैं। निजी संपत्ति मिटा दी जाय और सारी संपत्ति राष्ट्र की हो जाय तब भी यह भेद वेतन के रूप में या बराबर वेतन के भले बुरे प्रयोग के रूप में प्रगट हो जायँगे। छोटे मोटे भेदों से जनता-वाद की कोई हानि नहीं है पर अगर भेद की बड़ी बड़ी खाड़ियाँ आगईं तो जनतावाद उन में डूब जायगा। संपत्ति और जनतावाद के इस संबंध के नीचे सिद्धांत यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को सुख-साधन का, सांसारिक पदार्थों के भोग का, बराबर अवसर हो।

अवसर की बराबरी

अवसर की बराबरी इतना महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है कि उस के व्यावहारिक अर्थों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये पहिली बात तो यह है कि केवल

जन्म से न तो किसी को कोई विशेष सुविधा हो और न कोई विशेष असुविधा हो। अर्थात् जाति-पाँत का कोई भेद न रहे, ऊँचे और नीचे वर्ग या कुल की कोई चर्चा न हो। दूसरी बात यह है कि दायभाग बिल्कुल मिटा दिया जाय या इतना कम कर दिया जाय कि संतान को जीवन प्रारंभ के लिये कुछ सामग्री के अलावा और कुछ न मिले। संपत्ति वाले की बाक़ी संपत्ति तुरंत ही समाज के अधिकार में चली जाय। बड़ी बड़ी वसीयतों से ही बड़े बड़े सांपत्तिक भेद पैदा होते हैं, धनिक वर्गों की जड़ जमती है और उन के लिये दूसरों को अपने भोग विलास का साधन मात्र बनाना संभव होता है। बड़ी वसीयतों से गुणहीन मनुष्यों को अनुचित लाभ होता है और सामाजिक न्याय का विरोध होता है।

संपत्ति-प्रधानता

इस तरह की संपत्ति-प्रधानता से जीवन की ऊँची बातें गौण हो जाती हैं और निपट जड़वाद का प्रचार होता है। एक संस्कृत कवि ने ख़ूब व्यंग किया है—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पंडितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः,
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयंते॥

(जिस के पास धन है वही आदमी कुलीन है, पंडित है, श्रुतवान् है, गुण का जानने वाला है, वही वक्ता है, वही दर्शन के योग्य है—सब गुण सोने के आश्रित हैं।) यह प्रवृत्ति मनुष्यत्व के स्थान पर पूँजी की स्थापना करती है और सच्चे आत्म-विकास की जड़ पर कुठाराघात करती है।

शिक्षा के अवसर

अवसर की बराबरी से तीसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को ऊँची से ऊँची शिक्षा पाने का बराबर अवसर हो शिक्षा के

नहीं खुलते। शिक्षा से शक्ति प्रगट होती है। अगर कुछ लोग शिक्षित हों और कुछ अशिक्षित तो कुछ शक्तिमान होंगे और कुछ अशक्त। इस अवस्था में यह संभावना सदा रहेगी कि शक्तिमान वर्ग अशक्तों को अपने अधीन कर लें और उन को अपने हित का साधन मात्र बना लें। जैसे संपत्ति से शक्ति आती है वैसे शिक्षा से भी आती है। शिक्षा के विशाल भेद भी संपत्ति के विशाल भेदों की तरह जनतावाद की हत्या करते हैं। जनतावाद के लिये आवश्यक है कि कम से कम १७-१८ वरस की उम्र तक हर एक लड़की और लड़का अच्छी से अच्छी शिक्षा पाए और जीविका पैदा करने के भार से स्वतंत्र रहे। इस समय जो आर्थिक या सामाजिक कठिनाइयाँ शिक्षा के क्रम को प्रारंभ होने से या अंत तक पहुँचने से रोकती हैं वह बिल्कुल मिटानी पड़ेंगी। सार्वजनिक अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का सिद्धांत सभ्य संसार मान चुका है। पर जनतावाद का तक़ाज़ा है कि अनिवार्य ऊँची शिक्षा का सिद्धांत भी स्वीकृत होकर व्यवहार में आवे। राजनीति की दृष्टि से भी यह अत्यंत आवश्यक है। जब तक जनता की बुद्धि जागृत न होगी तब तक लोग वर्तमान पेचीदा सभ्यता में अपना हिताहित न समझ सकेंगे और न शासन में यथेष्ट भाग ले सकेंगे।

उद्योग में स्वराज्य

अगर मानवी समाज से समर अर्थात् हिंसा मिट जाय, जाति-पाँत के भाव छुट जायँ, संपत्ति के विशाल भेद दूर हो जायँ, वसीयत का नियमन हो जाय, और ऊँची शिक्षा सब लोगों में फैल जाए तब जनतावाद का आदर्श व्यवहार में आ सकता है। जब कभी ऐसा होगा तब मनुष्य-समाज का रूप ही बदल जायगा। इस नई कल्पित समाज की संस्थाएं कैसी होंगी—यह कोई नहीं बता सकता। पर जनतावाद के सिद्धांत का अनुसरण करने से हम दो तीन नतीजों पर पहुँचते हैं। एक तो उद्योग में अर्थात् रोज़ के काम-धंधों में संगठन का कुछ परिवर्तन अवश्य होगा। इस समय लाखों करोड़ों मज़दूर बड़े बड़े कारखानों या पुतली घरों में दूसरों की आज्ञानुसार किसी छोटे से काम के छोटे से अंश में अपने जीवन के दिन और बरस बिता देते हैं कारखाने के इंतिज़ाम में उन

का कोई भाग नहीं होता, अपने निश्चित काम में उन को कोई आनंद नहीं मिलता वह मशीन की तरह काम करते हैं और मानों मशीन के ही भाग हो जाते है। यह उन का वास्तविक जीवन फ़ुरसत के कुछ घंटों का ही है और वह भी बहुधा थकावट और चिंता का होता है। यह कहा जा सकता है कि उन की वर्तमान अशिक्षा या अल्प शिक्षा के कारण और आर्थिक संगठन की साधारण परिस्थिति के कारण उन को इंतिज़ाम नहीं सौंपा जा सकता। पर अनिवार्य होने पर भी यह अवस्था आत्म-विकास के प्रतिकूल है, जनतावाद के सिद्धांत से बहुत दूर है—इतना तो सब को मानना पड़ेगा। जैसे जैसे संसार जनतावाद की ओर बढ़ेगा वैसे वैसे उद्योग का संगठन बदलता जायगा। कारखाने राज्य की संपत्ति से चलें या व्यक्तिगत संपत्ति से, जब तक उन के इंतिज़ाम में काम करने वालों का हाथ न होगा तब तक जनतावाद अधूरा रहेगा। उद्योग की नीति स्थिर करने के लिये जैसे काम के घंटे और वेतन एवं माल के दाम तै करने के लिये, श्रम-जीवियों के संघ और राष्ट्रीय तथा, वर्तमान युग में, अंतर्राष्ट्रीय सभाओं के सहयोग की आवश्यकता मालूम होने लगी है। कुछ नियम अंतर्राष्ट्रीय संमेलनों में तै हो सकते हैं, कुछ नीति राष्ट्रीय व्यवस्थापक सभाएं स्थिर कर देंगी। पर इन नियमों और नीति की सीमा के भीतर बहुत सा आवश्यक प्रबंध जनतावाद के अनुसार श्रमजीवियों के हिस्से में पड़ेगा। यह औद्योगिक स्वराज्य जनतावाद से अलग नहीं किया जा सकता।

स्थानिक स्वराज्य

अगर जनतावाद के अनुसार हिंसा और विशाल सांपत्तिक भेद मिट जायँ और सर्वसाधारण में ऊँची शिक्षा फैल जाय तो राजनीति में नया युग प्रारंभ होगा। राज्य मुख्यतः समाज-सेवा के सहयोग का रूप धारण करेगा और गौण रूप से असामाजिक व्यवहार के दमन का साधन होगा; राज्य की आवश्यकता बनी रहेगी, कुछ बातों के लिये तो बहुत बढ़ जायगी। पर शासन की संस्थाओं के आकार बदल जाँयगे। इन परिवर्तनों का संकेत उन देशों से मिलता है जो गत सौ डेढ़ सौ बरस से की ओर बढ़ रहे हैं

जनसत्ता के अनुसार सब से बड़ा परिवर्तन यह है कि शासन मे केंद्रीयता कम कर के स्थानिकता का प्रवेश किया जाय। बड़े देशों में रेल, तार और बेतार के तार होने पर भी अशिक्षितो को और शिक्षितों को केंद्रीय शासन में भाग लेने में असुविधा होती है। जनसत्ता दो सिद्धांतों पर निर्भर है—एक तो यह कि शासन की नीति लोकमत के द्वारा स्थिर हो और दूसरे यह कि शासन केवल नौकरशाही के हाथ में न छोड़ दिया जाय किंतु जनता के बहुत से लोग उस में भाग लें। उचित, संस्कृत, प्रबुद्ध और उत्तरदायित्वपूर्ण लोकमत का अस्तित्व भी इस बात पर निर्भर है कि बहुत से लोगों को शासन का प्रकृत अनुभव हो, उस के भाव को जानते हों, उस की कठिनाइयों को समझते हों। अरिस्टाटल आदि तत्त्वज्ञानियों ने परिमित ग्रीक अनुभव के आधार पर ही अच्छी तरह समझ लिया था कि जनसत्ता के लिये यही आवश्यक नहीं है कि जनता सामयिक प्रश्नो पर संमति प्रगट कर के नीति स्थापित करे और अधिकारियों का चुनाव करे किंतु यह भी आवश्यक है कि रोज़ के शासन मे भाग ले। आज कल के विशाल राज्यों मे यह शर्त स्थानिक स्वराज्य के बिना ज़रा भी पूरी नहीं हो सकती। जनसत्ता के अनुसार प्रत्येक गाँव और नगर में 'निर्धारित सीमा के भीतर' स्वराज्य होना चाहिये अर्थात् शिक्षा, सफ़ाई, न्याय, सड़क इत्यादि ऐसे-विषय जिन में स्थानिकता से विशेष लाभ की संभावना है, उन के निवासियों के सुपुर्द करने चाहिये। ज़िलों और प्रांतों में भी इस नीति का पालन होना चाहिये। यूरोपियन देशों का इतिहास सिद्ध करता है कि स्थानिक स्वराज्य से जनता को सब से अच्छी राजनैतिक शिक्षा मिलती है, राष्ट्रीय सेवा के लिये राजनीतिज्ञ पैदा हो जाते हैं और लोकमत अच्छी तरह बनता है।

समुदाय और लोकमत

शिक्षा और अनुभव के अलावा एक और बात लोकमत के लिये आवश्यक है। वह है सामाजिक दृढ़ता और सहनशीलता। अगर जनता वैमनस्य पूर्ण समुदायों में बँटी है तो अनेक सामुदायिक मत बनेंगे, लोकमत

पर स्थिर हो। जहाँ पर लोग अपने ही समुदाय के दृष्टि-कोण से संमति स्थिर करते हैं और बाक़ी समाज के हित की अवहेलना करते हैं वहाँ जनसत्ता ठीक ठीक नही चल सकती। इस का यह आशय नहीं है कि समाज मे तरह तरह के समुदाय या समितियाँ न हों। मानवी जीवन के विकास के लिये राजनैतिक संगठन के अलावा बहुत सी सभा समितियो की आवश्यकता होती है। संस्कृत की कहावत है कि "भिन्न रुचिर्हि लोकः" अर्थात् लोगों की रुचियाँ एक नही होतीं, अलग अलग होती है। समाज मे तरह तरह के धार्मिक संप्रदाय प्रगट होते हैं, तरह तरह की उद्योग-समितियाँ बनती हैं, साहित्य, कला और बिनोद के लिये सभाएं प्रगट होती है। इस तरह की संस्थाएं स्थानिक हो सकती है अर्थात् एक ही गाँव, गाँव-समूह या नगर तक परिमित हो सकती है या इन का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो सकता है। संस्था, सभा या समिति, चाहे जिस नाम से पुकारिए, प्रांतीय, सार्वदेशिक और अंतर्राष्ट्रीय भी होती हैं। इन के आधार पर ढीले या कड़े संगठन वाले बहुत से समुदाय बनते हैं। कोई राष्ट्र इन से ख़ाली न रह सकता है और न रहना चाहिये। लेकिन अगर समुदाय-भक्ति इतनी प्रबल हो और राष्ट्रभक्ति अथवा यों कहिए कि समाजभक्ति इतनी निर्बल हो कि लोग अपने समुदाय के सामने औरों को तुच्छ या बैरी समझें तो लोकमत असंभव है और लोकमत की अनुपस्थिति में जनसत्ता भी असंभव है।

सहनशीलता

संक्षेप से यों कह सकते हैं कि जनसत्ता व्यापक और हार्दिक सहनशीलता पर निर्भर है। आचार-विचार के भेद कभी मिटाये न मिटेंगे। अगर लोग इन भेदों को नही सह सकते तो निरंकुश या वर्गीय शासन स्थापित हो जायगा और असंतोष एवं वैमनस्य से समाज का जीवन विषैला हो जायगा। अगर लोग भेदों को सह सकते हैं तो जनसत्ता की संभावना है। यहाँ पर शिक्षा और प्रयत्न की आवश्यकता है।

समाप्ति

जनतावाद जीवन का एक आदर्श है। अभी तक इस का पूरा व्यवहार कहीं नहीं हुआ है और न एक दम कहीं हो सकता है महान सामाजिक परि

वर्तन धीरे धीरे होते हैं और मनुष्य के विचारों और भावों के परिवर्तन का आश्रय लेते हैं। अगर जनतावाद का आदर्श ग्रहण करने योग्य है तो उसे व्यवहार मे परिणत करने के लिये बड़ा प्रयत्न करना होगा। पुराने समयों में धर्म के प्रचार के लिये जैसा अटूट उद्योग किया गया था वैसा ही जनतावाद के लिये करना होगा। अभी तो लोग इस आदर्श को कोरा स्वप्न समझ कर हँसते हैं पर सभ्यता का इतिहास कुछ हजार बरसों का ही है और आगामी युगों में ऐसे परिवर्तन हो सकते हैं जिन के सामने हमारी वर्तमान सभ्यता निपट बर्बरता प्रतीत हो। आत्म-विकास के सिद्धांत के अनुसार हमारा कर्तव्य है कि ऐसे विचार और संगठन का प्रतिपादन करें जो प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक शक्तिमान और सुखी बनावे।

महायान धर्म का विकास और उस के कुछ स्वरूप

[लेखक—डाक्टर मथुरालाल शर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्०]

जिस समय मतमतांतरो के[1] दुर्भेद्य कुहरे ने सत्य के स्वरूप को छिपा रक्खा था और अंधविश्वास तथा यज्ञ-हिंसा के जाल मे जकड़ा हुआ धर्म सिसकियाँ ले रहा था, एक दिन संध्या समय भगवान् बुद्ध ने कौंडिन्य, वप्प, भद्दिय, महानामन और अस्सजि, इन पाँच अश्रद्धालु शिष्यों को सरल और सुबोध नीतिमार्ग का उपदेश कर के सारनाथ की भूमि को पुण्य तीर्थ बनाया। मध्यमप्रतिपदा मार्ग या अट्ठांगिको मार्ग तथा चत्वारि आर्यसत्यानि[2] के स्वरूप का वर्णन ही बुद्ध ने तत्कालीन परिस्थिति में लोकहितकर समझा। ब्रह्म, आत्मा और उपासना के विषय में बुद्ध ने न अपना कोई मत प्रकट किया और न प्रचलित मतों का खंडन किया। जगत की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के विषय में उस ने मौन रक्खा। चत्वारि आर्यसत्यानि के ज्ञान और आर्याष्टांग मार्ग के अनुसरण को ही बुद्ध ने भवबाधा की पर्याप्त चिकित्सा समझा। गृहस्थ धर्म की निःसारता, दार्शनिक जाल की निष्फलता और तृष्णा-त्याग की महत्ता के उपदेशों ने क्षतविक्षत धार्मिक जीवन पर मानों अमृत छिड़क कर लाखों नर नारियों को शान्ति दी। बुद्धगिरि से निकलने वाली इस धर्म धारा मे तृष्णादित संसार ने बहु काल तक प्यास बुझाई। लेकिन शनैः शनैः बौद्धों की

---

[1]ब्रह्मजाल सूत्र में ६४ और जैन ग्रंथों में ३६३ मतों का वर्णन है।

[2]दीघ निकाय, १, पृष्ठ १५७, मज्झिम निकाय, १, पृष्ठ ४७, संयुक्त निकाय, २, पृष्ठ १०६।

आत्मायें शुष्क संन्यास मार्ग से ऊब कर एक ऐसे प्रेमाश्रय की खोज करने लगी जिस का मध्यमप्रतिपदा मार्ग या आर्यसत्यानि में अभाव था।

केवल तृष्णोन्मुक्ति से ही आत्यंतिकी आत्मतुष्टि प्राप्त नहीं हो सकती। तृष्णा-त्याग मार्ग है, उद्देश्य नहीं। मानव हृदय की नैसर्गिक अध्यात्मिक पिपासा संन्यास से शान्त नही हो सकती। अपने सामर्थ्य को परिमित समझना और अज्ञात की खोज करना मानव बुद्धि का नैसर्गिक गुण है। दृष्ट से अदृष्ट की ओर उड़ान मारे बिना मन नहीं रह सकता। अतः बौद्ध संसार ऐसे तत्व को ढूंढ़ने लगा जो तृष्णा-त्याग के पश्चात् आकुल हृदय को शांति दे सके और जो चंचल चित्त का आश्रय-स्थान बन सके।

ईसा के जन्म के आस पास का काल भारतवर्ष का ही क्या संसार का भक्तियुग था। पश्चिम में ईसा ने संसार-संतप्त मनुष्यों को भगवान की शरण ग्रहण करने का उपदेश किया था और इधर भारत में भागवत् भक्ति का स्रोत उमड़ पड़ा था। भारतवासी ही नहीं किंतु विदेशी लोग भी भारतीय भागवद्धर्म से प्रभावान्वित होते जाते[1] थे। मतमतांतरों के प्रपंच को त्याग कर, लोग गीता प्रतिपादित धर्म की ओर आकर्षित हो रहे थे।[2] भक्तिधर्म के इस सुखद समीर के स्पर्श से शुष्क संन्यासमार्गी बौद्धों के व्याकुल हृदयों में अवश्य कंपन होता होगा। उन की आत्मायें भी ऐसे कारुणिक भगवान की शरण में जाने को लालायित हो उठी होगी जो यह विश्वास दिला सके कि मनुष्य चाहे जैसा दुराचारी क्यों न हो, यदि उसे अनन्य हृदय से भजता है तो उस का कल्याण होता है।

प्रियदर्शी अशोक ने बौद्धधर्म को सार्वभौमधर्म बनाने का प्रयत्न किया। संपूर्ण भारतवर्ष, सिंहल द्वीप और तिब्बत के अतिरिक्त उस ने अनेक यूनानी राजाओं के राज्य में भी अपने उपदेशकों द्वारा धर्म का प्रचार कराया।[3]

---

[1] बेस नगर का शिलालेख, वसुदेव की मुद्रायें—कैंब्रिज हिस्ट्री अव् इंडिया में

तदुपरांत इस का प्रचार बढ़ता ही गया और पश्चिमीय एशिया तथा चीन मे इस का प्राधान्य हो गया। भारतीय सीमाप्रांत के यूनानी शासकों में से कई ने इस को अपनाया और सिथियन, शक आदि आक्रमणकारी जातियों पर भी इस का गहरा प्रभाव पड़ा।[1] इस विस्तार के साथ ही साथ यह स्वाभाविक था कि बौद्ध धर्म का रूपांतर होता। पश्चिमीय एशिया की जंगली जातियाँ तृष्णात्याग और चत्वारि आर्यसत्यानि के महत्त्व को क्या समझ सकती थी? वे लोग इस धर्म की ओर बुद्ध के कारुण्यकांत जीवन से आकर्षित होते थे और नवीन धर्म को स्वीकार कर लेने पर भी उन के परंपरागत सहज संस्कार उन को नहीं छोड़ सकते थे।

इन आंतरिक और बाह्य कारणों से बौद्ध धर्म का स्वरूप बदलने लगा। त्यागप्रधान नीतिमार्ग पर भक्तिदर्शन और अंधविश्वास का आक्रमण होने लगा। इसी रूपांतर का नाम महायान धर्म है।

बुद्ध ने लीलासंवरण करते समय अपने प्रिय शिष्य आनंद को उपदेश किया था कि, "हे आनंद, तुम स्वयं अपना प्रकाश[2] बनो।" परंतु स्वयं अपना प्रकाश बनना, तृष्णा का त्याग करना, पारिवारिक बंधनों को छोड़ना कितना विषम मार्ग था? यह दुर्गम पथ कितनों को आकर्षित कर सकता था? जिस समय जगत भक्तिरस की भागीरथी मे अपनी अध्यात्म-प्यास को बुझा रहा था, बौद्ध लोग शुष्क संन्यास मार्ग से कैसे संतुष्ट हो सकते थे। सर्व धर्मों का परित्याग कर के पतितपावन की शरण ग्रहण करने के प्रलोभन से कौन बच सकता था? बौद्धधर्म में बुद्ध का आकर्षक व्यक्तित्व स्वतः प्रधान तो था ही, परंतु परिनिर्वाण के पश्चात् उस का महत्त्व और भी बढ़ गया। "बुद्धं शरणं गच्छामि" यह वाक्य बौद्धों की दैनिक गायत्री का एक अंग बन गया। श्रद्धालु अनुयायी बुद्ध को देवातिदेव मानने लगे और उन मे अलौकिक गुणों का अध्या-हार करने लगे। लोगों का विश्वास होने लगा कि बुद्ध साधारण मनुष्य की

---

[1] मलिंद पन्हा; कनिष्क के सिक्के; फ़ाहियान का वृत्तांत।

[2] महापरिनिब्बाण सुत्त

भाँति गर्भमल से लिप्त नहीं थे। वे देव तुल्य हैं। भगवान की इयत्ता या परिमाण को हम नहीं जान सकते वे अचित्य हैं।[1] "बुद्ध अजर अमर हैं। वे चाहें तो एक ही शरीर में कल्पशत सहस्र या इस से भी अधिक समय तक रह सकते हैं। न उन की इंद्रियाँ नष्ट हो सकती हैं न मुख विवर्ण"[2] बुद्ध का ध्यान करना और धर्म का ध्यान करना बराबर है। बुद्ध का जन्म नहीं हुआ करता, वे सब के आदि कारण हैं। वे स्वयं ही कारण हैं और स्वयं ही कार्य।[3] गीता में भगवान् ने जो अपने लिये कहा है कि "मत्तः परतरं नास्ति किंचदन्यद्धनंजय" वह वर्णन बुद्ध पर घटने लगा। बौद्धधर्म में जिस प्रधान तत्त्व का अभाव था उस की पूर्ति हो गई। व्याकुल हृदयों को सहारा मिल गया और शुष्क संन्यास सरस संन्यास बन गया।

इस प्रकार जब भगवान् बुद्ध देवातिदेव माने जाने लगे तो उन के तीन स्वरूप या त्रिकाय की कल्पना की गई। धर्मकाय, रूपकाय और संभोगकाय। धर्मकाय आरंभ में बुद्धवाणी का नाम था पर पीछे यह बुद्ध का एक स्वरूप माना जाने लगा। बुद्ध स्वयं मूर्तिमान् धर्म है, धर्मकाय की शरण में जाना धर्म की शरण में जाना[4] है। बुद्ध के रूपकाय को निर्माणकाय भी कहते हैं। भगवान बुद्ध वास्तव में जन्म नहीं लेते। मांस और मज्जा के शरीर में वे प्रवेश नहीं कर सकते। सत्वों के कल्याण के लिये वे अपने निर्मित काय का दर्शन कराते हैं, पर निर्माणकाय में किंचिन्मात्र भी धातु नहीं है। प्रत्यक्ष में उन का शरीर मानव शरीर तुल्य भासित होता है पर तत्वतः वह अलौकिक है। भगवान बुद्ध सदैव तुषित लोक में निवास करते हैं। जगत के कल्याण के लिये उन का अंश मात्र निर्माणकाय के रूप में इस लोक में अवतरण करता[5] है। यह वास्तव

---

[1] ललितविस्तर, बुद्ध-आनंद संवाद।

[2] सुखावती व्यूह।

[3] समाधिराज।

[4] दिव्यावदान—कोटीकर्ण कथा।

[5] सद्धर्म पुण्डरीक, कथावस्तु,

मे गीता के इस विचार का रूपांतर है कि "धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।" बुद्ध का संभोगकाय उन का पार्थिव शरीर है जो वे जगत-हित के लिये विशेष काल तक धारण करते हैं। निर्माणकाय और संभोगकाय में नाममात्र का अंतर है। धर्मकाय, रूपकाय और संभोगकाय, ब्रह्म, विष्णु और अवतारो से मिलते जुलते हैं।[3]

शनैः शनैः बुद्ध की पूजा होने लगी। जिन स्थानों का उन के जीवन के साथ विशेष संबंध था वे पवित्र माने जाने लगे। उन की यात्रा करने के लिये देशदेशांतरों से श्रद्धालु भक्त आने लगे[4]। बेक्ट्रिया के यूनानी जो पहिले से प्रतिमापूजक थे, बौद्ध बनने पर बुद्ध की प्रतिमा बनाने लगे और उस का पूजन अर्चन करने लगे। यूनानियों से भारतवासियों ने भी बौद्ध प्रतिमा का पूजन सीखा और समस्त बौद्ध संसार मे बुद्ध प्रतिमाओ का प्रचार हो गया। बुद्ध की प्रतिमाओं के जलूस निकालना पुण्यकार्य समझा जाने लगा। जब फाहियान खुतन जनपद में था तो उस ने एक रथयात्रा का उत्सव देखा था। वह लिखता है कि "नगर से तीन चार ली पर भगवान् का रथ चार पहिये का बनाया जाता है......वह रेशम की ध्वजा और चाँदनी से सुसज्जित किया जाता है। भगवान् की मूर्ति रथ में पधराई जाती है।......सब मूर्तियाँ सोने चाँदी की बनी हुई होती हैं।......राजा हाथ में फूल और धूप लिए नंगे पाँव नगर से रथ की अगवानी को जाता है। परिचारक पंक्ति-बद्ध दोनों ओर रहते हैं। राजा साष्टांग दंडवत् कर फूल चढ़ाता है और धूप देता है।"[5] पाटलीपुत्र में भी फ़ाहियान ने ऐसी रथयात्रा देखी थी। महाराज हर्ष ने भी बुद्ध प्रतिमा का ऐसा ही जुलूस निकाला था और महाराज स्वयं अपने हाथ से प्रतिमा पर छत्र लगाये हुए रथ के साथ साथ पैदल चले थे। यह जलूस चीनी यात्री ह्युआँच्यांग ने देखा था[6]।

---

[3] श्रीनरेंद्रदेव, 'बौद्धों का त्रिकायवाद', विद्यापीठ, वर्ष २ अंक १।

[4] अशोक ने तथा चीनी यात्रियों ने गया, कपिलवस्तु, कुशीनगर, श्रावस्ती आदि स्थानों की यात्रा की थी।

[5] फ़ाहियान, जगन्मोहन वर्मा, १२, २२- २३।

[6] बील 'रेकर्ड्स अव् दि वस्टर्न वर्ल्ड', पृ० ३४

बुद्ध की स्तुति और ध्यान करना अभीष्ट फलप्राप्ति का साधन हो गया। विष्णुसहस्रनाम के समान बुद्ध की स्तुतियाँ और स्तोत्र लिखे जाने लगे। इन का पाठ बौद्धों के दैनिक अनुष्ठान का अंग बन गया। ऐसा विश्वास प्रचलित हो गया कि पद्मासन पर विराजमान भगवान् बुद्ध की तीस हाथ ऊँची प्रतिमा का ध्यान करने से मनुष्य सुखावती स्वर्ग मे पैदा होता है। जो तथागत का स्मरण करते हैं उन के संपूर्ण मनोरथ पूरे होते हैं। बुद्ध प्रतिमा के दर्शन मात्र से अपरिमेय कल्याण की प्राप्ति होती है, फिर बुद्ध के संपूर्ण शारीरिक गुणो का ध्यान करने से जो फल मिलता है उस का तो कहना ही क्या ?[१]

इस प्रकार महायान बुद्धभक्तिप्रधान धर्म बन गया। तृष्णोच्छेद और आर्याष्टांग मार्ग बुद्धभक्ति से ढक गया। बुद्ध-प्रतिमा-निर्माण, धार्मिक जुलूस, मंदिरों में बुद्ध-प्रतिमा-स्थापन, बुद्धलीलास्थलों की यात्रा, बुद्धअस्थियो पर स्तूपनिर्माण, बुद्ध का गुणगान और बुद्ध का ध्यान यह बौद्धों का धर्म बन गया। नरपति जन बुद्धप्रतिमाओं के राजसी ठाठ के साथ जलूस निकालने में, धनाढ्य जन बुद्धमंदिर और बुद्धप्रतिमायें बनवाने में, कविजन बुद्ध का यशोगान करने में और अन्यजन भगवद्दर्शन और भगवद्भजन करने में अपने अपने जन्म को धन्य मानने लगे।

बुद्धधर्म का आदि आदर्श भारतवर्ष का परंपरागत आदर्श था। लोकैषणा, पुत्रैषणा और धनैषणा से मुक्त हो कर ब्रह्म का चिंतन करते हुए अमर पद प्राप्त करना उपनिषद् का उपदेश था, हजारों वर्षों से भारतवर्ष में यह मानव जीवन का उद्देश्य माना जाता था। बुद्ध ने भी अपने अनुयायियों के सामने यही उद्देश्य रक्खा। बुद्ध की श्रेयसाधनविधि में एक चिंत्य सत्ता का अभाव था। शेष पद्धति उपनिषद्-मार्ग से ज्यों की त्यों मिलती जुलती थी। कठोर तपश्चर्या और संयमहीन भोग दोनों का बुद्ध ने विरोध किया था परंतु उन की शिक्षा गीता के कर्मयोग मार्ग या वल्लभाचार्य के पुष्टि से मिलती जुलती नहीं थी

भना, संपूर्ण तृष्णाओं से उन्मुक्त होना और अपने व्यक्तित्व को एक प्रकार से शून्य बना देना बुद्ध का आदर्श था। इस आदर्श का नाम था अर्हत्व। इस की प्राप्ति के हेतु ही बुद्ध ने भिक्खु और भिक्खुणियों के संघों का निर्माण किया था।

जब बौद्ध धर्म देशदेशांतरों मे फैलने लगा और जन साधारण इस को अपनाने लगे तो अर्हत्व के आदर्श में भी अंतर आने लगा। यूनानी, सिथियन और कुशान लोगों को यह कठोर तपश्चर्या का आदर्श आकर्षित नहीं कर सकता था। अपना सर्वस्व त्याग कर, शरीर और मन की अभिलाषाओं का दमन कर के शून्य में अंतर्हित होना उन जातियों को कैसे रुच सकता था जो अपने जीवन-निर्वाह के लिये देश देश मारी मारी फिर रही थीं, युद्ध जिन का दैनिक कार्य था और जीवन-संघर्ष जिन का अनिवार्य धर्म? साथ ही भक्ति और अर्हत्व का भी मेल होना असंभव था। करुणाकांत बुद्ध भगवान् जगत-संताप का निवारण करने के लिये तुषित स्वर्ग से इस लोक मे जब अवतरण करते है तो क्या उन के अनुयायियों को भी अपने परिमित सामर्थ्य और क्षमता के अनुकूल उन दुखियों का दुःख निवारण नहीं करना चाहिये जो अवसर और उपदेश के अभाव से कल्याण-पथ को नहीं देख सकते थे। भक्ति और संघर्ष से परिपूर्ण वायुमंडल में उस तृष्णोन्मुक्त अर्हत की ओर लोगो का अनुराग नही हो सकता था जो तृष्णोत्पीड़ित जगत को कराहता हुआ छोड़ केवल अपने कल्याण के लिये समाधि लगा कर एकांत मे बैठ जावे। इस की अपेक्षा उस मनुष्य की ओर लोगों का ध्यान अधिक आकर्षित होता था जो संपूर्ण मोह-बंधनों से छुटकारा पाकर लोकोपकार मे अर्थात् धर्मोपदेश, सन्मार्ग-प्रदर्शन और जगत-कल्याण में अपने जीवन का उपयोग करे। शनैः शनैः यह लोक सेवा महायान धर्म का आदर्श बन गया। ऐसे लोक हित साधक को महायानी लोग बोधिसत्व कहने लगे।

बोधिसत्व बनने के लिये असाधारण तृष्णोच्छेद, चित्तपरिशुद्धि और करुणाप्रवृत्ति संपादन करने की आवश्यकता थी। प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरगमा, अचला और साधुमती इन नव भूमियों

अर्थात् विकासावस्था को पार करने के पश्चात् मनुष्य पूर्ण बोधिसत्व बनता[1] है। बोधिसत्व बनने के पश्चात् यदि चाहे तो मनुष्य निर्वाणपद प्राप्त कर सकता है। परन्तु उस को आत्म-कल्याण की इतनी चिंता नहीं होती जितनी जगत-कल्याण की। संपूर्ण अलौकिक गुणों को प्राप्त कर के बोधिसत्व अन्य उन्मार्ग लोगों को सत्पथ प्रदर्शन करने में लग जाता है। जब तक संसार मे एक भी मनुष्य दुखी है तब तक बोधिसत्व अपने निर्वाण की चिंता नहीं कर सकता। महायानी लोग सपूर्ण, सत्यसंकल्प, त्यागी तथा लोक-हित-रत महात्माओं को बोधिसत्व मानते हैं। बोधिसत्व होना महायान धर्म में अत्यंत उच्च पद प्राप्त करना है। वास्तव में बोधिसत्वत्व ही महायान धर्म में मानव जीवन का उद्देश्य है। मुक्ति या निर्वाण का उस में कोई स्थान नहीं है। जब तक एक भी मनुष्य भव-बाधा से पीड़ित है तब तक बोधिसत्व निर्वाण का ध्यान नही ला सकता। इसलिये यदि महायानियों को निर्वाण पद किसी दिन प्राप्त होगा तो सब के साथ साथ होगा।

सब बोधिसत्व भिन्न भिन्न विकासावस्थाओं मे माने जाते हैं। कुछ बुद्ध के समकक्ष हैं और कुछ उन से नीचे। उन के विकास के अनुकूल ही लोगों की उन पर श्रद्धा होती है। अवलोकितेश्वर, अमिताभ, वज्रपाणि आदि अत्यंत उच्च बोधिसत्व हैं। जिस प्रकार बुद्ध को लोग देवातिदेव मानते थे, उन की प्रतिमा की पूजा करते थे और उन का ध्यान करते थे, उसी प्रकार विकास के अनुसार इन बोधिसत्वों की भी पूजा, उपासना और अर्चना की जाती थी। अतः महायान धर्म मे अनेक देवों की पूजा होती थी। इन सब का अधिष्ठाता बुद्ध माना जाता था।

बुद्ध दार्शनिक विवाद को आत्मकल्याण के लिये निष्फल समझते थे इसलिये उन्हो ने किसी नवीन दर्शन की रचना नहीं की और न किसी पुरातन दर्शन का आश्रय लिया या पक्ष किया। 'तृष्णा त्याग कर भवबाधा से मुक्त बनो'—यह बुद्ध के उपदेशों का सार था। इस के अतिरिक्त सब बातों को वे शब्द-

जाल समझते थे। परंतु अज्ञात विषयों की खोज करना और विश्वप्रपंच की तह में पहुँचने का प्रयत्न करना मानवी बुद्धि का सहज गुण है। इसलिये बुद्धि के परिनिर्वाण के बाद ही एक स्वतंत्र बौद्ध दर्शन का उदय होने लगा। तदुपरांत दार्शनिक मतभेद के कारण बौद्धों के १८ संप्रदाय बन गए जिन में वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार और माध्यमिक ये चार संप्रदाय प्रधान थे। वैभाषिक और सौत्रांतिक हीनयानी संप्रदाय थे और योगाचार तथा माध्यमिक महायानी। स्वामी शंकराचार्य ने इन चारो संप्रदायों का खंडन किया है और माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रंथ मे इन का विवेचन किया है। वैभाषिक लोग ज्ञान और प्रकृति दोनों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। सौत्रांतिकों का मत है कि वास्तव में ज्ञान ही सत्य है। ज्ञेय तो ज्ञान का केवल स्थूल प्रकटीकरण है। ये लोग प्रकृति के अस्तित्व को न स्वीकार करते हैं और न अस्वीकार करते हैं। किंतु ज्ञेय के अस्तित्व की इस अर्द्धस्वीकृति को सौत्रांतिक लोग केवल इसलिये आवश्यक समझते हैं कि ज्ञान का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करना कठिन है।

योगाचार वाले सौत्रांतिकों से एक सीढ़ी और आगे बढ़े हुए हैं। वे केवल ज्ञान के ही अस्तित्व को स्वीकार करते हैं ज्ञेय के अस्तित्व को नहीं। इसलिये इन लोगों को विज्ञानवादी और इन के दर्शन को विज्ञानवाद भी कहते है। विज्ञानवादी वाह्यजगत के अस्तित्व को मिथ्या मानते हैं। यह संपूर्ण जगत बुद्धिमय है। बुद्धि को किसी आश्रय या अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं है। विज्ञानवाद का दूसरा नाम, इसीलिये निरालंबवाद भी है। ज्ञान या विज्ञान के दो भेद हैं। आलयविज्ञान और स्कंधविज्ञान। आलयविज्ञान उत्पत्ति, स्थिति और विनष्टि से रहित[1] है। यह कई अंशो मे सांख्य के पुरुष से मिलता जुलता है। आलयविज्ञान से बाहर या परे कुछ नहीं। मान, मेय और फल सब इस के अंतर्गत हैं। यही ज्ञाता है और ज्ञेय है। नाना रूपों

---

[1] ' सूत्र।

में इस का उपबृंहण होता है परंतु इस से इस का एकत्व नष्ट नहीं होता।[1] स्कंध-विज्ञान कर्मजन्य ज्ञान है। यह आलयविज्ञान का वह अंश कहा जा सकता है जो किसी मनुष्य को प्राप्त होता है। पंडित असंग ने 'योगाचार भूमिशास्त्र' और 'महायानसूत्रालंकार' नामक अपने ग्रंन्थों मे योगाचार दर्शन का बड़ा पांडित्यपूर्ण विवेचन किया[2] है।

माध्यमिक दर्शन मे विज्ञान के अस्तित्व को भी स्वीकार नही किया गया है। माध्यमिकों का मत है कि जब ज्ञेय का अस्तित्व नहीं है तो ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं है।[3] माध्यमिक दर्शन वास्तव में बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद मत का भाष्य है। जब केवल धर्मों का ही अस्तित्व है और पदार्थों का नही, रथ मनुष्य आदि का जो हमे ज्ञान होता हुआ भासित होता है वह वास्तव मे ज्ञान नही 'प्रज्ञप्ति' मात्र है। क्षणवाद के सिद्धांत को स्वीकार कर लेने के बाद वास्तव मे शून्यवाद स्वीकार करना ही पड़ता है। नागार्जुन का मत है कि यह संपूर्ण दृश्यमान जगत भारी भ्रम है, केवल आभास मात्र है। पिछले क्षण मे जो इस की अवस्था थी सो इस क्षण नहीं है और इस क्षण जो अवस्था है सो अगले क्षण नहीं रहेगी। इस क्षणिकता के कारण किस का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, कौन ज्ञान प्राप्त कर सकता है और क्या ज्ञान हो सकता है। गति के विषय मे नागार्जुन कहता है कि हम इस के स्वरूप को नहीं जान सकते। एक ही क्षण में कोई पदार्थ दो स्थानो पर कैसे हो सकता है। जिस मार्ग को हम पार कर चुके हैं उस पर हम इस समय नहीं हैं, जो मार्ग हम को पार करना है उस पर भी हम नहीं है। फिर जो मार्ग तय हो चुका है और जो अभी तय करना है उस के अतिरिक्त कौन सा मार्ग है। मार्ग के दो ही भाग हो सकते हैं एक वह जो पार किया जा चुका है और दूसरा वह जो पार करना है। तीसरे भाग

---

[1] सर्वसिद्धांतसारसंग्रह—३, २-६।

[2] वसुबंधु, अश्वघोष, नंद, दिग्नाग, धर्मपाल, शीलभद्र—ये इस संप्रदाय के अन्य विद्वान् हैं।

[3] „ „ १, १८

की कल्पना असंभव है। प्रथम भाग तय हो चुका और दूसरा आगे पड़ा हुआ है। अतः गति कोई गुण नहीं है। जब गति नहीं है तो गंता भी नहीं है। अतः गति, गेय और गंता सब आभास मात्र हैं।[1] इसी प्रकार नागार्जुन स्थिति को भी आभास सिद्ध करता है। और काल को वह भ्रमात्मक कल्पना मानता है।[2] इसी तर्क के द्वारा नागार्जुन शून्यवाद की पुष्टि करता है। इस से यह स्पष्ट है कि शून्यवाद का कारण ज्ञान और ज्ञेय की अनिर्वचनीयता है। क्षणिकता के कारण ज्ञान असंभव है और ज्ञेय का तो वास्तव में अस्तित्व ही नहीं है। इसलिये नागार्जुन सब को शून्य मानते हैं। वेदांत के समान शून्यवाद में भी 'परमार्थः' और 'संवृत्तिः' ये दो शून्य के भेद माने गए हैं। परंतु संवृत्ति बुद्धि का विषय है इसलिये वास्तविक सत्य नहीं है। सत्य तो यह है कि न अस्तित्व है, न अभाव है, न जन्म है, न निर्वाण है और न निर्वृत्त और अनिर्वृत्त से कोई भेद है।[3]

माध्यमिक दर्शन का अद्वैत वेदांत पर अवश्य प्रभाव पडा है। वेदांत के व्यवहार और परमार्थ सत्य तथा माध्यमिकों के संवृत्ति और परमार्थ सत्य में पूर्ण समानता है। शंकर के निर्गुण ब्रह्म आदि नागार्जुन में नाममात्र का भेद है। खंडनखाद्य मे जिस को अनिर्वचनीय कहा है उस को माध्यमिक वृत्ति में निःस्वभाव बतलाया है। यह वास्तव में एक ही बात है। इतने पर भी शंकर ने विज्ञानवाद और शून्यवाद का तीव्र खंडन किया है[4]। परंतु द्वैतवादी, वेदांतियों को प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं।[5]

---

[1]माध्यमिक सूत्र २, १-१२।

[2]ते आकाशस्थितेन चेतसा कालं कुर्वंति।

[3]एवं न च निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सर्वदा
अजात मनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत्
स्वप्नोपमास्तु गतयो विचारे कदली समाः।
निर्वृता निर्वृतानां विशेषो नास्ति वस्तुतः।
शांतिदेव—९—१५०-१।

[4]ब्रह्म सूत्र—२, २-२८।

[5]सांख्य भाष्य १ २२।

आरंभ में ही बतलाया जा चुका है कि महायान धर्म केवल तपस्वियों का या दार्शनिकों का धर्म नहीं था। यह वास्तव मे लोक-धर्म था इस में सूक्ष्म-दर्शन और अंधविश्वास, भक्ति और तर्क सब के लिए स्थान था। कोई बुद्ध-प्रतिमा के दर्शन कर के अपने मन को शांति देता था, कोई बुद्ध की स्तुति से अपनी आध्यात्मिक प्यास को बुझाता था। जो यह भी न कर सकता था वह बुद्ध की अस्थियों पर एक स्तूप बनवा देता था और स्तूप-निर्माण में अपनी शक्ति के अनुकूल कुछ चंदा देता था। धनाढ्य लोग चाँदी सोने की प्रतिमायें बनवा कर पुण्य कमाते थे, और बुद्ध के जीवन-वृत्त तथा जातक-कथाओं के चित्र पत्थरों मे खुदवा कर अपने को धन्य मानते थे। बुद्धभक्ति इतनी बढ़ गई थी कि उन के कमंडल, दंड और दाँत की भी पूजा की जाने लगी थी और उन के चमत्कार के विषय में अनेक प्रकार की कथायें प्रचलित हो गई थीं।[1] फाहियान ने नगर हार या हिड्डानामक नगर में बुद्ध के कपाल-खंड को पूजा होती हुई देखी थी। उस हड्डी पर सोना तथा हीरे मोती जड़े हुए थे और प्रति दिन राजा प्रजा उस की पूजा करने आते थे।[2] बुद्ध के भिक्षायाम के विषय में फाहियान लिखता है कि गरीबों के फूल चढ़ाने से वह तुरंत भर जाता है परंतु यदि कोई धनाढ्य उस को भरने का प्रयत्न करे तो फूलों की अयुत टोकरियों से भी वह नहीं भर सकता था।

बुद्ध की स्तुतियाँ और स्तोत्रग्रंथ जनसाधारण का धार्मिक साहित्य था। बुद्ध की स्तुति करना अभीष्ट फल-प्रद समझा जाता था। इन छोटे छोटे स्तोत्रों का नाम धारणी था। धारणी के पाठ मात्र में अद्भुत शक्ति समझी जाती थी। इस का उच्चारण एक प्रकार का मंत्र था जिस से अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त हो

पद्मपुराण १-१४।

सिद्धित्रय पृष्ठ १९।

श्री भाष्य २, २७।

[1] जगन्मोहन वर्मा—फाहियान १२, २२, २३।

[2] बील रेकर्ड्स अव् दी 'वस्टर्न वर्ल्ड २४

सकती थी। स्तूपों की परिक्रमा करना, उन पर फूल चढ़ाना और धूप देना भी श्रेय साधन माना जाने लगा था।

जब महायान के मंत्रयान, वज्रयान, और नाथमार्ग आदि रूपांतर हुए तो इस का स्वरूप बिलकुल बदल गया, यहाँ तक कि बुद्ध भी एक प्रकार का महाप्रेत माना जाने लगा। तंत्र मंत्र का प्राधान्य हो गया और पशुबलि भी धर्म का अंग माना जाने लगा। परंतु इस रूपांतर का इस संक्षिप्त लेख में उल्लेख मात्र ही किया जा सकता है।*

---

* यह लेख एकेडमी की पिछली कांफ्रेंस में पढ़ा गया था

संस्कृत साहित्य में अग्निपुराण का स्थान

[लेखक—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार]

भारतवर्षीय साहित्य में पुराणों का महत्त्व केवल हमारे भारतीय विद्वान ही नहीं किंतु संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ पार्टिजर, विलसन और स्मिथ आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। उन लोगों ने जो कुछ भारतवर्ष के संबंध में लिखा है उस का आधार प्रायः उन लोगों का भारतीय पुराणों का अध्ययन ही है। तथापि खेद है कि उन लोगों ने हमारे आर्ष-ग्रंथों के विषय में स्वेच्छाचार का पर्याप्त प्रयोग किया है। इस का कारण उन की अपूर्ण गवेषणा ही नहीं किंतु यह भी है कि उन को भारतीय आर्ष-ग्रंथो का अधिक महत्त्व प्रतिपादन करना भी अभीष्ट नहीं। अतएव इस विषय के उन के लेख भारतीय दृष्टि से अवश्य ही आलोचनीय हैं। इस निबंध में हम अपने अप्रकाशित 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' के अधार पर अग्निपुराण के साहित्य विषयक महत्त्व पर कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा करते हैं, जिस के द्वारा स्पष्ट विदित होगा कि पाश्चात्य विद्वान और उन के अनुयायी एतद्देशीय प्रसिद्ध विद्वानों ने निर्मूल युक्तियों के आधार पर अग्निपुराण में वर्णित साहित्य विषय के संबंध में किस प्रकार अपनी कल्पनाओं का भवन निर्माण किया है। यह हम नहीं कह सकते हैं कि उपलब्ध अग्निपुराण अक्षरशः उसी रूप में है जिस रूप मे वह भगवान् वेदव्यासजी द्वारा निर्माण किया गया था। संभव है इस में कुछ प्रक्षिप्त अंश भी समाविष्ट हो, किंतु साथ ही हम पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित लेखकों का अंधानुसरण कर के यह बात भी सहसा स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं कि उन का बतलाया हुआ अमुक अंश अवश्य प्रक्षिप्त ही है—जब तक कि वह आलोचना की कसौटी पर उत्तीर्ण न हो जाय महामुनि भरत के नाट्य

सब से प्रथमे वर्णन मिलता है। अग्निपुराण विश्वकोष है, इस में सभी विषयों का समावेश है। साहित्य विषय का भी संक्षिप्त निरूपण ११ अध्यायों में किया गया है—३३७ से ३४७ तक। किंतु वह संक्षिप्त होने पर भी महत्त्व-पूर्ण है—वह अपना पौराणिक प्राचीनत्व स्पष्ट प्रदर्शित करता है। तथापि कुछ लेखकों ने अग्निपुराण के संबंध में भ्रमात्मक मत प्रदर्शित किए हैं, जैसे—

(१) बाबू शुशील कुमार दे[1] अग्निपुराण के अलंकार प्रकरण का समय दंडी और भामह के पश्चात् और 'ध्वन्यालोक' के वृत्तिकार श्री आनंदवर्द्धनाचार्य से प्रथम, ईस्वी नवीं शताब्दी के लगभग मानते हैं।

(२) श्री काणे[2] कहते हैं, कि अग्निपुराण ईस्वी सन ७०० के पश्चात् का है। और उस का काव्य विषयक अंग ई० ९०० के भी पीछे का है।

अच्छा, अब हम श्री काणे के मत पर ही क्रमशः विचार करना युक्ति-युक्त समझते हैं, क्योंकि उस में उन के पूर्ववर्ती प्रायः सभी लेखकों के मत संमिलित हैं। श्री काणे—

(क) अग्निपुराण के अध्याय ३५९-३६६ में वर्णित कोष विषय में, अमर-कोष का कुछ साम्य उपलब्ध होने के कारण, उसे अमरकोष से लिया गया बतलाते हैं। अमरकोष का समय श्री मैक्समूलर साहिब ने ईस्वी छठी शताब्दी के पूर्व माना है, क्योंकि इस का अनुवाद चीनी भाषा में छठी शताब्दी में हो चुका था[3] और डा० होरनेल[4] इस का समय ई० ६२५ से ९४० के मध्य में मानते हैं। और श्री ओक ४०० ई० मानते हैं। श्री काणे कहते हैं कि अग्निपुराण मे इस लोक-प्रिय कोष का समावेष कर लिया गया।

अब प्रथम तो यही प्रश्न है कि अमरकोष ६०० ईसवी मे लोक-प्रिय

---

[1]'हिस्ट्री अव् संस्कृत पोएटिक्स,' जिल्द १, पृष्ठ १०२-४।

[2]'साहित्यदर्पण' की अँग्रेज़ी भूमिका पृष्ठ ३,४,५।

[3]'इंडिया ह्वाट्कैन इट टीच अस ?', पृष्ठ ३३२।

[4]'जर्नल अव् दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी', १९०६, पृष्ठ ९४०।

हो गया था ? यद्यपि इस समय यह कोष अवश्य ही अधिक प्रचलित और सुप्रसिद्ध है, किंतु इस के द्वारा यह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि इसे यह गौरव प्रारंभ में ही प्राप्त हो गया था। इस के लिये प्रमाण ही क्या जब कि उस समय मे किसी ग्रंथ के प्रचार और लोक-प्रिय होने के लिये हस्त-लिपि मात्र के साधन से अत्यंताधिक समय की अपेक्षा थी। फिर अमरकोष से प्रथम अन्य कोई कोष न था, इस का भी क्या प्रमाण जब कि इस के विरुद्ध अमरकोष के प्रारंभ में स्वयं अमरसिंह ने लिखा है—

समाहृत्यान्यतंत्राणि संक्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः ।
संपूर्णमुच्यते वर्गैर्नामलिंगानुशासनम् ॥
१।२

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अमरसिंह ने अपने पूर्ववर्ती कोषों से संग्रह कर के अमरकोष लिखा है। संभव है अमरकोष के आधार-रूप कोषों मे अग्निपुराण का कोष भाग भी हो। क्या इस कारण से अग्निपुराण और अमर-कोष के कुछ भाग में साम्य नहीं हो सकता ? किसी भी दो ग्रंथों के विषय-विशेष मे साम्य उपलब्ध होने पर जब तक कोई दृढ़ प्रमाण प्राप्त न हो, यह नहीं कहा जा सकता कि किस ने किस से सहायता ली है। फिर दूसरी बात यह भी है कि अग्निपुराण में यह विषय अत्यंत संक्षिप्त है और अमर में विस्तृत, अतएव श्री काणे की कल्पना से यह कल्पना अधिक मान्य हो सकती है कि अमरसिंह ने अनेक ग्रंथों से—जिन में संभव है अग्निपुराण भी हो—नाम संग्रह किए हों और जहाँ जहाँ से जो जो प्रकरण लिए हैं वे लगभग उसी रूप से अपने ग्रंथ मे रख दिए हों। इस धारणा के विरुद्ध क्या प्रमाण है ? जब कि अमरसिंह के विषय में तो 'अमरसिंहोहि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत्' यह किंवदंती भी प्रसिद्ध है।

(ख) श्री काणे और दे बाबू कहते है कि रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, समाधि और अपन्हुति अलङ्कारों की परिभाषाएं जो अग्निपुराण में (अध्याय ३४४ के २२, २५, २७, २८ और अध्याय ३४५ के १३, १८ श्लोकों में) दी गई हैं, वे दंडी के काव्यादर्श में क्रमश (द्वितीय परिच्छेद की ६६,

२२१, २२३, १९९, २०४ और प्रथम परिच्छेद की १३ की कारिकाओं से) सर्वथा मिलती हैं, और कुछ वाक्य एवं पद भी दोनों मे समान है, जैसे—

एवं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरनेकधा ।

—अग्नि० ३३९।२२, काव्या० १।११

साविद्या नौस्तितीर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम् ।

—अग्नि० ३३९।२५, काव्या० १।१२

अतः यह प्रकरण अग्निपुराण में दंडी के काव्यादर्श से लिया गया है ।

अच्छा, अब यह देखना है कि श्री काणे आदि की इस कल्पना में कहाँ तक सार है, इस के लिये हम को अग्निपुराण और काव्यादर्श मे निरूपित अलंङ्कार विषय को संक्षिप्त रूप से प्रदर्शित करना उपयुक्त होगा । अग्निपुराण के ३४४ वें अध्याय में अर्थालङ्कार का निरूपण इस प्रकार प्रारंभ किया गया है—

स्वरूपमथ[1] सादृश्यमुत्प्रेक्षातिशयावपि[2, 3, 4] ।

विभावना[5] विरोधश्च[6] हेतुश्च[7] समसष्टधा[8] ॥

इस में आठ अलंकारों के नाम निर्दिष्ट हैं । फिर इस के आगे क्रमशः इन की परिभाषाएँ दी गई हैं और इन के उपभेद दिखाये गए हैं, जिन को हम काव्यादर्श में दिखाये हुए उपभेदों के साथ स्पष्ट करते हैं—

अग्निपुराण	काव्यादर्श	
क्रमसंख्या		क्रमसंख्या
१ स्वरूप—	स्वभावोक्ति	१
	(स्वरूप के नाम से नहीं है और न इस के उपभेद दिखाये गए हैं)	
(अ) निज		
(आ) आगंतुक		
२ सादृश्य—	('सादृश्य' नही है)	
(अ) उपमा	उपमा	२
(आ) रूपक	रूपक	३
(इ) सहोक्ति	सहोक्ति	५
(ई)		६

(पृथक लिये गए हैं, न कि सादृश्य के अंतर्गत)

३ उत्प्रेक्षा	उत्प्रेक्षा
४ अतिशयोक्ति	अतिशयोक्ति
विशेषोक्ति	विशेषोक्ति
५ विभावना	विभावना
६ विरोध	विरोध
७ हेतु—	हेतु
(अ) कारक	(अ) कारक
(आ) ज्ञापक	(आ) ज्ञापक
	(इ) चित्र और इस के अने

८—'सम'। इस को अग्निपुराण मे शब्दार्थ उभयालंकार माना है आक्षेप, समासोक्ति, अपन्हुति एवं पर्यायोक्त ये चार अलंकार, जो काव में स्वतंत्र अलंकार लिखे गए हैं, इस 'सम' के भेदों मे एक 'अभिव्य है, इस के अंतर्गत आक्षेप ध्वनि के उपभेदों मे लिखे गए है। जैसा कि न विवरण से विदित हो सकता है—

सम

१ प्रशस्ति, २ कांति, ३ औचित्य, ४ संक्षेप, ५ यावदर्थता, ६ अ

१ प्रेमोक्ति, २ प्रियोक्ति १ ऊर्जस्वी, २ मृदुसंदर्भ

१ श्रुति-शाब्द स्वार्थसमर्पण २ आक्षेप ध्वनि

१ नैमित्तिकी २ परिभाषिकी

१ मुख्या २ औपचारिका १ आक्षेप २ समासोक्ति ३ अपन्हुति ४

१ गौणी २ लाक्षणिका

अनंत पाँच प्रकार की

समाधि
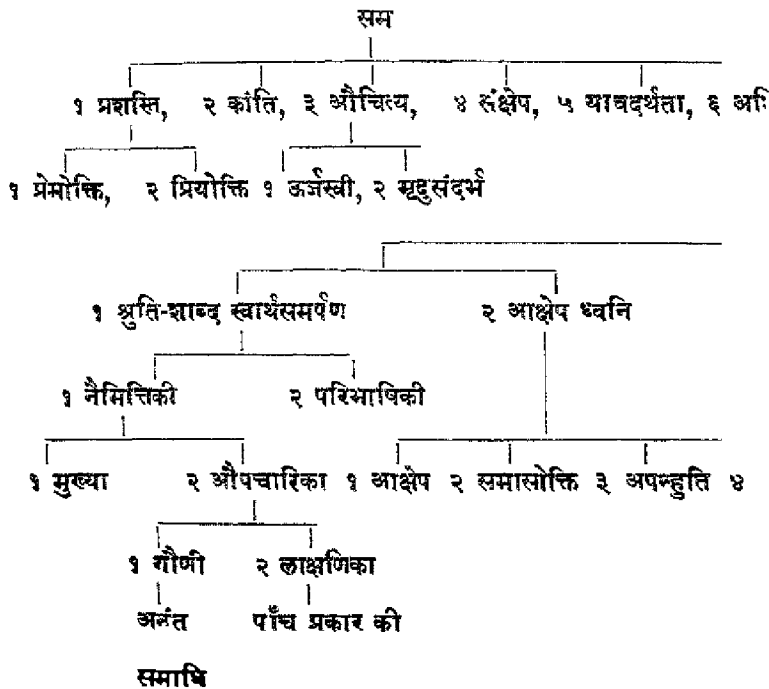
काव्यादर्श में 'सम' नामक कोई अलंकार ही नहीं माना गया है और न इस के भेदोपभेद ही दिखाये गए हैं, केवल इन में आक्षेप, समासोक्ति, अपन्हुति और पर्यायोक्त यह चार स्वतंत्र अलंकार वहाँ लिखे गए हैं।

इस विवरण द्वारा विदित होगा कि अग्निपुराण में केवल १५ अलंकारों का निरूपण है, जब कि काव्यादर्श मे इन १५ के सिवा २० अलंकार और बढ़ा कर ३५ अलंकारों का निरूपण है। और १५ अलंकार जो अग्निपुराण में निरूपित हैं उन में भी न तो काव्यादर्श के क्रम का ही अनुसरण है और न उस की वर्णन शैली का। केवल एक स्वभावोक्ति अलंकार ही दोनों में ऐसा है जिस से अर्थालंकारों के वर्णन का प्रारंभ होता है, किंतु उस के भी नाम मे भिन्नता है—काव्यादर्श में स्वभावोक्ति अथवा जाति कहा है, जब कि अग्निपुराण में उस का 'स्वरूप' के नाम से उल्लेख है। काव्यादर्श में उपमा, रूपक सहोक्ति और अर्थांतरन्यास पृथक् पृथक् स्वतंत्र रूप से क्रमशः २,३,२१,६ की क्रम-संख्या में हैं किंतु अग्निपुराण में 'सादृश्य' नामक एक अलंकार (जिस की क्रम-संख्या २ है) माना गया है, और उस के यह (उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थांतरन्यास) चार भेद माने गए हैं। काव्यादर्श में आक्षेप, समासोक्ति अपन्हुति और पर्यायोक्त यह चार अलंकार पृथक् पृथक् स्वतंत्र लिखे गए हैं—एक के साथ दूसरे का कुछ घनिष्ठ संबंध नहीं बतलाया गया है, किंतु अग्निपुराण में इन चारों को एक पृथक् वर्ग में—'सम' नामक एक शब्दार्थ उभयालंकार की संज्ञा बतला कर, उस सम के छः भेदों मे एक अभिव्यक्ति नामक भेद और अभिव्यक्ति का एक आक्षेप ध्वनि भेद बतला कर, उस आक्षेप ध्वनि के अंतर्गत इन चारों अलंकारों को दिखाया है। काव्यादर्श में इस शैली की गंध भी नहीं उपलब्ध होती है। ऐसी परिस्थिति मे काव्यादर्श का अग्निपुराण में समावेश किया जाना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता। फिर, काव्यादर्श में उपमा के बत्तीस उपभेद दिखाये गए हैं किंतु अग्निपुराण में केवल बाईस, और उन बाईस में भी तेरह के नामों मे ही[1] समानता है। पाँच ऐसे हैं जिन

[1] १ धर्मोपमा, २ वस्तूपमा ३ नियमोपमा, ४ ५ बहूपमा

की परिभाषाओं में कुछ साम्य होने पर भी नाम भिन्न हैं।[1] और चार[2] ऐसे हैं जिन का काव्यादर्श में नामोल्लेख ही नहीं है। अतः स्पष्ट है कि काव्यादर्श और अग्निपुराण में महान असमानता है।

(ग) अग्निपुराण में अलंकारों की अल्प संख्या जो श्रीभरत मुनि के नाट्य-शास्त्र से कुछ ही अधिक है, और उन का साधारणतया निरूपण किया जाना हम को विकासोन्मुख प्रगतिशील अलंकार शास्त्र की दूसरी सोपान के रूप में दृष्टिगत होता है। यदि यह कहा जाय कि अग्निपुराण में अलंकार विषय का संक्षिप्त वर्णन है, तो हम इस बात को स्वीकार करते हैं। किंतु इस के द्वारा यह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता कि इस में काव्यादर्श का संक्षिप्त समावेश किया गया है। यदि यह मान भी लिया जाय तो प्रश्न होता है कि अग्निपुराण का लक्ष्य काव्यादर्श का विषय संक्षिप्त में समावेश करने का ही होता तो उपमा के इतने अधिक उपभेद जो कि २२ दिखाये गए हैं दिखाने की ऐसी क्या आवश्यकता थी और अग्निपुराण में काव्यादर्श के उन प्रधान अलंकारों का नामोद्दिष्ट करना क्यों छोड़ दिया गया जो कि उपभेदों की अपेक्षा अत्यंत आवश्यक थे! यह कदापि संभव नहीं कि जिस ग्रंथ का विषय लिया जाय उस का आवश्यक प्रधान विषय छोड़ कर अनावश्यक गौण विषय ले लिया जाय। विशेष ध्यान देने योग्य तो यह है कि जिस श्लेषालंकार को दंडी ने—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।

—काव्यादर्श २।३६३

---

६ समुच्चयोपमा, ७ मालोपमा, ८ विक्रियोपमा, ९ अद्भुतोपमा, १० मोहोपमा, ११ संशयोपमा, १२ प्रशंसोपमा और १३ निंदोपमा।

[1]काव्यादर्श में—१ अन्योन्योपमा, २ विपर्यासोपमा, ३ निर्णयोपमा, ४ अतिशयोपमा, ५ समानोपमा है। अग्निपुराण में इन के स्थान में, १ परस्परोपमा, २ विपरीतोपमा, ३ निश्चयोपमा, ४ साधारणी अतिशायिनि, ५ सदृशी यह नाम हैं।

[2]१ [illegible] २ गमनोपमा, ३ [illegible] और ४ किंचित सदृशी [illegible]

इतना महत्त्व दिया है, उस श्लेष का अग्निपुराण में नामोल्लेख भी नहीं है। क्या यह संभव है कि जिस ग्रंथ से अलंकार प्रकरण लिया जाय—प्रकरण ही क्यों परिभाषा तक ली जाय, उस में जिस अलंकार को ऐसा महत्त्व दिया गया है, उस का नाम तक स्मरण न किया जाय, और उसी ग्रंथ से उपमा के उपभेद जो अधिक महत्त्व के नहीं, इतने अधिक ले लिए जायँ।

(घ) अच्छा, और देखिए, अग्निपुराण मे किसी भी अलंकार का उदाहरण नहीं दिया गया है—केवल परिभाषाएं हैं, किंतु ज्ञापक हेतु के विषय में कहा है—'ज्ञापकाख्यस्य भेदोस्ति नदी पूरादि दर्शनम्।' किंतु काव्यादर्श में हेतु अलंकार पचीस कारिकाओं में स्पष्ट किया गया है, उन में ज्ञापक हेतु भी कहा गया है, पर 'नदी पूरादि दर्शनम्' के समान तो कहाँ, इस की गंध भी उन में कहीं उपलब्ध नहीं है।

(ङ) एक बात और भी है, काव्यादर्श में हेतु अलंकार के साथ ही जुड़े हुए 'सूक्ष्म' और 'लेश' अलंकार कहे गए हैं—

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तम भूषणम्।

२।२३५

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि अग्निपुराण में कुछ परिभाषाएं काव्यादर्श के समान पाई जाने से वे जब काव्यादर्श से ली हुई मानी जाती हैं, तो प्रश्न होता है कि यदि वस्तुतः ऐसा होता तो हेतु के संलग्न 'सूक्ष्म' और 'लेश' अलंकार अग्निपुराण मे क्यों नहीं लिए जाते? 'हेतु' ही में ऐसा क्या चमत्कार है जिस से सूक्ष्म और लेश को छोड़ कर केवल हेतु ही लिखा जाता। और यह हेतु वह अलंकार है जिस में भामह और मम्मट जैसे प्रसिद्ध आलंकारिकों ने अलंकारत्व ही स्वीकार नहीं किया है।

(च) 'समाधि' की परिभाषा में अग्निपुराण और काव्यादर्श दोनों मे सादृश्य अवश्य है, किंतु वह भी असादृश्य ही है, अग्निपुराण में 'समाधि' का 'सम' के भेद अभिव्यक्ति के अंतर्गत उल्लेख है, जब कि काव्यादर्श मे इसे दश गुणों में एक गुण बतलाया है।

(छ) केवल अलंकारों के संबंध में ही नहीं, अन्य प्रकरणों में भी

काव्यादर्श से अग्निपुराण में विभिन्नता है। 'गुण' प्रकरण देखिए, अग्निपुराण में शब्दगत सात गुण माने गए है :—

श्लेषो लालित्यगांभीर्यं सौकुमार्यमुदारता।
सत्येवयौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा।

२४६।५

और अर्थगत छः गुण माने गए हैं :—

माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता।
प्रौढिसामयिकत्वं च तद्भेदा षडुदाहृताः॥

२४६।११

और शब्दार्थ उभयगत भी छः गुण माने गए हैं :—

तस्यप्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यं प्रशस्यता।
पाको राग इति प्राज्ञैः षट् प्रपञ्चविपञ्चिताः॥

२४६।१८-१९

किंतु दंडी ने वैदर्भ मार्ग के ही दश गुण बतलाए हैं :—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थ व्यक्तिरुदारत्वमोजः कांति समाधयः॥
इति वैदर्भ मार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।

काव्यादर्श १।४१-४२

गुणों के विषय में शब्दार्थ-गत भेद प्रदर्शित नहीं किए हैं। इसी प्रकार अग्निपुराण में वक्तृ, वाचक और वाच्य तीन दोष कहे गए हैं जो कि दंडी के दोष निरूपण से सर्वथा विलक्षण है। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि अग्नि-पुराण में काव्यादर्श का समावेश किया जाता तो ऐसा होना कदापि संभव न था।

(ज) अब हम श्री काणे के मत की उस मूलाधार भित्ति की अत्यंत निर्बलता दिखाते हैं जिस पर उन्हों ने अपने इस कल्पना-जाल का निर्माण किया है। काव्यादर्श में—

(१) लिम्पतीव तमोङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।

२ २२६

(२) अद्यया मम गोविंद जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः ॥

२।२७६

यह दो पद्य हैं । श्री काणे कहते हैं कि इन दोनों के सिवा उदाहरण या परिभाषा कुछ भी दंडी ने दूसरे ग्रंथों से नहीं ली । वे कहते हैं कि जब दंडी ने इन दो पद्यों के सिवा दूसरे ग्रंथों से कुछ लिया हो नहीं तो, फिर काव्यादर्श की कुछ कारिकाएँ जो अक्षरशः अग्निपुराण में हैं, वे काव्यादर्श के सिवा किस की मानी जा सकती हैं ! बस, श्री काणे की, यही कल्पना अग्निपुराण में काव्यादर्श का समावेश किए जाने को जीवनाधार है ।

अच्छा, प्रथम तो यही प्रश्न होता है कि दंडी ने इन दो पद्यों के सिवा अन्यत्र से कुछ भी नहीं लिया, इस का प्रमाण ही क्या ? दंडी ने तो इन दो पद्यों के संबंध में भी कहीं ऐसा सूचित नहीं किया है कि ये अन्यत्र से लिए गए हैं । पर इन दोनों पद्यों को श्री काणे अगत्या इसलिये अन्यत्र के स्वीकार करते हैं कि प्रथम पद्य वल्लभदेव की सुभाषितावली में १८९० की संख्या पर विक्रमादित्य के नाम से तथैव शारंगधरपद्धति में संख्या १०३ पर भर्तृमेखक के नाम से एवं भास के 'चारुदत्त' (१।१९) और 'बाल-चरित' (१।१५) में भी मिलता है । और शूद्रक के मृच्छकटिक में भी । इसी प्रकार दूसरा पद्य भामह के 'काव्यालंकार' में (३।५) मिलता है । यदि इन दोनों पद्यों का पता इन ग्रंथों मे न मिलता तो संभवतः श्री काणे यही मान लेते कि दंडी ने कुछ भी अन्यत्र से नहीं लिया । किंतु दंडी ने काव्यादर्श में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं किया है कि मैंने स्वयं प्रणीत उदाहरण या परिभाषाएं दी है । प्रत्युत काव्यादर्श में यही दो पद्य क्यों, अन्य भी एक दो नहीं दस कारिकाएं और कारिकाओं के अर्द्धांश ऐसे है, जो भामह के काव्यालंकार से अक्षरशः समान हैं । और जहाँ तक विचार किया जाता है, वे संभवतः भामह से ही दंडी द्वारा लिये गए प्रतीत होते हैं—जैसा कि हम आगे भामह के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे । इस की पुष्टि काव्यादर्श द्वारा भी होती है, दंडी ने ग्रंथारंभ में स्वयं स्पष्ट लिखा है कि—

पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च ।

१।२

इस के सिवा काव्यादर्श मे और भी ऐसे बहुत से वाक्य हैं, जिन में दंडी ने स्वयं अन्य ग्रंथों से सहायता लिए जाने का स्पष्ट उल्लेख किया है । यही नहीं प्रत्युत दंडी के उपर्युक्त उद्धरण के 'पूर्व शास्त्राणि' इस वाक्य से यह भी ध्वनित होता है कि उस ने स्वयं, संभवतः अग्निपुराण से, कुछ सहायता ली है, क्योंकि दंडी ने स्वयं 'शास्त्र' को काव्य से पृथक् माना है, जैसा कि उस ने स्वभावोक्ति अलंकार के विषय में कहा है—

जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम् ।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ॥

२।१३

अतएव हम 'शास्त्रेषु' के प्रयोग द्वारा अग्निपुराण का निर्देश क्यों नहीं मान सकते ? दंडी की यह कारिका भी अग्निपुराण के—

शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेषुनिष्ठता ।
अभिधायाः प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ॥

३३७।२-३

इस श्लोक पर अवलंबित है । यही क्यों दंडी ने अग्निपुराण के कुछ कुछ अलंकारों की परिभाषाओं के अतिरिक्त काव्य का लक्षण भी काव्यादर्श में वहीं से लिया जान पड़ता है, देखिए:—

'संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थं व्यवच्छिन्नापदावली' ।

अग्नि०

दंडी ने इस में 'संक्षेपाद्' वाक्य निकाल कर—'शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली' (काव्यादर्श १।१०) इस प्रकार काव्य का लक्षण बतलाया है । काव्य के विभाग अग्निपुराण में—'गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं मतम्' ३३७।८) इस प्रकार है दंडी भी 'गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव

किसी अंश में भी यह सिद्ध नहीं हो सकता कि काव्यादर्श से अग्निपुराण में कुछ लिया गया है।

(क) श्री काणे ने अग्निपुराण के समय की कल्पना की पुष्टि में एक आधार यह भी माना है कि रूपक, आक्षेप, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्त और समासोक्ति की परिभाषाएं भामह के काव्यालंकार से ली गई हैं। क्योंकि भामह ने जो परिभाषाएं २।११, ६८।३।२८, ८।२।७९ में दी हैं, वे अग्निपुराण ३४३।२२, ३४४।१५, १६, १८, १७ में क्रमशः मिलती हैं। और भामह ने लिखा है कि परिभाषा और उदाहरण मैं ने स्वयं निर्माण किए हैं—

स्वयंकृतैरेव निदर्शनैरियं
मयाप्रक्लृप्ता खलु वागलंकृति।

२।९६

गिरामलङ्कारविधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः' ।

काव्यालं० ३।५७

श्री काणे ने इस पर कल्पना की है कि जब कि भामह का समय लगभग छठी सातवीं शताब्दी का है तो अग्निपुराण उस के पीछे का सिद्ध होता है। किंतु सखेद आश्चर्य है कि श्री काणे अग्निपुराण को भामह से परवर्ती सिद्ध करने के लिये भामह के उपर्युक्त इन दोनों पद्यों को प्रमाण स्वरूप मानते हुए यह बात क्यों भूल जाते हैं कि उन्हों ने स्वयं भामह संबंधीय विवेचना में[1] भामह द्वारा अन्य साहित्याचार्यों के नामोल्लेख और उन के उदाहरण आदि काव्यालंकार में प्रत्यक्ष उपलब्ध होने के कारण, इन्हीं उपर्युक्त दोनों पद्यों को संशयात्मक माना है। ऐसी परिस्थिति में हम किस आधार पर स्वीकार कर सकते हैं कि भामह ने अपने ग्रंथ में परिभाषाएं स्वयं निर्माण की हैं और अग्निपुराण में भामह से ली गई

---

[1] The efo e too much emphasis cannot be laid over the words स्वयंकृतैरेव etc. 'साहित्यदर्पण' भूमिका पृ० १८ १९

है ? फिर एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि अग्निपुराण में दिए हुए सभी अलंकार दंडी के काव्यादर्श में भी हैं, अग्निपुराण में यदि अन्य किसी ग्रंथ से यह प्रकरण लिया जाता तो उस के लिये काव्यादर्श ही पर्याप्त था, भामह के ग्रंथ से लेने की आवश्यकता तो उसी अवस्था मे हो सकती थी जब कि वे काव्यादर्श में न होते। फिर यदि अग्निपुराणकार भामह से परिचित होते तो जिस अतिशयोक्ति के विषय मे भामह ने—

> सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥
>
> काव्यालं० २।८५

यह कह कर इतना महत्त्व दिया है, उस का अग्निपुराण में नामोल्लेख भी न किया जाना क्या संभव हो सकता ? कदापि नही। फिर काव्यादर्शोक्त हेतु, सूक्ष्म और लेश भामह ने नहीं माने, प्रत्युत उस ने इन का खंडन किया है। तब क्या कारण है कि इन तीनों में से हेतु अग्निपुराण मे लिखा गया। यदि भामह अथवा दंडी दोनो मे से किसी का भी अनुसरण अग्निपुराण में किया जाता तो या तो दंडी के मतानुसार यह तीनों ही लिखे जाते, या भामह के मतानुसार तीनों ही छोड़ दिये जाते, अतएव दंडी और भामह दोनों में किसी का भी समावेश अग्निपुराण में किया जाना किसी प्रकार भी संभव नही। किंतु अग्निपुराण में कुछ परिभाषाओं में दंडी और भामह की समानता एवं अन्य असमानता उपलब्ध होने के कारण हम कह सकते हैं, कि या तो अग्नि-पुराण की परिभाषायें दंडी और भामह को जो अपने मनोनुकूल उपलब्ध हुईं वे संभवतः वहाँ से उन्हों ने ले लीं और जो उन को परिवर्तनीय प्रतीत हुईं उन के स्थान पर नवीन परिभाषाएं निर्माण कर दीं। या यह भी संभव है कि नाट्य शास्त्र और अग्निपुराण के पश्चात् किसी अज्ञात लेखक द्वारा कोई अलंकार ग्रंथ लिखा गया हो—ऐसे लेखक द्वारा जिस ने अपने पूर्ववर्त्ती अग्निपुराण की कुछ परिभाषाएं भी अपने ग्रंथ में समावेश की हों संभवतः वही ग्रंथ भामह और दंडी के ग्रंथों का श्रोत हो।

(च) श्री काणे ने एक और भी अभूतपूर्व कल्पना प्रस्तुत की है कि

"ध्वनिकार के ध्वनि सिद्धांत से भी अग्निपुराण अभिज्ञ था। अग्निपुराण में कहा गया है कि पर्यायोक्त, अपन्हुति, समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा और आक्षेप में ध्वनि समावेशित है—

स अक्षिप्तो ध्वनिःस्याच्च ध्वनिना व्यंजते मतः।

अग्निपु० अ० ३४५।१४,१८

पर ध्वन्यालोक का अनुयायी होना अग्निपुराण को अभीष्ट न था, अग्निपुराण का यह उल्लेख ध्वनिकार के विषय में वैसा ही है, जैसा कि रुय्यक ने अलंकार सर्वस्व में भामह उद्भटादि का मत दिखाया है।" किंतु श्री काणे की यह कल्पना तो नितांत ही हास्यास्पद है, क्योंकि रुय्यक ने 'अलंकारसर्वस्व' में जो भामह उद्भटादि के मत का उल्लेख किया है, उसे अलंकारों में व्यंग्यार्थ को उपस्कारक मानते हुए अपने निकाले हुए—'अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतः।' इस सिद्धांत की पुष्टि में किया है। किंतु अग्निपुराण का वर्णन तो इस के सर्वथा विरुद्ध है। न तो वहां कोई अपने मत के सिद्धांत का प्रतिपादन ही किया गया है और न वहाँ किसी के मत की आलोचना ही की गई है और न किसी का समर्थन ही किया गया है, किंतु वहां तो केवल अलंकारों का साधारणतया निरूपण किया गया है। और वह निरूपण एक विलक्षण प्रकार से है—जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। अतएव अग्निपुराण के वर्णन के साथ किसी भी प्रकार 'अलंकारसर्वस्व' के अवतरण की तुलना नहीं हो सकती। और न यही सिद्ध हो सकता कि अग्निपुराणकार, ध्वन्यालोक से परिचित थे। किंतु इस के विपरीत पूर्ण रूप से यह सिद्ध होता है कि अग्निपुराण के मत से ध्वनिकार केवल अभिज्ञ ही न था किंतु ध्वनिकार ने अग्निपुराण के मत के विरुद्ध पर्याप्त आलोचना भी की है क्योंकि अग्निपुराण का जो 'स्वरूपमय' इत्यादि श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है, उस में आठ अलंकारों की गणना है—जिन में अंतिम आठवां भेद 'सम' है, और सम को एक शब्दार्थ उभयालंकार माना है (न कि 'सम' नाम का एक अर्थालंकार जैसा कि काव्यप्रकाशादि ग्रंथों में माना गया है) और उस के छ: भेदों में अंतिम भेद अभिव्यक्ति के दो उपभेद श्रुति और आक्षेप कहे गए हैं

प्रकरत्वमभिव्यक्तिः श्रुति संक्षेप । इत्यादि

३४५।७

और आक्षेप की यह परिभाषा दी गई है—

श्रुतेरलभ्यमानोर्थो यस्माद्भाति सचेतनः ।
स आक्षेपो ध्वनिस्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः ॥

३४५।११

अर्थात् श्रुति से अलभ्यमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) जिस के द्वारा भान हो, वह आक्षेप ध्वनि है। ऐसा कह कर, फिर इस ध्वनि के अंतर्गत आक्षेप, समासोक्ति, अपन्हुति और पर्यायोक्त यह चार भेद माने गए हैं। फिर अंत में कहा है कि—एषामेकतमस्येव समाख्या ध्वनिरित्यतः ३४५।१८—अर्थात् यह सम संज्ञक ध्वनि है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि अग्निपुराण मे आक्षेप, समासोक्ति, अपन्हुति और पर्यायोक्त ध्वनि के भेद माने गए हैं। किंतु ध्वन्यालोक मे इस मत के विरुद्ध पृ० ३५ से ४५ तक विस्तृत आलोचना करने के बाद निष्कर्ष रूप यह सिद्धांत स्थापित किया गया है—

व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंङ्कृतयः स्फुटः ॥

४५

अर्थात् समासोक्ति आदि जो अग्निपुराण में आक्षेप ध्वनि के भेद माने गए हैं, उस के विरुद्ध ध्वनिकार ने इन में अलंकारता प्रतिपादन की है—इन मे व्यंग्यार्थ की (जो ध्वनि का विषय है) गौणता और वाच्यार्थ की प्रधानता प्रतिपादन की है। ध्वन्यालोक और अग्निपुराण का यह प्रकरण ध्यान देकर देखने से स्पष्ट विदित हो सकता है कि ध्वनिकार, अग्निपुराण के मत के विरुद्ध प्रत्यक्ष रूप से या अग्निपुराण के मतानुसार प्रणीत किसी अन्य आचार्य के अज्ञात ग्रंथ के विरुद्ध अपना मत स्थापन कर रहा है ध्वनिकारक केवल अग्निपुराण से परिचित ही नहीं था किंतु के (तृतीय उद्योत पृ०

तथा चेदमुच्यते—

> अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः ।
> यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
> शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
> स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥

यह दोनों श्लोक अग्निपुराण से, (अध्याय-३३९ । १०, ११) उद्धृत किये गए हैं । यह पद्य श्रीमदानंदवर्द्धन के स्वयं प्रणीत नहीं हो सकते क्योंकि इन के प्रारंभ में—'तथा चेदमुच्यते' से स्पष्ट है कि वृत्तिकार ने इन पद्यों को अपने मत के समर्थन में अन्य ग्रंथ से उधृत किया है । आश्चर्य होता है कि फिर भी श्री काणे अग्निपुराण को ध्वन्यालोक से परवर्ती कहने का किस आधार पर साहस कर रहे हैं । इस से भी अधिक आश्चर्य यह है कि, कि एस्० के० डे बाबू (जिन के ग्रंथ पर श्री काणे का निबंध अधिकांश में अवलंबित है) ध्वन्यालोक से अग्निपुराण को प्राचीन स्वीकार करते हैं । अतएव इसे श्री काणे के दुराग्रह के सिवा और क्या कह सकते हैं ।

अग्निपुराण के काव्य-प्रकरण का अध्ययन ध्यान देकर करने से यह निर्विवाद विदित हो सकता है कि, वह वर्णन भामह, दंडी, उद्भट और ध्वनिकार आदि सभी प्राचीन साहित्याचार्यों से विलक्षण है । और वह काव्य के विकास-क्रम के आधार पर नाट्यशास्त्र के पश्चात् और भामहादि के पूर्व का मध्यकालीन रूप है । इस विषय के प्रारंभ में अग्निपुराण में कहा है—

> काव्यस्य नाटकादेश्च अलंकारान्वदाम्यथ ।
> ३३७ । १

इस में अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक सौंदर्य के अर्थ में किया गया है—जैसा कि नाट्यशास्त्र में दृष्टिगत होता है । रस भी अग्निपुराण में शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स यही चार मुख्य माने गए हैं—शेष चारों का इन्हीं के द्वारा उद्भव कहा गया है, जैसा कि महामुनि भरत का प्राचीन मत है । आश्चर्य यह है कि फिर भी पाश्चात्य और कुछ एतद्देशीय विद्वान, निवात निर्बल और

हैं, और यह भी कहते हैं कि अग्निपुराण का उल्लेख केवल साहित्यदर्पण में विश्वनाथ द्वारा (लगभग १४वीं शताब्दी में) किया गया है—इस के प्रथम किसी भी आचार्य ने नहीं किया, किंतु ऊपर के विवेचन से भली प्रकार सिद्ध होता है कि भामह, दंडी और ध्वनिकार आदि प्रसिद्ध प्राचीनाचार्यों द्वारा अग्नि-पुराण के विषय का उपयोग पर्याप्त किया गया है। ध्वन्यालोक के लोचन व्याख्याकार श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने भी—जो वाग्देवावतार श्री मम्मटाचार्य के उपाध्याय थे अग्निपुराण के—

अभिधेयेन सारूप्यात्सामीप्यात्समवायतः ।
वैपरीत्या क्रियायोगलक्षणा पञ्चधा मता ॥

अग्निपु० ३४५। ११, १२

इस श्लोक को ध्वन्यालोकलोचन पृ० ९ मे उद्धृत किया है। यही क्यों, महा-राजा भोज जैसे विद्यारसिक और साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान ने अग्निपुराण में संक्षिप्त निरूपित विषय को अपने सरस्वतीकंठाभरण नामक साहित्य के सुप्र-सिद्ध ग्रंथ में विस्तार के साथ सोदाहरण स्पष्ट किया है। सच तो यह है कि अग्निपुराण में वर्णित विषय एक प्रकार से सूत्र रूप में है, उस की व्याख्या यदि सरस्वतीकंठाभरण मे स्पष्ट रूप से विस्तृत न की जाती तो वह विषय समझना एक बड़ी विकट समस्या हो जाती। महाराजा भोज को अग्निपुराण का विषय सरस्वतीकंठाभरण में स्पष्ट करने पर यथेष्ट संतोष नहीं हुआ अतएव उन्हों ने एक तीस हजार श्लोकों का वृहत् ग्रंथ—'शृंगारप्रकाश' नामक अग्निपुराण के मतानुसार और भी लिखा जो अभी उपलब्ध हुआ है। इस की हस्तलिखित प्रति गवर्नमेंट ओरियंटल मैनुस्क्रप्ट लाइब्रेरी मद्रास मे वर्तमान है। यह ग्रंथ छत्तीस प्रकाशों में समाप्त है। अब यदि अग्निपुराण का समय नवम शताब्दी का मान लिया जाय तो यह किस प्रकार संभव हो सकता है कि उस के १०० या १२५ वर्ष के बाद ही इतने अल्पकाल में—भोजराज के समय में—वह ऐसा गौरवान्वित और प्रतिष्ठित पौराणिक आर्ष ग्रंथ समझ लिया जाता ? इस

इस निबंध में जिन ग्रंथों का उपयोग किया गया है, उन की यह तालिका है—

'अलंकार सर्वस्व' (रुय्यक) अनंतशयन संस्कृत ग्रंथावली, द्वितीय संस्करण सन् १९२६ ।

'अग्निपुराण' । आनंदाश्रम सीरीज़, पूना, प्रथम संस्करण, सन् १९०० ।

'अमरकोष' । बंबई गवर्नमेंट सेंट्रल बुकडिपो, सन् १८८६ ।

'काव्यादर्श' (दंडी) एस० के० बेल्वालकर एम० ए०, पी-एच०-डी०, पूना, सन् १९२४ ।

'काव्यालंकार' (भामह) काशी संस्कृत सीरीज़ पुस्तक-माला, संवत् १९८५ ।

'ध्वन्यालोक' (ध्वनिकार) काव्यमाला सीरीज़, प्रथम संस्करण, सन् १८९१ ।

'सरस्वती कंठाभरण' । (भोजराज) काव्यमाला सीरीज़, सन् १९२५ ।

'सुभाषितावली' (वल्लभदेव) एज्यूकेशनल सोसाइटी, सन् १८८६ ।

'साहित्यदर्पण', पी० वी० काणे एम० ए०, एल्-एल्० एम्०, १९२३ ।

'हिस्ट्री अव् संस्कृत पोएटिक्स', एस० के० दे, जिल्द १, १९२३ ।

आर्थर ए० मैकडानल, 'हिस्ट्री अव् संस्कृत लिटरेचर' ।

सूदन के सुजान चरित्र में सफ़दरजंग और बंगश पठानों का युद्ध*

[लेखक—श्रीयुत विश्वेश्वर प्रसाद, एम्० ए०]

औरंगजेब के मरने के बाद मुग़ल साम्राज्य का पतन आरंभ हो गया, जगह जगह पर छोटी छोटी रियासतें बनने लगीं। प्रांतीय सूबेदार दिल्लीपति की आधीनता छोड़ कर स्वतंत्र हो गए। मुग़लों का शासन दिल्ली और उस के निकट स्थानों पर ही शेष रह गया। बाहर से भी आक्रमणों की झड़ी लग गई। नादिरशाह ने १७३९ ई० में दिल्ली को लूट कर पंजाब पर अधिकार जमाया और इस प्रकार उत्तरी-पश्चिमी फाटक को फिर खोल दिया। नादिर के मरने पर उस का सैनिक अहमदशाह अब्दाली अफग़ानिस्तान का मालिक बना और उस ने पुनः यह प्रयत्न किया कि पंजाब को अपने आधीन रखे। १७४७ ई० से लगभग २० वर्ष तक उस ने कई बार भारतवर्ष पर चढ़ाई की और पंजाब पर पूरा अधिकार रक्खा। उस के समय में दिल्लीपति मुग़ल-सम्राट् षड्यंत्रों का

---

*सूदन कवि कृत सुजान चरित्र—संपादक श्री राधाकृष्णदास, प्रकाशक श्री नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी, सं० १९८०।

इस ग्रंथ का निर्माण अठारहवीं सदी में हुआ था। सूदन ने वीर रसपूर्ण कविता में राजा सुजानसिंह उपनाम सूरजमल, भरतपुर के जाट राजा के सात मुख्य युद्धों का वर्णन किया है और पुस्तक को सात भागों में बाँटा है, जिस में प्रत्येक में एक 'जंग' का वर्णन है। 'चतुर्थ जंग' में सं० १८०६ में जो सूरजमल ने वज़ीर सफ़दरजंग को फ़र्रुख़ाबाद के पठानों के साथ युद्ध करने में सहायता दी है, उस का वर्णन है। मैं ने इस वर्णन को कुछ फ़ारसी इतिहासों से मिलाया है और इस लेख में उसी का विवेचन किया है।

शिकार हो रहा था। इस तरह उत्तरी भारत पर पूर्ण रूप से अब्दाली का प्रभाव जम गया।

केंद्रीय शासन की निर्बलता के कारण प्रांतों में स्वतंत्र शासन स्थापित करना कठिन न था। बंगाल, गुजरात या दक्खिन में दिल्ली सरकार का प्रभुत्व पहले से ही कम था, परंतु नादिरशाह के आक्रमण के बाद गंगा यमुना के मैदान में, राजधानी के इतने निकट, आधुनिक युक्तप्रांत में भी तीन मुख्य स्वतंत्र रियासतें बन गईं। इन में सब से प्रधान रियासत अवध थी, जिस का पहला शासक नवाब सआदतख़ाँ था। इस की मृत्यु (१७४० ई०) के बाद इस का दामाद अब्दुल मंसूर ख़ाँ सफ़दरजंग गद्दी पर बैठा। सफ़दरजंग का मान दिल्ली में भी बहुत था, जिस से वह १७४८ ई० के लगभग वज़ीर पद पर नियुक्त हुआ। सफ़दरजंग अपनी रियासत से संतुष्ट न था और सदा ही इस प्रयत्न में लगा रहा कि अवध के पड़ोस की दो नई पठान रियासतों को हड़प कर जावे। इन में से एक तो रुहेलखंड की रियासत थी, जिसे १७४० ई० के लगभग अलीमुहम्मद ख़ाँ रुहेला ने अपने बाहुबल तथा चातुर्य से एक स्वतंत्र रियासत बना दिया था।[१] दूसरी थी पठान बंगश नवाबों द्वारा शासित फ़र्रुख़ाबाद की रियासत--मऊ (फ़र्रुख़ाबाद) की फ़ौजदारी मुहम्मद ख़ाँ बंगश को अठारहवीं सदी के आरंभ में मिली थी। वह बहुत ही वीर सैनिक था और उस ने बुंदेलखंड में छत्रसाल के विरुद्ध कई युद्ध किए थे। मुहम्मद ख़ाँ राजभक्त सर्दार था इस से उस ने कभी भी स्वतंत्रता पाने के लिये विद्रोह नहीं किया। परंतु प्रयत्न न करते हुए भी दिल्ली सरकार की निर्बलता के कारण फ़र्रुख़ाबाद की फ़ौजदारी केवल नाम मात्र ही के लिये मुग़लों के आधीन रह गई थी। धीरे धीरे समीपवर्ती परगनों पर भी अधिकार हो गया और उस के पुत्र क़ायम ख़ाँ के समय में आधुनिक फ़र्रुख़ाबाद, मैनपुरी, एटा, इटावा तथा दक्षिणी अलीगढ़ के ज़िले इस रियासत के अंतर्गत हो गए थे। गंगा यमुना के बीच, द्वाब में इतनी बड़ी धनधान्यपूरित रियासत को देख कर सफ़दरजंग को कब कल थी। उस ने यह प्रयत्न किया कि किसी प्रकार

इस को अवध के आधीन करे। रुहेलखंड तथा फर्रुखाबाद की रियासतों के मिल जाने से अवध की शक्ति बहुत बढ़ जायगी; सफ़दरजंग उत्तरी भारत में सब से बड़ा शासक बनेगा, और उस शक्ति की सहायता से दिल्ली पर अपना प्रभाव जमावेगा; यह भावनाएं उस के हृदय मे उठने लगीं। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उस ने कभी दिल्ली के सिंहासन पाने की अभिलाषा की या नही, परंतु यह स्पष्ट है कि यदि वह इन पठान रियासतों के विरुद्ध अपने मनोरथ मे सफल हो जाता तो मराठों की सहायता से उस समय दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार जमाना असंभव न होता।

सफ़दरजंग की उत्कट इच्छा थी कि रुहेलों का नाश कर के उन की भूमि को अवध में मिलावे। इस के दो विशेष कारण हो सकते थे—प्रथम, रुहेलखंड की उपजाऊ भूमि; दूसरे—और यह कारण विशेष महत्त्व रखता था—रुहेलखंड के मिल जाने से अवध पूर्णतया सुरक्षित हो जाता था और मराठों के आक्रमण की कोई आशंका न रह जाती थी, क्योंकि तब हरद्वार से ले कर बनारस तक गंगा की धारा ही अवध की सीमा होती और उत्तरी भागों को छोड़ कर उस समय गर्मी के दिनों में भी गंगा को पार कर के सेना सहित आक्रमण करना असंभव था। वारेन हेस्टिंग्स ने जब शुजाउद्दौला को १७७४ ई० में रुहेलों का नाश करने के लिये सहायता दी थी तब उस ने इसी युक्ति का आश्रय लिया था। सफ़दरजंग ने १७४५ ई० मे पहला कपटजाल फैलाया और मुहम्मदशाह को सलाह दी कि वह रुहेलखंड पर आक्रमण कर के अली मुहम्मद ख़ाँ की शक्ति को चूर्ण करे। उस समय तक अली मुहम्मद ख़ाँ ने कमायूँ राज्य पर विजय प्राप्त कर के रुहेलखंड में स्वतंत्रता का झंडा फहराया था। मुग़ल साम्राज्य के लिये यह कठिन समस्या थी। क्योंकि यदि दिल्ली के इतने निकट विद्रोही को स्वतंत्रता पूर्वक शासन करने दिया जाय तो साम्राज्य का नैतिक अंत हो जाता। अतः मुहम्मद शाह ने आक्रमण कर के अली मुहम्मद ख़ाँ को बंदी किया। परंतु सफ़दरजंग को निराश होना पड़ा क्योंकि उस की अभिलाषा के विरुद्ध रुहेल-खंड उस को न मिला दो वर्ष बाद अब्दाली के के

शीघ्र ही उस की मृत्यु हो गई और उस के पुत्रों के अल्पायु होने के कारण शासन का भार उस के मित्र तथा सरदार हाफ़िज रहमत खाँ पर पड़ा। सफ़दरजंग अच्छी तरह जानता था कि उस की शक्ति रुहेलों का दमन करने के लिये पर्याप्त नहीं है। उस को यह भी आशंका थी कि यदि वह आक्रमण करेगा तो रुहेले तथा बंगश पठान दोनों मिल कर और संभवतः अहमदशाह अब्दाली की सहायता ले कर उस का सर्वनाश कर देंगे। इसलिये कपट से उस ने दोनों वंशों में फूट डाल कर एक एक कर के दोनों को नष्ट कर के अपनी रियासत बढ़ाने का विचार किया।

१७४९ ई० में अली मुहम्मद खाँ की मृत्यु के बाद वज़ीर ने क़ायम खाँ को रुहेलखंड में जब्ती के लिये भेजा। इस व्यवहार से रुहेले बहुत अप्रसन्न हुए और अपनी मान-रक्षा के लिये उन्हों ने क़ायम खाँ से भी लड़ने का विचार किया। युद्ध के पहले इस का प्रयत्न किया गया कि आपस में समझौता हो जाय परंतु क़ायम खाँ के हठ के कारण युद्ध के बिना दूसरा उपाय न रह गया। युद्ध में क़ायम खाँ की मृत्यु हुई और वजीर के हाथ बंगश वंश को नष्ट करने का अच्छा अवसर आया। मुग़ल शासन में यह रीति थी कि जब कोई सरकारी कर्मचारी, नवाब या जागीरदार मर जाता था तो उस की संपत्ति पर राजा का अधिकार होता था और यदि बादशाह चाहे तो सब या कुछ भाग उस के पुत्रादि को दे दे। बहुधा यह प्रथा थी कि बादशाह नजराना ले कर पुत्रादि को वह पद तथा संपत्ति और जागीर देता था। क़ायम खाँ के मरने के बाद वज़ीर ने अहमदशाह बादशाह की आज्ञा से फर्रुख़ाबाद रियासत को ज़ब्त करने का विचार किया। यद्यपि बंगश नवाब वस्तुतः स्वतंत्र थे परंतु न्यायानुकूल वह लोग केवल शाही फ़ौजदार थे और इसलिये बादशाह को उन की संपत्ति ज़ब्त करने का अधिकार था। अहमदशाह की स्वयं कुछ भी इच्छा न थी। वह वज़ीर के हाथ का खिलौना था और जो वज़ीर चाहता था उसी के लिये अपनी अनुमति दे देता था। सफदरजंग को फर्रुखाबाद पर अधिकार जमाने का यह अवसर बहुत ही श्रेष्ठ जान पड़ा, क्योंकि क़ायम खाँ के पुत्र अल्पायु थे। उस का भाई अहमद खाँ दिल्ली में था, सना   थी, और रुहेलों से कलह के कारण

कोई सहायता मिलने की आशा न थी। वज़ीर ने फर्रुखाबाद पर चढ़ाई की और कायम खाँ की माता बीबी साहबा और उन के छोटे पुत्रों को कपट से बंदी कर लिया। फिर अपने विश्वासपात्र प्रतिनिधि राजा नवलराय को वहाँ का प्रबंध करने तथा कर आदि उगाहने के लिये छोड़ कर वह स्वयं दिल्ली चला गया।

इस कपटपूर्ण अत्याचार से मऊ तथा फर्रुखाबाद के पठानों मे बहुत अशांति फैली। अपने स्वामी तथा नेता की स्त्री और बच्चों की इस दुर्दशा को देख कर उन के जातीय मान पर भारी धक्का लगा। क्रोध से वह जलने लगे, उन्होंने बदला लेने की प्रतिज्ञा की। एक रात को जब नवलराय कन्नौज के महलों में आमोद-प्रमोद मे लिप्त था स्वामिभक्त साहिबराय ने कुछ सहायकों के साथ बीबी साहबा को मुक्त कर के मऊ पहुँचाया। जब नवलराय को यह मालूम हुआ तो उस ने वज़ीर को इस घटना की सूचना दी। सफ़दरजंग ने आज्ञा भेजी कि शीघ्र ही वह बीबी साहबा को पकड़ कर अवध भेजे। इसी समय फ़र्रुखाबाद की प्रजा भी नवलराय तथा उस के अनुयाइयों द्वारा किये गए अत्याचारो से पीड़ित थी और विशेषतः पठान लोग परतंत्रता के बंधन को तोड़ने के लिए अधीर हो रहे थे। संपूर्ण प्रांत मे अशांति और विद्रोह की आग भड़क उठी। नवलराय ने मऊ के ऊपर चढ़ाई की। पठानों के लिये कठिन समय था परंतु वीर जाति ने धैर्य्य से काम लिया। प्रधान सैनिक रुस्तम खाँ अफ़रीदी ने क़ायम खाँ के भाई अहमद खाँ को, जो दिल्ली से भाग आया था, सरदार बनाया और लड़ाई की तैयारी की। नवलराय ने दिल्ली से सहायता की प्रतीक्षा न कर के अपना डेरा राजापुर मे डाल दिया। एक रात को पठानों ने धावा किया। घमासान युद्ध होने के बाद खुदागंज के मैदान में नवलराय मारा गया (१० रमजान ११६३ हि०, १ अगस्त १०५० ई०)। उस की सेना भाग गई और कुल सामान अहमद खाँ के हाथ लगा। अहमद खाँ ने विजय प्राप्त कर के अपनी पैतृक संपत्ति पर अधिकार किया और मऊ तथा फ़र्रुखाबाद में आ कर वज़ीर के प्रतिकार से बचने का उपाय करने लगा।

सूदन कवि ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सुजान चरित्र' मे 'चतुर्थ जंग' का वर्णन इसी घटना से आरंभ किया है

नवलराय मार्‍यौ गयौ करि पठान सौं जुद्ध ।
सुनि वजीर मनसूर कैं तन मन उनर्‍यौ क्रुद्ध ॥
तुरत अहम्मद साहि सौं अरज करी यह जाय ।
भाई काइमखान कैं असल दिगार्‍यो आय ॥
मुझ कौं रुखसद दीजिये ज्यौं न लगै कछु देर ।
हुकुम पाइ कैं साह कौं डारौं भक बखेर ॥
सुनत साह दीनो हुकुम जो कछु चहियै लेउ ।
वे अदबी जोई करै तिसै जेर करि देउ ॥

नवलराय की मृत्यु का समाचार पा कर वजीर का क्रुद्ध होना स्वाभाविक था क्योंकि उस की सब अभिलाषाओं पर पानी पड़ गया । इसलिये शीघ्र ही अहमदशाह से आज्ञा ले कर, शाही सेना के साथ उस ने अहमद खाँ की ताड़ना के लिये प्रस्थान किया । वजीर ने बादशाह की सेना, तोपखाना और दिल्ली के प्रधान सैनिक व अमीर इशहाक़ खाँ इत्यादि को ले कर जमुना को पार किया और दस पाँच दिन में कोल (अलीगढ़) में मुकाम किया । यहाँ से उस ने भरतपुर के राजा बदनसिंह के पुत्र प्रसिद्ध जाटवीर, इस ग्रंथ के चरित्र नायक, कुंवर सूरजमल को पत्र लिखा कि वह शीघ्र सेना सहित आ कर विपत्ति में सहायक हो । सूदन ने पत्र का सारांश इस प्रकार दिया है—

ब्रजराज कुँवर सुजान ।
तुझ सा न हिंदू आन ॥
यह देख तैं फरवान ।
करना मुझै बलवान ॥
इस वक्त ढोल न होइ ।
चढ़ि आवना सब कोइ ॥
रब करैगा कछु खूब ।
यह जानियौ न हबूब ॥
हमसैं तुम्हैं इखलास ।
दरपुश्त से यह रास ॥

कछु खरच की नहिं ढील ।
हय लाउ पैदल पील ॥
नहिं देर का यह वक़्त ।
मुझ पै परी अब सख़्त ॥

इस पत्र को वज़ीर के वकील दयानाथ ने शीघ्र ही भरतपुर भेजा और सवार ने आ कर पत्र सूरजमल को दिया। कुंवर ने अपने पिता की आज्ञा माँगी—

सुनि ब्रजेस अज्ञा दई करनौ याकौ संग ।
पै इन तुरकन सौं कछू बूझत नहीं प्रसंग ॥
जौ यह भेज्यौ साह कौ चल्यौ पठानतु पाल ।
तौ तोहू कौं पहुँचनौ पै न करौ बिसवास ॥

यह आज्ञा पा कर सूरजमल ने सेना एकत्र होने की आज्ञा दी तब तक सफ़दरजंग का दूसरा पत्र भी आया कि देर का समय नहीं है और उस को पाते ही सूरजमल ने कोल की तरफ़ कूच किया।

इस संबंध मे यह लिख देना आवश्यक है कि भरतपुर के जाट राजाओं का पद इस समय केवल ज़मींदारों का था और दिल्ली सरकार की आज्ञा मानना उन के लिये आवश्यक था। भरतपुर की शक्ति इस समय बढ़ रही थी और विशेषकर सूरजमल की वीरता उत्तरी भारत में प्रख्यात हो रही थी। वज़ीर ने शाही आज्ञा के रूप में सूरजमल से सहायता माँगी थी और जैसा कि सूदन ने बदनसिंह से कहलाया है यह सहायता केवल इसीलिये दी गई थी कि वज़ीर स्वयं बादशाह का भेजा हुआ पठानों के विरुद्ध लड़ने जा रहा था। मुग़लसम्राट् की शक्ति क्षीण हो गई थी, वह महलों मे बंदी था, परंतु फिर भी उस की मर्यादा अभी शेष थी और स्वतंत्र होते हुए भी राजा महाराजा, नवाब या प्रांतीय शासक सभी उस की दुहाई देते थे। दूसरे भरतपुर वंश और अवध के नवाबों में घनिष्ठता भी रही थी, जिस का प्रमाण इस समय तथा आगे भी मिलता है। इस प्रेम के नाते भी सूरजमल अपने मित्र की सहायता के लिये कोल में आ कर वज़ीर से मिला

सूदन के इस वर्णन से स्पष्ट है कि वज़ीर ने जब नवलराय के मारे जाने का समाचार सुना तब बादशाह से आज्ञा लेकर सेना सहित पठानों से लड़ने के लिये वह दिल्ली से चला और मार्ग में कोल (अलीगढ़) पहुँच कर उस ने सूरजमल जाट को बुलाया। परंतु फ़ारसी इतिहासों में इस से भिन्न वर्णन है। मिस्टर इरविन ने अपने प्रसिद्ध लेख 'बंगश नवाब्स अव् फर्रुखाबाद' में, जो कि सर्वथा वलीउल्ला की 'तारीख़ फर्रुखाबाद' का अंग्रेजी रूप है, लिखा है कि जब नवलराय ने अहमद ख़ाँ से युद्ध का प्रसंग ठाना तो वज़ीर ने उस को दिल्ली से लिखा कि वह शीघ्र ही सहायता के लिये आ रहा है और जब तक दोनों सेनाएँ इकट्ठी न हो जाएँ नवलराय युद्ध न करे। इस के बाद वज़ीर ने ६ जूलाई १७५० ई० को जमुना पार कर के डेरे डाले और वहाँ से उस ने २१ या २२ जूलाई को २०,००० सेना मिर्ज़ा नासिरुद्दीन हैदर की अध्यक्षता में नवलराय की सहायता के लिये भेजी। २३ जूलाई को वह दूसरी बार बादशाह से आज्ञा लेने के लिये दिल्ली गया और फिर एक बड़ी सेना के साथ उस ने फर्रुखाबाद के लिये प्रस्थान किया। तीन या चार दिन में वह दो मंज़िल गया था और वहाँ उस ने नवलराय के मारे जाने का समाचार पाया। 'मारहरा' में उस को मैनपुरी से लौटी हुई वह सेना मिली जिस को उस ने पहले ही नवलराय की सहायता के लिये भेजा था। इस में यह भी लिखा है कि सूरजमल जाट भी ३० हज़ार सेना के साथ दिल्ली से ही उस के साथ था।[1] 'तारीख़ मुज़फ्फरी' से भी पता लगता है कि सफदर जंग ने पहले ही नवलराय की सहायता के लिये शाही अमीरों और सूरजमल के साथ दिल्ली से निकल कर जमुना के किनारे डेरे डाल दिए थे। और जैसे ही उस को नवलराय के मारे जाने का समाचार मिला। उस ने दूसरे दिन ही कूच कर दिया।[2]

---

[1] अर्विन, 'बंगश नवाब्स अव् फ़र्रुखाबाद', जर्नल अव् दि एशियाटिक सोसाइटी अव् बंगाल, १८७०।

[2] 'तारीख़ मुज़फ्फ़री' (इलाहाबाद यूनिवर्सिटी प्रतिलिपि—[illegible]) पृ० ५२३।

इस के विपरीत 'तारीख़ गुलरहमत'[1] तथा 'तारीख़ आली'[2] आदि ग्रंथों मे सूदन के वर्णन का समर्थन है क्योंकि वह भी लिखते हैं कि नवलराय के मारे जाने का समाचार सुन कर वज़ीर बहुत क्रुद्ध हुआ और शीघ्र ही सेना संगठित कर के अहमद ख़ाँ से लड़ने के लिये वह दिल्ली से चल पड़ा।

इस मतभेद का समाधान करना कठिन है क्योंकि यह सब फ़ारसी ग्रंथ पीछे के लिखे हुए हैं, और कोई तत्कालीन वर्णन प्राप्त नहीं है। परंतु बहु-मत के आधार पर यह लिखा जा सकता है और अनुमान भी इस का समर्थन करता है, कि वज़ीर ने पहले से ही नवलराय की सहायता के लिये तयारी की थी और नासिरुद्दीन हैदर को आगे भेजा भी था। अवध के इतिहासों से भी इस की पुष्टि होती है। परंतु स्वयं उस ने दिल्ली से नवलराय के मारे जाने के बाद ही प्रस्थान किया था। सूदन ने केवल उस के चलने के बारे में लिखा है, उस के पूर्व तैयारी के संबंध में कुछ भी नहीं कहा है। मि० इरविन के कथानक मे जो यात्रा का वर्णन है उस से पता लगता है कि दिल्ली से चलने के तीन चार दिन बाद वज़ीर को नवलराय की मृत्यु का समाचार मिला, और उतने समय मे उस ने केवल दो मंज़िलें पार की थीं। इस के बाद वह वज़ीर की सेना को मारहरा में, जो एटा के समीप है, डेरे डाले हुए बताते हैं, और यहाँ एक महीना तक रुकने का भी वर्णन है। फिर मारहरा से चल कर रामचटौनी (रणभूमि) पहुँचने और युद्ध का हाल है। इस वर्णन में रास्ते का कोई हाल नहीं दिया है, फिर लगभग २०० मील की यात्रा, तथा एक महीना का मारहरा में वास यह सब ४६ दिन में होजाना यदि असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। पुनः मारहरा में एक मास रहने का कोई विशेष कारण नहीं जान पड़ता। इस के विपरीत यदि सूदन कृत वृत्तांत लिया जाय तो उस में सेना का प्रस्थान, कोल मे कुछ दिन का वास तथा सूरजमल का मिलना, और वहाँ से धीरे धीरे आगे

---

[1] 'गुलरहमत' (यूनिवर्सिटी प्रतिलिपि हस्तलिखित) पृ० ८५ इत्यादि।

[2]

बढ़ना, और मारहरा, कासगंज, नौलखा आदि स्थानों पर डेरा करने का हाल रोचक तथा सत्य-पूर्ण जान पड़ता है। मारहरा के संबंध में भी लिखा है।

पुनि धाए मारहरें आए॥
तहँ मुकाम कीये बहुतेरे।
सूरज सुभट भए बहुमेरे॥

इस से यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि वह एक मास ठहरा, वरन् पाँच, छः या सात दिन तक माना जा सकता है। सब यात्रा तथा अविश्राम आदि का हिसाब लगा कर और यह मान कर कि वज़ीर नवलराय के मारे जाने की तिथि (१ अगस्त) के पाँच दिन पश्चात् भी दिल्ली से चला, तब भी वह रामचटौनी १० या ११ सितम्बर तक सहज ही पहुँच सकता था, और १३ सितंबर १७५० ई० को [1]युद्ध कर सकता था। मुझे सूदन का यह लेख ठीक जान पड़ता है।

दूसरा प्रसंग जिस के संबंध में सूदन तथा फ़ारसी इतिहासकारों में मत-भेद है वह सूरजमल का वज़ीर से मिलने के स्थान के बारे में है।

सूदन ने बहुत रोचक ढंग से स्पष्ट लिखा है कि सूरजमल कोल (अली-गढ़) में आकर मिले। फ़ारसी इतिहासकार, अनिश्चित रूप में यही लिखते हैं कि वह भी वज़ीर के साथ था और अनुमानतः उन के लेखों के पढ़ने से जान पड़ता है कि दिल्ली से ही सूरजमल साथ था। इस संबंध में सूदन का वृत्तांत अधिक मान्य है क्योंकि प्रथम उस ने इस प्रसंग का इतना स्पष्ट निश्चयात्मक वर्णन किया है, और दूसरे तत्कालीन तथा सहचर होने के नाते उस को अधिक ठीक सूचना मिल सकती थी।

'दूसरे अंक' में कवि ने कोल में सूरजमल और वज़ीर सफ़दरजंग के

---

[1]युद्ध की यही तिथि फ़ारसी इतिहासकार मानते हैं। सूदन ने कोई तिथि नहीं दी केवल भादों मास सं० १८०६ में युद्ध होना लिखा है।

अष्टादश षट बरस ऋतु पावस भादौं मास।
सूरज है मनसूर सँग किय पठान दल नास॥

परस्पर मिलने का बहुत ही रोचक और प्रतिभा-पूर्ण वर्णन किया है, जिस से प्रकट होता है कि सूदन को राज दरबारों की रीति का पूरा पता था। सूरजमल के संभाल के लिये वजीर ने अपने मुख्य सैनिक इस्माइलखाँ को आगे भेजा। जब सूरजमल डेरे में आ गया तो वजीर ने उस से मिलने के लिये दरबार बुलाया जिस को जान कर सूरजमल शीघ्र ही अपने मुख्य सरदारों के साथ, जिन के नाम एक कवित्त में दिए हैं, दरबार में उपस्थित हुआ और संमानित किया गया। दूसरे दिन फिर वजीर ने दरबार किया और सूरजमल पूर्व की भाँति फिर आया। इस अवसर पर वजीर ने उस को युद्ध का कारण भी इस प्रकार बताया—

मेरा इस मैदान आवना सुज्झियौ ॥
लाहक अहमदखान पठान अरुज्झियौ।
नवल राइ करि जंग तिन्हौं सैं जुज्झियो ॥
नवलराइ मार्‌यौ नहीं मार्‌यौ मोहि पठान।
तौ लौं कल नहि देंउगौ जौ लौं इस तन जान ॥

और प्रण करता है कि—

जौं लौं इस तन जान पठान न रक्खिहौं।
मऊ फरक्काबाद खोदिकै नक्खिहौं ॥
बंगस बंस बिगारि नारि नहिं छंडि हौं।
बिन पठान करि भूमि फेरि घर मंडिहौं ॥

इस प्रण में वजीर का मुख्य उद्देश छिपा हुआ है। वह पठानों की सत्ता को मिटा कर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता है और इसी के लिये उस ने जाट राजा की सहायता ली है। फिर इस के बाद वजीर ने अपनी सेना आदि का भी वृत्तांत बताया और यह कहा कि उस के साथ केवल दस हजार सवार हैं, बाक़ी जो अन्य अमीर 'रमजानी अरु इसाखाँ मीर बका' आदि साथ हैं उन के पास भी कोई अधिक सेना नहीं है। फिर कहा कि उस को जाट राजा का ही पूरा भरोसा है—सूरजमल ने भी समयोचित उत्तर दिया और कहा कि वह स्वयं वजीर का आज्ञावर्ती है, उस की पूरी सेना वजीर की सेवा के लिये है, और

शीघ्र ही आकर मिलेगी—वज़ीर ने उस के इस उत्तर की सराहना की और दोनों वंशों की पुरानी मित्रता का वर्णन किया :—

रूपसिंह तेरो चचा और शहादत खान।
है सलूक दरपुस्त से दूना किया सुजान॥

इस के बाद सूरजमल ने प्रस्ताव किया कि वज़ीर की जो सेना आगे गई है उस को शीघ्र बुला लिया जाय भदावर के वीर राजा हिम्मतसिंह से काम लिया जाय और मेंडू खुरजा आदि के सब राजा ज़मींदारों से भी सेवा ली जाय क्योंकि इसी समय पर 'बुरे भले' की पहचान होगी। इस पर वज़ीर ने कोल में चार दिन ठहरने का विचार किया ताकि सब लोग आकर मिल जावें। दूसरे दिन वज़ीर, सूरजमल के डेरे में उस से मिलने गया, जिस से जाट कुंवर को बहुत हर्ष हुआ। इस अवसर पर सूरजमल ने दिल्ली के मुग़ल सम्राट् के प्रति अपनी भक्ति, तथा वज़ीर के प्रति श्रद्धा का वर्णन किया। वज़ीर बहुत ही प्रसन्न हुआ और फिर अपने डेरे पर वापस गया। इस आदर संमान का हाल सूरजमल ने अपने पिता बदनसिंह को लिख भेजा। इस के दो दिन बाद कोल से सेना ने आगे कूच किया।

कोल से प्रस्थान के समय वज़ीर के साथ चालीस सहस्र सवार और सरदारों में सूरजमल, शेरजंग, रमज़ान, मीर बक्श, ईस खान, राजा हिम्मतसिंह और अन्य छोटे छोटे ज़मीदारों का उल्लेख सूदन ने किया है। फ़ारसी इतिहासों में नवाब इशहाक़ खाँ, शेर जंग, ईसाबेग खाँ, इस्माइलबेग खाँ मीर नासिरुद्दीन हैदर तथा सूरजमल और राजा हिम्मतसिंह का वज़ीर के साथ होना लिखा है। सूदन ने यात्रा का वर्णन भी फ़ारसी इतिहासकारों की अपेक्षा अधिक पूर्ण लिखा है। इस के अनुसार पहला डेरा सिंधुजगंज से कुछ आगे बढ़कर किया गया; फिर वहाँ से 'मारहरा' पहुँचे और वहाँ कई दिन तक रहे। वहाँ से सेना बढ़ी और सफदर जंग की सब सेना 'असी हज़ार हयंद' तक पहुँच गई। इस के सिवा सूरजमल के पंद्रह हज़ार 'धीर लड़ाके' थे। यहाँ पर सूदन ने अतिशयोक्ति का सहारा लिया है क्योंकि इन ९५ हज़ार सवार के अतिरिक्त

वह लिखता है

ऊँट गयंदनु की को बूझै।

पैदल के जु अस्वैदल सूझै।

कुछ फ़ारसी इतिहासकार सब सेना लगभग ८० हज़ार बताते है। और वही अधिक ग्राह्य है। फिर मारहरा से चल कर सेना 'नदरई' पहुँची, और वहाँ काली नदी पार कर के कासगंज में पाँच दिन का वास किया गया। फिर वहाँ से चल कर 'नौलखा' मे डेरे पड़े। और व्यूह-रचना हुई। सामान्यत: मुगल सेनाएं तीन भागों में बाँटी जाती थीं दक्खिन पार्श्व, उत्तर पार्श्व तथा मध्य। सूदन के अनुसार—

सेर जंग भुज बाम तासु ढिग राउ बहादुर।

मीर बका इक ओर पुट्ठि रमजान खानपुर॥

ईस खान कर जोर अग्ग धरि हिम्मति राजा।

इसमाइल धरि पुट्ठि जंग रंगनि मैं ताज़ा॥

अरु आप मद्धिसु अवद्धि है यों नवाब निजु बल धरिय।

उद्धत उदंड भुज दंड बल श्रीसुज्जान हरवल करिय॥

शेरजंग उत्तरी ओर था, दहिनी ओर ईसाख़ान आदि, नवाब मध्य मे, इसमाइलखाँ पीछे और सूरजमल आगे। फ़ारसी इतिहासों से भी यही पता लगता है कि सूरजमल आगे (हरावली) था और नवाब मध्य में—अन्य सरदारों के संबंध मे भी बहुत भिन्नता नहीं प्रकट होती है।

इस के पश्चात् सूदन ने बंगश पठानों की तैयारी का वृत्तांत लिखा है और उन की वीरता तथा रण-तत्परता की प्रशंसा की है। अहमद ख़ाँ को जब वज़ीर के आने का समाचार मिला तो उस ने अपने अनुयाइयों से पूछा कि वह लोग बैरी से मिलने का क्या प्रबंध करते हैं, और रुस्तम ख़ाँ को भी आक्रमण का समाचार भिजवाया। अपने सरदार की इस प्रार्थना पर सब पठान तैयार हो कर लड़ने के लिये आ गए क्योंकि—

जौ पठान तिसकौ तौ लरना, ऐसे वचन सुनाए।

यह लोग अपने स्त्री बच्चे भी साथ लाए थे क्योंकि नगरों में उन के बचाव

आपत्ति का सामना था। इसलिये जितने लोग युद्ध के योग्य थे सभी सेना में संमिलित हुए। यही नहीं कि मऊ और फर्रुखाबाद के ही पठान युद्ध के लिये तैयार हो कर आए हों, किंतु रुहेलखंड से रुहेले भी अपनी जाति वालों की सहायता के लिये पूर्व वैमनस्य को भूल कर गंगा पार उतर कर वजीर से लड़ने के लिये आ गए—

सुनि सफदर जंगै चित धरि जंगै
करि सिलाह उच्छाह मडे।
दल सहस रुहेले सार सकेले,
गंग पार तें उतरि ठडे॥

इस के साथ ही रुस्तम खाँ, हवस खाँ तथा अन्य पठान लोग भी अपने सजातियों तथा कुटुंबियों के साथ अहमद खाँ से आकर मिले। अन्य वृत्तांतों से भी पता लगता है कि शाहजहाँपुर, बरेली आदि नगरों से बहुत पठान आकर युद्ध में संमिलित हुए थे। अहमद खाँ की सेना ने गंगा के खादर में वजीर से पाँच कोस की दूरी पर डेरे डाल दिए।

रुहेलों की सहायता के संबंध में कुछ मतभेद है। मि० इरविन कृत आख्यायिका में रुहेलों के आने का कोई उल्लेख नहीं है। 'तारीख मुजफ्फरी' भी इस संबंध में बिलकुल चुप है। परंतु इस के विपरीत रुहेलों के इतिहास 'गुल-रहमत' में इस का स्पष्ट वर्णन है। मि० इरविन ने दूसरे युद्ध के संबंध में अवश्य लिखा है कि रुहेलों ने अहमद खाँ को सहायता दी थी परंतु हाफ़िज रहमत-खाँ की इच्छा के विरुद्ध, और एक मनगढ़ंत कथा का उपयोग किया है; जिस का आशय है कि हाफ़िज रहमत खाँ बंगश पठानों से बैर मानता था और वजीर का मित्र था। अत: उस ने सहायता देना अस्वीकार किया परंतु नवाब सादुल्ला खाँ (अलीमुहम्मद खाँ का पुत्र) उस की इच्छा के विरुद्ध फ़र्रुखाबाद वजीर तथा मरहठों से लड़ने गया। इस ने यह भी लिखा है कि अहमद खाँ ने सहायता माँगने के लिये अपनी माता 'बीबी साहिबा' को भेजा था[१]। इस का

समर्थन 'तारीख फरहबख्श'[1] से होता है। परंतु यह कथा यदि सत्य हो सकती है तो पहले युद्ध के लिये न कि दूसरे के लिये, क्योंकि उस अंतर में जब वज़ीर हार गया, तब रुहेलों ने भी अहमद खाँ की इच्छा के अनुसार अवध पर आक्रमण किया था। इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि रुहेलों तथा बंगश पठानों ने द्वितीय युद्ध के पूर्व ही समझौता कर लिया था। और कदाचित परस्पर सहयोग भी दिया था। 'गुलरहमत' का वृत्तांत बहुत उचित जान पड़ता है, उस में लिखा है कि जब अहमद खाँ ने वज़ीर के आक्रमण का समाचार पाया तब उस ने बीबी साहिबा को रुहेलों के पास सहायता माँगने भेजा। हाफ़िज रहमत खाँ ने अपने सरदारों परमूल खाँ तथा दूँदी खाँ आदि को आगे भेज दिया और स्वयं बरेली से निकल कर सेना सहित फर्रुखाबाद के मार्ग में ठहरा ताकि आवश्यकता पड़ने पर जल्दी पहुँच सके[2]। 'तारीख आली' में भी लिखा है कि परमूल खाँ रुहेला सहायता के लिये पहुँचा और उस के आने से वज़ीर की हार हुई।[3]

इन दो फ़ारसी ग्रंथों के वृत्तांत का समर्थन सूदन के काव्य से होता है। सूदन ने यह भी लिखा है—

तनय महम्मद अली ने कहि भेज्यौ तिहँ बार।
सुध को आया जानियौ तुम से चलत हथ्यार॥

जिस से 'गुलरहमत' के हाफ़िज साहब के आगे डेरा डालने की बात का भी समर्थन होता है। रुहेलखंड के बाहर अलीमुहम्मद खाँ के पुत्र नवाब सादुल्ला खाँ का ही नाम प्रसिद्ध था परन्तु हाफिज रहमत खाँ के इतिहासकारों ने (और वह स्वयं उस के पुत्र थे) हाफ़िज साहब को ही प्रत्येक अवसर पर अधिकार-पद पर माना है। अतः इन दोनों वर्णनों में कोई विभिन्नता नहीं है। जब दो

इतने स्वतंत्र स्रोतों से एक ही बात का समर्थन होता है तो उस के मान्य होने में कोई संशय नहीं है। इसलिये मैं सूदन के इस प्रसंग को, कि रुहेले सहायता के लिये आए बिलकुल ठीक मानता हूँ। इस से रुहेला इतिहास का एक संदिग्ध विषय भी स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रसंग के आगे कवि ने वज़ीर पक्ष का हाल इस प्रकार लिखा है कि जब सफ़दरजंग ने सुना कि अहमद ख़ाँ युद्ध के लिये संमुख आ गया है तब उस ने सूरजमल से जाकर मंत्रणा की। सूरजमल ने यह सलाह दी कि बिना युद्ध किए बात नहीं बनती। इसलिये वज़ीर तो सेना सहित पीछे रहे और स्वयं वह आगे जा कर पहले पठानों से भिड़ेगा। इस के बाद सूरजमल ने अपने डेरों को वज़ीर की सेना के पीछे एक स्थान पर कुछ रक्षकों के साथ छोड़ा और स्वयं अपने मुख्य सैनिकों के साथ जिन के नाम कवि ने बहुत सुंदरता से एक छंद में गिनाए हैं आगे बढ़ा। दो तीन दिन तक योंही बान और गोले छूटते रहे। पर दोनों सेनाएं एक दूसरे के संमुख न हुईं। दलदलों के कारण भी युद्ध की विशेष योजना न हो सकी। जब इस प्रकार दो तीन दिन बीत गए तब अहमद ख़ाँ पठान ने वज़ीर की सेना में भेद डालने का प्रयत्न किया और एक दूत को सूरजमल के पास निम्नलिखित संदेश सहित भेजा।

"भाई सूरजमल से कहना कि हम तुम दोनों शाह (मुग़ल सम्राट्) के सेवक हैं, अतः लड़ाई का क्या कारण ? और यदि तुम वज़ीर के साथ हो तो भी कोई कारण नहीं जान पड़ता। क्योंकि 'ज़मींदार सौं आइकै जमिदार न जुज्झै'। फिर इस वज़ीर के साथ तुम्हें क्या करना था, जिस को 'अपना गैर का कुछ सोच न सुज्झै'। इस ने पहले रुहेलों से क़ाइम ख़ाँ को लड़वाया जिस में उस की जान गई। उस के मरने पर वह बादशाह से आज्ञा ले कर हमारी ज़ब्ती करने आया। यह जान कर हम लोग बीबी साहबा को साथ ले कर आगे ही उपस्थित हुए और इस भूमि को अपने पास रखने के लिये जो कुछ माल था सो उस को दिया; फिर भी वह न गया। तब हम ने बादशाह को मनौती (कुछ धन) दे कर अपना छुटकारा किया, और वज़ीर ने कहा कि यह भूमि तुम को बादशाह ने दी है हमारा सब धन, तोप, सवारी आदि ले कर वज़ीर

दिल्ली लौट गया परंतु फिर भी वहाँ उस को शांति न मिली। तब उस ने नवलराय को हमारे विरुद्ध भेजा। उस ने चारों ओर से इस भूमि को घेरा और हम को निकालना चाहा। तब चार आदमियों ने मिल कर उस को मारा। इस पर इस भूमि के लोभी इस वज़ीर ने हम पर क्रुद्ध हो कर सम्राट् से हमारा बैर कराया और सब सेना ले कर हमारे देश पर चढ़ आया है। अब इस से हम से वही होगा जो विधि ने रचा है; क्योंकि इस का (वज़ीर का) विश्वास कर के कौन स्थिर रह सकता है। परंतु हम तो 'आप' (सूरजमल) से बैर नही मानते और न तुम से लड़ेंगे। तब हम को क्यों आ कर दबाया है। हमारा बैर तो सफ़दरजंग से है, उस को आगे कर के लड़ो तो जो मन में आवे करना।" दूत ने आ कर यह संदेश सुनाया जिस के उत्तर में सूरजमल ने कहला भेजा कि अब तो युद्ध ठन गया है। जैसे होगा लड़ाई होगी और कल तुम्हारा बैरी वज़ीर प्रातः ही धावा करेगा। दूत ने यह उत्तर अपने स्वामी को सुनाया जिस को पा कर अहमद ख़ाँ ने निश्चय किया कि सेना तैयार रहे और जब वज़ीर दिखाई पड़े तब ही युद्ध किया जाय क्योंकि और किसी से कोई प्रयोजन नहीं है।

फ़ारसी इतिहासों से इस प्रसंग का कोई समर्थन नहीं होता क्योंकि उन के लेखकों ने सूरजमल की सहायता को कोई प्राधान्य नहीं दिया है और न उस के शौर्य, युद्ध-कौशल आदि का ही विशेष वर्णन किया है। संभव है सूदन को इस का कुछ पता लगा हो। सूदन का मुख्य उद्देश्य अपने चरित्र-नायक की प्रशंसा और बड़ाई करना है, जो इन छोटी छोटी बातों से सिद्ध होता है। जो हो, इस संदेश में पठानों के मुख से वज़ीर के प्रति उन के भावों का अच्छा दिग्दर्शन है, और युद्ध के कारणों का अच्छा उल्लेख है। लगभग सभी विषयों में अहमद ख़ाँ का यह वचन सत्य है, जैसा कि ऊपर लिखे वर्णन से स्पष्ट है। वज़ीर के लोभ और कपट का भी अच्छा चित्रण है।

इस घटना के बाद, सूदन ने वज़ीर के चरित्र का बहुत हास्यपूर्ण दृश्य दिखाया है। वज़ीर कपटी, धूर्त तथा कायर था यह तो सभी लिखते हैं। कवि ने उसी कायरता-पूर्ण उद्दंडता का एक नमूना यहाँ पर दिया है सूरजमल ने

सफ़दर जंग से कहला भेजा कि यदि आप सवार हो कर रणभूमि में आवें तो यह पठान शीघ्र ही हराए जा सकते हैं। इस के उत्तर में वज़ीर ने कहा :—

लरना इन पाजीन सौं मुझ को श्रम मैदान ॥
एती फ़ौज करौ खड़ी जिन्ह का यह उनमान।
घोड़ों ही की लीद में मारौं आदि पठान ॥

... ...

हिम्मति गई वज़ीर की ऐसी कीनी बुद्धि।
होनहार जैसी कछू तैसीयै मन सुद्धि ॥

यह उत्तर वज़ीर ही के योग्य था। इस पर सूरजमल बहुत क्रुद्ध हुआ और उस ने आ कर वज़ीर को लज्जित किया। ईसा खाँ ने भी वज़ीर को समझाया तब उस ने सेना को आज्ञा दी और स्वयं भी रण-क्षेत्र के लिये तैयार हुआ।

इस के पश्चात् तीन अंकों में कवि ने उस दिन के युद्ध का वर्णन किया है, घटनाओं के उल्लेख में उत्प्रेक्षा के साथ साथ सत्यता का अंश वर्तमान है। युद्ध का बहुत ही रोचक अनुप्रास-पूर्ण वर्णन है और साहित्यिक दृष्टि से बहुत ही सुंदर है। इतिहास के पाठकों के लिये इस का मूल्य यही है कि इस से अन्य फ़ारसी लेखों का समर्थन होता है। सूदन ने पठानों की वीरता की विशेष प्रशंसा की है और रुस्तम खाँ के शौर्य तथा सूरजमल से उस के युद्ध का वर्णन तो बहुत ही प्रतिभापूर्ण है। वज़ीर की कायरता तथा मुग़लों के हतधैर्य्य का भी अच्छा दिग्दर्शन है।

पहले सूदन ने वज़ीर की सेना की रचना का वर्णन किया है जिस से जान पड़ता है कि आगे तोपख़ाना था, फिर हथनाल और शुतुरनाल उस के पीछे वज़ीर की सेना, जिस में मध्य में स्वयं वह हाथी पर विराजमान था, उस के पीछे सब छोटे राजा और जमादार थे, तथा रमज़ान, ईसा खाँ, इस्माइल, राजा हिम्मतसिंह और शेरजंग आदि दाहिने बायें, सब से आगे सूरजमल अपनी सेना सहित पठानों से भिड़ने के लिये था। दूसरे पक्ष का भी हाल इस प्रकार लिखा है कि जब अहमद खाँ ने सुना कि वज़ीर रणभूमि में आ गया है तो उस ने अपने सहायकों से पूछा कि क्या करना चाहिये कुछ लोगों ने कहा

कि हम तो मरने को तैयार हैं। इस पर वीर पठान ने उन की हिम्मत बढ़ाने के लिये कहा कि हम को मरना क्यों, मारना है। इस के बाद सेना का विभाग इस प्रकार हुआ कि रुहेल मीर बक्शी से लड़ें, सादिल खाँ जा कर इसा खाँ (इशाक़ खाँ) से टक्कर ले और हवस खाँ, इस्माईल खाँ के विरुद्ध जाय। स्वयं अहमद खाँ वज़ीर से लड़े या जैसा कि इरविन ने लिखा है कि 'नवाब नवाब से लड़े' और रुस्तम खाँ सात हज़ार पठानों के साथ वीर सूरजमल के संमुख हो। इस वर्णन में कवि ने सर्वत्र यही लिखा है कि रुहेले 'अलीमुहम्मद तनय' (सादुल्ला खाँ) के नेतृत्व मे थे; परंतु रुहेला इतिहासों से ज्ञात होता है कि सादुल्ला खाँ इस युद्ध में संमिलित न हुआ था और परमूल खाँ तथा दूँदी खाँ आदि सैनिक ही आए थे। इस के अतिरिक्त इस वर्णन में अन्य कोई त्रुटि नहीं है क्योंकि फ़ारसी इतिहासों से इस का समर्थन होता है।

युद्ध वर्णन मे दो प्रसंग विशेष उल्लेखनीय हैं; पहला तो रुस्तम खाँ तथा सूरजमल का घमासान युद्ध। सूदन ने लिखा है कि जब जाट सेना ने दबाया तब पठानों ने जाकर रुस्तम खाँ से कहा कि

रहै सु बैठि पुस्त मैं।
न देखते हवाल कौं।
गहौ न तेग ढाल कौं॥
लड़ौ कि भाग जाइयै।
न आब कौं घटाइयै॥
तबैं सुरुस्तमा कही।
कहो सु मोहि है सही॥
सबै पठान अग्गही।
लड़ैं सुसाथ पग्गही॥
पठान बीज होइ कै।
भजै सु आब खोइ कै॥
क्यौं सु नाहि वा फिरै।
खिसै सुजान काफरै॥

इस पर सब लोग तैयार हुए। रुस्तम खाँ अपनी पालकी पर चढ़ा और उस ने अपने साथियों को ललकारा:—

मैं मरने कौं त्यार हौं जो कोइ माथहि देउ।
काम कहारों का नहीं हाथ पालकी लेउ॥
सुनत पाँच सौ ज्वान ने घोड़े दीने छोड़।
तिनमें तें दस-बीस ने लई पालकी ओड़॥
... ...
पाँच हज़ार सवार ह्वै रहै पालकी पुट्ठि।
काढ़ि काढ़ि तेगान कौं चले जंग कौं रुट्ठि॥

बड़ा घमासान युद्ध हुआ जिस के वर्णन में सूदन ने जाट सेना के लगभग सभी सैनिकों की वीरता तथा उन के काम का उल्लेख किया है। लड़ाई में पठान मारे गए, पालकी टूट गई, तब रुस्तम खाँ कूद पड़ा और पैदल लड़ा। अंत में वह मारा गया और साथ में उस की सेना भी नष्ट हो गई। पाँच या छः सहस्र पठान मारे गए। सूरजमल विजयी हुआ और उस ने दस कोस तक पठानों का पीछा किया[1]। इस वृत्तांत का बहुत कुछ समर्थन इरविन के लेख तथा अन्य फ़ारसी इतिहासों से होता है। सभी ने रुस्तम खाँ की प्रशंसा की है।

दूसरा प्रसंग वज़ीर तथा उस की सेना के भाग जाने का है। सूदन के वृत्तान्त से पता लगता है कि रुहेलों के आक्रमण से भयभीत हो कर शेरजंग, रमज़ानी, मीरबक़्श व बलोच (कामगार ख़ाँ) आदि भागे। इन को भागते देख कर ईसा ख़ाँ संमुख आया और उस के साथ रुहेलों का घमासान युद्ध हुआ। इस में वज़ीर का वीर सैनिक मारा गया और रुहेले विजयी हुए। ईसा ख़ाँ के मरने पर वज़ीर रणभूमि से भागा। सूदन ने उस के संबंध में इतना ही लिखा है—

मंसूर कौ भागनौ सो कहै कौन।
मानौ घटै गौन लागै महा पौन॥

[1] इरविन के अनुसार मरोगंज की दिशा में।

अस्सी सहस बाज छोडी सबै लाज ।
जैसे कुलंगा बुदै देखते बाज ॥
जा खेत मंसूर भग्यौ सुधा मीर ।
ता खेत सूजा रुप्यौ है महाधीर ॥

इस से यही स्पष्ट होता है कि वजीर कायरता से भयभीत हो कर भागा और उस के जाने से सब सेना छिन्न भिन्न हो गई। 'तारीख मुज़फ्फरी' मे वज़ीर के पराजय के लिये कपट और धोखा का बहाना लिया गया है। इस मे लिखा है कि कामगार खाँ बलोच पठानों से मिल गया था और जब युद्ध हो रहा था तब वह भागा। उस को देख कर अन्य सेना भी भागी। अली मुहम्मद खाँ (वज़ीर का एक सैनिक) ने सेना रोकने का प्रयत्न किया परंतु व्यर्थ। तब पठानों ने वज़ीर को घेर लिया। आहत होने पर वज़ीर चेतना-हीन हो कर हौदे में गिर पड़ा। फ़ीलवान ने वज़ीर को मृत समझ कर हाथी रणभूमि के बाहर भगाया और मारहरा पहुँचा[१]। 'गुलरहमत' में लिखा है कि जब रुस्तम खाँ के मारे जाने का समाचार अहमद खाँ को मिला तब वह तनिक भी विचलित न हुआ और उस ने यह घोषणा की कि रुस्तम खाँ ने जाट सेना को हरा दिया है। पठान इस बात से उत्तेजित हुए और उन्हों ने इशाक़ खाँ पर आक्रमण किया। वज़ीर हाथी पर से यह दृश्य देख रहा था। जब इशाक़ खाँ मारा गया तब वह बेहोश हो गया और उस को मरा समझ कर फीलवान दिल्ली की ओर भागा। ऐसा ही वर्णन इरविन कृत इतिहास मे भी है। इन सब वर्णनों में कोई विशेष मत-भेद नहीं है एक बात पर सभी सहमत हैं कि वज़ीर चोट खा कर पराजित हो कर भागा और उस ने सूरजमल की प्रतीक्षा न की। कामगार खाँ के कपट के संबंध में इतना ही लिखना उचित होगा कि बहुधा इतिहासकारों ने अपने पक्ष के पराजय के लिये इस बहाने का आश्रय लिया है वज़ीर की हार उस

अपनी सेना को उत्साह दिला सकता तो सूरजमल आ जाता और रुस्तम खाँ के मरने के समाचार से पठान सेना हतोत्साह हो कर भाग जाती। फिर पठानों के पास अच्छा तोपखाना न था, और उन की सेना भी बहुत कम थी। इतनी बड़ी सेना और तोपखाना के होते हुए, तथा सूरजमल प्रभृति वीर सहायकों के साथ भी वज़ीर का हारना, आश्चर्य जनक है। उस की कायरता के अतिरिक्त इस का अन्य कोई कारण नहीं मिलता।

युद्ध के बाद सूरजमल को जब मालूम हुआ कि वज़ीर दिल्ली चला गया है तो वह भी अपने देश को लौट गया। इधर दिल्ली पहुँच कर वज़ीर ने अपना कलंक मिटाने के लिये मराठों की सहायता के लिये प्रयत्न किया। मध्य भारत में इस समय मल्हारराव होलकर एक प्रसिद्ध सैनिक गिना जाता था। होलकर के आक्रमण उत्तरी भारत में भी हुआ करते थे। मराठा सेना का आतंक सब ओर छाया हुआ था, होलकर सफ़दरजंग का मित्र भी था। परंतु विशेषतः धन के लोभ से मराठा सेना उस की सहायता करने के लिये तैयार थी। अतः होलकर अपनी सेना लेकर शीघ्र ही उत्तरी भारत में पठानों से लड़ने के लिये आया। सूदन ने सप्तम अंक में संक्षेप के साथ वज़ीर तथा पठानों के दूसरे युद्ध का वर्णन किया है। इस बार भी सूरजमल ने सहायता दी थी और मुख्य युद्ध में संमिलित था। सूदन ने मल्हारराव होलकर तथा अपने चरित्र-नायक दोनों ही की प्रशंसा की है। इस युद्ध में पठान लोग हारे और अंत में उन्हों ने मराठों के साथ संधि कर ली। सूदन ने यह भी लिखा है कि पठानों ने अपनी दो-तिहाई भूमि वज़ीर तथा मल्हारराव को दे कर छुटकारा पाया।

करि मलार सौं संधि बखत आपनौ गुदार्‍यौ ॥
तीन भाग भुव करी एक मनसूरहि दीनी।
एक दई मल्लार एक अपनी कर लीनी ॥

कवि ने प्रथम युद्ध का वर्णन तो बहुत प्रस्तार से किया है और अंशतः सब मुख्य घटनाओं का सत्य उल्लेख भी है; परंतु दूसरे युद्ध के संबंध इस संक्षेप वृत्त का कारण समझ में नहीं आता। उस ने पठानों द्वारा अवध तथा इलाहाबाद के का कोई उल्लेख नहीं किया है और न अंत में उस ने पठानों

के गंगा पार रुहेलखंड में जाने तथा भाग कर पहाड़ों के नीचे तराई में छिप कर रहने और वहाँ चार मास तक वज़ीर तथा मल्हारराव के घेरे ही का कोई वर्णन किया है। उस ने केवल अंतिम छंद में इतना ही संकेत किया है 'पुनि गंग पार पठान मारिय अंक सप्तम गाइकै।' फ़ारसी इतिहासों से पता लगता है कि जब अहमद ख़ाँ विजयी हुआ तो उस ने रुहेलों के साथ अवध पर आक्रमण किया और इलाहाबाद के दुर्ग का घेरा किया। रुहेलों ने अवध के दो छोटे प्रांतों पर अधिकार जमाया और अहमद ख़ाँ के पुत्र मुहम्मद ख़ाँ ने लखनऊ तथा फ़ैजाबाद को अपने आधीन किया। इसी काल में इधर दिल्ली में वज़ीर ने मराठों की सहायता माँगी और जब मल्हारराव की सेना इटावा पहुँच गई तो स्वयं भी मुग़ल सेना तथा सूरजमल के साथ आगे बढ़ा। बंगश पठानों ने रुहेलों से सहायता माँगी जिस पर हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ की अनिच्छा होते हुए भी सादुल्ला ख़ाँ फ़र्रुख़ाबाद आया। गंगा के किनारे हुसेनपुर[1] स्थान पर युद्ध हुआ जिस में मराठों के कारण पठान पराजित हुए और गंगा पार उतर कर रुहेलखंड में रक्षा के लिये भागे। वज़ीर ने पीछा किया और वर्षा के बाद रुहेलखंड में भी रुहेलों के स्थानों पर अधिकार किया। रुहेले तथा बंगश पठान दोनों ने अपने स्त्री बच्चों सहित भाग कर पहाड़ के नीचे काशीपुर के पास तराई में जलकना[2] स्थान पर आश्रय लिया। कई मास तक वज़ीर तथा मल्हारराव उन को घेरे रहे। परंतु अंत में कुछ धन तथा भूमि पा कर वज़ीर ने संधि कर ली, क्योंकि, प्रथम, पंजाब पर अहमदशाह अब्दाली का आक्रमण उसी समय हुआ जिस को जान कर मुग़ल सम्राट् ने वज़ीर को आज्ञा भेजी कि पठानों से शीघ्र संधि कर के वह विदेशीय वैरी का प्रतिरोध करे। दूसरे, पूना से भी पेशवा ने मल्हारराव को बुलाया था। सूदन ने इस लंबे वृत्तांत को छोड़ कर केवल मुख्य युद्ध का ही वर्णन किया है, क्योंकि उसी में उस के चरित्रनायक की

---

[1] 'जर्नल अव् दि एशियाटिक सोसाइटी अव् बंगाल,' १८७९। और 'तारीख़ मुज़फ्फ़री,' पृ० ५६२।

[2] 'गुल्रहमत', पृ० ९५

प्रशंसा तथा बड़ाई की संभावना थी। इस युद्ध में सूरजमल का भाग प्रधान नहीं था, क्योंकि मल्हारराव होलकर अधिक बली, प्रसिद्ध और चतुर सैनिक था। सूदन ने दोनों ही की साथ साथ प्रशंसा की है।

'सुजान चरित्र' मुख्यतः सुजानसिंह उपनाम सूरजमल की कृत्य का लेखा है और कवि ने केवल उस की प्रशंसा के लिये ही इस ग्रंथ की रचना की है। परंतु काव्य के साथ साथ उस ने ऐतिहासिक घटनाओं की बहुत अंश तक सत्य विवेचना की है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस का महत्त्व कम नहीं है क्यों कि इस में बहुत आँख-देखी घटनाओं का वर्णन है और इस ग्रंथ की सहायता से अठारहवीं सदी के इतिहास के बहुत से संदिग्ध विषयों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। एक स्वतंत्र तथा सामयिक लेखक की गवाही सर्वदा ही मान्य है और विशेष कर उस समय जब कि उस का समर्थन अन्य इतिहास-ग्रंथों से होता हो। अच्छा हो यदि 'सुजान चरित्र' में वर्णित अन्य छः जंगों के वृत्तांत को इतिहास के विद्यार्थी अपनी कसौटी पर कस लें।

अवधी के कुछ नामधातु तथा प्रत्यय

[लेखक—प्रिंसिपल श्रीरामाज्ञा द्विवेदी, एम० ए०]

यों तो अवधी भाषा का विस्तार बहुत दूर तक है और जहाँ एक ओर गोंडा, बहराइच तथा बाराबंकी ज़िलों में इस के बोलनेवाले हैं दूसरी ओर प्रयाग, मिर्ज़ापुर तथा बलिया तक यह बोली जाती है। पर इस का यह सच्चा स्वरूप जो तुलसीदासजी की रामायण में मिलता है केवल अयोध्या और उस के आस पास के प्रांतों में ही अब तक प्रचलित है। ठीक वही भाषा जो गोस्वामीजी ने लिखी है फ़ैज़ाबाद, जौनपुर, सुलतानपुर, प्रतापगढ़ तथा बस्ती के दक्षिणी भाग में अब तक बोली जाती है। तुलसीदास की भाषा का सच्चा नमूना उन की इस पंक्ति मे मिलता है—

"पुनि आउब इहि बिरियाँ काली।"

इस का प्रत्येक शब्द आज भी उपरोक्त प्रांतों में ज्यों का त्यों बोला जाता है। "पुनि" शब्द तो इन प्रांतों को छोड़ कर अन्यत्र आप को मिलेगा भी नहीं; "आउब" (आवेंगे) का रूप भले ही परिवर्तित हो कर "आइब", "अइबै", और खीरी-लखीमपुर की ओर तो "अइबा" हो जाता है। "बिरियाँ" का मूल शब्द "बेरि" (समय) 'याँ' प्रत्यय के साथ इस रूप में परिवर्तित हुआ है और यह 'या' अथवा 'याँ' प्रत्यय इन सभी प्रांतों के लगभग सभी शब्दों का अंग सा हो गया है और कुछ शब्दो के साथ इस का रूप 'वा' हो जाता है। जैसे "धोती" से "धोतिया" और "लरिका" से "लरिकवा" हो जाता है। इस प्रत्यय से शब्द के अर्थ में कुछ घटाव-बढ़ाव नहीं होता, बल्कि यह तो उच्चारण अथवा साधारण बोलचाल की एक निरर्थक शैली सी है जो केवल शुद्ध अवधी का एक चिह्न मात्र रह गई है। हाँ, "काली" शब्द अलबत्ता "काल्हि" (कल) के रूप में बोला जाता है और संभवतः तुलसीदास के समय में भी ऐसा ही

बोला जाता रहा होगा, केवल छंद के अंत मे पड़ कर खिचाव मे 'ह्' का लोप हो कर ह्रस्व 'इ' का दीर्घ हो गया है। आज हम पाठकों के संमुख इन्हीं प्रांतो मे बोलीजानेवाली अवधी के कुछ विशेष शब्दों पर विचार करेंगे। एक तो है इस भाषा के नामधातु और दूसरे इस के कुछ प्रत्यय जिन से स्पष्टतः ज्ञात हो जायगा कि यह भाषा अब तक संयोगात्मक अवस्था में है।

मेरा तो अनुमान है कि भारतवर्ष की और किसी भाषा में इतने अधिक और व्यापक अर्थ वाले नामधातु नहीं हैं जितने अवधी में। हाँ, संस्कृत में तो किसी भी संज्ञा शब्द से ऐसे धातु बन जाते हैं।

और अंग्रेजी में तो बहुत कम ऐसे संज्ञा-शब्द हैं जिन से क्रियाओं का काम न ले लिया जाता हो। संस्कृत में 'द्रुम' से 'द्रुमायते'—"एरंडोऽपि द्रुमायते"—की तरह और भी सभी नामधातु बन जाते हैं, पर अंग्रेजी में तो बहुधा संज्ञाओ मे कुछ परिवर्तन बिना ही क्रियाओ का अर्थ आ जाता है और जिन शब्दों में परिवर्तन भी होता है उन में यह परिवर्तन नाममात्र को ही होता है: जैसे प्रैक्टिस (practice) अर्थात् अभ्यास और प्रैक्टिज (practise) अर्थात् अभ्यास करना अथवा प्रॉफेसी (prophecy)=भविष्यवाणी और प्रॉफेसाइ (prophesy)=भविष्यवाणी करना आदि। पर अवधी में प्रत्येक नामधातु संज्ञा में 'आइब' अथवा 'याब' आदि प्रत्यय लगा कर ही बनता है। कितने ही ऐसे धातुओं के अर्थ तो मूलसंज्ञा से बहुत भिन्न भी हो जाते हैं जो प्रायः अंग्रेजी मे भी देखा जाता है। उदाहरण के लिये ट्रेन (गाड़ी) और ट्रेन (शिक्षा देना); हैण्ड (हाथ) और हैण्ड (देना, सिपुर्द करना) आदि। परंतु व्यापकता में कभी-कभी अवधी धातुओं के अर्थ अंग्रेजी नामधातुओं को भी मात कर देते हैं। पाठकों के मनोरंजनार्थ हम नीचे कुछ अवधी नामधातुओं की सूची अर्थ सहित देते हैं:—

'अलग' से 'अलगाब'=अलग हो जाना; 'अलगाइब'=अलग कर देना।

(जैसे बेटवा अपने बाप से अलगाय गै=बेटा अपने बाप से अलग हो गया)

लगा देना (पर यह गँवारू भाव में ही बोला जाता है)। "अगियाब" शब्द का अर्थ भी बहुत संकुचित है और यह प्रत्येक वस्तु के लिये नहीं प्रयोग में आता। प्रायः यह फोड़ों अथवा शरीर के अवयवों के लिये ही बोला जाता है, जैसे हमारि फोरिया बहुत अगियालि अहै= मेरी फुड़िया आग की तरह जल रही है। पर आप लकड़ी अथवा कोयले के लिये इस शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते। ऐसा प्रयोग निरर्थक होगा।

ासकति' (आलस्य) से 'असकतियाब'=सुस्ती करना।

ौघाई' (नींद) से 'औंघाब'=नींद में आना (पर 'सोना' नहीं) जैसे लरिका अब औंघाय लाग अर्थात् लड़के को अब नींद आने लगी। पर 'वह सोया है' इसके लिए "ऊ औंघात है" यह गलत है।

मल' (नशा) से 'अमलियाब'=नशे के लिये याद आना। (जैसे बुढ़वा तमाखू खातिर अमलियान अहै=बुड्ढे को तंबाकू का नशा चाहिये। 'यह नहीं कि उसे नशा हुआ है।')

ऊपर' (ऊपर) से 'उपराब'='ऊपर' आना अथवा देख पड़ना (जैसे मुरदा नदी माँ उपरान अहै अर्थात् मुर्दा नदी के ऊपर आ गया है।) पर यह नहीं कह सकते कि 'लछिमन अपने कोठा पर उपरान है' अर्थात् लक्ष्मण अपने छज्जे के ऊपर आया है—यह सुन कर लोग हँस पड़ेंगे, क्योंकि यह धातु केवल पानी के ही संबंध में प्रयुक्त होता है। हाँ, दूसरा अर्थ इस का यह अलबत्ता है जो अंग्रेजी मे टर्न अप (turn up) का है, जैसे "कहौ आजु कैसे यहर उपराय पर्‌यो ?" अर्थात् "कहो, आज कैसे इधर आ गए हो ?"

किनारा' से 'किनराब'=किनारे लगना अथवा अलग हो जाना (जैसे ई बाती से ऊ बहुत किनरात है=इस बात से वह बहुत दूर रहता है)।

ारा' (जेल) से 'करियाब'=बंद होना या 'करियाइब'=भीतर बंद कर देना। यद्यपि 'कारा' शब्द शुद्ध संस्कृत है पर ठेठ अवधी में यह नहीं बोला जाता और न गाँववाले इस का अर्थ ही समझ सकते हैं तथापि यह नामधातु प्रचलित हो गया है और देहातवाले जेल जाने

के लिये 'करियाइब' का ही प्रयोग करते हैं जैसे सरकार गाँन्ही बाबा कॅ जेहल माँ करियाय दिहिस=सरकार ने गाँधी जी को जेल मे बंद कर दिया।

(पेट या गोद) से 'कोराइब'=पेट मे बच्चा होना। परंतु यह शब्द केवल पशुओं के लिये प्रयुक्त होता है। और वह भी उस विशेष दशा मे जब उस के ब्याने के दिन निकट आ जाते हैं। यों भी स्त्रियाँ, और प्रायः ननद-भावज, एक दूसरे की हँसी करने के लिये इस का प्रयोग करती हैं। जैसे इ भइँसि अब कोरावति अहै=यह भैंस अब ब्याने-वाली है।

इसी प्रकार विशेषणों से भी कुछ धातु बना लिये जाते हैं जैसे---

मोटा) से 'मोटाब'=मोटा हो जाना; 'झूर' (सूखा) से 'झुराब' (सूखना) या झुरवाइब (सुखाना)।

(दुर्बल) से 'दुबराब'=दुबला हो जाना; 'सैगर' (अधिक) से 'सैग-राब'=अधिक होना।

(पतला) से 'पतराब' अथवा 'पतराइब'=पतला होना अथवा करना।

(गर्म) से 'गरमाब'=गर्म होना (यह शब्द क्रुद्ध होने के अर्थ मे मनुष्यों के लिये भी प्रयुक्त होता है, जैसे काहे तूँ बहुत गरमान हौ? अर्थात् तुम क्यों बहुत गर्म हो रहे हो?)। प्रेरणार्थक में 'गरमाइब' (गरम करना)। 'हरियर' (हरा) से 'हरियराब'=हरा हो जाना (साधा-रण अर्थ के अतिरिक्त यह भी प्रसन्न होने के अर्थ में आता है। जैसे बहुत दिना पर लरिका कॅ देखि कै महतारी क मन हरियराय उठा=बहुत दिन पर लड़के को देख कर माता का हृदय प्रफुल्लित हो उठा); उष्ण से 'उसिनब'=उबालना (गर्म करना नहीं)। प्रकृति-संबंधी कुछ शब्दों से जो धातु बनते हैं उन का अर्थ साधारण अर्थ मे कुछ भिन्न होता है। जैसे 'घाम' से 'घमाब' अर्थात् घाम मे बैठना या धूप, लेना, 'छाँह' से 'छँहाब' अर्थात् छाया में बैठ कर आराम करना। पर केवल छाया में बैठे रहने के लिये ही 'छँहाब' का प्रयाग नहीं हो सकता

क्योंकि सुस्ताना या आराम करना इस अर्थ का मुख्य लक्ष्य है। उसी प्रकार 'सरदी' से 'सरदियाब' अर्थात् सरदी लग जाना या जुकाम हो जाना (जैसे ई बिटिया राति माँ सरदियाय गइ=यह लड़की रात मे सरदी खा गई)। इसी प्रकार 'धुँआ' से 'धुँआब' अर्थात् धुँआ लग जाना आदि।

भावार्थक शब्दों से भी उन के अर्थ के द्योतक धातु बन जाते हैं जैसे 'छोह' (प्रेम) से 'छोहाब'=प्रेम करना, 'रिसि' (क्रोध) से "रिसियाब"= क्रोध करना, 'मोह' (स्नेह) से 'मोहाब'=स्नेह करना और 'कोह' (क्रोध) से 'कोंहाब' (क्रुद्ध हो जाना)। इस अंतिम शब्द से धातु बनाते समय 'को' में अनुस्वार लग कर 'कों' हो जाता है जो शायद उच्चारण की सुगमता के लिये कर लिया गया है। उच्चारण की सुगमता के ही लिये इस प्रकार के धातु बनाते समय जिन शब्दों से प्रथम वर्ण में दीर्घ मात्राएँ होती हैं वे भी ह्रस्व हो जाती हैं, जैसे—

'पाथर' (पत्थर) से 'पथराब'=पत्थर हो जाना (यह उसी अर्थ में आता है जिस में खड़ी बोली का 'पथरा' जाना धातु प्रयुक्त होना है)।

'साधू' से 'सधुआब'=साधु हो जाना, संन्यासी बन जाना। जैसे गिरधारी खेतिहर घर दुवार छोड़ि कै सधुआय गै अर्थात् गिरधारी किसान घरबार छोड़ कर संन्यासी हो गया।

'गारी' (गाली) से 'गरियाइब'=गाली देना।

'बाहर' से बहिरियाब=बाहर निकलना। 'बगल' से 'बगलियाब'=बगल हो जाना, 'भित्तर' या 'भीतर' से 'भितराब'=भीतर चला जाना।

ऊपर के सभी शब्दों से पता चलेगा कि इन के प्रथम स्वर आ का अ और ई का इ हो जाता है।

शब्दों में परिवर्तन भी सुविधानुसार ही होता है। उदाहरण के लिये, यद्यपि 'बाहर' तथा भीतर' दोनों ही शब्द अव्यय और तीन अक्षरों के हैं, पर इन से धातु बनते समय एक में 'इयाब' प्रत्यय लग जाता है और दूसरे में केवल

बनावें तो उस का अर्थ 'बहिरा' हो जाना (बहिर=बधिर=बहरा) हो जायगा। कभी कभी 'याइब' के स्थान में 'वाइब' भी हो जाता है, जैसे तेल से 'तेलवाइब' (तेल लगाना)। परंतु 'तेलवाइब' शब्द किसी मनुष्य को तेल लगाने के अर्थ मे नहीं प्रयुक्त होता। इस का अर्थ केवल गाड़ी के पहियों के धुरों अथवा और भागों में तेल लगाना होता है। इस में भी केवल 'इयाव' न लगा कर 'वाइव' इसलिये लगा है कि 'तेलियाव' बनाने से उस का अर्थ 'तेली (तेली+इयाब) हो जाना 'या तेली का सा व्यवहार करना' हो जायगा। इस विशेष अर्थ में भी कितने ही नामधातु बनते हैं, जैसे—

'लरिका' (लड़का) से 'लरिकाव'—लड़के की तरह व्यवहार करना।

'बभनाब' (बाभन=ब्राह्मण) अर्थात् ब्राह्मण की भाँति व्यवहार करना।

परंतु इस प्रकार के प्रयोग प्राय: बुरे अर्थ में होते हैं और प्राय: तभी किए जाते हैं जब किसी जाति विशेष के दुर्गुणों को निर्देश करना होता है। जैसे यदि कोई व्यक्ति बनिया है और वह औरों की बात मानता नहीं तो उस से कहा जायगा कि "बहुत बनियाव न" अर्थात् बनियों की दुष्टता मत करो। उसी प्रकार नाई (नाऊ) के लिये "नउआव" ठाकुर के लिये 'ठकुराव' तथा कायस्थ के लिये 'कयथाव' आदि शब्दों की रचना कर ली गई है। पर कभी-कभी इस प्रकार के शब्दों के अर्थ और ही हो जाते हैं, जैसे—मर्द (मरद) से 'मरदाव'= पूरा मर्द हो जाना। (ई लरिका अब मरदाय जात है—यह लड़का अब पूरा मर्द हुआ जाता है।)

'पेड़' से 'पेड़ाव'—पेड़ हो जाना अर्थात् पौधे से मोटा पेड़ हो जाना। 'मुरदा' (मुर्दा) से 'मुरदाव'—मुर्दे की तरह दुबला हो जाना।

'लकड़ी' से 'लकड़ियाव'—सूख कर लकड़ी हो जाना।

पंचतत्त्वों के शब्दों में से दो और धातु बनते हैं, परंतु उन का अर्थ 'आग'-वाले धातु के अर्थ से कुछ भिन्नता रखता है। पानी से 'पनियाइब' (पानी देना) और 'माटी' (मिट्टी) से 'मटियाइब' (मिट्टी लगा कर साफ करना) होता है। 'पनियाइब' शब्द बहुत अधिक पानी देने के अर्थ में ही आता है, पानी पिलाने अथवा थोड़ा सा पानी देने के अर्थ में नहीं आता हाँ, किसी प्यासे दोस्त

को हँसी करना हो तो भले ही कह सकते हैं कि "चौबे जी काँ पनियाय देव भाई" अर्थात् चौबे जी को खूब पानी से नहला दो, जिस मे वाक्य इस बात का द्योतक है कि चौबे जी मानो कोई गाड़ी या मशीन है ! कुछ नये शब्दों से भी इस प्रकार के धातु बन गए हैं जो इस बात के प्रमाण हैं कि उपभाषाओं में भी नवीनता की छाप सर्वथा सुविधापूर्वक लग जाती है। उदाहरण के लिये 'साबुन' शब्द से 'सबुनियाइब' धातु है जिस का अर्थ है "साबुन लगा कर साफ़ करना।" जूता से "जुतियाइब" अर्थात् जूते से मारना भी अद्भुत अर्थ है। पर इन शब्दों के अतिरिक्त कई शब्द तो ऐसे हैं जो ठेठ अवधी के अपने ही शब्द हैं और अन्य उपभाषाओं में आते ही नहीं। जैसे 'बगद' (ख़राब) और इस से धातु 'बगदाइब' या 'बगदब' अर्थात् बिगाड़ना या बिगड़ना; 'चबुरी' (क्रोध से बना हुआ मुँह और निकले हुए दाँत) और 'चबुरियाब' (इस प्रकार के भाव प्रकट करना या डाँटना)। यह अंतिम शब्द तो बड़ा ही अर्थ-पूर्ण तथा भाव-व्यंग-मय है। अवधी में कितने ही ऐसे शब्द हैं—संज्ञा क्रिया सभी में। अव्ययवाची भी कितने ही शब्द हैं जिन का ठीक अर्थ खड़ी बोली में अथवा अन्य भाषाओं मे व्यक्त नहीं हो सकता। जैसे "उँकरूँ" जो एक विशेष प्रकार से बैठने के लिये आता है या "काँखा सोती" शब्द (जो तुलसीदासजी ने रामायण में कहीं प्रयोग किया है) जिस का उपयोग दुपट्टों आदि के पहनने के ढंग दिखलाने के लिये होता है। उदाहरण के लिये दुपट्टे भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न प्रकार से ओढ़ते हैं, कोई दोनों छोर सामने ही रखता है, कोई लपेट लेता है और कोई बाँये कंधे पर रख कर दाहिनी काँख के नीचे से निकाल रखते हैं जैसे लोग यज्ञोपवीत पहनते हैं। इस अंतिम प्रकार के ढंग को "काँखा सोती" कहते हैं।

इन द्योतक अर्थवाले शब्दों के अतिरिक्त शरीर के अवयवों के नामवाची संज्ञा-शब्दों से कुछ धातु बनते हैं जिन के अर्थ भी कुछ विचित्र होते हैं, जैसे 'हाथ' से 'हथियाइब'=उठा ले जाना, चुरा लेना, या ज़बरदस्ती ले लेना। खड़ी बोली में भी 'हथियाना' क्रिया का प्रयोग होता है

'अँगरी' (उँगली) स [illegible] —उँगली से खोदना, बेवकूफ़ बना देना, [illegible]

लेनां। जैसे यन काँ अँगुरियाय के कौनों रुपया लै लिहिस अर्थात् इसे बेवकूफ बना कर किसी ने रुपया ले लिया।

'दाँत' से 'दॅतियाइब'—दाँत से फल आदि काटना।

'मूड़' (सिर) से 'मुड़ियाइब'—सब कुछ कष्ट सह कर किसी काम मे हाथ लगाना और उसे कर डालना (यह सारा अर्थ इस क्रिया मे है)। जैसे अब तौ हम बेटवा के बियाह मुड़ियाय लिहेन, चाहै जौन होय अर्थात् अब तो मैं ने बेटे का विवाह ठान दिया चाहे जो कुछ हो।

'चोट' से जिस प्रकार 'चोटाव' बनता है उसी तरह 'लोह' से 'लोहाव' बनता है, पर इस का अर्थ 'चोट लगना' की तरह 'लोहा लगना' नहीं होता। 'लोहाब' का अर्थ है कष्ट के मारे बेसुध हो जाना, जैसे मारे घाम के बुढ़वा बेचारा लोहाय गै अर्थात् धूप के मारे बेचारा बुड्ढा बेसुध हो गया।

पर सब से मनोरंजक तथा विचित्र उन नामधातुओं के अर्थ हैं जो पशु-वाची संज्ञा शब्दों से बनते हैं। जैसे 'बरद' (बैल) से 'बरदाव', घोड़ा से 'घोड़ाव', आदि। ये शब्द उस समय प्रयुक्त होते हैं जब भिन्न भिन्न पशुओं के गर्भ धारण करने का अर्थ प्रदर्शित करना होता है। यों तो इन सब के लिये एक गौण शब्द "सँगाब" (जोड़ खाना) है, पर भिन्न भिन्न पशुओं के लिए उन के नरवाचक संज्ञा शब्दों मे "आब" प्रत्यय लगा कर यह अर्थ प्रदर्शित करते हैं। जैसे—

घोड़ी के गाभिन होने के लिये 'घोड़ाब'; जैसे, ई घोड़ी घोड़ाय गै है।

गाय " " 'बरदाब' (बरद=बैल)

भैंस " " 'भैंसाव' (भैंसा)

इन शब्दों के अतिरिक्त बकरी के लिये अवधी का शब्द 'छेरी' या 'छेगड़ी' है, परंतु बकरे के लिये 'छेरा' अथवा 'छेगड़ा' नहीं कहते, बकरा ही कहते हैं। तथापि बकरी के गाभिन होने के लिये 'बकराव' नहीं 'छेगड़ाब' ही प्रयुक्त होता है। इन सभी पशुओं के लिये 'सँगाव' के अतिरिक्त 'गभिनाब' (गाभिन होना) एक दूसरा शब्द है जो साधारण रूप से और अन्य पशुओं के लिये और गॅवारू भाव के साथ स्त्रियों के लिये भी कभी कभी प्रयुक्त होता है

अब हम अवधी के कुछ प्रत्ययों पर विचार करेंगे। नामधातुओं की भाँति इन प्रत्ययों द्वारा भी कितने ही व्यापक तथा विचित्र अर्थ निकलते है जो खड़ी बोली के प्रत्ययों से नहीं निकल सकते। इन प्रत्ययों की संख्या भी खड़ी बोली के प्रत्ययों से अधिक है।

भाववाचक प्रत्ययों में मुख्य 'आय', 'आव' तथा 'आई' हैं। 'आय' लगा कर व्यवहार के भावों का बोध होता है, जैसे 'लरिकाय', 'दुसमन' से 'दुसमनाय', 'हित' से 'हिताय' आदि। यह 'आय' प्रत्यय पुराने 'आई' का अपभ्रष्ट रूप जान पड़ता है, क्योंकि तुलसीदासजी ने 'लरिकाई' शब्द का प्रयोग किया है—

"बहु धनुही तोरेउँ 'लरिकाई'।"

परंतु इसी अर्थ मे 'घर' से 'घराय' शब्द बनता है जिस का अर्थ है घर का सा व्यवहार (जैसे हम से यन से बड़ी घराय अहै—हम से इन से घर का सा व्यवहार है।) 'आव' प्रत्यय से तो प्राय: व्यवसायवाचक शब्द बनते है, जैसे 'पंडित' से 'पंडिताव' यद्यपि यह अर्थ 'आई' प्रत्यय लगा कर भी निकलता है जैसे 'ओझा' से 'ओझाई' अर्थात् भूत-प्रेत दूर करने का व्यवसाय। 'पंडित' से 'पंडिताई' भी बनता है; पर प्राय: 'आई' प्रत्ययवाले शब्दों में किसी काम के होते रहने का अर्थ निकलता है, जैसे 'गुर' (गुड़) से गुरवाई=गुड़ बनाने की क्रिया अथवा व्यवसाय। इस शब्द के संबंध में एक कहावत देहात मे प्रचलित है—

"जाके बाप न देखी पोय, तेके घर गुरवाई होय।"

अर्थात् जिस के बाप ने ईख का पत्ता (पोय) भी नहीं देखा है वह स्वयं गुड़ बनाना कैसे जान सकता है ? इसी प्रकार 'मोल' से 'मोलवाई' अर्थात् सौदा तै करना। 'आवा' प्रत्यय 'आव' का ही दूसरा रूप जान पड़ता है, और कुछ शब्दों में ये दोनों ही प्रत्यय लग सकते हैं, जैसे 'पहिराव', 'पहिरावा' (पहनने का तरीक़ा), तथा 'चलावा' (चलने अथवा व्यवहार करने का तरीक़ा)। कभी कभी 'औवा' प्रत्यय भी कुछ शब्दों में लगता है, जैसे 'बुलौवा' (निमंत्रण) तथा 'परसौआ' (एक बार का परोसा हुआ भोजन)।

अर्थ में ही 'नी' प्रत्यय भी लगता है, जैसे 'काटब' से 'कटनी'

(फसल कटने का समय), 'छाँटब' (छाँटना अथवा पसंद करना) से 'छँटनी', तथा 'बाँटब' (भाग करना) से बँटनी। व्यवसायसूचक कुछ शब्द केवल 'ई' प्रत्यय लगा कर बनाए जाते हैं, जैसे 'बाभन' (ब्राह्मण) से 'बभनई' (ब्राह्मण का काम); 'कायथ' (कायस्थ) से 'कयथई' (कायस्थ का व्यवसाय); 'किसान' से 'किसनई'; 'बनिया' से 'बनियई'; 'बैद' (वैद्य) से 'बैदई', और 'उपरोहित' (पुरोहित) से 'उपरोहिती'। व्यवसायसंबंधी भाव व्यवसाय की वस्तुओं के वाचक शब्दों में 'याही' प्रत्यय लगा कर प्रगट किए जाते हैं, जैसे 'घासि' (घास) से 'घसियाही' (घास काट काट कर बेचना), 'राति' (रात) से 'रतियाही' (रात को निकल कर चोरी करना), 'रोटी' (मरे आदमियों का क्रियाकर्म जिस में ब्राह्मणों तथा बिरादरी के लोगों को रोटी खिलाई जाती है) से 'रोटियाही', ऐसी बातों की भरमार है। जैसे आजुकालि चमारन माँ खूब रोटियाही परी है=आजकल चमारों मे खूब रोटियाही अर्थात् मौत की दावतें हो रही है।

'याना' प्रत्यय लगा कर गाँव के उन मुहल्लों का बोध होता है जिन मे भिन्न भिन्न जाति के लोग रहते हैं। गाँवों के बसाने की पुरानी पद्धति यही है कि ब्राह्मण एक ओर, और वैश्य तथा वनिये आदि एक ओर अलग अलग मुहल्लों में रहें। अतएव जिस मुहल्ले मे कुरमी लोग रहेंगे उसे कुरमियाना कहेंगे, ठाकुरों के मुहल्ले को 'ठकुराना', कायस्थों के मुहल्ले को 'कयथाना' और कोयरियों (शाक भाजी बेचनेवालों) के मुहल्ले को 'कोयराना' कहेंगे। परंतु जहाँ बामन (ब्राह्मण) लोग रहते हैं उसे 'बभनैया', जहाँ केवट रहेंगे उसे 'केवटहिया', तथा चमारों के मुहल्ले को 'चमरउटी' कहते हैं। पता नहीं इन तीन जातियों के लिये 'ऐया' 'हिया' तथा 'उटी' इन तीन भिन्न प्रत्ययों का प्रयोग क्यों किया गया है। इसी प्रकार जुलाहों के भाग को 'जोलहटिया' कहते हैं।

'हा' तथा 'ही' प्रत्ययों का उपयोग 'वाला' का अर्थ देने के लिये किया जाता है। जैसे 'इरखा' (ईर्ष्या) से 'इरखहा', 'रिसि' (क्रोध) से 'रिसिहा', तथा 'रोग' से 'रोगहा' अथवा 'रोगिहा'। स्त्रीलिंग के लिये 'हा' के स्थान में 'ही' हो जाता है, परंतु इस प्रकार के कुछ शब्द ऐसे हैं जिन में 'ही' प्रत्यय लगने से व्यापार का अर्थ होता है जैसे 'बरतन' से 'बरतनही' (हमरी दुकान में बरतनही होति है=

हमारी दूकान में बरतन का व्यापार होता है); 'कपड़ा' से 'कपड़हीं' (कपड़े का व्यापार) आदि। इसी प्रकार पशुओं के नाम के आगे 'हा' लगा देने से उन के व्यापार करनेवालों का बोध होता है—जैसे 'छेगड़ी' (बकरी) से 'छेगड़िहा' (छेगड़ी बेचने या ख़रीदनेवाला), 'बरद' (बैल) से 'बरदहा' (और बरदही= बैलों का बाज़ार) 'घोड़ा' से 'घोड़हा', 'हाथी' से 'हथिहा' इत्यादि। विशेष अर्थ के लिये दो शब्द हैं। 'मोट' (गट्ठर) तथा 'पेट'; 'मोट' से 'मोटहा' (गट्ठर 'ले' जानेवाला या कुली), तथा 'पेट' से 'पेटहा' (अर्थात् बड़ा पेटवाला या बहुत खानेवाला) बनता है। खाने पीने या अन्य वस्तुओं के नाम में 'हा' या 'ही' लगाने से रखनेवाले बर्तनों तथा उन में सनी हुई चीज़ों का बोध होता है। जैसे 'करिखा' (कालिख) से 'करिखही हाँड़ी' (कालिख लगी हुई हँडिया), 'पिसान' (आटा) से 'पिसनही थरिया' (आटा लगी हुई थाली), 'गोरस' (दूध-दधी) से 'गोरसही मटकी' (गोरस रखने की मटकी)। किसी सज्जन ने एक बार देहाती बाज़ार में किसी पान बेचनेवाली को कुछ कहने पर 'पनही' (पान बेचनेवाली—पान+ही; और पनही=जूती) कह कर चिढ़ाया था। पानीवाले साँप को 'पनिहा कीरा' कहते हैं, और खाते समय दूल्हा अथवा उस के संबंधियों को कुछ उपहार में दिया जाता है उसे 'खबही' कहते हैं। इस 'ही' प्रत्यय से संग्रहात्मक संज्ञा (Collective noun) का अर्थ भी कभी कभी निकलता है, जैसे 'कगदही खुली है' अर्थात् बहुत से काग़ज़-पत्र खुले हैं (जैसे दफ़्र में या दूकान पर)। संग्रह अथवा बहुत्व-द्योतक दूसरा प्रत्यय है 'उटी' जो प्राय: रंग-वाचक शब्दों में लगता है, जैसे उज्जर (उज्ज्वल=सफ़ेद) उजर-उटी अर्थात् सफ़ेद ही सफ़ेद (उदाहरण—मारे रुपया के घर उजरउटी होइ गै= रुपयों के मारे तमाम घर सफ़ेद ही सफ़ेद हो गया।) 'पियर' (पीला) से 'पिय-रौटी','काजर' (काजल) से 'कजरौटा' (काजल रखने का एक बर्तन), परंतु 'लाल' शब्द में यह प्रत्यय न लग कर केवल 'री' लगता है, जैसे 'अस आम पाक है कि कुलि बगिया मँ ललरी भै है' अर्थात् आम ऐसे पके हैं कि सारा बाग लाल हो रहा है। बियाह (ब्याह) से 'बियहुता' (ब्याह का कपड़ा), तथा 'पहिल' से 'पहिलउठी' (अर्थात् पहली संतान) भी बनते हैं।

खड़ी बोली की भाँति 'हारा' प्रत्यय अवधी में भी लगता है, पर उस का रूप प्रायः 'हार', 'हर' अथवा केवल 'आर' रह जाता है। जैसे 'चूरी' (चूड़ी) से 'चुरिहार' (चूड़ी बेचनेवाला या बनानेवाला), 'खेती' से 'खेतिहर' (खेती करनेवाला), आदि। 'तोंनि' (तोंद, बड़ा पेट) से 'तोंनार' (बड़े पेट या तोंद वाला मनुष्य), तथा 'पेड़' से 'पेड़ार' (मोटा पेड़) भी बनते हैं। 'हर' तथा 'हग' दो प्रत्यय कभी एकाध शब्दों में लग कर पूर्णत्व का अर्थ देते हैं। जैसे 'पूर' (पूरा) से 'पुरहर' (पूरा, सारा का सारा)। उदाहरण, पुरहर गाँवैं जरिगै= सारा का सारा गाँव जल गया; 'सोगहग' (सारा); 'मनहग' (मनमाँगा; प्रसन्न; जैसे मिठाई पाय कै लरिका मनहग होइ गै=मिठाई पा कर लड़का प्रसन्न हो गया।) इसी भाँति जब बहुवचन में किसी विशेषण को दो बार प्रयोग में लाना पड़ता है तो दो बार कहने के स्थान में उस में 'वार' प्रत्यय लगा देते हैं। जैसे 'मोट' (मोटा) से 'मोटवार' (मोटे मोटे); जबर (अच्छा बड़ा) से 'जबरवार' (बड़े बड़े); तथा 'पातर' (पतला) से 'पतरवार' (पतले पतले); उदाहरण, 'मोटवार उखुही लाओ'=मोटी मोटी ईख ले आओ।

अब हम दो चार उदाहरण उन शब्दों के देंगे जो खड़ीबोली में या अन्य भाषाओं के शब्दों से अलग प्रयोग में आते हैं, पर अवधी में जिन शब्दों के साथ आते हैं उन्हीं के अंग बन जाते हैं। इन में से मुख्य दो शब्द हैं—'ही' तथा 'भी' जिन के स्थान में अवधी में 'ऐ', 'ही', "वै" तथा "औ", "वौ" एवं "हूँ" आदि प्रत्यय प्रयोग में आते हैं। ये प्रत्यय आगे आनेवाले अव्ययों (Preposition) के अनुसार परिवर्तित हो कर शब्दों में मिल भी जाते हैं। जैसे कहना है "यह किताब तुम्हारी 'ही' है" तो कहेंगे 'ई किताब तोहरै अहै।' परंतु यदि कहना है कि तुम आज 'घर में ही' रहो तो अवधी में कहेंगे कि "तूँ आजु 'घरैं' (अथवा 'घरही') रहौ'। उसी प्रकार कर्ता के साथ 'वै' अथवा 'यै' प्रत्यय 'ही' के अर्थ में लगते हैं। जैसे, लड़का ही मर गया इस की अवधी हुई " 'लरिकवै' मरिगै"; अथवा आदमी ही चला गया के स्थान में " 'मनयवै' (मनई=मनुष्य) चलागै". खेत ही सूख गया—" 'खेतवै' (अथवा 'खेतै') सूखि गै"। इसी भाँति 'भी' के लिये 'औ', 'वौ' तथा 'हूँ' प्रत्यय आते हैं जैसे घर भी गिर गया=

" 'घरौ' गिरिगै"; हमारा भी सिर दुखता है=" 'हमरौ' मूड़ पिरात है"; पेड़ भी कट गया=" 'पेड़ौ' (अथवा 'पेड़वौ') कटि गै"; आदमी भी आ गया=" 'मनयवौ' आय गै"। सर्वनामों के कर्ता एवं कर्म में इस का रूप 'हूँ' तथा 'हौ' हो जाता है। जैसे, मैं भी चलूँगा=" 'महूँ' चलबौं", यह भी अच्छा है=" 'इहौ' नीक है", मुझ को भी दो=" 'महूँक' देव"; यह भी ले जाओ=" 'इहौ' लै जाव"।

इन कतिपय उदाहरणों से अवधी के अभी संयोगावस्था में होने का प्रमाण मिलता है। अवधी में और भी गूढ़ तथा विस्तृत अर्थ देनेवाले शब्दों की बहुत अधिकता है। हम ने अवधी भाषा के कई हज़ार शब्दों का संग्रह किया है जिन में से कई सौ तो केवल खेती तथा गृहस्थी संबंधी ही हैं। शीघ्र इन सभों को एक छोटे मोटे कोष के रूप में रखने का विचार है। यदि पाठकों को यह लेख रुचा तो अवधी के किसी दूसरे अंग पर फिर कभी विचार करूँगा।*

---

*यह लेख हिन्दुस्तानी एकेडेमी की इस वर्ष की कॉन्फ्रेंस के लिए लिखा गया था सं०

संयुक्त प्रांत आगरा व अवध के प्राचीन सिक्के तथा मुगलकालीन टकसालें

[लेखक—रायसाहब श्रीयुत प्रयागदयाल]

प्राचीन काल में सिक्कों का दारमदार प्रायः धातुओं (जैसे सोना, चाँदी और ताँबे) की कमी और अधिकता पर निर्भर था। हिंदुस्तान में सोना अधिकतर पहाड़ों और नदियों की रेत मे मिलता था। संस्कृत में सोने को हिरण्य कहते हैं और चाँदी को रजत। अथर्ववेद मे भी रजत शब्द चाँदी के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। सोने के सिक्के को निष्क और सुवर्ण, चाँदी के सिक्के को पुराण और धरण और ताँबे के सिक्के को कार्षापण और पण कहते हैं। बौद्ध धर्म की पवित्र पुस्तकों में चाँदी के सिक्के को प्रायः पर्ण लिखा है।

इन सिक्कों के बनाने के लिये कोई खास टकसाल नही थी। साधारणतः चाँदी की चादर लंबी और पतली पीट ली जाती थी और उस के टुकड़े बराबर बराबर कर लिये जाते थे। बराबर तौल रखने के लिये बहुधा किनारे तराश दिए जाते थे। बाद में सेठ और महाजन लोग अपनी अपनी निजी छाप उन पर छाप दिया करते थे। ये सिक्के आज कल अंग्रेज़ी मे 'पंच-मार्क्ड'[1] सिक्कों के नाम से प्रसिद्ध है। (देखिए प्लेट १, संख्या १-६) इन सिक्कों पर अनगिनित अद्भुत और आश्चर्यजनक छापें देखने में आती हैं। जैसे वृक्ष, हाथी, गैंडा, मछली, तराजू, सूर्य इत्यादि इत्यादि। ये निशान प्रायः भिन्न भिन्न स्थानों, व्यापारी जनों और महाजनों के नाम के सूचक हैं। परंतु निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि कौन सा निशान किस स्थान विशेष को सूचित करता है। संभव है कि आगे की खोजों से इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर कुछ प्रकाश पड़े

---

[1] Punch marked

और इस की समस्या भी हल हो जाय। साधारणतः यह जान लेना चाहिये कि जिन सिक्कों पर एक ही ओर चिह्न हों या जो चौकोर हों वे अधिक पुराने है। जो सिक्के गोल हों और जिन पर दोनों ओर चिह्न हों उन्हे कम पुराने समझना चाहिये।

अब तक यह ख़याल था कि एक ही निशान किसी स्थान विशेष या महाजन विशेष को सूचित करता है। परंतु अभी थोड़े बरस हुए हैं[1] यह बात सिद्ध हो गई है कि एक ही व्यक्ति या स्थान से संबंध रखने वाले एक से अधिक, तीन-तीन या चार-चार चिह्न हो सकते हैं।

उपरोक्त प्रकार के सिक्कों के कई दफीने अभी हाल ही में संयुक्त प्रांत मे प्राप्त हुए हैं। इन में से एक दफ़ीना १०१४ 'पंच मार्क्ड' सिक्कों का मौज़ा पीला, ज़िला खीरी से प्राप्त हुआ है। उस के संबंध में वाल्श साहब जाँच कर रहे हैं। दूसरा दफ़ीना क़रीब एक हज़ार सिक्कों का, ज़िला उनाव से पिछले वर्ष प्राप्त हुआ है। इस पर मैं स्वयं विचार कर रहा हूँ। बहुत संभव है कि इन जाँचों में उन के संबंध मे कोई विशेष बात ज्ञात हो सके।

इस प्रकार के चाँदी तथा सोने के सिक्के ईसा से पूर्व की छठी सदी के लगभग प्रचलित थे जैसा कि भरहुत और बुद्ध गया के पत्थर के जंगलों और स्तंभों के देखने से मालूम होता है।

ईसा से पूर्व पाँचवीं सदी में कुछ ताँबे के सिक्के ढाले गए और ईसा से पूर्व की चौथी से दूसरी सदी तक के ढले हुए सिक्के प्रायः कौशांबी (ज़िला इलाहाबाद), अयोध्या (ज़िला फैजाबाद) और मथुरा से प्राप्त हुए हैं। और इसी काल के ठप्पे से तैयार किए हुए सिक्के भी प्रायः देखने में आते हैं। कुछ ताँबे के सिक्कों पर चाँदी की क़लई भी नज़र आती है।

कोसम (कौशांबी) के सिक्कों पर (देखिए प्लेट १, संख्या ७-१२) एक
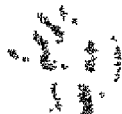
---

[1]बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल (१९१९ में डाक्टर स्पूनर

और बौद्ध-धर्म के पवित्र चिह्न जैसे चैत्य, नंदीपद, स्वस्तिक, जंगले के अंदर वृक्ष और ब्राह्मी अक्षरों में राजा का नाम, जैसे बृहस्पतिमित्र और अश्वघोष पाया जाता है और दूसरी ओर खड़े हुए साँड की शकल बनी हुई है।

अयोध्या के सिक्कों पर (देखिए प्लेट १,२, संख्या १३-१४) एक बैल या हाथी मिलेगा और नीचे ब्राह्मी अक्षरों में राजा का नाम अंकित है, जैसे, विशाखदेव, धनदेव, शिवदत्त, कुमुदसेन, अजवर्म, आयुमित्र, सत्यमित्र, देवमित्र और जयमित्र। दूसरी ओर भिन्न भिन्न चिह्न होंगे, जैसे जंगले के अंदर वृक्ष, त्रिशूल नंदीपद, ताड़ का वृक्ष, कुक्कुट इत्यादि।

मथुरा के सिक्के भी अधिकतर ताँबे के हैं। (देखिए प्लेट २, संख्या १५-१७) उन के एक ओर प्रायः खड़े हुए मनुष्य की मूर्ति बनी हुई है और ब्राह्मी अक्षरों में राजा का नाम लिखा हुआ है। दूसरी ओर घोड़ा, हाथी, त्रिशूल या लक्ष्मी की शकल बनी हुई है। इन सिक्कों पर निम्न-लिखित राजाओं के नाम पाए गए हैं—बलभूति, पुरुषदत्त, भूदत्त, आत्मदत्त, रामदत्त, गोमित्र, विष्णुमित्र और ब्रह्ममित्र।

रेपसन साहब ने 'जर्नल अव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी' में[1] एक लेख इन के विषय में लिखा था जिस से चार अन्य राजाओं के नाम मालूम हुए हैं। वे हैं शेषदत्त, कामदत्त, शिवदत्त और शिशुचंद्रदत्त।

ईसा से एक सदी पूर्व से एक सदी बाद तक एक विशेष प्रकार के ताँबे के सिक्के (देखिए प्लेट २, संख्या १८-२२) पाए जाते हैं। उन के एक ओर चौकोर गहरा निशान दिखाई देता है। इस खाने के भीतर तीन विशेष चिह्न हैं जो कि पांचाल देश के सूचक हैं और राजा का नाम ब्राह्मी अक्षरों में मिलता है। दूसरी तरफ़ कोई निशान बौद्ध-मत के ढंग के जँगले पर बना होता है या किसी देवता की मूर्ति (जैसे अग्नि, इंद्र) खड़ी होती है। ऐसे सिक्के अहिछत्र से जो उस समय पांचाल की राजधानी थी और आजकल रामनगर (ज़िला बरेली) के नाम से प्रसिद्ध है बहुत अधिक संख्या में प्राप्त होते हैं।

---

[1] १९०१, पृ० १०९ ११५

इसी स्थान में, सन् १८९१-२ ईस्वी में डाक्टर फ्यूरर साहब ने एक शिव के मंदिर को खुदवाया था। उस में १६ सिक्के प्राप्त हुए थे। ये सब मित्र वंश के निम्न लिखित राजाओं के हैं—धीरुमित्र, सूर्यमित्र, भानुमित्र इंद्रमित्र, भूमिमित्र, फाल्गुणीमित्र, बृहस्पतिमित्र, द्विपाल, भद्रकोष, विष्णुमित्र और जयमित्र।

सन् १९१५ ईस्वी में सिक्कों का एक दफ़ीना अहिछेत्र ज़िला बरेली में प्राप्त हुआ है जिस में केवल इंद्रमित्र और विष्णुमित्र के सिक्के मिले हैं। हाल ही में, अर्थात् नवंबर १९२९ में मिस्टर पॉवेल प्राइस ने इसी प्रकार का एक सिक्का (देखिए प्लेट २, संख्या २३) मेरे देखने के लिये भेजा था। उस पर रुद्रगुप्त का नाम बहुत साफ पढ़ा गया। कनिंघम साहब ने एक ऐसे ही सिक्के का अपनी पुस्तक[1] में हवाला दिया है। लेकिन उस पर 'रुद्र' स्पष्ट न होने के कारण उन्हों ने उसे पहिले 'चंद्र' पढ़ा था।

इस से पूर्व कि मुग़ल-टकसालों का वर्णन करूँ मैं जौनपुर के शरक़ी वंश के सिक्कों के संबंध में कुछ बता देना चाहता हूँ। क्योंकि इस स्थान पर बहुत काल से सिक्के बनते आए हैं। जौनपुर के शरक़ी वंश का संस्थापक ख्वाजाजहान, दिल्ली सुल्तान महमूदशाह द्वितीय का वज़ीर था। उस ने जौनपुर को बहुत तरक़्क़ी दी। और आस पास के इलाक़ों पर अपनी हुकूमत जमा ली।

इस वंश के तीसरे सुल्तान इब्राहीमशाह के समय में अटाला और दूसरी मसजिदें बनीं। उसी के समय से अर्थात् सन् १४०० ईस्वी से जौनपुर में सिक्कों का ढलना आरंभ हुआ। और यह क्रम सन् १४७६ ईस्वी तक चला गया। इस स्थान के सोने और चाँदी के सिक्के बहुत कम प्राप्त होते हैं परंतु चाँदी और ताँबे की मिलावट के तथा ताँबे के सिक्के बहुतायत से पाए जाते हैं। इन सिक्कों के एक तरफ़ साधारणतः—

---

[1] कनिंघम 'क्वाइंस अव एंशेंट इंडिया', पृ० ८१

الخليفه اميرالمومنين خلدت خلافته

अलखलीफ़ा अमीरुलमोमनीन खल्दत खिलाफ़तोहा

अर्थात् खलीफ़ा अमीरुलमोमनीन की खिलाफ़त हमेशा क़ायम रहे, लिखा है। और दूसरी तरफ़ बादशाह का नाम अंकित है। परंतु महमूदशाह, मुहम्मदशाह व हुसैनशाह (जिन्हें कि बहलोल लोदी ने सन् १४७६ ईस्वी में तख्त से अलग कर दिया था) के सिक्कों पर बादशाहों के नाम उन के बाप और दादों के नामों के सहित अंकित है। इन सिक्कों पर टकसाल का नाम नहीं मौजूद है यद्यपि वे वास्तव में जौनपुर में ही बने थे। मुहम्मदशाह के समय का केवल एक ताँबे का सिक्का जिस पर कि 'ज़रब जौनपुर' लिखा हुआ है ब्रिटिश अजायब घर में सुरक्षित है।

मुग़ल बादशाहों के सिक्कों पर टकसालों के नाम बहुत अधिक संख्या में पाए जाते हैं और इन से बहुत से ऐतिहासिक प्रसंगों पर प्रकाश पड़ता है। इन से यह सरलता से जाना जाता है कि देश के किस भाग में और कहाँ तक किस बादशाह का शासन था। और उस के समय में देश की आर्थिक अवस्था कैसी थी, इस के अतिरिक्त विद्या, सभ्यता, कलाकौशल की उन्नति के विषय में भी पता चलता है।

हिंदुस्तान में बाबर बादशाह ने सात टकसालें स्थापित कीं। हुमायूँ के समय में नौ हुईं और बढ़ते बढ़ते अकबर के समय में संख्या ७२ तक पहुँच गई। इस अधिकता का मूल कारण अकबर की अनेकों विजय थीं। लेकिन यह कोई आवश्यक बात न थी कि साम्राज्य के विस्तार के साथ टकसालों की संख्या बढ़े। क्योंकि औरंगज़ेब का साम्राज्य यद्यपि अकबर से कहीं विस्तृत था परंतु उस के समय में टकसालों की संख्या केवल ६८ रह गई थी।

इस प्रांत में अकबर की प्रसिद्ध टकसालें आगरा, जौनपुर, लखनऊ, इलाहाबाद और फ़तेहपुर में थीं।

मैं सब से पहिले आगरा टकसाल के सिक्कों पर आप का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ इस टकसाल से भिन्न भिन्न ढंग के बहुत ही सुंदर सिक्के निकले हैं

आगरा

आगरा की टकसाल बाबर के शासन काल में स्थापित हुई थी और बाबर तथा हुमायूँ के समय मे यहाँ चाँदी और ताँबे के सिक्के तैयार हुए। चाँदी का सिका अर्थात् 'दिरहम' एशियाई ढंग के अनुसार पतला बनाया गया था और ताँबे के सिक्के बहलोली वज़न (१४५ ग्रेन) पर बनाए गए थे। उन पर बादशाहों के नाम अंकित नहीं हैं। और आगरे की जगह पर 'दारुल खिलाफत आगरा', 'दारुल अदल आगरा' और 'दारुल अमान आगरा' अंकित हैं। अकबर ने यहाँ सोने के सिक्के भी ढालना शुरू किए। उस की मुहर का वज़न १६८ ग्रेन है और रुपये का १७८। एक खास मेहराबी शकल की मुहर (देखिए प्लेट ३, संख्या २८) जिस पर 'ज़रब बल्दए आगरा' अंकित है अकबर बादशाह ने ९८१ हिज्री में चलाई। इसी की एक और मुहर (देखिए प्लेट ३, संख्या ३०) आगरा टकसाल से अकबर के उनचासवें सन इलाही में जारी हुई थी। इस का एक नमूना लखनऊ के अजायब घर में भी है। ब्रिटेन के अजायब घर में एक बहुत ही नायाब मुहर इलाही सन ५० की मौजूद है। उस पर एक ओर एक बतख बनी हुई है और दूसरी ओर
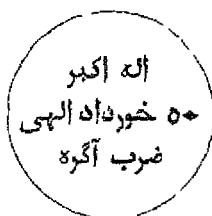
अर्थात्

लिखा है।
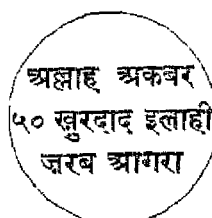
एक और चाँदी का सिका है (देखिए प्लेट ३, संख्या २९) जो कि बहुत
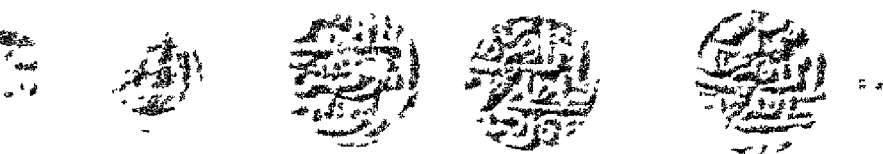
ही दुष्प्राप्य है परंतु सौभाग्य से लखनऊ अजायब घर के लिये प्राप्त कर लिया गया है। उस पर 'रुपया' शब्द लिखा हुआ है और आगरा टकसाल से निकला है। इस के संबंध में मुख्य बात यह है कि किसी चाँदी के सिक्के पर 'रुपया' शब्द नहीं लिखा है यद्यपि साधारणतः चाँदी के विशेष तौल के सिक्के को रुपया कहते हैं।

अकबर के दाम अर्थात् ताँबे के सिक्के को फलूस, टंका, नीमटंका, चौटाँकी, दोटाँकी और एकटाँकी इत्यादि तौल के अनुसार कहते हैं।

जहाँगीर के शासन-काल में आगरा की टकसाल से बहुत ही सुंदर सिक्के तैयार हुए। सिक्कों का तौल कुछ बढ़ा दिया गया था। एक अशर्फ़ी जिस का तौल पाँच मुहरों के बराबर (अर्थात् ८४३ ग्रेन) था सन् १०२८ हिज्री में प्रचलित हुई थी और वह इस समय भी ब्रिटेन के अजायब घर में सुरक्षित है।

उस पर नीचे लिखी लिखावट अंकित है—

از شاه جهانگیر بود دور زماں
در اگره ز نام اوست زر نور فشاں
تا هست نشاں ز پنج نوبت بجهاں
ایں سکه پنج مهریش باد رواں

(अज़ शाहे जहाँगीर बुवद दौरे ज़माँ,
दर अगरा ज़े नामे ऊस्त ज़रे नूर फ़िशाँ।
ता हस्त निशाँ ज़े पंज नौबत ब जहाँ,
ईं सिक्कए पंज मुहरियश बादे रवाँ॥)

अर्थात्—

शाह जहाँगीर से समय का चक्र चलता है: आगरा में उस के नाम से स्वर्ण प्रकाश डालता है। जब तक पाँच नौबतों का निशान है, तब तक यह पंच मुहरी सिक्का जारी रहे।

इसी सन् १०२८ हिज्री में जहाँगीर ने राशी मुहरें (देखिए प्लेट ३, संख्या ३१) तैयार कराईं। यह उस की एक बिल्कुल नई ईजाद थी। इन मुहरों पर एक तरफ़ तो बादशाह और   का नाम है और दूसरी ओर उस विशेष

रास (राशि) की शकल है जिस राशि के महीने में वह सिक्का जारी किया ग
था। उदाहरण के लिये फ़रवरदीन महीने के बने हुए सिक्के पर मेष की श
बहुत सुंदरता से अंकित है।

कुछ लेख जो बादशाह जहाँगीर के शासन-काल में, आगरा टकसाल
सिक्कों पर पाए गए हैं, निम्न-लिखित हैं—

سکہ زد در شہر اگرہ خسرو گیتی پناہ
شاہ نورالدین جہانگیر ابن اکبر بادشاہ

(सिक्का ज़द दर शहरे अगरा ख़ुसरवे गेती पनाह,
शाह नूरुद्दीं जहाँगीर इब्ने अकबर बादशाह।)

संसार के संरक्षक, अकबर बादशाह के बेटे शाह नूरुद्दीन जहाँगी
आगरा शहर में यह सिक्का बनवाया। (देखिए प्लेट ३, संख्या ३२)

زد باگرہ سکۂ شاہی بزر در مہر و ماہ
شاہ نورالدین جہانگیر ابن اکبر بادشاہ

(ज़द ब अगरा सिक्कए शाही बज़र दर मेहो माह,
शाह नूरुद्दीं जहाँगीर इब्ने अकबर बादशाह।)

यह शाही सिक्का सोने पर, मेह्र महीने में, अकबर बादशाह के
शाह नूरुद्दीन जहाँगीर ने बनवाया।

در مہ آباں باگرہ سکہ زد ظل الہ
شاہ نورالدین جہانگیر ابن اکبر بادشاہ

(दर महे आबाँ ब अगरा सिक्का ज़द ज़िल्ले इलाह,
शाह नूरुद्दीं जहाँगीर इब्न अकबर बादशाह।)

आबाँ मास में, आगरे में, ईश्वर के छाया रूप अकबर बादशा
बेटे शाह नूरुद्दीन जहाँगीर ने यह सिक्का बनवाया।

در مہ بہمن باگرہ سکہ زد ظل الہ
شاہ نورالدین جہانگیر ابن اکبر بادشاہ

दर महे बहमन ब अगरा सिक्का ज़द ज़िल्ले इलाह,

बहमन महीने में, आगरा में, ईश्वर के छाया रूप अकबर बादशाह के बेटे शाह नूरुद्दीन जहाँगीर ने यह सिक्का बनवाया।

در اسفندار مد این سکه را در اگره زد بر زر
شهنشاه زمان شاه جہانگیر ابن شاہ اکبر

(दर अस्कंदार मद ईं सिक्क रा दर अगरा ज़द बर ज़र,
शहंशाहे ज़माँ शाहे जहाँगीर इब्न शाह अकबर।)

अस्कंदार महीने में सोने का यह सिक्का, आगरा में, ज़माने के बादशाह अकबर शाह के बेटे, शाह जहाँगीर ने बनवाया।

بفروردین زر اگرہ فروزاں گشت چوں اختر
ز نور سکۂ شاہ جہانگیر ابن شاہ اکبر

(ब फ़रवरदीं ज़रे अगरा फ़रोज़ां गश्त चूं अख़्तर,
ज़े नूरे सिक्कए शाहे जहाँगीर इब्न शाह अकबर।)

शाह अकबर के बेटे शाह जहाँगीर के सिक्के की ज्योति से फ़रवरदीन मास में आगरे का सोना एक सितारे की तरह दीप्तिमान हो गया।

یافت در اگرہ روے زر زیور
از جہانگیر شاہ شاہ اکبر

(याफ़्ते दर अगरा रूए ज़र ज़ेवर,
अज़ जहाँगीर शाह शाह अकबर।)

शाह अकबर (के बेटे) शाह जहाँगीर द्वारा आगरे में स्वर्ण के मुख को शृंगार मिला।

سکۂ اگرہ داد زینت زر
از جہانگیر شاہ شاہ اکبر

(सिक्कए अगरा दाद ज़ीनते ज़र,
अज़ जहाँगीर शाह शाह अकबर।)

शाह अकबर (के बेटे) शाह जहाँगीर द्वारा आगरे के सिक्के ने स्वर्ण को प्रतिष्ठा प्रदान की।

इन के अतिरिक्त एक सिक्का (देखिए सट ३, सं० ३३) जिस पर नूरजह

बेगम का नाम भी मौजूद है आगरे की टकसाल से जारी हुआ था। उस पर यह लेख अंकित है—

بحکم شاہ جہانگیر یافت صد زیور
ز نام نورجہاں پادشاہ بیگم زر

(बहुक्मे शाह जहाँगीर याफ़्त सद जेवर,
ज़े नाम नूरेज्हाँ पादशाह बेगम ज़र।)

शाह जहाँगीर की आज्ञा से, उस की बेगम नूरजहाँ के नाम द्वारा स्वर्ण ने सौगुना सौंदर्य प्राप्त किया।

सन् १०३८ हिज्री, तद्नुसार सन् १६२८ ई० मे शाहजहाँ ने आगरे का नाम बदल कर अकबराबाद रख दिया। और उस शहर को दारुल्खिलाफ़त अकबराबाद के नाम से प्रसिद्धि मिली।

औरंगजेब के समय मे भी आगरा अर्थात् अकबराबाद की टकसाल से सिक्के निकलते रहे और गद्दी पाने के उनतीसवें साल में मुस्तकिरुल्खिलाफ़त का पद इसे प्रदान किया गया। औरंगज़ेब के सिक्कों पर निम्न लेख अंकित है—

سکہ زد در جہاں چو مہر منیر
شاہ اورنگزیب عالمگیر

(सिक्का ज़द दर जहाँ चु मेह्र मुनीर,
शाह औरंगजेब आलम गीर।)

यह तो सोने के सिक्कों पर है। चाँदी के सिक्कों पर 'मेह्र' (सूर्य) के स्थान पर 'बद्र' (चाँद) लिखा है।

शाहआलम बहादुरशाह के ज़माने में आगरे का यह नाम फिर बदला और यह मुस्तक़ुल्मुल्क कहा जाने लगा। जहाँदारशाह और फ़र्रुखसियर ने यह नाम जारी रक्खा लेकिन फ़र्रुखसियर ने अपने पाँचवें सने जलूस मे फिर पुराना नाम अर्थात् मुस्तक़िरुल्खिलाफ़त आरंभ किया। बाद मे शाहआलम द्वितीय तक इस नाम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ जान पड़ता है।
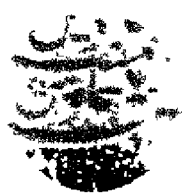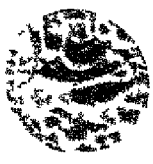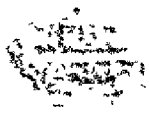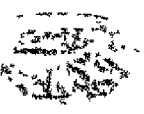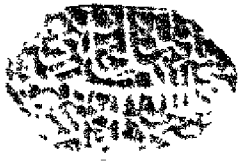
और यमुना नदियों के संगम पर एक क़िले की तथा नगर की नींव डाली जैसा कि बदायूनी[1] ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि तेईसवें माह सफर को बादशाह सलामत ने प्रयाग में क़याम किया जो उस समय 'इलाहाबास' के नाम से मशहूर था। उन्हों ने एक बहुत विशाल इमारत के बनने के लिये हुक्म दिया और नगर का नाम इलाहाबाद रख दिया। लेकिन पुराना नाम[2] (अर्थात् इलाहाबास) सन १५९७ ईस्वी तक कायम रहा। इस का प्रमाण हमें लाहौर के अजायब घर के एक ताँबे के सिक्के (नं० ६७७) के देखने से मिलता है। क्योंकि उस पर सन ४७ इलाही (तदनुसार १००० हिज्री और १५९३ ईस्वी) लिखा हुआ है और पुराना नाम 'इलाहाबास' भी मौजूद है। नए नाम (अर्थात् इलाहाबाद) की टकसाल के चाँदी के सिक्के (देखिए प्लेट ३, संख्या ३४) जिन पर निम्न-लिखित शेर खुदा हुआ है संभवतः हिज्री सन ९९१ (सन १५८३ ई०) से हिज्री १००३ (सन १५९५ ई०) तक प्रचलित रहे। यद्यपि कोई सिक्का जिस पर ऐसी कोई तारीख़ अंकित हो अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। बहुत संभव है कि जिन सिक्कों पर यही शेर अंकित हो और तारीख़ न हो वह इसी समय के अर्थात् ९९१ से १००३ हिज्री के बीच के हों :

همیشه همچو زر مهر و ماه رائج باد
بغرب و شرق جهان سکه الهٰ آباد

(हमेशा हमचु ज़रे मेहो माह रायज बाद,
बग़र्बो शर्क़ जहाँ सिक्कए इलाहाबाद।)

अर्थात्—

हमेशा चाँद और सूरज की तरह पूरब से ले कर पश्चिम तक दुनिया में इलाहाबाद का सिक्का चलता है।

इस शेर का रचयिता शरीफ़ सरमदी था और उस की यह रचना उस

---

[1] लो कृत अनुवाद (बिब्लियाथेका इंडिका संस्करण) १८८३, पृ० ३७२।

[2] इलाही ढंग की अकबर की एक चवन्नी पर जो ब्रिटिश अजायब घर में है इलाहाबाद लिखा है।

समय हुई जब कि अकबर बादशाह सैर व आमोद के लिये आगरे से रवाना हो कर इलाहाबाद में पधारे थे और उन्हों ने यह निश्चय किया था कि इलाहाबाद उस समय से दारुस्सल्तनत माना जाय। इस से मालूम होता है कि इलाहाबाद उस समय इस प्रतिष्ठा के योग्य समझा गया था।

इसी टकसाल का जहाँगीर का भी एक सुंदर चाँदी का सिक्का (देखिए प्लेट ३, संख्या २५) लखनऊ के अजायब घर में सुरक्षित है। उस पर निम्न पद अंकित है—

همیشه نور زر و سکهٔ الهآباد

ز نام شاه جهانگیر شاه اکبر باد

(हमेशा नूर ज़रो सिक्कए इलाहाबाद,

ज़े नाम शाह जहाँगीर शाह अकबर बाद।)

सदा इलाहाबाद के सोने के सिक्के का प्रकाश शाह अकबर (के बेटे) शाह जहाँगीर के नाम से क़ायम रहे।

जहाँगीर बादशाह के सलीमी सिक्के जो बादशाह अकबर के जीवन काल में तैयार हुए थे, इलाहाबाद की ही टकसाल से निकले थे।

लखनऊ

शरकी बादशाहों के समय में लखनऊ जौनपुर का एक टुकड़ा था। परंतु सन् १४७८ ई० में अर्थात् जिस साल शाह मीना साहब की मृत्यु हुई, बहलोल लोदी का उस पर अधिकार हो गया। सन् १५२८ ई० में अर्थात् पानी-पत की लड़ाई के बाद यह शहर बाबर के अधिकार में आ गया। उस समय बाबर ने चाँदी का एक दिरहम लखनऊ की टकसाल से चलाया। यह सिक्का बहुत कम प्राप्त होता है परंतु इस का एक नमूना मास्को (रूस) में एक सज्जन

(फिर एक नक्काशीदार चौकोर कोष्ठक में)

ابوبکرالصدیق	अबू बक्र अस्सिद्दीक
عمرالفاروق	उमर अल्फ़ारूक़

दूसरी ओर एक सुंदर मेहराब के भीतर—

۹۳۶	९३६
ظهیرالدین محمد بابر	ज़हीरुद्दीन मुहम्मद बाबर
بادشاه غازی	बादशाह ग़ाज़ी

तथा मेहराब के ऊपर—

[السلطا]ن الاعظم خاقان[المکرم]	[अस्सुल्ता] नुल् आज़म ख़ाक़ानु [ल्मुकर्रम]

और उस के नीचे—

[خلد]الله تعا[لی] ملکه لکهنئو	[ख़ल्लद] अल्लाह तआ [ला]
[و] سلطانه ضرب	मुल्कहू लखनऊ व सुल्तानहु ज़रब

शेरशाह सूर ने पहिले-पहिल लखनऊ में ताँबे के सिक्के ढालने के लिये एक टकसाल स्थापित की थी उस के ताँबे के सिक्के पर यह लेख अंकित है—

(एक तरफ़)

فی عهد	फ़ी अहद।
الامیرالحاکم	इलमीरिल हाकिम
فریدالدنیاوالدین	फ़रीदिद्दुनियावद्दीन

(दूसरी तरफ़)

ابوالمظفر	अबुलमुज़फ्फर
شاه سلطان	शाह सुल्तान
شیر	शेर
ضرب خلد الله	ज़रब ख़ल्लद अल्लाह
لکهنئو ملکه	लखनऊ मुल्कहू

इस का सिलसिला अकबर के ——— ——— के सैंतीसवें सा[ल]
तक चलता रहा उस की हकूमत में ताँबे के सिक्कों के अतिरिक्त चाँदी

सिक्के भी ढाले गए। लखनऊ के अजायबघर में एक चाँदी का सिक्का (देखिए प्लेट ३, संख्या ३६) अकबर के समय का अब भी मौजूद है। अकबर के ताँबे के सिक्कों पर जो कि ९६३ हिज्री मे बने थे 'लखनऊ ख़िता' लिखा हुआ है। और ९६७ हिज्री के सिक्को पर 'लखनऊ सरकार' अंकित है। ९७५ से ले कर ९८७ हिज्री तक के सिक्कों पर 'दारुल्‌ख़िलाफ़त' लिखा है। परंतु ९६७ में दोनों प्रकार के सिक्के अर्थात् 'लखनऊ ख़िता' और 'लखनऊ सरकार' वाले तैयार हुए थे।

इस के विपरीत जहाँगीर बादशाह के शासन काल का कोई सिक्का इस टकसाल का नहीं पाया जाता। हाँ, शाहजहाँ की एक मुहर इस टकसाल की प्राप्त हुई है। और यह लाहौर के अजायब घर मे सुरक्षित है।

औरंगज़ेब के तख़्त पर बैठने के उन्नीसवे वर्ष से मुहम्मदशाह के ज़माने के आरंभ तक लखनऊ में सिक्के बनते रहे।

निम्न लिखित बादशाहों के सिक्के जिन पर कि 'ज़रब लखनऊ' अंकित है प्राप्त होते हैं—शाह आलम जहाँदारशाह, फ़र्रुख़सियर, रफ़ीउद्दरजात, शाह-जहाँ द्वितीय, मुहम्मदशाह (देखिए प्लेट ३, संख्या ३७)।

फ़तेहपूर

फ़तेहपूर, जिस की नींव शाह अकबर ने मौज़ा सीकरी में डाली थी कुछ समय तक उक्त बादशाह की राजधानी रहा। सन् ९८२ हिज्री में एक ताँबे का सिक्का तैयार हुआ जिस पर फ़तेहपूर को 'दारुस्सल्तनत' लिखा है। चौकोर रुपया (देखिए प्लेट ३, संख्या ३८) जिसे कि अकबर का चारयारी का रुपया भी कहते हैं इसी टकसाल में बना था। जहाँगीर के सोने और चाँदी के कुछ रासी सिक्के भी यहाँ से ज़ारी हुए थे। उन में से एक मकर रास के सिक्के का वर्णन रॉजर्स[1] साहब ने किया है जिस पर निम्न शेर अंकित है—

بفتحپور فروزنده گشت سکهٔ زر
ز نور نام جهانگیر شه شهٔ اکبر

(ब फ़त्हपूर फ़रोज़ंद: गश्त सिक्कए ज़र ,
ज़े नूरे नामे जहाँगीर शह शहे अकबर ।)

अकबर शाह (के बेटे) शाह जहाँगीर के नाम के प्रकाश से फ़तहपूर में सोने का सिक्का प्रदीप्तमान हुआ ।

शाहजहाँ का एक रुपया यहाँ तैयार हुआ है[1] । परंतु बाद में इस टकसाल का नाम व निशान बिल्कुल नहीं मिलता ।

फ़र्रुख़ाबाद

यह टकसाल ११३० हिज्री में फ़र्रुख़सियर बादशाह के समय में स्थापित हुई । और इसी कारण इस स्थान का नाम फ़र्रुख़ाबाद (देखिए प्लेट ३, संख्या ३९) पड़ गया । मुहम्मदशाह के समय में फ़र्रुख़ाबाद नवाब अवध के अधिकार में आ गया । लेकिन अहमद ख़ाँ ने फिर उस पर अपना अमलदख़ल कर लिया । और इसी कारण यह शहर अहमदनगर कहलाया जाने लगा । आलमगीर द्वितीय के राजत्व-काल के दूसरे वर्ष से इस टकसाल का नाम सिक्कों पर 'अहमदनगर फ़र्रुख़ाबाद' (देखिए प्लेट ३, संख्या ४०) आरंभ हुआ । यह स्थान अंग्रेज़ी सरकार के अधिकार में सन् १२१७ हिज्री में आ गया और उस समय से इस का नाम केवल फ़र्रुख़ाबाद रह गया ।

इसी प्रकार यदि संयुक्त-प्रांत की उन सभी टकसालों का जहाँ से किसी न किसी मुग़ल बादशाह ने सिक्के जारी किए थे विस्तार से वर्णन किया जाय तो लेख बहुत बढ़ जायगा । अतएव मैं केवल शेष टकसालों के नाम जो कि अब तक मालूम हुए हैं प्रस्तुत कर के लेख को समाप्त करता हूँ ।

१—इटावा ।

२—इस्लामाबाद (मथुरा) ।

---

[1] ह्वाइटहेड 'लाहौर म्यूज़ियम कैटलॉग , भूमिका, पृ० ९०

३—अकबरपुर—टाँडा।

४—आँवला।

५—अवध (खित्ता अख्तर नगर सूबा)।

६—बरेली (आसफाबाद)।

७—बिसौली।

८—बलवंत नगर (झाँसी)।

९—बनारस (मुहम्मदाबाद)।

१०—वृंदावन (मोमिनाबाद)।

११—बहराइच।

१२—श्रीनगर (गढ़वाल)।

१३—सहारनपूर।

१४—जफराबाद।

१५—कन्नौज (शाहगढ़, शेरगढ़, दारुल्खिलाफत शाहाबाद)।

१६—कालपी।

१७—कोरा।

१८—कोंच।

१९—गोरखपुर (मुअज्जमाबाद)।

२०—मुरादाबाद।

२१—मुस्तफाबाद (रामपुर)।

२२—मेरठ।

२३—हाथरस।

२४—हरद्वार।

२५—बदायूँ।

२६—अलीनगर।*

२७—नजीबाबाद।

२८—संभल।

२९—दोगाँव

३०—नजफ़गढ़ ।

३१—मानिकपूर ।

३२—झूँसी ।

३३—चुनार (मिर्ज़ापूर) ।

३४—अब्दुल्ला नगर* (पिहानी) ।†

---

* इन टकसालों का लेखक ने पता लगाया है ।

† यह लेख एकेडेमी की गत वर्ष की कांफ्रेंस में पढ़ा गया था ।

स्वर्गीय श्रीयुत कृष्णबलदेव वर्मा

[लेखक—संपादक]

'हिंदुस्तानी' के पिछले अंक में हम अपने संपादक-मंडल के सुयोग्य सदस्य श्रीयुत कृष्णबलदेव वर्मा की मृत्यु पर शोक प्रकाशित कर चुके हैं। वर्मा जी हिंदुस्तानी एकेडेमी की कौंसिल के, तथा कार्यकारिणी समिति के भी मान्य सदस्य थे। आप का हम से जो निकटतर संबंध था उस के कारण इस घटना का हमें विशेष दुःख होना स्वाभाविक है। परंतु आप की मृत्यु से संपूर्ण हिंदी संसार को एक भारी क्षति पहुँची है। आप हिंदी भाषा के बहुत पुराने सेवियों में से थे और अपने अंतिम दिनों तक उस सेवा में जिस उत्साह के साथ लगे थे उसे देख कर उन से कम अवस्था वालों को लज्जित होना पड़ता था।

हिंदुस्तानी एकेडेमी की पिछली कौंसिल की बैठक में, जो कि विगत ४ अप्रैल को हुई थी, सभापति के आसन से, डाक्टर सर शाह मुहम्मद सुलैमान ने, आप की मृत्यु पर खेद प्रकाशन करते हुए तथा आप की साहित्य-सेवा की सराहना करते हुए, प्रस्ताव उपस्थित किया था। उसी समय यह भी निश्चय हुआ था कि रायसाहब बाबू श्यामसुंदरदास स्वर्गीय वर्मा जी के जीवन तथा साहित्य-सेवा के संबंध में, एक लेख, कौंसिल की आगामी बैठक के अवसर पर पढ़ें। इस कार्य के लिये रायसाहब से अधिक उपयुक्त कोई व्यक्ति चुना नहीं जा सकता था। रायसाहब बाबू श्यामसुंदरदास स्वर्गीय वर्मा जी के अनन्य मित्रों में से हैं और उन की कृतियों से सुपरिचित हैं। इस बीच में स्वर्गीय वर्मा जी का हम संक्षिप्त परिचय यहाँ पर उपस्थित करते हैं।

श्रीयुत कृष्णबलदेव वर्मा का जन्म संवत् १९२७ वि० में, जालौन ज़िले के कालपी नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर में हुआ था आप का वंश एक प्राचीन और प्रतिष्ठित [illegible] वंश है। [illegible]

स्वर्गीय श्रीयुत कृष्णबल्देव वर्मा

पंजाब के सरहिंद भाग से आ कर कालपी में बस गए थे। उन्हों ने कालपी में अपना व्यापार फैलाया और थोड़े ही समय में वहाँ के सब से बड़े व्यापारी बन गए। उन का मुख्य रोजगार हुंडीवाली और महाजनी था। उस समय कालपी बुंदेलखंड का प्रमुख नगर तथा व्यापार की बड़ी मंडी थी। कृष्णबलदेव जी के पूर्वज केवल बड़े व्यापारी ही नहीं थे बल्कि तलवार के धनी भी थे। वर्मा जी के पितामह ने, अंग्रेज़ी फौज के ख़ज़ांची बन कर पेशावा, किरकी और पिंडारों के युद्ध में ख़ासा भाग लिया था, जिस के स्मारक स्वरूप उन के शरीर पर पंद्रह बीस घावों के चिह्न थे। आप का कारबार कालपी के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी फैला हुआ था। राठ, कैथा, सागर, कामटी आदि बुंदेलखंड और मध्य प्रदेश के कई स्थानों पर उन के कारबार की शाखाएँ थीं। सन् १८५७ के विद्रोह ने देश में बड़े भयंकर परिवर्तन कर दिए। कालपी इस तूफ़ान का एक प्रधान केंद्र था। यहाँ पर नाना साहब, झाँसी की रानी, जालौन की ताई बाई और अंग्रेज़ों आदि के कई दौर-दौरे हुए जिन में शहर बुरी तरह लूटा गया। ग़दर के इस उलट-फेर में वर्मा जी के परिवार को बहुत गहरी हानि उठानी पड़ी और बड़े कष्ट सहने पड़े।

कृष्णबलदेव जी के पिता स्वर्गीय लाला कन्हई प्रसाद खत्री, बड़े सात्विक प्रकृति के धर्मभीरु और साहित्य-प्रेमी सज्जन थे। उन के यहाँ नगर के साहित्य-रसिक बराबर आया-जाया करते थे। बालक कृष्णबलदेव का लालन-पालन इसी साहित्यिक वातावरण में हुआ था। केशवदास की कृतियों के प्रति प्रेम, स्वर्गीय वर्मा जी को इसी समय से हुआ था। वह अकसर कहा करते थे कि केशवदास का यह प्रेम मैं ने अपने पिता से पाया है। प्रारंभ मे उन्हों ने 'रामचंद्रिका' अपने पिता से ही पढ़ी थी।

कृष्णबलदेव जी की प्रारंभिक शिक्षा कालपी में ही हुई थी। यहाँ से आप ने वर्नाक्यूलर मिडिल और फिर अंग्रेजी मिडिल की परीक्षाएँ पास की। बचपन से ही वे बड़े कुशाग्र बुद्धि थे और उन्हों ने दोनों परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी मे पास की थीं। मिडिल पास करने के बाद आप लखनऊ मे शिक्षा प्राप्त करने के लिये गए इंट्रैंस और की परीक्षाएँ उन्हों ने कैनिंग कालिज

से पास की। बी० ए० की परीक्षा में भी आप संमिलित हुए थे परंतु अनुत्तीर्ण रहे।

इस का कारण अधिकांश यह था कि छात्रावस्था मे ही आप सार्वजनिक कार्यों मे उत्साह दिखाने लगे थे। और अपना बहुत समय इस में व्यय करने लगे थे। स्वामी रामतीर्थ जो उन दिनों लखनऊ अकसर आया करते थे इन से बहुत प्रसन्न रहा करते थे और इन के सार्वजनिक उत्साह को देख कर उन्हों ने इन का नाम 'खुदाई फौजदार' रख दिया था। उस समय के लखनऊ के प्रसिद्ध सार्वजनिक नेता स्वर्गीय बाबू गंगा प्रसाद वर्मा से आप का घनिष्ट संबंध हो गया था। उन्हीं से कृष्णबलदेव जी ने अपनी राजनीतिक दीक्षा ली थी। दोनों का घनिष्ट संबंध बाबू गंगाप्रसाद की मृत्यु तक रहा। लखनऊ के सज्जनों मे दो और व्यक्ति ऐसे थे जिन का आप से निकटतर संबंध था एक तो स्वर्गीय पंडित बिशननारायण दर और दूसरे अवध-पंच के संपादक स्वर्गीय सज्जाद हुसैन। सज्जाद हुसैन साहब को तो आप प्यार से "भाई साहब मरहूम" कहा करते थे।

सन् १८९९ में लखनऊ में कांग्रेस हुई। कांग्रेस का यह एक महत्त्वपूर्ण अधिवेशन था। उस समय सर सैयद अहमद का दल तथा कई हिंदू नेता मिल कर कांग्रेस का विरोध कर रहे थे और उस के विरुद्ध उन्हों ने एक दल बना लिया था। युवक कृष्णबलदेव जी ने कांग्रेस का पक्षपात किया आप ने कांग्रेस के पक्ष मे प्रचार कार्य भी किया और उस वर्ष की कांग्रेस के स्वयं-सेवकों के नेता भी रहे। कांग्रेस की सफलता में पूर्ण रूप से आप ने भाग लिया। बाद मे भी आप कांग्रेस के कई अधिवेशनों में संमिलित हुए। सार्वजनिक सेवा और साहित्य-सेवा ये दो आप के बराबर व्यसन रहे।

लखनऊ म्यूज़ियम के क्यूरेटर, जर्मन विद्वान डाक्टर फ्यूरर से वर्मा जी की मित्रता हो गई। इन्हीं के संपर्क से आप के मन मे पुरातत्व का प्रेम जागृत हुआ। डाक्टर फ़्यूरर भारतीय इतिहास और पुरातत्व के बड़े पंडित तथा भारतीय दर्शन शास्त्र के परम भक्त थे उन की मैत्री के फल-स्वरूप वर्मा जी के हृदय में प्राचीन भारतीय इतिहास और पुरातत्व के लिये प्रगाढ़

उत्पन्न हो गया जो उत्तरोत्तर बढ़ता गया। बुंदेलखंड के प्राचीन तथा मध्य-कालीन इतिहास का आप ने विशेष रूप से अध्ययन किया था और उस के अच्छे ज्ञाता थे। बंगाल के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय बाबू राखालदास बंद्योपाध्याय आप के बुंदेलखंड संबंधी इतिहास के ज्ञान के क़ायल थे और आप से उस संबंध मे परामर्श किया करते थे। पुराने सिक्कों, हस्तलिखित पुस्तकों तथा अन्य पुरानी वस्तुओं के संग्रह के लिये भी आप को बड़ा शौक था। कुछ संग्रह तो आप के पास मौजूद था और आप का विचार था कि उन के सुरक्षण के विषय में कुछ व्यवस्था हो जाय। हम आशा करते हैं कि आप के वंशज स्वर्गीय वर्मा जी की इस इच्छा का आदर करेंगे। आप ने इस संग्रह-कार्य में अन्य कई इतिहास-प्रेमियों की सहायता भी की थी।

साहित्यक्षेत्र मे भी आप का प्रारंभिक कार्य लखनऊ में ही हुआ था। आप ने लखनऊ मे 'विद्या विनोद' नामक एक प्रेस खोला। यहाँ से आप ने 'विद्या विनोद समाचार' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला। उर्दू के सुदृढ़ दुर्ग से निकलने वाला हिंदी का कदाचित् यह पहिला पत्र था। आप दो वर्ष तक इस पत्र को बड़े उत्साह से निकालते रहे। बाद मे यह पत्र बंद हो गया।

अपने विविध लेखों के अतिरिक्त आप ने इसी समय 'भर्तृहरि राज-त्याग नाटक' और 'प्रेत यज्ञ नाटक' आदि दो तीन पुस्तकों की रचना की।

मिश्रबंधुओं ने अपने इतिहास में आप के संबंध मे (प्रथम संस्करण, पृष्ठ १४०२ पर) यह लिखा है—

"नाम (२५८०)—कृष्णबल्देव खत्री, कालपी।

ग्रंथ—(१) भर्तृहरि नाटक, (२) फाहियान भाषा, (३) ह्यूएन्साँग भाषा, (४) विद्याविनोद पत्र।

जन्मकाल—१९२७ के लगभग।

विवरण—ये महाशय हिंदी के बड़े रसिक और गद्य के सुलेखक हैं। प्राचीन विषयों की खोज में इन्हों ने समय लगाया है। इन का भर्तृहरि नाटक पढ़ने से रुलाई आ जाती है। विद्याविनोद पत्र भी इन्हों ने कुछ साल निकाला था।"

कृष्णबलदेव जी अपने प्रांत की हिंदी से संबंध रखने वाली सभाओं की ओर बराबर आकर्षित रहे। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के आप प्रारंभ से ही शुभ-चिंतक तथा उत्साही कार्यकर्ता रहे। सभा के प्राण बाबू श्यामसुंदर दास जी से आप का पुराना परिचय था। आप लोग बी० ए० की परीक्षा मे साथ ही साथ संमिलित हुए थे।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना के बाद वर्मा जी ने उस मे बड़े उत्साह के साथ काम किया। उस समय तक अदालतों में हिंदी में लिखे हुए काग़ज़-पत्र स्वीकृत न होते थे। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने अदालतो मे हिंदी प्रचार के लिये जो आंदोलन आरंभ किया उस में वर्मा जी ने बाबू श्यामसुंदर दास का बराबर साथ दिया और कई मास तक प्रांत में उन के साथ दौरा भी करते रहे। अंत मे इन लोगों को सफलता मिली और हिंदी को अदालतों में स्थान मिला।

अपनी जीविका के लिये, वर्मा जी ने, अपनी ही जन्म भूमि में ठेकेदारी का काम आरंभ किया। उन का सार्वजनिक कार्यों के लिये अनुराग कम न हुआ था। जीविकोपार्जन मे पड़ जाने के कारण इस कार्य ने स्थानीय रूप ग्रहण किया। वे स्थानीय संस्थाओं मे उत्साह के साथ भाग लेने लगे। और आप के अगले बीस पचीस वर्ष इसी मे व्यतीत हुए। आप कालपी म्यूनिसिपल बोर्ड और जालौन डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्य हो गए। अपनी सर्वप्रियता के कारण वे लगातार २० वर्ष से अधिक इन दोनों संस्थाओं के सदस्य रहे। स्थानीय जनता में इन का बड़ा आदर था और हाकिमों से बहुत मेल-जोल। आप बहुधा बिना प्रयास और बहुत बड़े बहुमत से सदस्य निर्वाचित हो जाया करते थे। कालपी म्यूनिसिपल बोर्ड के सर्व प्रथम ग़ैरसरकारी सभापति भी आप ही हुए थे। वर्षों तक आप आनरेरी मजिस्ट्रेट भी रहे।

स्थानीय राजनीति में फँस कर साहित्य-क्षेत्र में आप का क्रियात्मक अनुराग कुछ दिनों के लिये मंद सा पड गया था परंतु अंदर उस का स्रोत ज्यों का त्यों प्रवाहित था और आप कुछ न कुछ लिखते-पढ़ते अवश्य रहते थे

नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी के लिये भी आप कुछ कार्य करते रहे थे। सभा द्वारा प्रकाशित लाल कवि के 'छत्र-प्रकाश' का आप ने बहुत सुंदर रूप से संपादन किया है। चंद के पृथ्वीराज रासो के संपादन में आप ने स्वर्गीय पं० विष्णुलाल मोहनलाल पांड्या को भी कुछ सहायता दी थी। उक्त पांड्या जी का वर्मा जी सदा प्रेम और श्रद्धा से स्मरण किया करते थे। अयोध्या के स्वर्गीय राजा साहब वर्मा जी की बड़ी क़द्र किया करते थे।

स्वर्गीय वर्मा जी हिंदी-साहित्य-संमेलन के भी समर्थक थे। उस का एकादश अधिवेशन जो कलकत्ते मे सन् १९२० ई० में हुआ था, उस के वर्मा जी प्रधान स्वागत मंत्री थे। इसी संमेलन में मंगलाप्रसाद पारितोषिक का जन्म हुआ था। वर्मा जी कलकत्ते के हिंदी-साहित्य-समाज से बहुत अच्छा परिचय रखते थे। कलकत्ता-निवासी न होते हुए भी उन्हें जो यह पद सौंपा गया था इस बात का प्रमाण है।

वर्मा जी कविता के बड़े प्रेमी थे। उन की स्मरण-शक्ति बड़ी प्रखर थी। सैकड़ों कविताएँ और पद उन्हे जिह्वाग्र थे। कालिज में उन्हों ने फ़ारसी भी पढ़ी थी और फारसी के अशआर अकसर अपनी बातचीत मे उद्धृत किया करते थे। केशवदास के तो पृष्ठ के पृष्ठ ज़बानी सुना जाते थे। मतिराम, देव, भूषण, जायसी, पद्माकर, बिहारी, रहीम, कबीर, सूर, तुलसी, रसखान आदि की भी बहुत सी कवितायें याद थीं। और इन्हें सुनाने का ढंग उन का अपना था। आप ने स्वयं कुछ कविताएँ लिखी थीं परंतु उन्हें आप कुछ महत्त्व न देते थे। गद्य की शैली आप की जोरदार और धारावाही थी।

पिछले कुछ वर्षों में उन पर एक के बाद एक पारिवारिक विपत्तियों का पहाड़ टूटा जिस से उन के हृदय को बहुत धक्का पहुँचा। आप को हृद् रोग हो गया था। थोड़ी दूर चलने में भी हाँफने लगते थे। साठ के लगभग आयु और इस रोग के होते हुए भी आप ने अपने उत्साह में कमी न आने दी।

मृत्यु के साल भर पहिले आप का संयुक्त प्रांत की हिंदुस्तानी एकेडेमी से भी संबंध हो गया था जैसा बताया है आप उस की कार्य कारिणी और

कौंसिल के सदस्य थे। आप हमारे संपादक-मंडल में भी थे और एकेडेमी की साहित्यिक कमिटियों मे भी। आप ने एकेडेमी से संबंध रखते हुए थोड़े ही दिनों में अपने उत्साह और साहित्य-सेवा भाव का परिचय दिया था। एकेडेमी की ओर से आप केशव के ग्रंथों का भी संपादन करने वाले थे। दुर्भाग्यवश यह कार्य वह न कर सके।

आप अपने निजी झंझटों को भूलने के लिये अपने को साहित्यिक कार्यों मे लीन रखते थे। इधर आप ने 'विशाल भारत' में 'छत्रसाल' और 'बाबा मलूकदास' संबंधी दो महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित कराए थे। 'सरस्वती' मे भी उन का 'एक अश्वमेध यज्ञ यूप' संबंधी खोजपूर्ण लेख निकला था। उन के कुछ अप्रकाशित लेख भी हैं जिन में समुद्रगुप्त से संबंध रखने वाला एक हमारे पास है। वर्मा जी ने 'वीर सतसई' का भी संपादन किया है जो अप्रकाशित है।

वर्मा जी को पर्यटन का बड़ा शौक था। उन्हों ने लंबी लंबी यात्रायें की थीं। संयुक्त प्रांत का तो कोई ऐसा कोना न था जिसे उन्हों ने न छाना हो। आप में एक और बड़ा गुण था—मित्रता करने और निवाहने का। उन मे एक आकर्षक व्यक्तित्व था।

बुंदेलखंड के आप एक प्रभावशाली व्यक्ति थे और अपने नगर के प्रतिष्ठित नागरिक। अपने नगर की सेवा करने के किसी शुभ अवसर को हाथ से न जाने देते थे। अधिकांश आप के ही प्रयत्न से कुछ वर्ष पूर्व कालपी में एक हाई स्कूल की स्थापना हुई है।

सन् १९२९ में नैपाल सरकार ने उन्हें अपना पुरातत्व विभाग सौंपने की इच्छा प्रकट की थी। अस्वस्थता तथा अन्य घरेलू झंझटों के कारण, आप इसे स्वीकार न कर सके।

पिछली ओरियंटल कांफ्रेंस में, जो पटने में हुई थी, हिंदी विभाग के सभापति थे आप के परम मित्र रायसाहब बाबू श्यामसुंदरदास। श्रीयुत कृष्ण-बलदेव जी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था परंतु इस संमेलन में भाग लेने के लोभ को आप संवरण नहीं कर सके डाक्टरों की आज्ञा के विरुद्ध आप ने

पटना जाने की ठानी। वहाँ पर बीमार पड़े। और उसी अवस्था में काशी पहुँचे।

यहाँ पर उन का इलाज होता रहा। पहिले कुछ लाभ भी हुआ। परंतु आप अपनी नाजुक हालत समझ गए थे। यहाँ पर आप की रोग-शय्या मृत्यु-शय्या बनी और विगत २८ मार्च को रामनवमी के दिन, काशी में गंगा तट पर उन का देहांत हो गया।

स्वर्गीय वर्मा जी बड़े चरित्रवान सज्जन थे। ३० वर्ष की अवस्था में आप की धर्म-पत्नी का देहांत हो गया था। आप ने दूसरा विवाह न किया। एक पुत्र और पौत्र तथा कन्याओं के अतिरिक्त आप का परिवार बड़ा है। हम उन से समवेदना प्रकट करते हैं।

अंत में हम आशा करते हैं कि स्वर्गीय वर्मा जी के साहित्यिक कार्य जो अप्रकाशित पड़े हैं उन को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया जायगा।

संपादकीय

हिंदुस्तानी एकेडेमी के द्वितीय साहित्य संमेलन का जो अधिवेशन पिछली ईस्टर की छुट्टियों में, ४,५, ६ अप्रैल को मेयो हाल, इलाहाबाद में हुआ था वह कई दृष्टि से बहुत सफल अधिवेशन कहा जायगा। एक तो पहिले संमेलन की अपेक्षा इस संमेलन मे उपस्थिति अधिक थी। यह इस बात की सूचक है कि हमारे प्रांत की साहित्यिक जनता एकेडेमी की कृतियों मे अधिकाधिक रुचि ले रही है और उस के कार्यों में सहयोग दे रही है। दूसरे इस संमेलन के अवसर पर केवल हमारे ही प्रांत के विद्वान नहीं पधारे थे वरन् बाहर के प्रांतों से भी, और हमारे अतिथियों में बंगाल, बिहार और बंबई प्रांत के भी लोग थे। फिर इस वर्ष के संमेलन की चर्चा हिंदी तथा अंग्रेज़ी पत्र-पत्रिकाओं में भी ख़ूब रही। परंतु सब से मुख्य बात है संमेलन में उन विषयों पर विचारों का विनिमय जो हमारी संमति में साहित्य-संसार में आगे चल कर अपना पूरा परिणाम दिखायेंगे और हमारी भाषा में कुछ अत्यंत आवश्यकीय परिवर्तन ले आएंगे।

❦ ❦ ❦

संमेलन के मनोनीत सभापति डाक्टर सर तेज बहादुर सप्रू, एल्-एल्० डी०, के० सी० एस्० आई० की अनिवार्य अनुपस्थिति मे यह आसन सर शाह मुहम्मद सुलैमान, एल्-एल्० डी०, के० टी० ने ग्रहण किया था। सर शाह मुहम्मद सुलैमान ने ही इस वर्ष अपना अभिभाषण पढ़ा। इस की एक प्रति 'हिंदुस्तानी' के पाठकों के पास पिछले अंक के साथ भेजी जा चुकी है। इस भाषण में सर शाह मुहम्मद सुलैमान ने एकेडेमी सदृश उत्तरदायित्व-पूर्ण साहित्य-संस्थाओं की आवश्यकता, हिंदुस्तानी भाषा की प्रधानता, लिपि-संबंधी झगड़े, भाषा का उद्देश तथा विकास, अंग्रेज़ी तथा पाश्चात्य संपर्क का हमारी भाषा और साहित्य पर प्रभाव, साहित्योन्नति की दिशायें, एकेडेमी की नीति आदि महत्त्व-

पूर्ण विषयों पर सार-गर्भित विवेचन किया है। हम यहाँ पर उक्त भाषण से केवल दो उद्धरण देंगे। एक तो एकेडेमी सदृश संस्थाओं की आवश्यकता पर है। वह इस प्रकार है—

"किसी देश की भाषा के विकास का भार उस की अपनी स्वाभाविक और अनियंत्रित वृद्धि के ऊपर ही नहीं छोड़ दिया जा सकता। एक ऐसी सुस्थापित संस्था की आवश्यकता होती है जो कि इस के विकास को उत्तेजित करती रहे और इस के व्याकरण तथा मुहावरे आदि के साथ होने वाले अमर्गल स्वेच्छाचार पर तीव्र दृष्टि रक्खे। यदि किसी जाति के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी इच्छानुसार बोलने और लिखने की स्वतंत्रता हो तो बड़ी अव्यवस्था ही नहीं एक महान अंधेर उपस्थित हो जायगा। केवल शैली का ही नहीं, सुरुचि का भी हनन होगा। इसलिए एक ऐसी प्रामाणिक और केंद्रीय संस्था का होना आवश्यक है जिस से कि लोग मतभेद होने पर अपने संदेह निवृत्त कर सकें, जो कि पदों और वाक्यों के शुद्ध प्रयोग के नियम बना सके, जो कि एक शैशवावस्था-स्थित भाषा की उन्नति और विकास के विभिन्न अवसरों पर सावधानी से देख-रेख कर सके, जो कि सब प्रकार के स्वेच्छाचार और उद्दंडता को रोक सके, तथा जो भाषा को उन्नत बनाने वाले सब साधनों की उचित समीक्षा करती हुई अधिकाधिक विदेशी शब्दों, मुहावरों तथा प्रयोगों को समुचित रूप से अपना सके। वास्तव में यह आश्चर्य की बात है कि और पहले ही इस प्रकार की एक उत्तरदायित्वपूर्ण एकेडेमी की आवश्यकता का अनुभव क्यों नहीं किया गया। इस प्रकार की एक केंद्रीय और निरीक्षक संस्था के बिना बोलचाल तथा लिखने की भाषा मर्यादित और नियम-बद्ध नहीं की जा सकती।"

दूसरा एकेडेमी की नीति के संबंध में है—

"एकेडेमी की निश्चित नीति यह है कि वह एक ऐसी साधारण भाषा का विकास करे जिस में कि सर्व-साधारण द्वारा व्यवहृत शब्दों का प्रयोग हो और जिस में से प्रयोग में न आने वाले अप्रचलित तथा कठिन शब्द निकाल दिए जायँ। ऐसे शब्द संस्कृत के हों चाहे अरबी या फ़ारसी के। इस का प्रयत्न प्रचलित भाषा से प्राचीन भाषाओं के उन शब्दों को निकाल देना है जो सर्व के नित्य व्यवहार की बोली में नहीं प्रयुक्त होते और उन के स्थान पर ऐसे सरल शब्दों का लाना है जिन्हें सब

अनायास ही समझ सकें। मुझे विश्वास है कि हिंदुस्तानी एकेडेमी क्रमशः इन प्रांतों में बोली जाने वाली भिन्न भिन्न बोलियों में एक समानता स्थापित करने में सफल होगी। एक साधारण भाषा के आदर्श को सामने उपस्थित करने में दृढ़ उन्नति हो रही है, यद्यपि एक दीर्घकाल तक दो विभिन्न लिपियाँ रखनी पड़ेंगी।"

❦ ❦ ❦

संमेलन के अवसर पर सभापति के भाषण के बाद, पहिले दिन एकेडेमी के जेनरल सेक्रेटरी डाक्टर ताराचंद ने एकेडेमी की वार्षिक रिपोर्ट पढ़ी। इस के बाद संयुक्त प्रांत के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर मिस्टर मैकेंजी, प्रयाग यूनिवर्सिटी के वाइस चैंसलर डाक्टर गंगानाथ झा, आगरा यूनिवर्सिटी के वाइस चैंसलर मुंशी नारायण प्रसाद अस्थाना तथा बिहार के माननीय मिस्टर सच्चिदानंद सिनहा के व्याख्यान हुए।

❦ ❦ ❦

दूसरे दिन संमेलन के हिंदी और उर्दू विभागों का उद्घाटन हुआ। हिंदी-विभाग के सभापति का आसन बनारस के महाराजकुमार कुँवर आदित्य नारायण सिंह ने ग्रहण किया था और उर्दू विभाग का अलीगढ़ के नवाब सद्र यार जंग शेरवानी साहब ने। ये दोनों भाषण संमेलन की रिपोर्ट मे यथा स्थान प्रकाशित होंगे। एकेडेमी की साहित्य-सेवा के कार्य में दोनों महानुभावों ने अपनी क्रियात्मक सहानुभूति दिखा कर एकेडेमी को बहुत आभारी किया है। हमें पूर्ण आशा है कि आप लोग एकेडेमी की कृतियों में इसी प्रकार भविष्य मे भी दिलचस्पी लेते रहेंगे।

❦ ❦ ❦

दूसरे दिन दोनों विभागों की संमिलित बैठक में रायसहब बाबू श्यामसुंदर दास तथा डाक्टर ताराचंद के व्याख्यान हुए। डाक्टर ताराचंद ने अपने व्याख्यान में हिंदुस्तानी भाषा के महत्त्व तथा विस्तार पर विवेचन किया और अंको को उद्धृत करते हुए संसार की भाषाओं में हिंदुस्तानी भाषा का ऊँचा स्थान दिखाया ' आप ऐसी भाषा के पक्ष में हैं जो कि केवल लिपि-भेद से देवनागरी तथा फ़ारसी दोनों लिपियों में लिखी जा सके आप ने अपने

संमति को निजी रूप से प्रकट किया। आप का व्याख्यान (जो कि लिखा हुआ था) ऐसी भाषा का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस व्याख्यान को उपस्थित लोगों ने बड़े ध्यान से सुना और इस का प्रभाव बहुत पड़ा। यह कहना अनुचित न होगा कि भाषा की एकता का प्रश्न सहज में संमेलन के इस अधिवेशन का मुख्य विचारणीय विषय बन गया।

इस के बाद संमेलन दो विभागों में बँट गया। हिंदी विभाग के संयोजक थे डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, एम्० ए०, डी० एस्-सी० और उर्दू विभाग के मौलाना ज़ामिन अली साहब, एम्० ए०। दोनों विभागों की कार्यवाहियाँ अलग अलग हुई और संमेलन की रिपोर्ट में विस्तृत रूप मे स्थान पाएँगी। यहाँ पर केवल हिंदी-विभाग की कार्यवाही की थोड़ी सी चर्चा की जाती है।

* * *

संमेलन के हिंदी-विभाग में निम्न-लिखित निबंध पढ़े गए—

(१) श्रीयुत नलिनी मोहन सान्याल, एम्० ए० (कलकत्ता)—"ललित कला क्या है ?"

(२) श्रीयुत भगीरथप्रसाद दीक्षित (लखनऊ)—"महाकवि भूषण।"

(३) श्रीयुत रामकुमार वर्मा, एम्० ए० (इलाहाबाद)—"हिंदी कविता मे छायावाद।"

(४) श्रीयुत शांतिप्रिय द्विवेदी (बनारस)—"हिंदी कविता।"

(५) श्रीमती रामप्यारी शास्त्री (बनारस)—"कालिदास की काव्य-कला।"

(६) श्रीयुत डाक्टर मथुरालाल शर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (बनारस)—"महायान धर्म का विकास और उस के कुछ स्वरूप।"

उपरोक्त निबंधों के अतिरिक्त संमेलन में पढ़े जाने के लिये कुछ और निबंध भी प्राप्त हुए थे, जिन के लेखक उपस्थित न हो सके। इन मे से मुख्य हैं—

(१) श्रीयुत गुलाबराय, एम्० ए०—"कला"

(२) श्रीयुत रामाज्ञा द्विवेदी, एम्० ए०—"अवधी के कुछ नामधातु व प्रत्यय "

हम इस अंक में डाक्टर मथुरालाल शर्मा तथा श्री रामाज्ञा द्विवेदी के निबंधों को प्रकाशित कर रहे हैं।

* * *

निबंधों के पढ़े जाने के अतिरिक्त हिंदी-विभाग का समय जिन विषयों पर विचार-विनिमय मे लगा वह केवल दो है। एक तो भाषा-संबंधी प्रश्न और दूसरा वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों का प्रश्न। विषय-निर्वाचन समिति ने कई आवश्यकीय विचारणीय विषयों की सूची बनाई थी परंतु समयाभाव से केवल उपरोक्त दो प्रश्नों पर ही विचार हो सका, वह भी अधिकांश में पहिले अर्थात् भाषा संबंधी प्रश्न पर ही।

इस विचार ने प्रस्तावों का रूप नहीं धारण किया। यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। संमेलन मे भाग लेने वाले प्रमुख सज्जनों ने अपने विचार अबाधित रूप से प्रकट किए। इन सब विचारों को एकत्र करने पर हमे अपने भाषा के सुधार के संबंध में बहुत सी सामग्री और संमतियाँ मिल जायँगी। फिर इन का छान-बीन करना और इन का उपयोग कर के एक अपनी नीति स्थिर करना यह आगे की बातें रहेंगी।

* * *

संमेलन के अवसर पर प्रकाशित भिन्न भिन्न मतों को हम यहाँ पर केवल अत्यंत संक्षेप में बता सकते हैं—

रायसाहब बाबू श्यामसुंदर दास (बनारस) पहिले व्याख्याता थे। आप ने तीन बातें कहीं। लिपि के संबंध मे आप ने नई ध्वनियों के लिये नये चिह्नों के गढ़े जाने का विरोध किया। आप की संमति में साधारण कार्यों के लिये, देवनागरी लिपि पर्याप्त है। शैली के विषय में आप ने कहा कि कोई नियम नहीं निर्धारित किये जा सकते। शैली का संबंध मनुष्य के व्यक्तित्व से है। नई भाषा के निर्माण के विषय में आप ने कहा कि बनावटी नियम उपयोगी नहीं हो सकते, भाषा नैसर्गिक रूप से विकास पाती है।

श्रीयुत रामरत्न जी (आगरा) को नई भाषा के निर्माण में सफलता प्राप्त होने में संदेह था परंतु इस के लिये वह उद्योग करने के पक्ष में थे आप ने

कहा कि हिंदुस्तानी भाषा का एक ऐसा कोष बनना चाहिए जिसे हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं के विद्वान मिल कर बनावें। बाद में उस में आये शब्दों का दोनों भाषा वाले समान रूप से प्रयोग करें।

श्रीयुत गौरीशंकर प्रसाद (बनारस) ने न्यायालयों में ऐसी भाषा के व्यवहार किए जाने पर जोर दिया जो सरल हो, और मुवक्किलों की समझ में आ सके।

डाक्टर बेनीप्रसाद (इलाहाबाद) ने कहा कि भाषा पहिले विशेष वर्गों की वस्तु थी परंतु इस जनतावाद के युग में उसे जनता की वस्तु बनना चाहिए। आप दोनों भाषाओं के शब्दों को समान रूप से व्यवहार में लाने के पक्ष में हैं।

श्रीयुत शालिग्राम वर्मा (इलाहाबाद) ने हिज्जे की विभिन्नता पर आपत्ति की और कहा कि एक साधारण पाठक इन के कारण भ्रम में पड़ जाता है।

श्रीयुत पांडेय रामावतार शर्मा (पलामू, बिहार) इस विषय में लेखकों को नियंत्रित करने के विरोधी थे।

श्रीयुत महेशप्रसाद मौलवी फाज़िल (बनारस) ने कहा कि दो भाषायें, एक बोलने की जनसाधारण के लिये और एक लिखने की साहित्यिकों के लिये, साथ ही साथ चल सकती हैं।

श्रीयुत बी० डी० वर्मा (पूना) संस्कृत और अरबी-फ़ारसी शब्दों को मुलायम कर के भाषा में ले लेने के पक्ष में थे। जैसे 'माल मत्ता' शब्द ठेठ अरबी होते हुए भी बड़ी सुगमता से भाषा में ले लिया गया है।

डाक्टर मथुरालाल शर्मा (बनारस) ने भाषाओं के मिलाने के प्रस्ताव का विरोध किया। उन की संमति में एक बाज़ारू भाषा के निर्माण से हमारे सूर और तुलसी को भूल जाने का डर है।

पंडित रामनरेश त्रिपाठी (इलाहाबाद) ने कहा कि हमारी ग्रामीण भाषा में न जाने कितने विदेशी शब्द अपना लिये गए हैं। इन का उपयोग साहित्यिक भाषा में स्वतंत्रता के साथ होना चाहिये

एक भाषा के निर्माण के पक्ष में थे। उन्हों ने कहा कि हिंदुस्तानी के पक्ष में हिंदी नाम भी छोड़ देने में उन्हें आपत्ति न होगी।

ठाकुर गोपालशरण सिंह (नईगढ़ी, रीवाँ) भी एक ऐसी भाषा के पक्ष में थे जो जनसाधारण द्वारा समझी जा सके। उन्हों ने कहा इस मार्ग मे कठिनाइयाँ हैं परंतु उन्हें दूर करना ही पड़ेगा।

बाबू श्यामसुंदर दास ने विवाद को समाप्त करते हुए कहा कि उन्हे विदेशी शब्दों को अपनी भाषा मे ले लेने में आपत्ति नहीं है। विदेशी शब्द तो भाषा में आते ही रहते हैं। राष्ट्रीय दृष्टि से भी यह कहा जा सकता है कि वह हिंदी जिस में शुद्ध संस्कृत के शब्द अधिक हों बाहरी प्रांतों में अधिक समझी जा सकती है।

डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी ने अंत में कुछ विचार प्रकट किए। उन्हों ने इस बात को स्वीकार किया कि प्रांत के बाहर संस्कृत शब्दों से भरी हुई हिंदी अधिक सुगमता से समझी जाती है परंतु उन्हों ने उर्दू के अखिल भारतीय रूप पर भी ध्यान आकर्षित किया। उन की संमति में, एक ऐसी भाषा का समर्थन करने मे कोई भी हानि नहीं है जो कि मुसल्मानों द्वारा सहज में समझी जा सके। इस से राष्ट्रीय एकता के कार्य मे सहायता मिलेगी।

❋ ❋ ❋

इन विभिन्न मतों को सामने रखते हुए यह कहा जा सकता है कि संमेलन मे एक अच्छी संख्या ऐसे सज्जनों की थी जो कि एक ऐसी भाषा के स्वीकार किए जाने के पक्ष में थे जो कि हिंदी तथा उर्दू दोनों भाषा-भाषियों के लिये सुलभ हो।

हिंदुस्तानी एकेडेमी के कौंसिल की जो बैठक संमेलन के अवसर पर ४ अप्रैल को हुई थी उस में भी इस विषय पर विचार हुआ था और श्रीयुत पन्नालाल, आई० सी० एस्० के प्रस्ताव पर निम्न-लिखित सज्जनों की एक ऐसी समिति निर्वाचित हुई है जो इस प्रांत के लिये एक साधारण भाषा (Common Language) के निर्माण के प्रश्न पर विचार करे। इस समिति को इस बात का अधिकार होगा कि अन्य विशेषज्ञों को इस में संमिलित कर सके

१—डाक्टर ताराचंद।

२—सैयद अबू मुहम्मद साहब।

३—डाक्टर अहमद सद्दीकी।

४—रायसाहब बाबू श्यामसुंदर दास।

५—मौलाना सैयद जामिन अली साहब।

६—श्रीयुत राम बाबू सक्सेना।

७—पंडित अमरनाथ झा।

८—डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी।

९—श्रीयुत पन्नालाल (संयोजक)।

* * *

हमें आशा है कि आगामी संमेलन, हिंदी और उर्दू भाषा के, इस प्रांत के तथा बाहर के विद्वानों को और भी अधिक संख्या में आकर्षित करेगा।

समालोचना

कविता

झंकार—लेखक, श्री मैथिलीशरण गुप्त। प्रकाशक, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)। मूल्य ॥=)

दूर्वादल—लेखक, श्री सियारामशरण गुप्त। प्रकाशक, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)। मूल्य ॥=)

नीहार—लेखिका, श्रीमती महादेवी वर्मा। प्रकाशक, साहित्य-भवन, इलाहाबाद। मूल्य १॥)

झाँकी—लेखक, श्री आनंदीप्रसाद श्रीवास्तव। प्रकाशक, गाँधी-हिंदी-पुस्तक-भंडार, इलाहाबाद। मूल्य १)

श्री मैथिलीशरण गुप्त हिंदी-जगत के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि हैं। 'झंकार' में कवि के चौदह पंद्रह वर्ष पूर्व तक के गीतों का संग्रह है। गीतों में प्रायः सभी विचार दार्शनिक और पारलौकिक हैं। मैथिलीशरण जी ने 'भारत भारती' आदि की परिष्कृत और भावपूर्ण तुकबंदी के बाद इस 'मैं' और 'तू' की खोज बड़ी सफलता-पूर्वक की है। प्रायः सभी गीत सुंदर बन पड़े हैं। 'आँखमिचौनी', 'माला', 'स्वयमागत', 'हाट', 'प्रवाह', 'शुद्ध भावना' आदि गीत शब्दावली और भावना के विचार से उत्कृष्ट कहे जा सकते हैं।

> तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
> किस में हो कर आऊँ मैं ?
> सब द्वारों पर भीड़ मची है,
> कैसे भीतर जाऊँ मैं ?

अथवा

> बड़े यत्न से माला गूँथी
> किसे इसे पहिनाऊँ ?

वरण करूँ मैं जिसे प्रेम से,
उसे कहाँ मैं पाऊँ ?

आदि गीतों में सरलता के साथ कितना सौंदर्य है। कुछ गीतों में कवि ने व्यर्थ ही संस्कृत की शब्दावलियाँ रख दी हैं, जो अरुचिकर प्रतीत होती हैं—

अरे डराते हो क्यों मुझ को,
कह कर उस का अटल विधान ?
कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं,
है स्वतंत्र मेरा भगवान।

(आश्वासन, पृष्ठ ५९)

अब भी एक प्रश्न था कोऽहं ?
कहूँ कहूँ जब तक दासोऽहं ?
तन्मयता कह उठी कि सोऽहं।
बस हो गया सबेरा।

(बालबोध, पृष्ठ २०)

संस्कृत के ऐसे शब्द गीत के स्वाभाविक प्रसाद गुण को नष्ट कर देते हैं। गीतों में दार्शनिकता हो पर इतनी अधिक नहीं कि वे गीत न रह कर सूत्र अथवा श्लोक के अंग बन जायँ। गीतों में तो कठिन शब्दों का भी प्रयोग नहीं करना चाहिये, जिन की कर्कशता से गीत के स्वाभाविक प्रवाह को व्याघात पहुँचे। एक गीत तो मुझे बच्चों की तुकबंदी के समान ज्ञात हुआ—

हे भगवान
तेरा ध्यान—
जो करता है, क्यों करता है ?
सुख के अर्थ ?
तो है व्यर्थ,
सुख से तो पशु भी चरता है।
परमाराध्य
सुख है साध्य

फिर क्या वह श्रम से डरता है।
तुझ से, नाथ!
पाकर हाथ
नर भव सागर भी तरता है। आदि

निम्न पंक्तियों में प्रचलित थियेटर के-से गीत की ध्वनि निकलती है—

लूं मैं सौ सौ बार बलैयां,
धन्य तुम्हारी भूल भुलैयां।
गैल नहीं, अपने को भी मैं,
भय है, भूल न जाऊँ सैयां
आओ, बैयां पकड़ उबारो,
लाओ पड़ूँ तुम्हारी पैयां
धन्य तुम्हारी भूल भुलैयां

(भूल भुलैयां, पृष्ठ १४२)

परंतु ये त्रुटियाँ पुस्तक की उपादेयता को कम नहीं करतीं। सभी गीतों को एक साथ पढ़ते हुए हम यह कह सकते हैं कि झंकार में वास्तव में कवि के परमात्मा के अन्वेषण में आत्मा की भावना की झंकार है।

❧ ❧ ❧

'दूर्वादल' में श्री सियारामशरण गुप्त की ३४ कविताएँ संग्रहीत हैं। कविताएँ सरल और सुंदर हैं। यद्यपि उन में काव्य-कला का प्रस्फुटन हम कम स्थानों पर पाते हैं पर वर्णन करने का ढंग अनुपमेय है। कुछ कविताएँ भावों के विचार से श्रेष्ठ कही जा सकती हैं। 'पथ,' 'बाढ़,' 'वृद्ध' आदि कविताएँ यद्यपि हीनतुकांत हैं पर उन में भाव का आवेग बहुत तीव्र और चंचल है। हम उन कविताओं की पंक्तियों में इस उत्सुकता से झूलने लगते हैं कि आगे कवि क्या कहता है। 'वृद्ध' कविता में गुप्त जी लिखते हैं—

दुर्दशा तुम्हारी देख,
होती है चित्त में व्यथा विशेष (स ?)

करते हैं नेत्र भी तुम्हारे छल,
शोभन दिनांत का प्रकाश वह परमोज्ज्वल
जान पड़ता है तुम्हें अंधकार
जान पड़ता है वह मार्ग तुम्हें शून्यागार
दोनों कान बात सुनते हैं कम,
दृष्ट हुए दास-सम
उठते हुए भी तुम मानों गिर पड़ते हो ;
चलने में आपस में पैर हैं झगड़ते।

(पृष्ठ १००)

जिस समय हम संशय में पड़ जाते हैं कि कवि आगे क्या कहेगा, उसी समय वह वृद्ध के जीवन के बहुत से चित्र खींचने लगता है जिन से हमारी कल्पना शक्ति वेगवती बन कर वृद्ध को अपनी आँखों में ला बिठाती है।

'जननी' शीर्षक कविता में भी कवि की भावुक परिस्थिति का परिचय मिलता है। एक स्थान पर—

काटा मैंने नहीं उठी दँतुली से तुझ को,
किया और भी अधिक प्यार तब तूने मुझ को।

अथवा

जब मैं मन में कभी किसी कारण दुख पा कर,
कर उठता था रुदन एक कोने में जा कर।

आदि पंक्तियों में हम कवि को मानसिक परिस्थितियों के चित्र खींचने में पटु पाते हैं। शेष कविताएँ साधारण कोटि की हैं। 'सु-अवसर,' 'निर्विवेक,' 'असमय,' 'अनौचित्य' और 'कृतघ्न' छोटी कविताएँ हैं जो वर्णिक छंद में लिखी गई हैं। उन में दो एक सूक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

गुप्त जी की पंक्तियों में भावों की सरलता और उन का स्पष्ट प्रकाशन बहुत अच्छा गुण है।

❦ ❦ ❦

श्रीमती महादेवी वर्मा की कविता हिन्दी-क्षेत्र में प्रायः 'छायावाद' के नाम से पुकारी जाती है। पर मेरे विचार में उस में छायावाद का अणुमात्र भी चिह्न नहीं है। जहाँ तक मै समझता हूँ हिंन्दी कविता में अभी छायावाद की सृष्टि भी नहीं हुई। वर्तमान कविता की अनेक पंक्तियों को पढ़ कर मेरी तो यही धारणा है कि वर्तमान कवियों को प्रकृति के क्षेत्र में ही अपने काव्य की सामग्री मिलती है। उन्हें प्रकृति की अनेक विभूतियों का विराट् रूप देखने का अवसर ही प्राप्त होता है, इस के अतिरिक्त कुछ नहीं और फलतः वह उन्ही मे या तो खो जाता है या अपने को भूल जाता है। हृदय की कुतूहलता को शान्त करने वाली, हृदय की भावनाओं को सुख देने वाली अनेक वस्तुओं और उन के काल्पनिक स्वरूपों की सृष्टि, प्रकृति के गंभीर विस्तार ही में होती है। ऐसी स्थिति मे इन कवियों की कविता को छायावाद के बजाय प्रकृतिवाद कहना अधिक युक्ति-संगत होगा। अनंत के संमिलन की आकांक्षा और अंतिम संयोग के पहले कवि को प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का अन्वेषण करना पड़ता है, उसे पहले प्रकृति का मर्म समझना पड़ता है। प्रकृति का ज्ञान आत्मा के ज्ञान के पहले होता है, अतएव प्रकृतिवाद को छायावाद की पहिली सीढ़ी मानना चाहिये। यही प्रकृतिवाद हम आज कल के नवोदित कवियों मे पाते हैं।

महादेवी जी भी प्रकृति के क्षेत्र में अपनी भावनाओं की सृष्टि करती है और तारों में, रजनी में, अंधकार में, सौरभ में, वायु के स्वर्ण-पंखों में अपनी विचार-धारा का प्रदर्शन करती हैं। उन की कविता में हृदय के भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति रहती है। वस्तुओं के सौंदर्य-निरीक्षण की अंतर्दृष्टि भी हम उन की कुछ पंक्तियों में पाते हैं—

> बहती जिस नक्षत्र लोक में,
> निद्रा के श्वासों से वात।
> रजत रश्मियों के तारों पर,
> बेसुध सी गाती थी रात।

रजत रश्मियो के तारो पर रात का भाव-मग्न हो कर बेसुध हो कर गाने का सौंदर्य बहुत मनोहर है जिसे काव्य प्रतिभा ने बडी सरलता से देख लिया है। उसी प्रकार—

चिन्ता क्या है, हे निर्मम
बुझ जाये, दीपक मेरा।
हो जायेगा तेरा ही,
पीड़ा का राज्य अँधेरा।

कितनी निःस्वार्थ वेदना का चित्रण है !

पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
तुम को पीड़ा में ढूँढ़ा,
तुम में ढूँढूँगी पीड़ा।

देवी जी की कविता में एक बात और है और वह है हृदय की करुण अभिव्यक्ति। यह करुणा उन की प्रत्येक पंक्ति के साथ संबद्ध है। इस करुणा की अधिकता का परिणाम यह होता है कि कभी कभी उन के मानसिक चित्रों का रूप विकृत हो जाता है। भावनाएँ अस्पष्ट हो जाती हैं और भावों का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। उदाहरणार्थ

(अ) कलियों के उच्छ्वास शून्य में तानें एक वितान।

कलियों के उच्छ्वास का वितान तानना कितना अस्पष्ट और अस्तित्व-हीन चित्र है !

(आ) गर्वीले नक्षत्र धरा पर लोटें होकर दीन।

इस का अर्थ ही नहीं समझाया जा सकता।

(इ) झूम झूम कर मतवाली सी
पिये वेदनाओं का प्याला।
प्राणों में रूँधी निःश्वासें,
आती ले मेघों की माला।

इन पंक्तियों की सार्थक व्यंजना हृदय में अस्पष्ट पड़ती है।

(ई) आहों के बिखरे त्यागों में

आहों का त्याग कैसा बिखरा हुआ हो सकता है यह मैं नहीं समझ सकता।

(उ) इन हीरक से तारों को,
कर चूर बनाया प्याला।
पीड़ा का सार मिला कर,
प्राणों का आसव ढाला।

इन पंक्तियों का तारतम्य मुझे परस्पर न तो दिखलाई ही पड़ता है और न हीरक से तारों को चूर बना कर प्याला बनाने की कल्पना ही सार्थक है।

घायल मन ले कर सो जाती
मेघों में तारों की प्यास।

प्यास के घायल मन की रचना कितनी क्लिष्ट कल्पना है। इस का रूप तो सोचा भी नहीं जा सकता। फिर उसे मन कैसे स्वीकार करेगा ?

इतने अस्पष्ट चित्र होने पर भी कविता मे एक वेदना है जिन से हृदय की प्रत्येक भावना सिहर उठती है और हम पंक्तियों को पढ़ते चले जाते हैं।

महादेवी जी से हमें यह आशा है कि ज्यों ज्यों उन के विचारों में प्रौढ़ता आवेगी त्यों त्यों उन की कल्पना अधिक स्पष्ट होती जावेगी। हमारे स्त्री-कवियों में आप का स्थान ऊँचा है।

* * *

श्रीयुत आनंदी प्रसाद जी ने अपनी पुस्तक 'झाँकी' अतुकांत छंद में उसी प्रकार लिखी है जिस प्रकार माइकेल मधुसूदनदत्त ने बंगला में मेघनाद-वध लिखा है। पुस्तक मे चार स्वतंत्र कथाएँ वार्तालाप के रूप में हैं।

१—पार्वती और सीता।

२—शिवाजी और भारत-राज्य-लक्ष्मी।

३—नूरजहाँ।

४—चाणक्य और चंद्रगुप्त।

प्रथम वार्तालाप में पार्वती ने सीता के समक्ष रामायण की सारी कथा

सक्षिप्त रूप मे कह दी है सीता ने उस क प्रसगो को सुन कर अपन आदर्श पर स्थित रहने का विचार प्रकट किया है अत मे कथा को वास्तविकता का रूप देने के लिये लेखक ने पार्वती के मुख से कहला दिया है—

एवमस्तु, कल्याण, सदा कल्याण हो ,
पर विस्मृत संवाद सभी यह हो तुम्हें ।

दूसरे वार्तालाप में भारत-राज्य-लक्ष्मी ने शिवाजी से भारत के भावी इतिहास पर करुणापूर्ण दृष्टि डाल कर शिवाजी के सामने वर्तमान काल का मार्मिक चित्र खींचा है। तीसरे वार्तालाप में नूरजहाँ ने मृत्यु-शैया पर अपनी पुत्री लैला से अपने जीवन की सारी कहानी सुनाई है। चौथे वार्तालाप में चाणक्य ने राक्षस को चंद्रगुप्त का मंत्री बना देने के बाद राज्य से अलग होने की इच्छा प्रकट की है और चंद्रगुप्त ने उन से राज-नीति तथा जीवन की शिक्षा ली है। संक्षेप में चारों वार्तालापों का यही सार है।

कविता तुकांत न होने पर भी सरस है। प्रवाह स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ता है। भावों में यद्यपि कोई नूतनता नहीं है पर उन का प्रदर्शन कवि ने नये ढंग से किया है। श्री आनंदी प्रसाद की कविता के विषय मे एक बात जो प्राय: खटकती है वह यह कि उस मे काव्य-कला का प्रदर्शन बड़े स्थूल रूप मे होता है। सरल भावनाएँ अपने परिमित वेष में न हो कर विशाल-काय हो जाती हैं और उन के प्रकाशन के लिये कवि को बीसों पंक्तियों की रचना करने की आवश्यकता पड़ जाती है। जो बात संक्षेप मे सुंदर रूप में कही जा सकती है उसे आनंदी प्रसाद जी बिना विस्तार के नहीं लिख सकते। हाँ, एक बात अवश्य है। उन में प्रसाद गुण खूब रहता है। झाँकी में श्रीवास्तव जी ने कुछ गंभीर पंक्तियाँ भी लिखी है—

भू लुंठित जो बीज हुआ है, उगना
उस का तो निश्चित है, उन्नति में सदा
बीज पतन का रहता है, फिर पतन में
भी तो रहता है उन्नति का बीज कुछ ।

(शिवाजी और भारत-राज्यलक्ष्मी, पृष्ठ १०)

सरिता की कल कल ध्वनि, मानो दूर से
इंगितमय मर्मर अनंत का हो रहा
शीतल मंद सुगंध वायु जो दे रही
उल्लासों का सार विचित्र विचित्र है।
दिन भर तप कर पतन दिवाकर पा रहे
पतन सभी का संसृति में अनिवार्य है।

रा० कु० व०

आलोचना

कबीर का रहस्यवाद—लेखक, श्री रामकुमार वर्मा, एम्० ए०, अध्यापक, हिंदी-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय। प्रकाशक, गाँधी-हिंदी-पुस्तक-भंडार, प्रयाग। पृष्ठ संख्या १२+१४०+१०८। चित्र संख्या ३। मूल्य २)।

हिंदी साहित्य में कबीर को एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। कबीर की रचनाओं मे उन का विशिष्ट व्यक्तित्व, उन के उच्च एवं व्यापक विचार तथा उन की चुटीली शैली, ये सभी बातें स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं जिन के कारण कबीर की लोकप्रियता निर्विवाद सिद्ध है, और कबीर के अनुकरण में जो एक संत-साहित्य की परंपरा सैकड़ों वर्षों से चली आई है और जिस का प्रभाव किसी न किसी अंश में अभी तक वर्त्तमान है, इस बात के लिये पक्का प्रमाण है कि कबीर की महत्ता उन के केवल कतिपय पद्यों पर ही आश्रित न हो कर वास्तव मे आदर्श एवं व्यवहार में सामंजस्य स्थापित करने वाली किन्हीं ऐसी मौलिक भावनाओं से भी संबंध रखती है जिन के कारण कबीर का नाम, जीवन के गहरे एवं उपयोगी पहलुओं पर विचार करते समय, सदा प्रकाश डालता रहेगा। किंतु कबीर का अध्ययन जैसा चाहिए वैसा, आज तक भी न हो पाया। बहुत दिनों तक, एक पंथ-प्रवर्त्तक के नाते, हम उन का केवल पौराणिक परिचय मात्र पाते रहे और जिस किसी विद्वान् ने इस विषय पर लेखनी उठाई उस ने इन के सांप्रदायिक मत का थोड़ा बहुत निरूपण करने के अनंतर इन के पंथ की उत्पत्ति, उस का विकास तथा उस की वर्त्तमान स्थिति पर ही

विशेष रूप से प्रकाश डाला। कबीर के दार्शनिक विचारों की मौलिकता अथवा व्यापकता एवं उन के रहस्यवादी जीवन के मार्मिक तत्त्वों की गंभीर विवेचना पूर्ण रूप से किसी ने भी नहीं की। डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा संपादित 'वन हंड्रेड पोएम्स अव् कबीर'[1] नामक ग्रंथ की भूमिका के लेखक ने भी संसार के अन्य बड़े बड़े रहस्यवादियों मे कबीर का स्थान मात्र ढूँढने की ही अधिकतर चेष्टा की है और 'कबीर ग्रंथावली' की भूमिका में बा० श्यामसुंदर दास ने तथा 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' के रचयिता पं० सूर्यकांत शास्त्री महाशय ने अपने ग्रंथ मे जो इस विषय की चर्चायें की हैं वह भी अनेक दृष्टियो से अधूरी ही कही जा सकती हैं। इस प्रकार जहाँ तक हमे ज्ञात है, कबीर के दार्शनिक विचारों का गंभीर विवेचन करने के उद्देश्य से इस विषय को लेकर समालोच्य ग्रंथ के लेखक ने ही कदाचित् आगे बढ़ने का सब से पहला प्रयास किया है।

प्रस्तुत पुस्तक अभी गत मार्च मास में प्रकाशित हुई है और 'हिंदी गौरव ग्रंथ माला' का यह ४६वाँ ग्रंथ है। पुस्तक की विषय-सूची में 'परिचय', 'रहस्य-वाद', 'आध्यात्मिक विवाह', 'आनंद', 'गुरु', 'हठयोग', 'सूफी मत और कबीर' तथा 'अनंत संयोग (अवशेष)' नामक प्रकरणों के सिवाय एक परिशिष्ट का भी उल्लेख है जिस में 'रहस्यवाद से संबंध रखने वाले कबीर के चुने हुए पद', 'कबीर का संक्षिप्त जीवन-विवरण', 'हठयोग और सूफी मत मे प्रयुक्त कुछ विशिष्ट शब्दों के अर्थ' तथा 'हंसकूप' नामक शीर्षकों की भी चर्चा है।

'परिचय' मे लेखक ने कबीर के सिद्धांतों का समझना अत्यंत कठिन बतलाया है क्योंकि एक तो कबीर उस अनंत शक्ति का संदेश देते हैं जो इंद्रियातीत होने के कारण केवल आत्मा के ही अनुभव-गम्य कही जा सकती है और दूसरे कबीर अपने सच्चे आत्मानुभव के कारण इतने स्वतंत्र हैं कि उन के विचारों को सर्वसाधारण की समझ की परिधि के अंतर्गत लाना अत्यंत दुष्कर है। इसी कारण लेखक को "इसमे संदेह है कि कबीर की कल्पना के

[1] मैकमिलन कंपनी द्वारा प्रकाशित।

सारे चित्रों को समझने की शक्ति किसी में आ सकेगी अथवा नहीं।" कबीर, जान पड़ता है, हृदय की सूक्ष्म भावनाओं की तह तक पहुँच गए हैं और उन का सार-भूत विचार यही रहा है कि वे किस प्रकार मनुष्य की आत्मा को प्रकाश में ला दें। कबीर की विशेषता इसी में है कि, "उस की आत्मा से जो ध्वनि निकली उसी पर उस ने मनन किया, उसी का प्रचार किया और उसी को उस ने लोगों के सामने बड़े जोरदार शब्दों में रक्खा। न तो उस ने कभी अपने को धोखा दिया और न कभी उस ने समाज के कारण अपने विचारों में कुछ परिवर्त्तन ही किया" इसी कारण "जहाँ कहीं भी हम उसे पाते हैं वहाँ वह अपने पैरों पर खड़ा है, किसी का लेशमात्र भी सहारा नहीं है।" 'रहस्यवाद' शीर्षक के अंतर्गत लेखक ने इस की परिभाषा देते हुए कहा है कि "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अंतर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिस में वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्चल संबंध जोड़ना चाहती है, और यह संबंध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अंतर नहीं रह जाता।" "जीवन में केवल उसी दिव्य शक्ति का अनंत तेज अंतर्हित हो जाता है और जीवात्मा अपने अस्तित्व को एक प्रकार से भूल सा जाती है।" एक भावना, एक वासना हृदय में प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और यह भावना सदैव जीवन के अंग प्रत्यंगों में प्रकाशित होती रहती है। इसी स्थिति को ही 'दिव्य संयोग' के नाम से पुकारते हैं। दिव्य संयोग में सारी इंद्रियों का एकीकरण हो कर तन्मयता के कारण एक उन्माद सा उत्पन्न हो जाता है। वास्तव में "रहस्यवाद अपने नग्नस्वरूप में एक अलौकिक विज्ञान है जिस में अनंत के संबंध की भावना का प्रादुर्भाव होता है और रहस्यवादी वह व्यक्ति है जो इस संबंध के अत्यंत निकट पहुँचता है।" इस स्थिति को प्राप्त करने के पहले रहस्यवादी जिन जिन परिस्थितियों को पार करता है उन्हें लेखक ने संख्या में तीन बतलाया है:— प्रथम वह, जब ईश्वर के समीप पहुँचने की भावना के उदय होते ही उस की दिव्य विभूतियों को देख कर मनुष्य चकित सा हो जाता है। दूसरा वह जब कि यह परमात्मा से प्रेम करने लगता है और प्रेम के प्रबल प्रवाह के सामने उस की सभी वासनायें एक ओर बह सी जाती हैं और अंत में वह

तीसरी अर्थात् चरमावस्था आती है जिस मे आत्मा एवं परमात्मा का एकीकरण हो जाता है और किसी प्रकार का अंतर शेष नहीं रह जाता। यही अंतिम स्थिति रहस्यवादी का अंतिम ध्येय है जिस के लिये वह निरंतर चेष्टा करता है। इस अंतिम स्थिति का दार्शनिक आधार वेदांत के अद्वैतवाद तथा सूफीमत के तात्त्विक सिद्धांतों में पाया जाता है और कबीर का रहस्यवाद इन दोनों की मुख्य मुख्य बातों पर आश्रित है। लेखक के अनुसार "फलतः उन्होंने अद्वैतवाद से माया और चिंतन तथा सूफीमत से प्रेम लेकर अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है"।

इस के उपरांत लेखक ने कबीर के रहस्यवाद की कतिपय विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए क्रमशः 'आध्यात्मिक विवाह', 'आनंद' तथा 'गुरु' संबंधी विषयों की चर्चा की है और कबीर की रचनाओं से कई उदाहरण देते हुए इन का तात्पर्य स्पष्ट करने की चेष्टा की। 'हठयोग' नामक शीर्षक इस पुस्तक का एक महत्त्वपूर्ण अंश है जिस मे यह कठिन विषय थोड़े में किंतु एक अच्छे ढंग से समझाया गया है। मानव शरीर के भीतर वर्त्तमान ईड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नामक तीनों प्रसिद्ध नाड़ियाँ एवं छहों चक्रों के वर्णन के साथ साथ उस रहस्यमयी कुंडलिनी का भी कुछ परिचय दे दिया गया है जिसे योगी लोग संसार की 'सृजन-शक्ति' बतलाते हैं। नाड़ियों, चक्रों एवं कुंडलिनी को भली-भाँति स्पष्ट करने के लिये पुस्तक में उन के चित्र भी दे दिये गए हैं और एक दूसरे चित्र द्वारा पंच महाप्राणों के भी स्थानों का मर्म समझाया गया है। कबीर ने हठयोग संबंधी विषयों का वर्णन अपनी रचनाओं में केवल प्रसंग वश ही किया है, किंतु उन के पद्यों के भावों को भली-भाँति हृदयंगम करने के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि इस की मुख्य मुख्य बातें पहले समझ ली जायँ। इसी उद्देश्य को सामने रख कर लेखक ने परिशिष्ट में हठयोग एवं सूफीमत में प्रयुक्त कुछ विशिष्ट शब्दों के अर्थ अलग भी दे दिए हैं। कबीर अपने सुंदर एवं घरेलू रूपकों के लिये भी अत्यंत प्रसिद्ध हैं। छोटे छोटे साधारण से विषयों को लेकर उन की आड़ मे ये ऐसी महत्त्वपूर्ण तथा सारगर्भित बातें कह

जाते हैं जिन के समझाने के लिये शास्त्रों के चिंतन एवं अभ्यास की आवश्यकता है। लेखकों ने इन रूपकों के रहस्य पर भी कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की है और कबीर की माया-विषयक कल्पनाओं का भी एक सिलसिलेवार ब्योरा दे दिया है।

इन उपरोक्त बातों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि समालोच्य ग्रंथ के रचयिता ने अपनी रचना को उपयोगी बनाने की पूरी चेष्टा की है और उस में ये बहुत कुछ सफल भी हुए हैं। पुस्तक मे कुछ ऐसी अशुद्धियाँ अवश्य रह गई हैं जो प्रयोग परंपरा एवं व्याकरण संबंधी नियमों के कारण कुछ खटकती हैं, किंतु इन की संख्या बहुत कम है। पृष्ठ २२ में 'आपस' के लिये 'आपुस' शब्द का प्रयोग तथा दो एक स्थलों पर 'प्रत्येक' शब्द के लिये बहुवचनांत क्रिया का व्यवहार इस के दो उदाहरण दिये जा सकते हैं। इन के सिवाय थोड़ी सी प्रेस संबंधी भी भूलें रह गई हैं जो दूसरे संस्करण मे सुधारी जा सकती है।

परंतु पुस्तक जिस उद्देश्य से लिखी गई है उस मे लेखक को अच्छी सफलता मिली है, यह हम निःसंकोच कह सकते हैं। इस समय जब कि हमारे हिंदी साहित्य का अध्ययन बड़े अच्छे ढंग से आरंभ हो रहा है और प्राचीन रत्नों की परख का क्रम जारी है प्रस्तुक पुस्तत का प्रकाशन एक समयानुकूल एवं महत्त्वपूर्ण प्रयत्न सिद्ध होगा इस में कोई संदेह नहीं।

प० रा० च०

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग १ } अक्तूबर १९३१ { अंक ४

संतसाहित्य

[लेखक—श्रीयुत परशुराम चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

[१]

कुछ दिनों पूर्व तक संतों का साहित्य प्रायः नीरस बानियों एवं पदों का एक अनुपयोगी संग्रह मात्र समझा जाता था और सर्व साधारण की दृष्टि मे इसे हिंदी-साहित्य मे कोई विशिष्ट पद पाने का अधिकार नहीं था। किंतु संत-साहित्य को विचार-पूर्वक अध्ययन एवं अनुशीलन करने पर यह बात एक प्रकार से नितांत निराधार सिद्ध होती है। संतसाहित्य, वास्तव में, हिंदी-साहित्य का एक महत्त्व-पूर्ण अंश है। इस के मुख्य विषय पर विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि भक्ति-ग्रंथों के कवियों ने जिस प्रकार सगुणोपासना को प्रधानता देते हुए अपनी उत्कृष्ट रचनाओं द्वारा हिंदी-साहित्य को एक उच्च आसन पर बिठाया, रीति-ग्रंथों के रचयिताओं ने जिस प्रकार साहित्य के विविध अंगों को उदाहृत करते हुए उसे आभूषित किया एवं नीति-ग्रंथकारों ने जिस प्रकार अपनी युक्तिपूर्ण सम्मतियों द्वारा उसे गौरव प्रदान किया उसी प्रकार संतसाहित्य के निर्माता महात्माओं ने अपने ज्ञान, कल्याण एवं विवेक-पूर्ण शब्दों द्वार उस की नींव को दृढतर बना कर उस मे जीवन का संचार किया था। संत-

साहित्य में दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन, योग-संबंधी रहस्यों का उद्घाटन, संसार की नश्वरता का प्रदर्शन तथा अलौकिक अनुभवों पर आश्रित जीवन्मुक्त की अवस्थाओं का स्पष्ट वर्णन तो है ही इन के साथ साथ उस मे हमें निर्गुणोपासना एवं गुरुभक्ति-पूर्ण पदों की प्रचुरता, विरक्तिपूर्ण उपदेशों का भांडार तथा अनेक स्थलों पर पाये जाने वाले दृष्टांत, रूपक, उपमा, अन्योक्ति आदि कतिपय अलंकारों से सुसज्जित, शांत, वीर, शृंगारादि अनेक रसों से परिपूर्ण तथा प्राकृतिक वर्णनों से विशद काव्य की एक विचित्र छटा भी देखने को मिलती है, जिस के कारण यदि हम यह कहें कि संतसाहित्य में अपनी विशेषताओं के साथ साथ हिंदी-साहित्य के अन्य मुख्य भागों की भी बातें एक अच्छे अंश मे वर्तमान हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी।

संतसाहित्य एक अनुपम ग्रंथराशि है जिस की प्रकाशित तथा अप्रकाशित पुस्तकों की संख्या सैकड़ों मे दी जा सकती है। इस की रचना का आरंभ आज से प्रायः आठ सौ वर्षों से भी पहले हुआ था और तब से आज तक अनेक सिद्ध महात्माओं ने इस में भाग ले कर इस के भांडार की पूर्त्ति में सहायता दी है। आरंभ काल की बहुत सी रचनायें अभी तक उपलब्ध नहीं है और न प्राप्त पुस्तकों के ही कोई प्रामाणिक संस्करण अभी तक देखने में आते है। जो कुछ मिलते हैं उन में से केवल थोड़े से ग्रंथों के सिवाय, प्रायः सभी अनेकानेक प्रक्षिप्त पंक्तियों से भरे पड़े है। लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस, बंबई के श्रीवेंकटेश्वर प्रेस तथा प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस आदि ने इस विषय की पुस्तकों के प्रकाशन में जो प्रयत्न किए हैं वे श्लाघ्य अवश्य हैं किंतु इन के द्वारा प्रकाशित ग्रंथों में अभी बहुत उन्नति करने की आवश्यकता है। ग्रंथों के मौलिक रूपों की खोज, पाठभेदों का मिलान, प्रक्षिप्त अंशों का निराकरण, आवश्यक टिप्पणियों का प्रयोग, प्रसंगों अथवा संकेतो का स्पष्टीकरण एवं आलोचनात्मक परिचयों का व्यवहार संतोषपूर्ण ढंग से अभी तक नहीं के बराबर हुआ है और इसी कारण, ऐसे ग्रंथों के पढ़ने की इच्छा रखते हुए भी पाठक हतोत्साह से हो जाते हैं। अभी तक नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रंथावली' तथा पंडित चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी द्वारा प्रकाशित दादूदयाल की बानियों

तथा पदों के अतिरिक्त केवल शुद्ध पाठ की दृष्टि से भी, निर्विवाद प्रामाणिक माना जाने वाला कोई संस्करण देखने मे नहीं आया है।

हिंदी में संतसाहित्य की रचना का आरंभ, कबीर के समय अर्थात् १५ वीं ईस्वी-शताब्दी से, होना कहा जाता है और सर्वसाधारण की संमति से वह पहले संत कबीर ही थे जिन्हों ने ऐसे साहित्य का सूत्रपात किया। परंतु संतसाहित्य में संमिलित करने योग्य फुटकर पदों एवं ग्रंथों का पता हमें कबीर के पहले से भी मिलता है और उन पर ध्यान पूर्वक विचार करने से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि ऐसे साहित्य के निर्माण का आरंभ पहले पहल कदाचित् बाबा गोरखनाथ के ही समय से हुआ होगा। बाबा गोरखनाथ एक प्रसिद्ध योगी व महात्मा हो गए हैं और इन की रचना कहलाने वाले दो दर्जन से अधिक ग्रंथों का पता लगा है[1]। इस के सिवाय एक ऐसा प्राचीन संग्रह भी मिला है जिस मे बाबा गोरखनाथ के ही ढर्रे पर रची गई बीस योगियों की कवितायें संगृहीत हैं।[2] इन कविताओं में आत्मज्ञान, योगाभ्यास, जगत की नश्वरता एवं सदुपदेश-संबंधी बातों के वर्णन प्रायः उसी रूप मे पाए जाते है जैसा हमें कबीर के समय से आगे देखने को मिलता है। उदाहरण के लिये नीचे लिखे पद दिए जा सकते हैं—

गोरखनाथ—पवनगोटिका रहणि अकास,
महियल अंतरि गगल कविलास।
पयाल नी डीवी सुन्नि चढ़ाई,
कथत गोरखनाथ मछींद्र बताई॥
सुन्नि मंडल तहँ नीझर झरिया।
चंद सुरज ले उनमनि धरिया॥

---

[1] 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (पहला भाग) पृष्ठ ३९। तथा 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', भाग ११, अंक ४, पृष्ठ ३९४-५।

[2] 'नागरी ———————', भाग ११, अंक ४, पृष्ठ ३९५।

बस्तीन सुन्यं सुन्यं न बस्ती, अगम अगोचर ऐसा ।
गगन सिखर में बालका बोलै, ताका नाँव धरहुगे कैसा ॥
छाँटै तजौ गुरु, छाँटै तजौ, तजौ लोभ माया ।
आत्मा परचै राखौ गुरुदेव, सुंदर काया ॥

जलंधरनाथ—यह संसार कुबधिका खेत,
जब लगि जीवै तब लगि चेत ।
आँख्याँ देखै, कान सुणै,
जैसा बाहै तैसा लुणै ॥

घोड़ाचोली—रावल ते जे चालै राह,
उलटि लहरि समावै माँह ।
पंच तत्त का जाणै भेव,
ते तो रावल परतिष देव ॥

चौरंगीनाथ—माली लौ भल माली लौ,
सींचै सहज कियारी ।
उनमनिकला एक पहूपन,
पाइं ले आवागवन निवारी ॥

कणेरीपाव—जे जे आइला ते ते गेला,
अवनागवने काल विमन भईला ।
हरि से कान्ह जिन उर बटई,
भणइ कान्ह मो हियहि न पइसई॥
सगौ नहीं संसार, चित नहिं आवै बैरी ।
नृभय होइ निसंक, हरिष मे हास्यौ कणेरी ॥

चरपटनाथ—चरपट चीर चक्रमन कंथा,
चित्त चमाऊँ करना ।
ऐसी करनी करो रे अवधू,
ज्यूँ बहुरि न होई मरना ॥

देवलनाथ—देवल भये दिसंतरी, सब जग देख्या जोइ ।
नादी वेदी बहु मिलैं, भेदी मिलै न कोइ ॥

घूँघलीमल—आईसजी आवो बाबा आवत जात बहुत जग दीठा कछू न चढ़िया हाथं ।
अब का आवणा सूफल फलिया, पाया निरंजन सिध का साथं ॥

गरीबनाथ—पाताल की मींडकी अकास जंत्र बावै ।
चंद सूरज मिलै तहाँ तहाँ गंग जमुन गीत गावै ॥

गरीबनाथ के उपरोक्त अवतरण में हमें उन उलटबाँसियों का भी पूर्वाभास मिलता है जिन के लिये कबीर की कविता अत्यंत प्रसिद्ध है।

बाबा गोरखनाथ के आविर्भाव-काल के विषय में बहुत कुछ मतभेद है यहाँ तक कि यह समय डाक्टर शहीदुल्ला, डाक्टर फर्कुहर एवं नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज के अनुसार विक्रमी संवत् के आठवें, तेरहवें तथा पंद्रहवें शतक में क्रमशः बतलाया गया[1] है। किंतु पंडित पीतांबर दत्त बड़थ्वाल ने इन मतों की आलोचना करते हुए यह स्थिर किया है कि गोरखनाथ का समय सं० १०५० के आसपास है[2]। पर्याप्त सामग्री के उपलब्ध न हो सकने से इन मतों की पूर्ण समीक्षा नहीं की जा सकती, किंतु अनुमानतः इतना अवश्य कह सकते हैं कि गोरखनाथ का समय बारहवीं ईस्वी शताब्दी से किसी प्रकार आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। संभव है उन की रचनायें अधिकतर कुछ बाद में लिखी गई हों और उन के शिष्यों का ही उन में विशेष हाथ हो परंतु इस का निर्णय भी करना इस समय कठिन है। परंपरानुसार चौरंगीनाथ और घोड़ाचोली गोरखनाथ के गुरुभाई थे। जलंधरनाथ मछंदरनाथ के गुरुभाई थे और कणेरीपाव जलंधर के शिष्य थे। चरपटनाथ गहनीनाथ (१२२३-७३ ई०) के गुरुभाई थे और देवलनाथ भी लगभग उसी समय हुए थे। इसी प्रकार सिद्ध घूँघलीमल तथा उन के शिष्य गरीबनाथ का समय क्रमशः १३८५ ई० तथा १३४३ ई० बतलाया जाता है[3]। अतएव उपरोक्त अवतरणों वाली रचनायें कबीर के समय से पहले की ही ठहरती हैं और इन के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि संत-

---

[1] 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', भाग ११, अंक ४, पृष्ठ ३८४।

[2] वही, पृष्ठ ३९२।

[3] वही, पृष्ठ ३९७-४०२।

साहित्य का प्रारंभ पंद्रहवीं ईसवी शताब्दी के पूर्व अवश्य हो गया था और 'निर्गुणशाखा वास्तव में योग का ही परिवर्त्तित रूप है'[१]।

संतसाहित्य के इस प्रारंभिक काल में नाथ-पंथी योगियों की रचनाओं के साथ विकसित होने वाले एक दूसरे स्रोत का भी उल्लेख कर देना हम उचित समझते हैं। इसी समय के लगभग प्रसिद्ध स्वामी रामानुज (१०१६-११३७ ई०) का श्री संप्रदाय दक्षिण भारत से आरंभ हो कर उत्तर भारत की ओर क्रमशः फैलता जा रहा था। रामानुजाचार्य के शिष्य देवाचार्य, उन के हरियानंद तथा हरियानद के शिष्य राघवानंद हुए जो चौदहवीं शताब्दी ईसवी के आरंभ काल में काशी में रहा करते थे। इन्हीं राघवानंद के शिष्य प्रसिद्ध रामानंद हुए जिन्हों ने रामावत संप्रदाय की स्थापना की और कबीर आदि बारह भिन्न भिन्न जातिवाले स्त्री पुरुषों को अपना शिष्य बनाया। रामानंद का जन्म सन् १२९९ ई० मे प्रयाग के किसी पुण्यसदन नामक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर सुशीला नाम की माता के गर्भ से हुआ था। उन की बुद्धि बड़ी तीव्र थी जिस कारण उन्हों ने अल्प समय में ही संस्कृत साहित्य का पूर्ण अभ्यास कर लिया और दर्शनों का विशेष अध्ययन करने के निमित्त काशी आए। काशी में अकस्मात् एक दिन उन से राघवानंद से भेंट हो गई जिन के प्रभाव में पड़ कर इन्हों ने शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और उन्हीं के यहाँ ठहर कर गुरु-सेवा करने लगे। परंतु कुछ दिनोपरांत जब ये तीर्थ-यात्रा कर के लौटे और खानपान के संबध मे अपने गुरु से इन का स्पष्ट मतभेद हो गया तो इन्हों ने उन से अलग हो कर अपना नवीन मत चलाया। इन के रामावत संप्रदाय के अनुसार रामानुजीय नारायण के स्थान पर रामनामधारी इष्टदेव की उपासना आरंभ हुई, विस्तृत विधि-नियम आदि की परंपरा टूट गई, जाति वर्ण आदि की व्यवस्था शिथिल कर दी गई, अन्य धर्मावलंबियों के साथ सहनशीलता का बर्ताव चला तथा प्रांतीय भाषाओं में रचना को उत्साह मिला और साथ ही वैरागी नाम के वेषधारी साधुओं का ऐसा संगठित दल तैयार हुआ जिस का प्रभाव धार्मिक समाज मे

---

[१] 'नागरी [illegible]', भाग ११, अंक ४, पृ० ४०३।

बहुत दिनों तक वर्तमान रहा। रामानंद का देहांत सन् १४१० ई० में १११ वर्ष की अवस्था में हुआ। रामानंद ने संस्कृत में कई ग्रंथ लिखे किंतु उन के द्वारा रचे गए हिंदी के भी कुछ पद मिलते हैं। नीचे लिखा पद ग्रंथसाहब में दिया गया है और कहा जाता है कि किसी के निमंत्रण देने पर उन्हों ने इस की रचना की थी।

कत जाइये रे घर लागो रंग।
मेरा चित न चलै मन भयो पंग॥
एक दिवस मन भई उमंग।
घसि चोआ चंदन बहु सुगंध॥
पूजन चाली ब्रह्म ठाँय।
सो ब्रह्म बतायो गुरु मंत्रहि माँहि॥
जहँ जाइये तहँ जल परवान।
तूँ पूर रह्यो है सब समान॥
वेद पुरान सब देखे जोय।
उहाँ तो जाइये जो इहाँ न होय॥
सतगुरु मैं बलिहारी तोर।
जिन सकल निकल भ्रम काटे मोर॥
रामानंद स्वामी रमत ब्रह्म।
गुरु का सबद काटे कोटि करम॥

इस पद को देखने से पता चलता है कि बाहरी उपासना जिस में इष्टदेव को प्रसन्न करने के निमित्त विविध उपचारों का आयोजन करना पड़ता है, अनावश्यक है। सर्वव्यापी ब्रह्म गुरु के दिये हुए मंत्र द्वारा ही उपास्य है, यही पूजा का वास्तविक रहस्य भी है जिसे गुरु ने बतला दिया है और तब से, सच्चे ज्ञान का उदय हो जाने के कारण, बाहरी आडंबरों से मन हट गया है। स्वामी रामानंद वैष्णव संप्रदाय के नियमानुसार साकारोपासना को भी महत्त्व देते थे, किंतु इस पद से उन का असली सिद्धांत निराकारोपासना विषयक ही लक्षित होता है। हिंदी में रामानंद स्वामी का एक दूसरा पद भी डाक्टर ग्रियर्सन

साहब को कहीं से मिला था जिस मे हनुमानजी की आरती गाई गई है और उस पद के गाने का माहात्म्य भक्त के लिये 'बसि वैकुंठ परम पद पावै' बतलाया गया है। इस कारण उन की रचनाओं के, अच्छी संख्या में, न मिल सकने के कारण हम उन के सिद्धांतों की पूरी आलोचना नहीं कर सकते। ऊपर दिये हुए पद के आधार पर इतना ही कह सकते हैं कि रामानंद के पदों में भी संत-साहित्य का पूर्वाभास अवश्य मिलता होगा। रामानंद स्वामी के शिष्य पीपा जी का भी एक ऐसा ही पद मिलता है। पीपा जी गागरौनगढ़ के एक शूरवीर नरेश थे जिन का प्रसंग कबीर साहब के 'बीजक' में 'तिनहुँ को काल न राखा'[1] कर के आया है, और इस से जान पड़ता है कि पीपा जी कबीर के पहले अवश्य मर गए होंगे। पीपा जी का पद इस प्रकार है—

> काया देवा काया देवल,
> काया जंगम जाती।
> काया धूप दीप नैवेदा,
> काया पूजों पाती ॥ १ ॥
> काया बहु खँड खोजते,
> नवनिद्धी पाई।
> ना कछु आइबो ना कछु जाइबो,
> राम की दुहाई ॥ २ ॥
> जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे,
> जो खोजे सो पावै।
> पीपा प्रनवै परम तत्व ही,
> सतगुरु होय लखावै ॥ ३ ॥

अर्थात् पूज्यदेव, देवालय, पूजनोपचार आदि सभी शरीर के ही अंतर्गत हैं और बाहर ढूँढने की कोई आवश्यकता नहीं। वही परमतत्व पिंड एवं ब्रह्मांड में सब कहीं व्याप्त है और सतगुरु द्वारा हम उस का अनुभव प्राप्त करते

---

[1] 'कबीर साहब का बीजक' (बेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग पृष्ठ ६२

है। स्वामी रामानंद के दूसरे दो शिष्य सदना व रैदास भी जो कबीर के सम-कालीन थे प्रायः इसी प्रकार की रचना किया करते थे। विशेषता इन दोनों मे यह थी कि इन की आत्मग्लानि, एकांतनिष्ठा एवं आत्म-समर्पण की भावना पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी और इन के सच्चे हृदय की मुहर इन के प्रत्येक पद पर दिखलाई पड़ती है। सदना जाति के कसाई थे और कहा जाता है कि जीव-हिंसा नहीं करते थे केवल कटा हुआ मांस बेचा करते थे। इन्हे ईश्वर के प्रति सच्ची लगन थी और कहते हैं कि एक बार, जगन्नाथ जी की यात्रा मे जाते समय, एक झूठे अपराध के कारण इन के दोनों हाथ काट लिये गए थे। सदना की विनय प्रसिद्ध है। उदाहरण के लिये—

एक बूँद जल कारने, चातक दुख पावै।
प्रान गये सागर मिलै, पुनि काम न आवै॥
प्रान जो थाके थिर नहीं, कैसे बिरमावो।
बूडि मुए नौका मिलै, कहु काहि चढ़ावो॥
मैं नाहीं कछु हौं नहीं, कछु आहि न मोरा।
औसर लज्जा राखि लेहु, सदना जन तोरा॥

रैदास जाति के चमार थे और रग्घू नामी चमार के घर, काशी में, घुर-बिनिया चमाइन के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। इन्हे साधु-संतों की सेवा के आगे लड़कपन से ही, अपना धंधा पसंद नहीं था इस कारण रग्घू ने इन्हे अपने घर से निकाल कर अपने पिछवाड़े की ज़मीन रहने को दे दी और यहीं पर ये जूते बना कर अपना पेट पालने तथा भगवत भजन करने लगे। इन का वैराग्य इतना बढ़ा चढ़ा था कि कहते हैं एक बार इन्हे किसी साधु ने पारस पत्थर ला कर दिया और इन के औज़ार से छुला कर सोना बना उस का उपयोग भी बतला दिया किंतु रैदास ने उसे लेने से इन्कार करते हुए बहुत आग्रह करने पर उसे छप्पर में खोंस देने के लिये कहा। तब से तेरह महीने के उपरांत जब साधु फिर लौट कर आया और पत्थर का हाल पूछा तो इन्हों ने कहा 'देख लीजिए, रक्खा था वहीं होगा।' यह भी कहा जाता है कि चित्तौर की झाली नाम की

कोई रानी इन के प्रभाव में आ कर इन की शिष्या हो गई थी।[१] रैदास कबीर के मरणोपरांत भी जीवित रहे थे क्योंकि उन्हों ने कहा है—

निरगुन का गुन देखो आई।
देही सहित कबीर सिधाई॥[२]

रैदास की रचनायें कुल नहीं मिलतीं। जो प्राप्त हैं, उन का एक संग्रह वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से 'रैदास जी की बानी' कर के निकला है। इस पुस्तक में रैदास के ८१ पद तथा ६ साखियाँ हैं जिन में उन्हों ने सच्चा अनुराग, अविरत उपासना, वैराग्य, दैन्य, संतोष एवं अंतिम विश्राम आदि के भावानुसार बड़े सुंदर पद्यों की रचना की है और साथ ही अखिल ब्रह्म का वर्णन तथा उस के प्रति विनय के भी पद कहे हैं और उपदेश भी सर्व साधारण को दिया है। इन के पद्यों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

नरहरि चंचल है मति मेरी,
कैसे भगति करूँ मैं तेरी॥ टेक॥
तूँ मोहिं देखै हौ तोहि देखूँ,
प्रीति परस्पर होई॥
तू मोहिं देखे तोहि न देखूँ,
यह मति सब विधि खोई॥ १॥
सब घट अंतर रमसि निरंतर,
मैं देखन नहिं जाना॥
गुन सब तोर मोर सब औगुन,
कृत उपकार न माना॥ २॥
मैं तैं तोरि मोरि असमझि सों,
कैसे करि निस्तारा॥

---

[१] 'रामानंद टू रामतीर्थ' (जी० ए० नटेसन, मद्रास) पृष्ठ ६९।

[२] 'रैदास जी की बानी', (बेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग) पृष्ठ ३३।

कह रैदास कृष्ण करुणामय,
जै जै जगत अधारा ॥ ३ ॥

देहु कलाली एक पियाला,
ऐसा अवधू है मतवाला ॥ टेक ॥

हे रे कलाली तैं क्या किया,
सिरका सो तैं प्याला दिया ॥ १ ॥

कहै कलाली प्याला देऊँ,
पीवन हारे का सिर लेऊँ ॥ २ ॥

चंद सूर दोउ सनमुख होई,
पीवै प्याला मरै न कोई ॥ ३ ॥

सहज सुन्न में भाठी सरवै,
पीवै रैदास गुरु मुख दरवै ॥ ४ ॥

फल कारन फूलै बनराई ।
उपजै फल तब पुहुप बिलाई ॥
राखहि कारन करम कराई ।
उपजै ज्ञान त करम नसाई ॥
जल में जैसे तूँबा तिरै ।
परिचै पिंड जीव नहिं मरै ॥
जब लगि नदी न समुद समावै ।
तब लगि बढे हँकारा ॥
जब मन मिल्यौ राम सागर सों ।
तब यह मिटी पुकारा ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर के पहले से ले कर उन के समय तक नाथ-पंथी योगियों एवं रामानंदी भक्तों के दो भिन्न भिन्न मार्ग चल रहे थे और कबीर की रचनाओं का विचार करते समय हमें इन दोनों के प्रभाव उन पर स्पष्ट रूप में देखने को मिल सकते हैं। नाथ-पंथियों की रचनाओं में प्रेम एवं उपासना का जो तत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होता है वह रामानंदी भक्तों की कवि-

ताओं में दिखाई पड़ता है और कबीर के लिये ये एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। नाथ-पंथी योगियों में भी गहनीनाथ (१२२३-७२ ई०) के शिष्य निवृत्तिनाथ के छोटे भाई एवं शिष्य प्रसिद्ध ज्ञानदेव अथवा ज्ञानेश्वर महाराज (१२७५-९६ ई०) हुए जिन्हों ने मराठी भाषा मे अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाये कीं और उन रचनाओं के देखने से स्पष्ट है कि वे केवल शुष्क वेदांती ही नहीं थे और इसी कारण उन्हों ने पंढरपुर के आंदोलन में भी नेतृत्व ग्रहण किया था। ज्ञानेश्वर के प्रभाव में आकर नामदेव (१३७०-१४४० ई०) तथा एकनाथ (१५२८-९९ ई०) ने जो कविताये की थीं वे भी भक्तिरस से भरी हुई हैं। एकनाथ के किसी हिंदी पद का हमें पता नहीं किंतु नामदेव अपनी मराठी रचनाओं के साथ साथ हिंदी पदों के लिये भी प्रसिद्ध हैं। नामदेव का जन्म दमासेर दर्जी के घर गोनाबाई के गर्भ से पंढरपुर में हुआ था। ये लड़कपन से ही परम भक्त हो गए थे और वैवाहिक जीवन व्यतीत करते हुए भी, अपनी इसी प्रकृति के कारण, व्यवसाय से तटस्थ हो गए और दरिद्रता ने इन्हें आ घेरा। ये पंढरपुरस्थ विठोबा को ही अपना इष्ट मानते थे। इन्हों ने विशोवा खेसार नामक एक वेदांती को पहले अपना गुरु बनाया किंतु अपनी यात्रा के उपरांत, जान पड़ता है, अधिकतर ये ज्ञानेश्वर के ही ग्रंथों से विशेष प्रभावित हुए। महाराष्ट्र देश में इन का जन्मकाल प्रायः ११९२ शाका अथवा सन १२७० ई० दिया जाता है क्योंकि मराठी के ही महीपति कवि ने उन का ज्ञानेश्वर के साथ यात्रा आदि करना लिखा है। परंतु नामदेव की रचनाओं पर मुसल्मानी प्रभाव का आधिक्य देख कर यह काल सौ वर्ष पीछे अर्थात् १३७० ई० माना गया है।[1] नामदेव के बहुत से पद गुरु नानक के आदि-ग्रंथ में आए हैं। और 'नामदेव की वाणी', 'नामदेव जी की साखी', 'नामदेव जी का पद' तथा 'रागसोरठ का पद' नामक इन के चार ग्रंथों का पता खोजों में मिला है।[2] नामदेव की भक्ति बड़ी अगाध थी और ये अपने जीवन भर भजन गाते तथा कीर्त्तन करते ही रह गए। इन

---

[1] 'नामदेव' (जी० ए० नटेसन, मद्रास) पृ० २१।

[2] 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त वर्णन', (पहला भाग) पृ० ७९

के विषय में कबीर[१] तथा रैदास ने[२] आदर के साथ लिखा है। इन के कुछ पद नीचे दिए जाते हैं:—

बदौ क्यों ना होइ माधो मो सों ।
ठाकुर तें जन जन तें ठाकुर,
खेल पर्यो है तो सों ॥१॥
आपन देव देहरा आपन,
आप लगावै पूजा ।
जल तें तरँग तरँग तें है जल,
कहन सुनन को दूजा ॥२॥
आपहिं गावै आपहिं नाचै,
आप बजावै तूरा ।
कहत नामदेव तू मेरो ठाकुर,
जन ऊरा तूँ पूरा ॥३॥

दामिनि दमकि घटा घहरानी,
बिरह उठै घनघोर ।
चित चातृक है दादुर बोलै,
वहि बन बोलत मोर ॥१॥
प्रीतम को पतियाँ लिखि भेजौं,
प्रेम प्रीति मसि लाय ।
बेगि मिलो जन नामदेव को,
जनम अकारथ जाय ॥२॥

नामदेव की निम्नलिखित पंक्तियों से उन के, कबीर के समान, हिंदू मुसलमानों के प्रति खरे व्यंग भी प्रकट होते हैं—

पांडे तुम्हारी गायत्री
लोधे का खेत खाती थी ।

---

१ 'बीजक', (बे० प्रे० प्रयाग) पृ० ६२ व ९२ ।

२ 'रैदास जी की वाणी', (बे० प्रे० प्रयाग) पृ० ३३ ।

लेकरि ठेंगा टेंगरी तोरी
लंगत लंगत आती थी ॥
हिंदू पूजै देहरा,
मुसल्मान मसीद।
नामा सोई सेविया,
जहँ देहरा न मसीत ॥

वास्तव में कबीर के आविर्भाव-काल के लगभग सारे भारतवर्ष और विशेष कर इस के उत्तरी भाग में भक्ति-सरिता की ही लहरें कल्लोल करने लगी थी। रामानुजीय संप्रदाय के प्रभाव का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है। गुजरात मे स्वामी मध्वाचार्य (११९७–१२७६ ई०) के कारण तथा बंगाल में जयदेव (तेरहवीं ईस्वी शताब्दी) के गीतों के प्रभाव में आ कर इसे और भी उत्तेजना मिली और जैसा कि नाथ-पंथी योगियों की रचनाओं में पाए जाने वाले परिवर्त्तन की ओर संकेत किया जा चुका है, धार्मिक हृदयों की रुझान क्रमशः निर्गुण अथवा सगुणोपासना की ओर ही बढ़ती गई। इस समय निर्गुणोपासना तथा सगुणोपासना में भी कोई बहुत बड़ा अंतर कदाचित् नहीं समझा जाता था क्योंकि नामदेव आदि कई भक्तों मे हम इन दोनों प्रकार की भक्तियों के प्रायः बराबर उदाहरण पाते हैं। संतसाहित्य का यह प्रारंभिक काल इसी रूप में नामदेव, सदना, रैदास, गरीबनाथ आदि भक्त-महात्माओं से समाप्त होता है। इस के अनंतर कबीर का समय आया और कबीर ने ही पहले पहल इस में गंभीर एवं विस्तृत भावनाओं तथा विचारों का बीज डाल कर उन्हें विकसित, पल्लवित एवं फलयुक्त किया।

[२]

कबीर की जन्म-तिथि तथा मरण-तिथि इन दोनो के विषय में बड़ा मत-भेद है। बहुत से कबीरपंथी कबीर का ३०० वर्षों तक (संवत् १२०५–१५०५ अर्थात् ११४८–१४४८ ई०) जीवित रहना बतलाते हैं जो असंभव जान पड़ता है। डाक्टर हंटर ने कबीर का जन्म-काल १३८० ई० तथा विल्सन ने मरण-काल १४४८ ई० ठीक समझा है परंतु इन तिथियों पर विचार करते हुए महात्मा

सीतारामशरण भगवानप्रसाद जी ने इन्हे न मान कर जन्म-मरण संवत् १४५१-१५५२ अर्थात् १३९४-१४९५ ई० निश्चित किया है[1]। परंतु 'कबीर-कसौटी' के अनुसार

चौदह सौ पचपन सालगिरा
चन्द्रवार इक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को
पूरनमासी तिथि प्रगट भए॥[2]

तथा, 'माघ सुदी एकादशी, दिन बुधवार, संवत १५७५ को काशी को तज कर मगहर को चले।'[3] लिखा है जिस के कारण कबीर का जन्म-समय संवत् १४५६ अर्थात सन् १३९९ ई० तथा मरण-समय संवत् १५७५ अर्थात् सन् १५१८ ई० मानने की भी परंपरा चली आ रही है और मरण-काल विषयक संवत् की पुष्टि निम्नलिखित दोहे से भी की जाती है:—

संवत् पंद्रह से पछत्तरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी, रलो पवन में पवन॥

रेवरेंड जी० एच० वेसकट ने भी इस मरण-काल को स्वीकार किया है किंतु उन के अनुसार कबीर का जन्म-काल १३९९ ई० के स्थान पर १४४० ई० होना चाहिए[4] और डाक्टर रवींद्रनाथ ठाकुर एवं एवलिन अंडरहिल ने भी, जान पड़ता है, इसी वेसकट के ही मत को प्रामाणिक समझा है[5]। इस प्रकार इन दो में से

---

[1] 'भक्ति सुधाबिंदु स्वाद'—ले० श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद (हितचिंतक प्रेस, बनारस) पृष्ठ ७१४ व ८४० ।

[2] 'कबीर-कसौटी'—ले० श्री बाबू लेहना सिंह (श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बंबई) पृष्ठ ७।

[3] वही, पृष्ठ ५४ ।

[4] 'कबीर ऐंड दी कबीर पंथ', लेखक रेवरेंड जी० एच० वेसकट (क्राइस्ट चर्च मिशन प्रेस) ।

[5] 'वन हंड्रेड पोएम्स अव् कबीर', (मैकमिलन कंपनी) भूमिका, पृष्ठ १०६ ।

कबीर कसौटी के अनुसार कबीर ११९ वर्ष तथा वेसकट के अनुसार ७८ वर्ष तक जीवित रहे। कबीर का जीवन-काल ११९ वर्ष होना भी कोई असंभव बात नहीं जान पड़ती। हमारे संतों ही में मलूकदास तथा दरिया साहब (बिहार वाले) का १०६ वर्षों तक, दरिया साहब (मारवाड़ वाले) का ११२ वर्षों तक तथा रामानंद स्वामी का १११ वर्षों तक और श्रीरामानुज स्वामी का १२१ वर्षों तक जीवित रहना प्रसिद्ध है इस कारण 'कबीर-कसौटी' वाले संवतों पर संदेह करने को कोई आवश्यकता नहीं दीख पड़ती।

कबीर को उत्पन्न करने वाले उन के माता-पिता के विषय में भी बहुत कुछ मतभेद है। कबीर साहब के ईश्वरत्व में श्रद्धा रखने वाले लोग इस विषय मे अनेक प्रकार की कल्पना करते हैं, किंतु प्रायः सर्व-संमति से इतना निश्चित जान पड़ता है कि बालकपन में काशी के निकटवर्त्ती लहरतारा तालाब के पास नीरू जुलाहे की स्त्री नीमा द्वारा ये पाये गए और तब से उसी के घर इन का पालन-पोषण हुआ। कबीर ने बार बार अपने को काशी का जुलाहा बतलाया है और जीवन भर जुलाहे का ही व्यवसाय अर्थात् कपड़े बीनने का काम करने वाला अपने को कई पदों द्वारा व्यंजित किया है। जैसे,

जाति जुलाहा मति को धीर।
हरषि हरषि गुन रमै कबीर॥
मेरे राम की अभैपद नगरी,
कहे कबीर जुलाहा।
तू ब्राह्मन मैं कासी का जुलाहा।
पूरब जनम हम ब्राह्मन होते वोछे करम तप हीना।
रामदेव की सेवा चूका पकरि जुलाहा कीना॥

कबीर का बचपन काशी में व्यतीत हुआ। ऐसा 'कबीर-कसौटी' से जान पड़ता है किंतु ग्रंथ साहब में उल्लिखित 'पहिले दर्शन मगहर पायो पुनि काशी बसे आई' के आधार पर यह भी अनुमान किया जाता है कि 'उन का जन्म ही मगहर में हुआ था और फिर ये काशी में आ कर बस गए और अंत में फिर

मगहर में जा कर परलोक सिधारे।'[1] जो हो, नीरू ने, कहा जाता है कि, क़ाजी के पास जा कर उस से 'कुरान शरीफ़' का ग्रंथ खुलवाया और उस के पृष्ठ पर पाये गए पहले शब्द 'कबीर' के अनुसार बालक का यही नाम रक्खा। कबीर अपने लड़कपन से ही स्वतंत्र स्वभाव के थे और अपने समय के पंडितों एवं मुल्लाओं के भिन्न भिन्न वादविवादों को जा कर देखा करते थे। इन्हें उसी समय से अच्छी अच्छी एवं पारमार्थिक बातों के जानने एवं समझने की भी उत्कंठा बनी रही जिस के कारण एक सच्चे जिज्ञासु होने के अनंतर इन्हें एक पूरे साधक तथा महात्मा की पदवी प्राप्त हो गई। अपने छोटेपन में ही ये स्वामी रामानंद जी को गुरु बनाने की इच्छा से कहा जाता है, पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर जा डटे और अँधेरे में रामानंद जी की ठोकर खा कर उन के मुख से निकले हुए 'राम राम' को अपना मंत्र बना कर उसे ही धारण कर लिया। रामानंद का गुरु होना कबीर के

काशी में हम प्रगट भए हैं रामानंद चेताए।

तथा उन के प्रधान शिष्य धर्मदास के

काशी में प्रगटे दास कहाए नीरू के गृह आए।
रामानंद के शिष्य भए, भवसागर पंथ चलाए॥

से भी विदित होता है। बहुत लोगों का यह अनुमान कि कबीर झाँसी के प्रसिद्ध शेख़ मीर तक़ी के शिष्य थे, नीचे लिखी कबीर की उपदेशात्मक पंक्तियों से कुछ संदेहात्मक हो जाता है। जैसे,

नाना नाच नचाय के, नाचे नट के भेष।
घट घट अविनासी बसै, सुनहु तकी तुम सेष॥[2]

'कबीर-कसौटी' के अनुसार[3] जब कबीर तीस वर्ष की उमर के हुए तब

---

[1] 'कबीर ग्रंथावली',—सं० श्यामसुंदरदास बी० ए० (नागरी-प्रचारिणी-सभा) पृ० २३।

[2] 'कबीर साहब का बीजक', (बे० प्रे० प्रयाग) पृष्ठ २४।

[3] 'कबीर-कसौटी', (वें० प्रे० बंबई) पृष्ठ १८।

उन्हे एक दिन जंगल मे बीस बरस की उमर की एक स्त्री मिली जिस का नाम, अपने बचपन में ऊन मे लपेटी हुई पाई जाने के कारण, लोई पड़ गया था। लोई कबीर की करामात पर प्रसन्न हो गई और उन के साथ उन की स्त्री हो कर उन के घर आ गई। कहा जाता है कि लोई के साथ कबीर ने गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत किया और कमाल व कमाली नाम के इन्हें दो बच्चे भी उत्पन्न हुए। कबीर व लोई का साथ कबीर के निम्नलिखित पद्यांश से स्पष्ट है—

कहत कबीर सुनहु, रे लोई,
हम तुम विनसि रहेगा सोई।

परंतु 'कबीर-कसौटी' में कमाल व कमाली इन के द्वारा पाये गए ही बच्चे माने गए हैं। लोई संभव है, अंत में कबीर की शिष्या भी हो गई हो क्योंकि उन्हों ने स्वयं कहा है—

नारी तो हम भी करी, पाया नहीं विचार।
जब जानी तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥

'कबीर-कसौटी' के अनुसार[1] संवत् १५४५ अर्थात् सन् १४८८ ई० में जब सिकंदर लोदी बादशाह काशी में आया तो लोगों की निंदा करने पर उस ने कबीर को कष्ट देने की धमकी दी और कई प्रकार उन्हे दुःख भी पहुँचाया। यह भी कहा जाता है कि अंत में इन के न मानने पर इन्हें सन् १४९५ ई० में देश निकाले का भी दंड मिल गया जिस से काशी छोड़ कर ये उत्तरी भारत के अन्य कई स्थानों की यात्रा करते फिरे। नीचे लिखी रमैनी कदाचित् इसी समय की घटना बतलाती है—

मानिकपूर कबीर बसेरी,
मुद्दति सुनहु सेख तकि केरी।
ऊजो सुनी जमनपुर थाना,
झूठी सुनी पीरन को नामा॥

---

[1] 'कबीर-कसौटी', (बे० प्रे०) पृष्ठ २६।

इकइस पीर लिखे तेहि ठामा,
खतमा पढ़ पैगम्बर नामा।
सुनत बोल मोहि रहा न जाई,
देखि मुकवी रहा भुलाई॥
हबीब और नबी के कामा,
जहँ लगि अमल सो सबै हरामा॥

अंत में कबीर का मगहर में देहांत हो गया। कबीर की मगहर में मृत्यु होने के विषय मे प्रायः सभी संतों ने लिखा है। उदाहरण के लिये—

धर्मदास—आठवीं आरती पीर कहाए।
मगहर अमी नदी बहाए॥

नानक—सारी उमर तप कियो कासी।
अंत भयो मगहर के वासी॥
कासी मगहर एक समान।
मुए कबीरा रमते राम॥

मलूकदास—तजि काशी मगहर को गए हैं, दोनों दीन के पीर।
कोइ गाड़े कोइ अग्नि जरावे, एक न धरता धीर॥

नाभादास—भजन भरोसे आपने, मगहर तज्यो शरीर।
अविनाशी की गोद में, बिलसैं दास कबीर॥

दादूजी—काशी तज मगहर गए, कबीर भरोसे राम।
संदेही साहब मिले, दादू पूरे काम॥

कहा जाता है कि कबीर के शव की अंतिम क्रिया करने के लिये हिंदुओं की ओर से वीरसिंह बघेला तथा मुसलमानों की ओर से बिजली खाँ पठान लड़ने तक पर तैयार हो गए थे किंतु अंत में उन्हों ने उन की जगह पाये गए फूल को आपस में आधा आधा बाँट लिया। मुसलमानों ने अपने हिस्से को वहीं गाड़ दिया और हिंदुओं ने काशीनरेश की सहायता से काशी के कबीर चौरे में लाकर अपने भाग के ऊपर समाधि बनाई। यह भी कहते हैं कि कबीर के मृत्यु-

स्थान पर अमी नाम की एक नदी जल से भर कर वह निकली, जहाँ मकर के महीने में अभी तक प्रत्येक वर्ष मेला लगा करता है।

कबीर के पढ़े-लिखे होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता बल्कि अपनी शिक्षा एवं उपदेश की ओर संकेत करते हुए वे एक स्थान पर स्वयं लिखते हैं—

मसि कागद छूओ नहीं, कलम गहो नहिं हाथ।
चारिउ जुग का महातम, कबिरा मुखहिं जनाई बात॥

अर्थात् जो कुछ उपदेश उन्हों ने दिए सब मुँह से बोल कर ही दिए किसी ग्रंथ की रचना नहीं की। परंतु जान पड़ता है कि कबीर के शिष्यों ने उन के मुख से निकले हुए पदों एवं साखियों को उन की आज्ञा के अनुसार पुस्तकों के रूप में लिख लिया और धीरे धीरे उन के नाम से अनेक ग्रंथ सर्व-साधारण के सामने आए। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (प्रथम भाग) नामक ग्रंथ में इन के ६० से अधिक ग्रंथों की सूची दी हुई है[1] और मिश्रबंधुओं ने अपने 'हिंदी नवरत्न' में इस सूची में आठ दस और भी रचनाओं के नाम जोड़े हैं।[2] परंतु इन सूचियों में दिये गए नामों मे से बहुत से ऐसे हैं जो 'बेलवेडियर प्रेस', प्रयाग द्वारा 'संतबानी-पुस्तक-माला' में प्रकाशित कबीर के ग्रंथों के केवल अंश अथवा अध्याय मात्र जान पड़ते हैं और बहुतों को थोड़ा सा नामभेद के कारण दो बार या तीन बार तक दुहरा दिया गया है। प्रयाग के 'बेलवेडियर प्रेस' ने कबीर के ग्रंथों को 'कबीर साहेब का बीजक', 'अनुरागसागर' 'कबीर साखी-संग्रह', 'कबीर साहेब की शब्दावली', ४ भाग, 'अखरावती, तथा 'कबीर साहेब की ज्ञानगूदड़ी, रेखते और झूलने' कर के अभी तक प्रकाशित किया है। बीजक नाम के कबीर के दो ग्रंथ सुने जाते हैं जिस में एक को कबीर ने काशीराज को सुनाया था और दूसरा उन के शिष्य भग्गू द्वारा संग्रहीत हुआ था। इसी संग्रह-ग्रंथ को ही कदाचित् वेसकट साहब ने प्रामाणिक ग्रंथ मान कर उस का रचना-

---

[1] 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण भाग', १, पृष्ठ १८-१९।

[2] 'हिंदी नवरत्न' ले० मिश्रबंधु , लखनऊ पृ० ४५१ २

काल सन् १५७० ई० बतलाया है।[1] इस बीजक की आज तक कई टीकायें हो चुकी है जिन में से सब से अंतिम टीका कबीरचौरा के वर्तमान महंथ ने लिखी है। नयी टीका से पहले रीवाँनरेश विश्वनाथ सिंह (१८७०-१९११ सं०) की रची हुई टीका तथा नागवारी जिला बुरहानपुर निवासी कबीरपंथी साधु पूरनदास की टीका (निर्माण-काल सं० १८९४) प्रसिद्ध रही हैं। बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग वाला बीजक बिना किसी टीका का है। इस में कुल मिला कर ६३३ पद्य अथवा पद्य-समूह ११६ पृष्ठों में छपे हुए हैं। ग्रंथ के विषयों में सृष्टि की उत्पत्ति, पाखंड, हिंदू-मुस्लिम एकता, व्यक्तिगत प्रसंग, काल की शक्ति, संसार की नश्वरता, भ्रम-जंजाल, तीर्थपुराणादि प्रभावखंडन, सत्यलोक वर्णन, अन्योक्ति एवं उल्टवाँसी द्वारा खरे खरे उपदेश, आदि गिनाए जा सकते है जो शब्द, रमैनी, ज्ञान चौंतीसा, विप्रमतीसी, कहरा, वसंत, चाँचरि, शब्द-वेलि, हिंडोला, साखी कर के कई खंडों में वर्णित हैं। इस ग्रंथ के रूपक, उपमा व अन्योक्ति बहुत ही सुंदर उतरे हैं तथा उपदेशों का खरापन व कहावतों के उचित प्रयोग देखते ही बनते हैं। 'अनुराग सागर' के ११७ पृष्ठों में कबीर और धर्मदास के प्रश्नोत्तर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति विशेष रूप से वर्णित है और प्रसंग द्वारा, सच्चे अनुरागी, जीवन्मुक्त, साधु, सती आदि के लक्षण भी दिये गए हैं और कोयल के एक सुंदर वृत्तांत द्वारा आत्मसमर्पण, वैराग्य एवं परमार्थशील परमहंस का वर्णन किया गया है। 'कबीर का साखी-संग्रह' नामक ग्रंथ में भिन्न भिन्न विषय संबंधी ११२३ दोहे हैं जो काशीनागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'कबीर ग्रंथावली' के मुख्य ८०९ दोहों से संख्या में सवाई से भी अधिक हो जाते हैं। ध्यानपूर्वक मिलान करने से साखी के ये दोहे बीजक में केवल ३२५ की ही संख्या में वर्तमान हैं। जान पड़ता है कि साखियों की लोकप्रियता बढ़ती जाने के कारण इन की नक़ल में अनेक दूसरी साखियाँ धीरे धीरे तैयार होती गई हैं यहाँ तक कि उन की संख्या बीजक वाली साखियों

---

१ 'कबीर एंड दी कबीर पंथ'—लेखक जी० एच० वेसकट (चर्च मिशन प्रेस, कानपुर) पृ० ७२

की तिगुनी से भी कहीं अधिक हो गई है। साखियों की प्रशंसा कबीर के अपने 'बीजक' में भी दी हुई है—

साखी आँखी ज्ञान की, समुझ देखि मन माहिं।
बिनु साखी संसार का, झगरा छूटत नाहिं॥

इसी प्रकार 'बीजक' की परिभाषा एक स्थान पर दी हुई है—

बिजक बतावे बित्त को, जो बिन गुप्ता होय।
शब्द बतावे जीव को, बूझै बिरला कोय॥

'कबीर का साखी-संग्रह' ग्रंथ गुरुदेव, झूठा गुरु आदि ८४ अंगों में विभक्त है, किंतु 'कबीर-ग्रंथावली' में इस के ५९ ही अंग वर्तमान हैं और १९२ दोहे, त्रिविध अंगवाले, परिशिष्ट में दिये गए हैं। साखियों के मुख्य विषय गुरुदेव, नाममाहात्म्य, प्रेम व विरह, परम पुरुष, उस की महत्ता और अव्यक्तता, उस की प्राप्ति अथवा उस में लय हो जाना, नश्वर संसार, माया पाखंड काम-क्रोधादि, कुसंग, दुष्टादि की निंदा, संत की परिभाषा व प्रशंसा, सत्संग, जीवन्मुक्त, विरक्त की प्रशंसा तथा नीति की बातें हैं। इन की भाषा बड़ी अच्छी है और शैली के सीधेपन के कारण इन का प्रभाव पाठकों पर बहुत शीघ्र पड़ता है। कबीर साहब की 'शब्दावली' में चारों भाग मिला कर भिन्न भिन्न प्रकार के विविध विषय के ६७३ पद्य अथवा पद्यसमूह हैं, हालाँ कि 'कबीर ग्रंथावली' में इन की संख्या केवल ४०३ है और यदि परिशिष्ट पद भी जोड़ दिए जायँ तो कुल मिला कर ६२५ होगी। इन में दिये गए पदों के विषय प्रायः वही हैं जो साखियों में आ चुके हैं किंतु राग गौड़ी, राग रामकली, राग धनाश्री आदि विविध रागों के रूप में ये कहे गए है जिन से इन में से बहुतों को हम लोग गा भी सकते हैं। कबीर के शब्दों में से ही एक सौ विशिष्ट पदों को चुन कर डाक्टर रवींद्रनाथ ठाकुर ने एवलिन अंडरहिल की सहायता से अनुवाद कर के प्रकाशित किया है। इन अनुवादित पदों का पाठ शांतिनिकेतन के श्री क्षितिमोहन सेन द्वारा बोलपुर से, चार भागों में प्रकाशित 'कबीर' नामक पुस्तक पर आश्रित है और 'कबीर-ग्रंथावली' में आये हुए पदों से नहीं मिलता। बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग की शब्दावली के भी केवल २५ ३० पद ही पूर्णत या अंशरूप में मिलते

हैं। शेष का पता नहीं चलता। 'अखरावती' एक २४ पृष्ठों का छोटा सा ग्रंथ है जिस में कबीर साहब का संदेश वर्णित है। इस का मुख्य विषय उन्होंने इस के पहले पद्य में ही कह दिया है :—

सतगुरु की परतीति, सत्तनाम निज सार है।
सोई मुक्ति सँदेस, सुनो साध सतभाव से॥

'कबीर साहेब की ज्ञान गूदड़ी, रेखते व झूलने' एक ६२ पृष्ठों की पुस्तक है जिस में गूदड़ी विषयक एक बड़े ही सुंदर रूपक द्वारा ज्ञानवर्णन तथा गुरु, संत आदि की महिमा व उपदेश संग्रहीत हैं इस ग्रंथ में दिये गए ८१ रेखतो मे से 'शब्दावली' भाग १ के ३१ रेखते ज्यों के त्यों रक्खे हुए हैं। और इसी प्रकार उस ग्रंथ के ७ झूलनों में से पाँचवाँ छठवाँ तथा सातवाँ झूलना भी इस में बारहवाँ छठवाँ तथा तेरहवाँ कर के पुनर्वार प्रकाशित किये गए हैं। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रंथावली' को संवत् १५६१ तथा संवत् १८८१ की दो भिन्न भिन्न हस्तलिखित प्रतियों का मिलान कर के बाबू श्यामसुंदरदास ने संपादित किया है। संवत् १५६१ वाली प्रति तो कबीर के जीवन-काल मे ही तैयार हुई होगी इस कारण उस के पाठ की शुद्धता भी अधिक मान्य होगी। परंतु 'ग्रंथावली' की पंजाबी मिश्रित भाषा देख कर कभी कभी उस की प्रामाणिकता पर संदेह भी होने लगता है। जो हो, इस में दी गई बातों मे से बहुतों का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है, शेष विषय इस में छपी हुई दुपदी, चौपदी, सतपदी, अष्टपदी तथा बड़ी अष्टपदी व बारहपदी रमैणियाँ हैं और एक रागसूहो नामक अंश भी है जिन में ब्रह्म, सृष्टि, विरह आदि उन्हीं विषयों का वर्णन दिया गया है। कबीर की रचनाओं के अनेक छोटे-मोटे संग्रहों में नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा ही प्रकाशित तथा पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय द्वारा संपादित 'कबीर वचनावली' सब से उत्कृष्ट संग्रह है। इन्हों ने कबीर की एक 'चौरासी अंग की साखी' का भी उल्लेख किया है[1] जो हमारे देखने में नहीं आई।

कबीर की उपरोक्त रचनाओं को ध्यान पूर्वक पढ़ने एवं मनन करने से

---

१ 'कबीर वचनावली'—सं० पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, पृ० ३६।

विदित होता है कि कबीर के ग्रंथों में दर्शनशास्त्र के प्रायः प्रत्येक पहलू से कुछ न कुछ विचार किया गया है। इन में मूलतत्त्व का विवेचन है आत्मतत्त्व का प्रत्यय है, सृष्टितत्त्व का विकास है, नीतिमय उपदेश है तथा इन सब के साथ ही आत्म-परिचय अथवा परमात्मानुभव के साधन द्वारा प्राप्त उस सिद्धावस्था का भी वर्णन है जिसे कर्मयोग शास्त्र के अनुसार जीवन्मुक्त की अवस्था कहते हैं। मूलतत्त्व का वर्णन अत्यंत कठिन है बल्कि असंभव सा है क्योंकि वर्णन की क्रिया या तो बहिर्जगत की वस्तुओं के उदाहरणों द्वारा हो सकती है अथवा उसे भीतर के ही अनुभव द्वारा व्यक्त किया जा सकता है किंतु उस परमतत्त्व का विवेचन इन दोनों वर्णनों से अतीत जान पड़ता है इस कारण इसी अनिर्वचनीयता को दर्शाते हुए कबीर कहते हैं —

ऐसा लो तत ऐसा लो,
मैं केहि विधि कथौं गँभीरा लो ॥ टेक ॥
बाहर कहौं तो सतगुरु लाजै,
भीतर कहौं तो झूठा लो।
बाहर भीतर सकल निरंतर,
गुरु परतापै दीठा लो ॥ १ ॥
दृष्टि न मुष्टि न अगम अगोचर,
पुस्तक लिखा न जाई लो।
जिन पहिचाना तिन भल जाना,
कहे न को पतियाई लो ॥ २ ॥
मीन चले जल मारग जोवै,
परम तत्त धौं कैसा लो।
पुहुप बास हूँ तें अति झीना,
परम तत्त धौं ऐसा लो ॥ ३ ॥
आकासे उड़ि गयौ विहंगम,
पाछे खोज न दरसी लो।

कहैं कबीर सतगुरु दाया तें,

बिरला सत पद परसी लो ॥ ४ ॥[1]

ऐसी दशा में सिवाय इस के कि उस का स्वयं अनुभव कर लिया जाय दूसरे किसी ढंग से उस का ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। इस अनिर्वचनीयता को कबीर ने उपरोक्त पद्य मे जल में आगे निकल गई हुई मछली अथवा आकाश में उड़ गये हुए पत्ती के मार्ग के समान पता न लगने वाली वस्तु बतलाया है। वास्तव में सिद्ध पुरुषों के लिये भी यह वर्णन उतना ही असंभव है जितना गुड़ की मिठास का, न वर्णन कर सकने वाले एक गूंगे के लिये और कबीर ने यह उपमा अलग दी है।

तौभी उस तत्त्व का वर्णन करने को चेष्टा में कबीर ने बड़े ही सुंदर पद द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार के दृष्टांत दिए हैं और साथ ही इस में आत्मा तथा परमात्मा की एकता का भी संक्षेप में वर्णन कर दिया है। कबीर का यह उत्कृष्ट पद इस प्रकार है—

साधो सतगुरु अलख लखाया,

जब आप आप दरसाया ॥ टेक ॥

बीज मध्य ज्यों बृच्छा दरसै,

बृच्छा मद्धे छाया।

परमातम में आतम तैसे,

आतम मद्धे माया ॥ १ ॥

ज्यों नभ मद्धे सुन्न देखिए,

सुन्न अंड आकारा।

निःअच्छर ते अच्छर तैसे,

अच्छर छर विस्तारा ॥ २ ॥

ज्यों रवि मद्धे किरन देखिए,

किरन मध्य परकासा।

---

[1] 'कबीर साहेब की शब्दावली' भाग १ (बे० प्रे० प्रयाग) शब्द २८, पृष्ठ ८६।

परमातम में जीव ब्रह्म इमि ,
जीव मध्य तिमि स्वाँसा ॥ ३ ॥
स्वाँसा मद्धे सब्द देखिये ,
अर्थ सब्द के मांही ।
ब्रह्म ते जीव जीव ते मन यों ,
न्यारा मिला सदाहीं ॥ ४ ॥
आपहि बीज वृच्छ अंकूरा ,
आप फूल फल छाया ।
आपहि सूर किरन परकासा ,
आप ब्रह्म जिव माया ॥ ५ ॥
अंडाकार सुन्न नभ आपै ,
स्वाँस सब्द अरथाया ।
निः अच्छर अच्छर छर आपै ,
मन जिव ब्रह्म समाया ॥ ६ ॥
आतम में परमातम दरसै ,
परमातम में झांई ।
झांई में परछाईं दरसै ,
लखै कबीरा साईं ॥ ७ ॥[1]

अर्थात् वह अलख अथवा अनिर्वचनीय अव्यक्त परमतत्त्व सभी अनुभव के अंदर आ सकता है, जब कोई अपने आप को पहचान ले। उस दशा में जान पड़ेगा कि जिस प्रकार बीज में वृक्ष एवं वृक्ष में छाया सन्निहित रहती है अथवा जिस प्रकार आकाश में शून्य तथा शून्य में ब्रह्मांड रहता है और जिस प्रकार नाशमान वस्तुओं में अविनाशी तत्त्व वर्तमान है तथा जैसे अविनाशी तत्त्व से नश्वर जगत् का आयोजन हो जाता है इसी प्रकार जैसे सूर्य में किरण व किरण में प्रकाश है, परमात्मा में जीव, जीव में प्राण, प्राण में शब्द, शब्द में

[1] 'कबीर साहब की शब्दावली' भाग १ (बे० प्रे० प्रयाग)।

अर्थ साथ व अलग दोनों प्रकार से जीव एवं मन के समान रहते हैं वैसे परमात्मा मे आत्मा और आत्मा मे माया विद्यमान है। वास्तव में बीज, वृक्ष, अंकुर, फूल, फल, छाया, सूर्य, किरण, प्रकाश, ब्रह्मांड, शून्य, आकाश, प्राण, शब्द, अर्थ, क्षर व अक्षर तथा मन, जीव, ब्रह्म व माया सब एक ही हैं। और कबीर उस परमात्मा को इस प्रकार देखता है जैसे आत्मा परमात्मा के ऊपर झाँई के समान हो और उस झाँई मे उसे का उलट कर प्रतिबिंब भी पड़ रहा हो। क्योंकि परमात्मा एवं आत्मा दोनों ही तत्वत: एक होने के कारण यहाँ पर दर्पण व उस पर पड़ी हुई झाँई दोनों एक ही प्रकार बिंब ग्रहण कर सकते हैं।

परंतु इस प्रकार आत्मा एवं परमात्मा को तत्वत: एक ही मान लेने में एक बड़ी भारी कठिनाई पड़ती है और वह यह कि, प्रत्यक्ष जगत में तब हमें ऐसे अनुभवों में अड़चन क्यों पड़ रही है? प्रसिद्ध अद्वैतवादी शंकराचार्य इस का उत्तर इस प्रकार देते है कि परमात्मा एवं आत्मा के एक होते हुए भी माया अथवा अज्ञान का आवरण दोनों के बीच में आ खड़ा हो जाता है जिस से हमें अपने आप का भी स्पष्ट अनुभव नहीं हो पाता। कबीर ने भी इस मायावाद को स्वीकार किया है और 'ठगनी', 'धोबिन' आदि नामों से संबोधित करते हुए उस से बचने के लिये बहुत से उपदेश भी दिए है। माया के विषय मे अपनी साखी मे एक स्थान पर कहा है—

कबीर माया पापनी, फंध ले बैठी हाटि।
सब जग तौ फंधै पड्या, गया कबीरा काटि॥

इस माया को कबीर ने कितना घृणित चित्रित किया है उस का उदाहरण हमे उन के सृष्टि-वर्णन की कहानी में बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। 'अनुराग सागर' नामक ग्रंथ मे इस प्रकार वर्णन है कि सब से पहले दीपलोक की उत्पत्ति हुई और वहाँ पर सत्यपुरुष की इच्छा से उस के १७ पुत्र भी हुए। इन पुत्रों में से निरंजन अथवा धर्मराय ने बड़ी तपस्या की जिस से प्रसन्न हो कर सत्यपुरुष ने उसे सृष्टि उत्पन्न करने की शक्ति प्रदान की और उस के भाई सहज से यह आज्ञा भेज दी। कूर्म नामी पुत्र के उदर से इसी समय प्रस्वेद

निकला जिस से सब कहीं जलमय हो गया और उसी जल पर दूध के ऊपर मलाई की भाँति पृथ्वी बन गई। तब निरंजन ने फिर एक बार तप किया जिस के पश्चात् एक अष्टांगी कन्या की उत्पत्ति हुई परंतु कन्या को काल ने खा लिया और अंत में योगजीत अथवा ज्ञानी नामक पुत्र द्वारा काल का उदर फाड़े जाने पर, उस का पुनर्जन्म हुआ। इस कन्या से तब धर्मराय ने बातचीत कर के उस के साथ भोग किया जिस से ब्रह्मा, विष्णु व महेश की उत्पत्ति हुई। इन तीनों की उत्पत्ति के अनंतर तीन गुणों द्वारा पंचतत्व बने और धर्मराय अंतर्ध्यान हो गया। तब इस के तप से तीसरी बार पवन की उत्पत्ति हुई और पवन से वेदों के उत्पन्न हो जाने के अनंतर समुद्र-मंथन आरंभ हुआ जिस से सावित्री, लक्ष्मी व पार्वती निकल पड़ीं और चौदह रत्न भी निकले। इस के अनंतर ब्रह्मा अपने पिता धर्मराय का पता लगाने चला और उस को ढूँढ़ने के लिये उस की बहन गायत्री गई। ब्रह्मा से व गायत्री से स्त्री-पुरुष का संयोग हुआ परंतु ब्रह्मा ने यह पता अपनी माता को नहीं दिया जिस से माता ने उन्हें शाप दे दिया कि तुम्हारी पूजा न होगी। अंत में विष्णु ने निरंजन का पता लगाया और तब माता द्वारा अंडज, ब्रह्मा द्वारा पिंडज तथा विष्णु द्वारा उष्मज और शिव द्वारा स्थावरों की उत्पत्ति हुई। जीवों को जब कष्ट होने लगा तो योगजीत अथवा ज्ञानी को सत्यपुरुष ने भेज कर उन्हे कष्टों से बचाया। यही योगजीत कबीर थे जिन्हों ने सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग मे भिन्न भिन्न रूप धारण किया। इस कहानी में अष्टांगी कन्या का अपने उत्पन्न करने वाले को भूल जाना तथा उस के अनंतर अपने पति धर्मराय के अंतर्ध्यान हो जाने पर उस की बिना खोज किए ही सृष्टि के उत्पादन मे लग जाना तथा उस की लड़की गायत्री का अपने भाई ब्रह्मा के ही साथ रति करने लगना ये बातें स्त्रियों की कृतघ्नता तथा उन की विलास-प्रियता व्यक्त करती है और कबीर ने उपरोक्त अष्टांगी कन्या को ही वास्तव में माया नाम दिया है।

अज्ञान-जनित इस माया का मिथ्या प्रभाव दूर करने के लिये ही आत्म-परिचय अथवा पूर्ण परमात्म-विवेक की आवश्यकता होती है। अद्वैतवादी वेदांती इसे शुष्क ज्ञान के द्वारा निराकृत करना चाहता है और वैष्णव चाहता

है कि उस के सगुण रूप इष्टदेव की कृपा से केवल भक्ति द्वारा ही माया का जाल उसे बंधन में न ला सके। कबीर इन दोनों भावों की सीमा से पूर्ण परिचित हैं। वे जानते है कि केवल ज्ञानी तर्क-वितर्क में ही समय खोता है और उस की ज्ञानशक्ति वितंडावाद का रूप धारण कर लेती है और इसी प्रकार उन्हे यह भी विदित है कि कोरी भक्ति साधक को अपंग बना देती है और अंत में अंधविश्वास उसे कहीं के लिये नहीं रख छोड़ता। कबीर की साधना इसी कारण ज्ञान व प्रेम का संमिश्रण है और उन का इष्ट देव एक ही साथ व्यक्तित्व से हीन और युक्त दोनों कहा जा सकता है। 'तत्त्वमसि' तथा 'सोऽहम्' का दम भरने वाले कबीर इसीलिये कहते हैं कि आत्मा व परमात्मा मे कोई अंतर न रहने पर भी अंतर विद्यमान है और यह अंतर केवल प्रेम के नाते ही दूर हो सकता है। कबीर की ऐसी ही विचार-परंपरा उन के रहस्यवाद का मुख्य शिलाधार है। कबीर के समय में फ़ारस के मुख्य सूफ़ी अत्तार, सादी, जलालुद्दीन रूमी तथा हाफ़िज़ का प्रभाव भारत में जमता जा रहा था[1] और सिंध प्रदेश मे[2] लालशाह नेवाज, दिल्ली में निज़ामी तथा झाँसी में शेख तक़ी की गणना बड़े बड़े सूफ़ियों मे हो रही थी। सूफ़ीवाद के इस वातावरण मे कबीर का रहस्यवादी विचारों का हृदयंगम करना कोई आश्चर्य की बात नही थी और हम देखते हैं कि कबीर की कविता पर इस का प्रभाव पूर्ण रूप से विद्यमान रहा है।

रहस्यवाद की कविता की परिभाषा बतलाते हुए कहा गया है कि 'एक ओर तो यह परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन जनित भावों का निदर्शन है और दूसरी ओर एक भविष्य वाणी या संदेश भी है' अतएव रहस्यवादी कविता को एक ही साथ हम प्रचार अथवा उपदेश के निमित्त रचा हुआ प्रेमकाव्य भी कह सकने है।[3] रहस्यवादी कवि के लिये संसार की सभी बातें भगवान की लीला

---

१ 'वन हंड्रेड पोयम्स अव् कबीर' भूमिका, पृष्ठ ७।

२ 'सिंध एंड इंडस सूफ़ीज़'—लेखक, जे० पी० गुरुबाज (एशियन लायब्रेरी), पृ० ८७

३ 'वन हंड्रेड पोयम्स अव् कबीर', भूमिका पृष्ठ १९-२०।

है जिस कारण प्राकृतिक और अतिप्राकृतिक अथवा आध्यात्मिक
हम कोई सीमा निर्धारित नहीं कर सकते। रहस्यवादी कवि इसी
गूढ़ आध्यात्मिक विषयों के लिये भी जन-साधारण की समझ में
सरल से सरल रूपको का व्यवहार किया करता है। परमेश्वर को
मूलतत्व मात्र न समझ कर उसे एक कर्मण्य लीलाशील प्रेमी मान
को लीलाओं का मुख्य उद्देश्य प्रेम तथा आनंद का विकास है। क
रहस्यवादी कवियों के उपरोक्त सभी लक्षण पाते हैं। प्रेमतत्व का
करते हुए कबीर कहते हैं—

यह तत वह तत एक है, एक प्राण दुइ गात।
अपने जिय से जानिये, मेरे जिय की बात॥
उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिन का तिन के पास॥
जो देखे सो कहै नही, कहै सो देखे नाहि।
सुनै सो समझावै नहीं, रसना दृग श्रुति काहि॥
लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

इसी प्रकार विरह का वर्णन करते हुए कहते हैं—

सब रग तंत रबाब तन, विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुणि सकै, कै साँई कै चित्त॥
यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धूँआ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि॥
इस तन का दीवा करूँ, बाती मेल्यूँ जीव।
लोहीं सींच्यौं तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव॥
फाड़ि पुटोला धज करौं, काम लड़ी पहिराउँ।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराउँ॥

रहस्यवादी कबीर ने अपने इष्टदेव को पति के रूप में
कहते हैं

हरि मोर पीव, भाई, हरि मोर पीव।
हरि बिन रहि न सकै मोर जीव॥
हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥

और कहीं कहीं इस प्रकार भी कहा है—

हरि मोर रहँटा, मैं रतन पिउरिया।
हरि का नाम ले कतति बहुरिया॥
छै मास तागा बरस दिन कुकरी।
लोग कहैं भल कातल बपुरी॥
कहहिं कबीर सूत भल काता।
चरखा न होय मुक्ति कर दाता॥

चरखे का चलना, जुलाहों का ताना-बाना, स्त्री-पुरुष का वैवाहिक संबंध, नाव, दीपक, घी, दूध, तंबू, तंबूरा आदि साधारण साधारण बातों का रूपक, अपने सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिये, कबीर बहुधा बाँधा करते हे किंतु तौभी सरलता नहीं आ पाती।

कबीर के सिद्धांतानुसार मरणोपरांत मोक्ष पाने के लिये प्रयत्न करना ठीक नहीं। संत के लिये जीवन मे ही मुक्त हो जाना चाहिए। यह मुक्ति वास्तव मे अज्ञान से मुक्ति है जिस के अनंतर पूर्ण आत्म-परिचय हो जाने पर जीविता-वस्था मे ही साधक संसार को स्वर्ग का टुकड़ा समझता हुआ आनंद के साथ समय यापन करता है। यही अवस्था सिद्धावस्था है जिस में जीवनमुक्त संत सांसारिक लगावों से एकदम 'पद्मपत्रमिवांभसा' तटस्थ रहता हुआ भी संसार में वर्तमान रहता है। संसार की दृष्टि से यह तटस्थता मृत्यु के समान है परंतु इस मरने को सांसारिक जीवन से भी कहीं बढ़ कर समझना चाहिए—

जीवन कौ मरिबौ भलौ, जो मरि जानैं कोई।
मरनैं पहली जे मरें, तौ कलि अजरावर होइ॥
मन मारा ममिता मुई, अहं गई सब छूटि।
जोगी था सो रमि रह्या आसणि रही बिभूति॥

मरताँ मरताँ जगमुवा, औसर मुवा न कोइ।
कबीर ऐसे मरि मुवा, ज्यूँ बहुरि न मरना होइ॥

कबीर इसी कारण अपने जीवन भर संसार में गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते रहे और मानसिक विरक्ति रखते हुए भी उन्हों ने अपना घरबार तथा पैतृक व्यवसाय नहीं छोड़ा। प्रेम के साथ साथ कबीर ने हठयोग के द्वारा भी परमात्म-दर्शन का मिलना ठीक माना है। वे स्वयं एक पहुँचे हुए सिद्ध योगी जान पड़ते हैं और यौगिक शरीर-विज्ञान के अनुसार जो शरीरस्थ छः चक्र-कमल, कुंडलिनी, दस वायु, तीन मुख्य नाड़ियाँ आदि बातें होती हैं और आसन, प्राणायाम, यम, नियम, प्रत्याहारादि जितनी क्रियायें आवश्यक समझी जाती हैं प्रायः उन सब से इन का परिचय पूर्ण रूप से जान पड़ता है। परंतु इन बातों के केवल अनुभवगम्य होने के कारण इन ज्ञान से होने वाले आनंद का ही विशेष रूप से वर्णन करते हैं और उसे भी रूपकों द्वारा स्पष्ट करने की बार बार चेष्टा करते हैं। कहीं कहीं तो इन बातों के महत्त्व की ओर सर्व साधारण का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करने के लिये इन्हों ने अनेक प्रकार की उल्टबांसियों का भी व्यवहार किया है। ये उल्टबांसियाँ सर्व साधारण को आश्चर्य में डाल कर अपने विषय में सोचने व विचार करने के लिये विवश करती हैं और इसी बहाने कबीर के सिद्धांतों से भी लोग धीरे धीरे परिचय पाने लगते हैं। वास्तव में कबीर के सिद्धांत जिस प्रकार अनोखे हैं उसी प्रकार उन के प्रचार का ढंग अनोखा है।

धार्मिक दृष्टि से कबीर के सिद्धांत कई भिन्न भिन्न बल्कि परस्पर विरोधी सिद्धांतों के पंचमेल से जान पड़ते हैं।[१] कबीर एक ही साथ शुष्क ज्ञानवादी अद्वैतवादी तथा भक्तिप्राण वैष्णव हैं, कट्टर एकेश्वरवादी मुसलमान तथा, सृष्टि विषयक वर्णनों में, पुराने बहुदेववादी हिंदू हैं। हिदू मुसलमान इन दोनों के दोषों की, पूर्ण विरोधी की भाँति निंदा करते हैं किंतु तो भी इन दोनों मार्गों के सिद्धांतों के प्रायः एक ही प्रकार ऋणी भी जान पड़ते हैं। यही तक नहीं उन के जीवन में भी पूर्ण विरक्ति के साथ साथ घरेलू कार्यों मे

---

[१] 'वन हंड्रेड पोएम्स अव् कबीर', भूमिका, पृष्ठ ३७।

अनुरक्ति भी है और विरक्त साधु न बन कर हमारे सामने वे एक कर्मयोगी के रूप में ही दिखलाई पड़ते हैं। कबीर सत्य के प्रेमी हैं। उन्हें हर प्रकार के ढोंग से घृणा है। उन्हें खरा हृदय, खरे भाव, खरा स्वभाव, खरा वर्त्ताव, खरा उद्देश्य, खरा साधन सभी बातें खरी चाहिए। इसीलिये वे रँगे सियारों के कट्टर शत्रु बन कर उन्हें खरी बातें सुनाने में कभी नहीं चूकते। उन का हृदय सत्य-पुरुष में लीन हो कर आनंद से परिपूर्ण है। संसार की सारी वस्तुएँ भगवान की लीला की सामग्री मात्र हैं और आत्मप्रत्यय के कारण निर्भय व निश्चित कबीर अमर हो कर खड़े हैं।

[२]

कबीर के अनंतर उन के बारह मुख्य शिष्यों के भिन्न भिन्न पंथ चले किंतु दो चार को छोड़ कर उन में से कोई आगे टिक न सका। कबीर के शिष्यों मे सब से प्रसिद्ध धर्मदास हुए जो बांधवगढ़ के रहने वाले बनिया थे किंतु मथुरा से लौटते समय कबीर से भेंट व सत्संग होने के कारण उन के शिष्य हो गए और अंत मे कबीर के देहांत होने पर उन की गद्दी पर विराजे। गद्दी पर बैठते ही धर्मदास ने अपनी सारी संपत्ति लुटा दी और बीस वर्ष के अनंतर अत्यंत वृद्ध हो कर मरे।[1] इन का समय पंद्रहवें शतक के अंतिम भाग तथा सोलहवें शतक के दर्म्यान कहा जाता है। 'अनुरागसागर' से पता चलता है कि इन का लड़का नारायण, इन के कबीर की शिष्यता स्वीकार करने पर, बहुत नाराज़ हुआ था और एक बार उसने कबीर को अपमानित करने की भी चेष्टा की थी। धर्मदास की रचना 'धनी धर्मदास की बानी' के नाम से बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई है जिस में नामलीला, मुक्तिलीला के साथ साथ पहाड़े व बारहमासे भी दिए हैं। इन की 'कबीर के द्वादस पंथ' नाम की एक और पुस्तक का भी उल्लेख पाया जाता है[2] और 'अनुरागसागर' ग्रंथ के पढ़ने से विदित होता

---

[1] 'हिंदी-साहित्य का इतिहास'—ले० पं० रामचंद्र शुक्ल (का० ना० प्र० स०) पृ० ७९।

[2] 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' पहला भाग, पृष्ठ ७१।

है कि कदाचित् यह भी इन्हीं की रचना है। कहा जाता है कि कबीर की बानियों का संग्रह धर्मदास ने संवत् १५२१ में किया था। धर्मदास की रचनाओं में कबीर की फटकारों का अभाव है। ये शांतिप्रिय अधिक जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिये—

झरि लागै महलिया गगन घहराय ॥ टेक ॥
खन गरजै, खन बिजुरी चमकै,
लहरि उठै सोभा बरनि न जाय ॥१॥
सुन्न महल से अमृत बरसै,
प्रेम अनँद ह्वै साधु नहाय ॥२॥
खुली केवरिया मिटी अंधरिया,
धनि सतगुरु जिन दिया लखाय ॥३॥
धरमदास बिनवै करजोरी,
सतगुरु चरण में रहत समाय ॥४॥

कहौं बुझाय दरद पिय तोसे ॥टेक॥
दरद मिटै तरवार तीर से।
किधौं मिटै जब मिलहुँ पीव से ॥१॥
तन तलफै जिय कछु न सुहाय।
तोहि बिन पिय मोसे रहल न जाय ॥२॥
धरमदास की अरज गोसाईं,।
साहिब कबीर रहौ तुम छाँही ॥३॥

परंतु कबीर के मतों एवं भावनाओं का प्रचार उन के पंथ के मुख्य अनुयायियों में ही केंद्रित नहीं रह गया। इन के विचार व्यापक तथा सर्वांगीण होने के कारण भक्तियुग के अनुकूल वातावरण द्वारा उत्साहित हो कर विकसित एवं विस्तृत रूप धारण करने लगे और कबीर का ही आदर्श ले कर कई पंथों का आगे चल कर आविर्भाव हुआ। परंतु कबीर की भाँति प्रतिभा और मौलिकता के पूर्ण अंश में न रहने के कारण आगे आने वाले संतों के विचारों में वह सर्वांगीणता नहीं आने पाई और हम देखते हैं कि जिस प्रकार कबीर

के पूर्ववर्ती संतों की रचनाओं में हम या तो नाथ-पंथियों की भाँति विशेषकर योगचर्चा अथवा उपदेश पाते थे या रामावत संप्रदाय वालों की भाँति हमे भक्ति और प्रेम का उद्रेक ही दृष्टिगोचर होता था, उसी प्रकार इधर के संतों की रचनाओं में भी हमे प्रायः तीन प्रकार की विशेषतायें दीख पड़ती हैं। नानक, अर्जुन, दादू, सुंदर, धरनी, जगजीवन, दूलन आदि में हमें कबीर द्वारा प्रभावित रामावत संप्रदाय की शृंखला मिलती है तो यारी, बुल्ला, केशव, गुलाल, बुल्लेशाह, भीखा, ग़रीब व तुलसी में कबीर द्वारा प्रभावित एवं सूफ़ियों द्वारा सुसंस्कृत नाथ-पंथी योगियों की धारा बहती हुई दृष्टिगोचर होती है। इन के अतिरिक्त शेष संतों अर्थात् मलूकदास, दोनों दरिया साहब, चरनदास, सहजोबाई, दयाबाई तथा पल्टू साहब की रचनाओं में हमें कबीर के मतों की मुहर के साथ साथ पौराणिक परिपाटी का भी रंग स्पष्ट हो जाता है और अंत में राधास्वामी संप्रदाय तक आते आते एक विचित्र संमिश्रण की सृष्टि होती है।

गुरु नानक सिक्ख संप्रदाय के प्रवर्तक थे और इन का जन्म कार्तिकी पूर्णिमा संवत् १५२६ अर्थात् सन् १४६९ ई० में लाहोर ज़िले के तालवंडी नामक स्थान में कल्लूखत्री के घर तृप्ता के गर्भ से हुआ था। इन के पिता कल्लू चंद अपने नगर के सूबा बुलार पठान के कारिंदा थे। नानक का विवाह सन् १४८८ ई० में गुरदासपुर की सुलक्षणी नामक कन्या से हुआ जिस से आगे चल कर इन्हें श्रीचंद व लक्ष्मीचंद नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। इन की शिक्षा हिंदी व फ़ारसी में हुई थी किंतु रहस्यवादी मनोवृत्ति पाने के कारण इन का मन अपने किसी कार्य में नहीं लगता था। तौ भी वहाँ के शासक दौलत खाँ के यहाँ इन्हों ने कुछ दिनों तक मालखाने की अफ़सरी की और जब वहाँ भी चित्त न लगा और अपने नौकर मर्दन के साथ अपना सारा समय भजन गाने व बजाने मे ही व्यतीत करने लगे तो अंत में नौकरी का भी परित्याग हुआ और फ़क़ीरों की भाँति यात्रा आरंभ कर दी। पहली यात्रा सं० १५५६ अर्थात् १४९९ ई० में आरंभ हो कर आगरा, बिहार, बंगाल, आसाम तथा बर्मा पर्यंत ११ वर्षों में समाप्त हुई, फिर दूसरी यात्रा सन् १५१० ई० में आरंभ हुई और मारवाड़, गौड़देश, हैदराबाद, मद्रास से ले कर सगलदीप अर्थात् लंका तक समाप्त हुई

तीसरी यात्रा में ये बद्रीनारायण, नैपाल, भूटान, सिकिम आदि पहाड़ी देशों में गए और चौथी में सिंध, मक्का, मदीना, जद्दा, रूम, बगदाद, ईरान, बिलूचिस्तान, कंधार, काबुल और काश्मीर तक घूमते हुए सन् १५२२ ई० में आकर कर्त्तारपुर में रहने लगे और वहीं ६९ बरस १० मास तथा १० दिन की अवस्था पा कर संवत् १५९५ अर्थात् सन् १५३८ में मर गए।

नानक आरंभ से ही एक विरक्त जीव थे। उन के हृदय में ईश्वर के प्रति सच्चे अनुराग के साथ साथ संसार के प्रति पूरी उदारता एवं सहानुभूति भी भरी हुई थी। उन का ईश्वर एक है जो सृष्टि का विधाता है और जिस का नाम सत्य है। वह केवल हिंदू, मुसलमान, ईसाई अथवा अन्य धर्मावलंबी का नहीं वल्कि सारे मानव समाज का ईश्वर है जिस का ज्ञान सब से उत्कृष्ट ज्ञान कहलाता है और जिस की आराधना का अधिकार केवल ब्राह्मणों अथवा अन्य पुजारियों का न हो कर प्रत्येक मनुष्य के लिये समान है। ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये पुष्पदीपादि का प्रयोजन नहीं वह केवल सत्य, सादगी और श्रद्धा चाहता है। इन के सिद्धांतों के अनुसार पवित्र जीवन ही सब से ऊँचा उद्देश्य है जिस कारण नीतिमय उपदेश इन की रचनाओं की विशेषता बन जाते हैं। इन के गाए भजनों एवं कहे हुए उपदेशों का संग्रह इन के शिष्य अर्जुन द्वारा संवत् १६६१ अर्थात् सन् १६०४ ई० में हुआ था और इसी संग्रह को 'ग्रंथसाहब' भी कहा करते हैं। 'ग्रंथसाहब' की सिक्ख लोग पूजा किया करते हैं। नानक का सब से सुंदर भजन उन का 'जपजी' है जिस के दो एक अनुवाद अंग्रेजी में भी हो चुके हैं। प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस ने उन की रचनाओं का संग्रह 'प्राण संगली' के नाम से दो भागों में प्रकाशित किया है और खोज में नानक के 'सुखमनी' 'अष्टांग जोग' तथा 'नानकजी की साखी' नामक तीन और भी ग्रंथ मिले हैं।[1] नानक की कविता एवं विचारों की बानगी उन के नीचे लिखे पद्यों में मिल सकती है—

---

[1] 'हस्त लिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण', भाग १, पृ० ७८।

काहे रे बन खोजन जाई ॥ टेक ॥

सर्ब निवासी सदा अलेपा,

तोही संग समाई ॥१॥

पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है,

मुकर माहि जस छाई ।

तैसे ही हरि बसै निरंतर,

घट ही खोजो भाई ॥२॥

बाहर भीतर एकै जानो,

यह गुरु ज्ञान बताई ।

जन नानक बिन आपा चीन्हे,

मिटै न भ्रम की काई ॥३॥

जो नर दुख में दुख नहि मानै ॥ टेक ॥

सुख सनेह अरु भय नहिं जाके,

कंचन माटी जानै ॥१॥

नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके,

लोभ मोह अभिमाना ।

हरख सोक तें रहै नियारो,

नाहिं मान अपमाना ॥२॥

आसा मनसा सकल त्यागि कै,

जग तें रहै निरासा ।

काम क्रोध जेहि परसै नाहीं,

तेहि घट ब्रह्म निवासा ॥३॥

गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्हीं,

तिन्ह यह जुगुति पिछानी ।

नानक लीन भयो गोविंद सों,

ज्यों पानी संग पानी ॥४॥

गुरु नानक के मरणोपरांत उन की गद्दी पर क्रमशः नव सिक्ख गुरु हुए जिन में से नानक के अतिरिक्त अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुन, तेगबहादुर तथा गोविंदसिंह की बानियाँ प्राचीन भक्तों एवं चारणों के गीतों के साथ 'ग्रंथ-साहब' में दी हुई हैं।[१] तेगबहादुर व गोविंद की बानियाँ कदाचित् पीछे से मिलाई गई हैं।

नानक की ही भाँति दादूदयाल भी एक पंथ के प्रवर्त्तक थे जिसे दादू-पंथ कहते हैं। अन्य कई महापुरुषों की भाँति दादू के समय वंशावली आदि के विषय में मतभेद रहा है। प्रोफेसर विल्सन इन्हें ईसा की सोलहवीं शताब्दी का बतलाते हैं और उन के अनुसार ये रामानंद के पंथ में ही कबीर से छठवें थे और गुजरात के एक जुलाहे के घर उत्पन्न हुए थे।[२] वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग के संस्करण के अनुसार इन का जन्म कबीर के मरण के २६ वर्ष बाद सं० १६०१ अर्थात् सन् १५४४ ई० मे एक धुनियाँ के घर हुआ था। पंडित चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी के अनुसार दादू अहमदाबाद के एक ब्राह्मण के घर फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन सं० १६०१ में उत्पन्न हुए थे और ज्येष्ठ बदी अष्टमी सं० १६६० अर्थात् १६०३ ई० में ५९ वर्ष की अवस्था में मरे थे। पंडित चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी ने दादू, उन के अनुयायी तथा, दादू-पंथी साहित्य के विषय में बड़े परिश्रम के साथ खोज तथा अनुशीलन किया है और उन के उपरोक्त निर्णयों को सत्य मान लेने में कोई संदेह नहीं होना चाहिए। दादू के दो चरित-लेखक—'जनम परिचई' के लेखक जनगोपाल तथा 'भक्त-माल' के लेखक राघवदास, ने दादू के पिता का नाम लोदीराम बतलाया है जो त्रिपाठी जी को भी स्वीकार है। त्रिपाठी जी के अनुसार दादू के प्रथम ३० वर्षों का हाल प्रायः कुछ भी नहीं मिलता। सं० १६२० में वे साँभर गए, सं० १६३६ में आमेर जा कर वहाँ १४ वर्ष तक निवास किया, सं० १६४२ मे अकबर के यहाँ फतेहपुर सीकरी गए

---

[१] 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास'—ले० सूर्यकांत शास्त्री (लाहोर) पृ० २१५।

[२] 'साम्स अव् दादू' भूमिका—ले० ताराहत्त गैरोला पृ० १८।

फिर सं० १६५० से ले कर सं० १६५९ तक जयपुर रहे और वहाँ से अंत में नराणे जा कर वहीं की एक पहाड़ी के पास सं० १६६० में परलोक सिधारे।[1] नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'दादू-ग्रंथावली' (दादूदयाल के शब्द तथा दादूदयाल की बानी) के संपादक स्वर्गीय महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी ने दादू के जीवन विषयक बहुत सी बातें नयी खोज के प्रतिकूल लिखी है जिन की समालोचना त्रिपाठी जी ने प्रयाग की 'सरस्वती' भाग ११ संख्या २ मे बड़े पांडित्य के साथ की है।[2] दादू की शिक्षा आदि के विषय मे बहुत कम विदित है। उन के गुरु के विषय में भी

दादू गैब माँहि गुरु देव मिला, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरे कर धर्‍या, दाया अगम अगाध॥

के अनुसार किवदंती है कि स्वयं कृष्ण भगवान ने वृद्ध का रूप धारण कर उन्हे दीक्षा दी थी और इसी कारण इन के गुरु का नाम वृद्धानंद या 'बूढण' भी कहा जाता है। परंतु इन की रचनाओं के देखने से स्पष्ट विदित होता है कि चाहे इन का गुरु कोई भी रहा हो किंतु इन के आदर्श कबीर अवश्य रहे हैं। दादू की दो रचनायें अर्थात् 'बानी' और 'शब्द' प्रसिद्ध हैं और इन की हस्त-लिखित प्रतिलिपियों तथा मुद्रित संस्करणों की संख्या बहुत कही जाती है। इन दोनों को नागरी-प्रचारिणी सभा ने जैसा ऊपर कहा जा चुका है पंडित सुधाकर द्विवेदी द्वारा सन् १९०६–७ में दो खंडों में संपादित करा कर प्रकाशित कराया था। इस में से 'बानी' मे १६०० पद्य तथा 'शब्द' में केवल ४२४ पद्य हैं। परंतु दादू के पद्यों की संख्या पूरी ५००० बतलाई जाती है और पंडित चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी ने इन्हें अपनी ओर से संपादित किया है। दादू के कुछ पद्यों को अंग्रेजी मे अनुवाद कर कैप्टन सिडन ने 'जर्नल अव् दि एशियाटिक सोसाइटी' के

---

[1] 'दादूदयाल और उन का संप्रदाय'—ले० चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी (मर्यादा भाग १ संख्या २ पृ० ७२-७६)।

[2] 'स्वामी दादूदयाल और उन का वृत्तांत'—ले० चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी (सरस्वती भाग ११, सं० २, पृ० १८४-९)।

किसी अंक में पहले पहल छपाया था और अब काशी की थियोसिफिकल सोसायटी ने दादू के ११४ पद्यों का श्रीतारादत्त गैरोला महाशय का अनुवाद सन् १९२९ में 'साम्स अव् दादू' नाम से प्रकाशित किया है। इस पुस्तक में दादू के पद्यों का पाठ त्रिपाठी जी के ही अनुसार रक्खा गया है। नागरी-प्रचारिणी सभा वाले ग्रंथों में द्विवेदी जी ने 'माड़वार की लेख प्रणाली को बदल कर बनारस की लेख-प्रणाली की रीति' का अनुसरण किया था क्योंकि उन्हें 'विश्वास' था कि संतों ने प्रायः बनारस या व्रज की भाषा में ही अपने पद रचे होंगे[1] किंतु, जैसा त्रिपाठी जी ने लिखा है, ऐसे अनुमान नितांत भ्रम मूलक है। अस्तु।

दादू के सिद्धांतानुसार ब्रह्म निर्गुण व निराकार है। वह जगत का स्रष्टा है और उस का नाशक भी है, किंतु वह स्वयं अविनाशी और अजन्मा है। उस का ज्ञान हमें आत्मा के ज्ञान द्वारा ही हो सकता है क्योंकि आत्मा व परमात्मा दोनों वस्तुतः एक ही हैं। ब्रह्म का यदि कोई चिह्न है तो वह प्रेम है। उस का रूप व रंग दोनो प्रेम है और प्रेम ही के द्वारा वह अपने भक्तों को दिखलाई पड़ता है। उस अवसर पर भक्त पानी की भाँति पानी में मिल कर अपना अस्तित्व खो देता है और उसे एक ऐसा विचित्र अनुभव होता है जिसे कोई वर्णन नहीं कर सकता। समुद्र की एक बूँद उस के आकार-प्रकार का पता क्या बतला सकती है ? ईश्वर के पाने का साधन दादू के अनुसार उस के प्रति पूर्ण श्रद्धा तथा विश्वास है जो शुद्ध हृदय के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं मिल सकता। मैले दर्पण पर प्रतिबिंब कैसे पड़ सकता है ? दादू संसार से भागना उचित नही समझते। उन की मुक्ति व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से विकसित कर के उसे समष्टि-मय जीवन में लय कर देना ही है। उदाहरण—

पहिला आगम बिरह का, पीछइ प्रीति प्रकास।
प्रेम मगन लवलीन मन, तहाँ मिलन की आस॥

---

[1] 'दादूदयाल का सबद' ना० प्र० स० काशी) भूमिका पृ० ५

त्रिखा बिना तन प्रीति न उपजइ, सीत निकट कब धरिया।
जनम लगे जीवन मन पीवइ, निर्मल दह दिसि भरिया॥
विरह अगिनि में जरि गये, मन के मैल विकार।
दादू विरही पीव का, देखइगा दीदार॥

मन निरमल तन निरमल भाई।
आन उपाय विकार न जाई॥
जो मन कोइला तो तन कारा।
कोटि करहिं नहिं जाइ विकारा॥
जो मन विषहर तो तन भुवंगा।
करइ उपाय विषय पुनि संगा॥
मन मैला तन ऊजर नाहीं।
बहु पचि हारे विकार न जाहीं॥
मन निरमल तन निरमल होई।
दादू साँच विचारइ कोई॥
भाई रे तब का कथसि गियाना।
जब दूसर नाहीं आना॥
जब तत्तहि तत्त समाना।
जहाँ का तहाँ ले साना॥
जहाँ का तहाँ मिलावा।
ज्यों का त्यों होइ आवा॥
सब अँग सब ही ठाईं।
दादू दूसर नाहीं॥

दादू के मत का सार इस प्रकार है—

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निर्वैरी सब जीव सों, दादू यह मत सार॥

दादूदयाल के ५२ शिष्य कहे जाते हैं जिन में सब से प्रसिद्ध सुंदरदास हुए। सुंदरदास का जन्म सं० १६५३ की चैत्र शुक्ला नवमी को द्यौसा के खंडेल

वाल (वूसर गोती) महाजन परमानंद के घर सती देवी के गर्भ से हुआ था। सं० १६५९ में जब दादूदयाल जी दूसरी बार द्योसा गए तो सुंदरदास ने उन के प्रथम दर्शन किए। सं० १६६३ में काशी आए और यहाँ सं० १६८२ तक संस्कृत पढ़ते रहे वहाँ से आ कर फतेहपुर शेखावाटी के नवाब अलिफ़ खाँ के पास रहे फिर कई स्थानों पर यात्रायें कीं और अंत में अपनी रचनाओं का सं० १७४३ में संग्रह करा कर सं० १७४६ की कार्तिक सुदी अष्टमी को सांगानेर में मर गए। दादूपंथी कवियों में सुंदरदास सब से बड़े विद्वान् थे और उन की कवितायें साहित्यिक रीतियों के अनुसार रची हुई और शुद्ध हैं। दादूपंथी इन्हें कविता मे तुलसीदास तथा दर्शन में शंकराचार्य के समान समझते हैं। इस विषय का एक छप्पय भी है—

द्वैत भाव कर दूर एक अद्वैतहिं गायौ।
जगत भगत षट् दास सबनि के चाणक लायौ॥
अपणे मत मजबूत थप्यो अर गुर पष भारी।
आण धर्म करि पंड अजाघट तें निरवारी॥
भक्ति ज्ञान हठ सांष्य लौ सर्वशास्त्र पारहि गयौ।
संकराचार्य दूसरो दादू को सुंदर भयौ॥[1]

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने 'मनोरंजन-पुस्तक-माला' के अंतर्गत पुरोहित हरिनारायण, बी० ए० द्वारा 'सुंदरसार' नामक एक संग्रह तैयार करा कर उसे प्रकाशित किया है। इस ग्रंथ में संग्रहकर्त्ता के अनुसार उन के ३७०० से भी अधिक छंदो में ९२३ संग्रहीत हैं। जिन ग्रंथों से संग्रह किए हैं उन के नाम 'ज्ञानसमुद्र', 'लघुग्रंथावली', 'सुंदरविलास (सवैया)', 'साखी' और 'पद' दिए हैं[2] किंतु 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के संक्षिप्त वर्णन' (प्रथम भाग) मे इन के प्राप्त ग्रंथों की संख्या २२ दी हुई है[3] और इस में संदेह नहीं कि इन मे

---

[1] 'सुंदरसार' (भूमिका) लेखक पुरोहित हरिनारायण, बी० ए०, पृ० ११-१८।

[2] वही, पृष्ठ ३।

[3] हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण पहला भाग पृ० १८२

से बहुत से ग्रंथ बहुत छोटे छोटे हैं और कदाचित् बड़े बड़े ग्रंथों के अंतर्गत कुछ आ भी चुके हैं। सुंदरदास का 'सुंदरविलास' ग्रंथ सर्वोत्तम है। इस ग्रंथ मे गुरुभक्ति, वैराग्य और वेदांत' के विषयों पर विशेष रूप से विचार प्रगट किये गए हैं। इन की कविता के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं--

नेह तज्यो अरु गेह तज्यो,
पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर, सीत सहे तन,
धूप समै जो पँचागिनि बारी॥
भूख सही रहि रूख तरे,
पर सुंदर दास सबै दुख भारी।
डासन छाडि कै कासन ऊपर,
आसन मार्‍यो पै आस न मारी॥

ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति तें महत्तत्त्व, पुनि अहंकार है।
अहंकार हू ते तीन गुण सत रज तम,
तम हू ते महाभूत विषय पसार है॥
रज हूँ ते इंद्री दस पृथक पृथक भई,
सत्त हूँ ते मन आदि देवता विचार है।
ऐसे अनुक्रम करि शिष्य से कहत गुरु,
सुंदर सकल यह मिथ्या भ्रमजार है॥

दादूपंथियों में संतसाहित्य के रचयिता अनेक साधु हुए हैं और उन के कुल पद्यों की संख्या ९७५३५ दी जाती है[१]। निश्चलदास का 'विचारसागर' गद्य में एक उत्तम दर्शन ग्रंथ है।

इसी प्रकार सच्चे प्रेम के पुजारी एक पूरे योग्य संत बिहार में भी,

---

१ 'दादूपंथी संप्रदाय का हिंदी साहित्य'—लेखक चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी (सरस्वती, भा० १७, सं० ४)।

सुंदरदास के ही समय मे, उत्पन्न हुए। बाबा धरनीदास का जन्म ज़िला छपरा (बिहार) के माँझी नामी गाँव में परसुराम नाम के एक श्रीवास्तव कायस्थ के घर विरमा देवी के गर्भ से सं० १७१३ अर्थात् सन् १६५६ ई० में हुआ था। यह बात उन के ककहरा से भी प्रकट होती है, जैसे—

परसुराम अरु विरमा माई।
पुत्र जानि जग हेतु बड़ाई॥
प्रगटि धरनि ईसुर करि दाया।
पूरे भाग भक्ति हरि पाया॥

इन के घर खेती का काम होता था परंतु इन के पिता ने प्रयत्न कर के इन्हे माँझी के बाबू का दीवान बनवा दिया था। एक दिन ज़मींदारी के काम मे लगे हुए थे कि अचानक पानी भरा हुआ लोटा, जो पास रक्खा हुआ था, उन्हों ने काग़ज़ व बस्ते पर ढलका दिया और पूछने पर कहा कि जगन्नाथ जी मे आरती के कारण वस्त्र में आग लग गई थी जिसे बुझा दिया है। अंत में इन की नौकरी छूट गई और गृहस्थी के पहले गुरु चंद्रहास को छोड़ कर सेवानंद से दीक्षा ले ये विरक्त हो गए व कहने लगे—

लिखनी नाहिं करूँ रे भाई।
मोहि राम नाम सुधि आई॥

इन की मृत्यु का ठीक समय नहीं मालूम, किंतु सुनते हैं कि पूरी अवस्था पा कर गंगा-सरयू के संगम पर इन्हों ने समाधि ली थी। इन के लिखे 'सत्य-प्रकाश' व 'प्रेमप्रकाश' ग्रंथ प्रसिद्ध हैं और 'धरनीदास जी की बानी' नाम से इन के पद्यों का एक संग्रह बेलवेडियर प्रेस ने प्रकाशित किया है। इस अंतिम पुस्तक में ६० पृष्ठ और कुल मिला कर ३३० पद्य हैं। इन के भावों में स्त्रीत्व तथा एकांतनिष्ठा विशेष रूप से लक्षित होती है। इन्हों ने गर्भ की अवस्था में रहते हुए मनुष्य के विषय में अधिक वर्णन किया है और इन का ककहरा भी अच्छा है। इन का शब्द-चयन तथा प्रवाह भी स्तुत्य है। इन की रचना के उदाहरण नीचे लिखे पद्यों द्वारा दिए जा सकते हैं

धरनी परबत पर पिया, चढ़ते बहुत डेराँव।
कबहुँक पाँव जु डिगमिगै, पावों कतहुँ न ठाँव॥
धरनी धरकत हैं हिया, करकत आहि करेज।
ढरकत लोचन भरि भरी, पीया नाहिंन सेज॥
बिनु पग निरत करो तहाँ, बिनु कर दै दै तारि।
बिनु नैनन छवि देखना, बिनु सरवन झनकारि॥

मैं निरगुनियाँ गुन नहिं जाना।
एक धनी के हाथ बिकाना॥
सोइ प्रभु पक्का मैं अति कच्चा।
मैं झूठा मेरा साहब सच्चा॥
मैं ओछा मेरा साहब पूरा।
मैं कायर मेरा साहब सूरा॥
मैं मूरख मेरा प्रभु ज्ञाता।
मैं किरपिन मेरा साहब दाता॥
धरनी मन मानो इक ठाउँ।
सो प्रभु जीवो मैं मरि जाउँ॥

बाबा धरनीदास के ही समकालीन जगजीवन साहब हुए जिन्हों ने सत्तनामी पंथ चलाया। इन के जीवन-समय के विषय में 'मिश्रबंधु' तथा जॉन टामस पादरी यह अनुमान करते हैं कि ये अठारहँवी ईस्वी शताब्दी के अंतिम भाग में हुए होंगे किंतु सत्तनामी पंथवाले इन की जन्म-तिथि माघ सुदी सत्तमी मंगलवार संवत् १७२७ (१६७० ई०) तथा मरणतिथि वैशाख बदी सत्तमी मंगलवार सं० १८१७ (१७६० ई०) बतलाते हैं जिस का प्रमाण उन के एक ग्रंथ से भी होता है। ये जाति के चंदेल क्षत्रिय थे और बाराबंकी जिले के सरयू तीर के सरदहा गाँव में उत्पन्न हुए थे। इन के विषय में भी बहुत से चमत्कार प्रसिद्ध हैं। इन के गुरु विश्वेश्वर पुरी थे, हालाँ कि एक बंशावली[1] के

---

१ 'यारी साहब की रत्नावली' भूमिका (बेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग) पृ० २।

अनुसार इन का बुल्ला साहब का शिष्य होना भी कहा जाता है। जगजीवन साहब के रचे ग्रंथों मे पादरी जॉन टामस के अनुसार 'ज्ञानप्रकाश' और 'महाप्रलय' प्रसिद्ध है किंतु ये देखने मे नहीं आए। प्रयाग के वेलवेडियर प्रेस, ने इन की प्राप्त रचनाओं को 'बानी' तथा 'शब्दावली' नामक दो भागों में प्रकाशित किया है। जगजीवन साहब के ग्रंथों में उन की नम्रता, सादगी एवं आत्म-ग्लानि व दीनता कूट कूट कर भरी हैं। ये बार बार अपने को असमर्थ बतलाते हैं तथा सगुणोपासक भक्तकवियों की भाँति अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित करने को तत्पर रहा करते हैं। इन की शैली में प्रसादगुण बहुत है और इन की विनय तथा इन के उपदेश दोनों अनूठे हैं। 'बानी' व 'शब्दावली' दोनों मिला कर २५७ पृष्ठ हैं, जिन में ५०० से भी अधिक पद्य संग्रहीत हैं। इन में से उदाहरण के लिये दो पद्य नीचे दिए जाते हैं—

प्रभु जी का बसि अहै हमारी ॥ टेक ॥
जब चाहत तब भजन करावत,
चाहत देत बिसारी ॥ १ ॥
चाहत पल छिन छूटत नाहीं,
बहुत होत हित कारी ॥
चाहत डोरि सूखि पल डारत,
डारि देत संसारी ॥ २ ॥
कहँ लगि विनय सुनावौं तुम ते,
मैं तो अहौं अनारी ॥
जगजिवन दास पास रहै चरनन,
कबहूँ करहु न न्यारी ॥ ३ ॥

साधौ कहा जो मानै कोई ॥ टेक ॥
जो कोइ कहा हमार मानि है,
भला ताहि के होई ॥ १ ॥
तजै गरूर दूर कहि बाना,
मनहि दीनता होई

तेहि काँ काज सिद्ध कै जानौ ,
सुखानंद तेहि होई ॥ २ ॥
अंतर भजु केहु दुक्ख देइ नहिं ,
मै तैं डारै खोई ।
तेहि काँ राम सदा सुखदायक ,
सुद्धि ताहि कै लेई ॥ ३ ॥
परगट कहत अहौं गोहराये ,
जग ते न्यारे वोई ।
जगजीवन मूरति वह निरखा ,
सूरति रहा समोई ॥ ४ ॥

जगजीवन साहब के शिष्यों में दूलनदास सब से प्रसिद्ध हैं जिन का समय विक्रमीय अठारहवें शतक का अंतिम तथा उन्नीसवें का प्रथम भाग बतलाया जाता है। ये सोमवंशी क्षत्रिय थे और मौज़ा समेसी, ज़िला लखनऊ में उत्पन्न हुए थे और जीवन भर गृहस्थाश्रम में रह कर ज़मींदारी का काम सँभालते रहे। इन के तथा जगजीवन साहब के अन्य शिष्यों के नाम गुरु के पत्र भी पद्य में गुरु के ही ग्रंथों में प्रकाशित है। इन की ४० पृष्ठों एवं २२० पद्यों की एक 'बानी' बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुई है और संक्षिप्त विवरण भाग १ मे 'शब्दावली' का भी नाम मिलता है[1] जो संभवतः इसी ग्रंथ की दूसरी प्रतिलिपि हो सकती है। इन पदों में से एक इस प्रकार है—

देख आयों मैं तो साइँ की सेजरिया ।
साइँ की सेजरिया सतगुरु की डगरिया ॥ १ ॥
सबदहि ताला सबदहि कुंजी ।
सबद की लगी हो जँजिरिया ॥ २ ॥
सबद ओढ़ना सबद बिछौना ।
सबद की चटक चुनरिया ॥ ३ ॥

---

१ हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण पहला भाग पृष्ठ ६७ ।

सबद सरूपी स्वामी आप विराजैं।
　　　　सीस चरन में धरिया ॥ ४ ॥
दूलनदास भजु साईं जगजीवन।
　　　　अगिन से अहँग उजरिया ॥ ५ ॥

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यारी साहब आदि कई संतों की रचनाओं में इन उपरोक्त रचनाओं से थोड़ी सी विभिन्नता पाई जाती है और वह है आत्मानुभव तथा योगसंबंधी बातों की विशेषता और भक्ति विषयक बातों की कमी। यारी साहब जाति के मुसलमान थे और अपने गुरु वीरू साहब की सेवा मे दिल्ली नगर में रहा करते थे। यहीं उन की समाधि भी वर्तमान है। इन का समय विक्रम सं० १७२५-८० अर्थात् सन् १६६८-१७२३ ई० बतलाया जाता है। यारी साहब के दो शिष्य बुल्ला साहब और केशवदास हुए। बुल्ला साहब जाति के कुनबी थे और इन का असल नाम बुलाक़ीराम था। ये भुरकुड़ा ज़िला ग़ाज़ीपुर में सत्संग करते रहे और इन का समय सं०१७५०-१८२५ अर्थात् १६९३-१७६८ ई० बतलाया जाता है। केशवदास का समय ज्ञात नहीं किंतु ये बुल्ला साहब के समकालीन अवश्य रहे होंगे। बुल्ला साहब के शिष्य गुलाल साहब हुए जो बसहरि ज़िला ग़ाज़ीपुर के क्षत्रिय ज़मींदार थे और वहीं रह कर गृहस्थाश्रम में ही इन का देहांत हुआ। इन का समय सं० १७५०-१८०० अर्थात सन् १६९३-१७४३ ई० बतलाया जाता है जो केवल अनुमान पर ही आश्रित है। कहा जाता है कि बुलाक़ीराम पहले इन्हीं के यहाँ हलवाही करते थे किंतु एक दिन जब ये खेत पर गए और उन्हें हल छोड़ कर ध्यान में मग्न देखा तो क्रोध में आ कर उन्हे एक लात मारी जिस से चौंकने पर उन के हाथ से दही छलक पड़ा। यह आश्चर्य की बात देख कर जब गुलाल ने पूछा तो उन्हों ने बतलाया कि मैं साधुओं को भोजन जिमा रहा था। गुलाल इस चमत्कार पर मुग्ध हो गए और उन का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। गुलाल साहब के शिष्य भीखा साहब हुए जिन का असल नाम भीखानंद चौबे था। और जिन्हों ने आज़मगढ़ ज़िले के खानपुर बोहना नामी गाँव में जन्म लिया था। इन्हों ने बारह बरस की ही उमर में गुरु की खोज में अपना घर परित्याग कर दिया

और काशी जाते समय रास्ते में पता चलने पर गुलाल साहब के ही शिष्य हो गए और लगभग बारह वर्ष तक उन की सेवा में रह कर तथा बीस पचीस वर्ष तक सत्संग कर के भुरकुड़ा में ही मर गए। वहीं पर बुल्ला साहब, गुलाल साहब तथा भीखा साहब इन तीनों की समाधियाँ अब भी वर्तमान हैं। भीखा साहब का समय सं० १७७०-१८२० अर्थात् १७१३-१७६३ ई० बतलाया जाता है जो विशेष कर अनुमान पर ही आश्रित है। बेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित भीखा साहब की 'शब्दावली' के आदि मे दी हुई वंशावली[१] से विदित होता है कि भीखा साहब के शिष्य गोविंद साहब तथा गोविद साहब के शिष्य पल्टू साहब हुए। किंतु इस वंशावली में दो एक बातें संदेहास्पद जान पड़ती हैं। एक तो बुल्ला साहब के गुरु भाई केशवदास का नाम छोड़ दिया है जो स्वयं गुलाल साहब की पंक्ति—

यारी दास लियो गुरु सँग पाय।
केशव बुल्ला दोनों भाय॥[२]

से भी सिद्ध होता था और दूसरे उस में जगजीवन साहब को बुल्ला साहब का शिष्य कर के लिखा है जो ठीक नहीं। इसलिये जब तक कोई दूसरा प्रमाण न मिले पल्टू साहब का भी उक्त वंशावली मे आना संदेहात्मक ही जान पड़ता है। यारी साहब की इस शिष्य परंपरा मे प्रायः सब की रचनाओं में समानता है। हाँ, आगे क्रमशः प्रेम व भक्ति के भावों का पुट अधिकाधिक मात्रा मे बढ़ता जाता है और गुलाल साहब की रचनाओं में तो कुछ प्रेमावेशमय पद्य भी देखने को मिलते हैं। गुलाल साहब के पद्यों में आत्मानुभव के वर्णन बहुत उत्कृष्ट हैं और साधारण तौर पर उन की रचनाओं में प्रवाह भी अधिक है। ये इस शिष्य परंपरा के सब से अच्छे कवि हैं। भीखा साहब के ग्रंथों में उन का

---

[१] भीखा साहब के पंथ वाले बलिया ज़िले के बड़ा गाँव में तथा उस के आस पास हज़ारों की संख्या में वर्तमान हैं और यह वंशावली बड़ा गाँव के ही महंत द्वारा प्राप्त हुई थी—देखिये 'भीखा साहब की बानी', जीवन चरित्र, पृष्ठ २।

[२] 'गुलाल साहब की बानी' (बेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग) पृष्ठ १२२।

संगीत-प्रेम दिखाई पड़ता है। इस शिष्य परंपरा की रचनाओं में से 'यारी साहब की रत्नावली', 'बुल्ला साहब का शब्दसार', 'केशवदास जी की अमी घूँट', 'गुलाल साहब की बानी' तथा 'भीखा साहब की बानी' बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुई हैं, जिन में कुल मिला कर ३०१ पृष्ठ और ९५० के लगभग पद्य हैं। इन के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं:—

यारीसाहब—बिरहिनी मंदिर दियना बार ॥ टेक ॥

बिन बाती बिन तेल जुगति सों,
बिन दीपक उँजियार ॥ १ ॥

प्रानपिया मेरे गृह आयो,
रचि पचि सेज सँवार ॥ २ ॥

सुखमन सेज परम तत रहिया,
पिय निरगुन निरकार ॥ ३ ॥

गावहु री मिलि आनँद मंगल,
यारी मिलि के यार ॥ ४ ॥

उड़ु उड़ु रे विहंगम चढ़ु अकास ॥ टेक ॥

जहँ नहिं चाँद सूर निसवासर,
सदा अगमपुर अगम वास ॥ १ ॥

देखै उरध अगाध निरंतर,
हरष सोक नहिं जम कै त्रास ॥ २ ॥

कह यारी उहँ वधिक फाँस नहिं,
फल पायो जगमग परकास ॥ ३ ॥

बुल्लासाहब—प्राननाथ जी सहजहि प्याला पायो ॥ टेक ॥

प्याला पिया सिखर गढ़ लीया,
जोतिहिं जोति समायो ॥ १ ॥

तन कियो कुंड पवन कियो घोटना,
छकि छकि अमी छकायो ॥ २ ॥

अन खुला सतगुरु बलिहारी,

निज यह अमल चढ़ायो ॥ ३ ॥

केशवदास—बिना सीस कर चाकरी, बिन खाँड़े संग्राम ।

बिन नैनन देखत रहै, निसि दिन आठो जाम ॥

गुलाल—अँखियाँ प्रभु दरसन निज लूटी,

हौं तुव चरन कमल में जुटी ॥ टेक ॥

विमल विमल बानी श्रुति गावों,

कह बरनों अनुरूपी ।

निरगुन नाम निरंतर निरखों,

अनँत कला तुव रूपी ॥ १ ॥

बिगस्यो कमल फुल्यो काया बन,

झरत दसहु दिसि मोती ।

कह गुलाल प्रभु के चरनन सों,

डोरि लगी भर जोती ॥ २ ॥

भीखासाहब—बीते बारह बरस उपजी राम नाम सों प्रीति ।

निपट लागि चटपटी मानो,

चारिउ पन गयो बीति ॥

....

कोउ कहेउ साधू बहु बनारस,

भक्ति बीज सदा रह्यौ ।

तहँ साख्य मत को ज्ञान है,

गुरु भेद काहू नहिं कह्यौ ॥

....

इक ध्रुपद बहुत विचित्र सूनत,

योग पूछेउ है कहाँ ।

नियरे भुरकुड़ा ग्राम जाके,

सब्द आए हैं तहाँ ॥

....

आतमा निज रूप साँचो,
कहत हम करि कसम कै।
भीखा आपे आपु घट घट,
बोलता सोहमस्मि कै॥

उपरोक्त शिष्य-परंपरा से अलग किंतु इसी धारा में एक संत महात्मा ग़रीबदास जी हुए जिन का जन्म वैशाख सुदी १५ संवत् १७७४ अर्थात् सन् १७१७ ई० में मौज़ा छुड़ानी ज़िला रोहतक (पंजाब) के एक जाट के घर हुआ था। ये कबीर को अपना गुरु मानते थे और गृहस्थाश्रम में ही रह कर केवल २२ बरस की अवस्था में इन्हों ने एक ग्रंथ की रचना आरंभ की जिस में सत्रह हज़ार चौपाई और साखी उन की हैं और सात हज़ार कबीर की हैं। इन्हों ने भादों सुदी २ सं० १८३५ अर्थात् सन् १७७८ ई० मे ६१ वर्ष की अवस्था मे अपना चोला छोड़ा। इन की ऊपर लिखी रचना से चुन कर बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ने ९५० से भी अधिक इन के पद्यों को २०५ पृष्ठों में प्रकाशित किया है। इन की रचना में परमात्मा एवं संतों के प्रति प्रगाढ़ विश्वास और श्रद्धा है, भावों की गंभीरता और साधना की सफलता एवं आत्मानुभव की अधिकता लक्षित होती है तथा कबीर को गुरु मान कर उन की शैली पर कहे गए पदों की भरमार है। इस में हमें पुराणों से लिए गए अनेक उदाहरण भी दिखाई पड़ते हैं। इन के पदों के उदाहरण में नीचे लिखी पंक्तियाँ दी जा सकती हैं—

निःचय ऊपर नामदेव
पाहन दूध पिलाए।
भैंस सींग में साहब आए
नाम रतन धन पाए॥
निःचय ही से देवल फेरा
पूज्यो क्यों न पहारा।
नामदेव दरवाजे बैठा
पंडित के पिछवारा॥

निश्चय ही से गऊ जिवाई
निःचय बच्छा चूँगै ।
देस दिसंतर भक्ति गई है
फिर को लावै भूँगै ॥

आदि सनातन पंथ हमारा ।
जानत नाहीं यह संसारा ॥
पंथों सेती पंथ अलहदा ।
भेखों बीच पड़ा है वहदा ॥
षट् दरसन सब खटपट होई ।
हमरा पंथ न पावै कोई ॥
हिंदू तुरक कदर नहिं जाने ।
रोजा ग्यारस करैं धिकताने ॥
दोनों दीन यकीन न आसा ।
वे पूरब वे पच्छिम निवासा ॥
दुहूँ दीन का छोड़ा लेखा ।
उत्तर दक्खिन मे हम देखा ॥
ग़रीब दास हम निःचय जाना ।
चारो खूँट दसो दिस ध्याना ॥

हाथरस वाले तुलसी साहब को हम ने इस धारा का अंतिम संत समझा है। ये तुलसी साहब जो बहुधा केवल 'साहिब जी' कर के भी प्रसिद्ध थे पूना के पेशवा के युवराज थे और इन का जन्म सं० १८२० अर्थात् १७६३ ई० में वहीं पर हुआ था। बारह वर्ष की ही अवस्था में इन का विवाह हुआ किंतु इन्हें एक पुत्र के अतिरिक्त और दूसरी संतान नहीं हुई और ये जन्म भर ब्रह्मचारी बने रहे। उस समय इन का नाम श्यामराव था तथा इन की स्त्री का लक्ष्मी बाई था। इन्हों ने अपने पिता की गद्दी स्वीकार नहीं की और पूना से भाग निकले और बहुत दिनों तक देश-विदेश, जंगल आदि में घूमते फिरते आ कर अलीगढ़ जिला (संयुक्त प्रांत) के अंतर्गत हाथरस में रहने लगे। पूना में इन

के छोटे भाई राजा बनाये गए किंतु सं० १८७६ अर्थात् सन् १८१९ में वे गद्दी से हटा कर बिठूर (जिला कानपूर) भेज दिये गए। यहीं पर इन दोनों भाइयों का एक बार अंत में समागम होना कहा जाता है। तुलसी साहब का जेठ सुदी २ सं० १८९९ या १९०० अर्थात् सन् १८४२ या १८४३ ई० मे ८० वर्ष की अवस्था में देहांत होना कहा जाता है। तुलसी साहब ने कदाचित् कोई गुरु नहीं किया किंतु वे अपने को प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदास का अवतार कहा करते थे। उन के प्रसिद्ध ग्रंथ 'घटरामायण', 'शब्दावली', 'रत्नसागर' तथा 'पद्मसागर' है और ये सभी बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। इन की रचनाओं में प्रसादगुण की कमी है किंतु भावों की गंभीरता से पता चलता है कि ये पहुँचे हुए संत थे। इन्हों ने अपने विचार संवादों तथा दृष्टांतों द्वारा समझाने की विशेष चेष्टा की है और अन्य धर्मों के अनुयायियों पर बार बार आक्षेप करते हुए उन्हें उपदेश दिए हैं। इन की रचनाओं के उदाहरण ये हैं—

चार अठारह नौ पढ़े, षट् पढ़ि खोया मूल।
सुरत सबद चीन्हें बिना, ज्यों पंछी चंडूल॥
सुन्न अकास के भाल में, स्वासा निकसत पौन।
बंक नाल के बीच में, इँगल पिंगल पर जौन॥

उपरोक्त संतों के अतिरिक्त जिन शेष संतजनों को हम ने पौराणिक प्रभाव से प्रभावित कहा है उन मे से सब से प्राचीन बाबा मलूकदास हैं जिन का जन्म बैसाख बदी ५ संवत् १६३१ अर्थात् १५७४ ई० में जिला इलाहाबाद के अंतर्गत कड़ा नामी गाँव के लाला सुंदरदास खत्री के घर हुआ था। अपनी पाँच वर्ष की अवस्था से ही ये बड़े परोपकारी व दयालु समझे जाने लगे। ये नित्य-प्रति साधुओं को खिलाया करते तथा अपने बिकने वाले कंबलों को भी बिना दाम उन्हें दे दिया करते थे। ये गृहस्थाश्रम में रहते थे और इन्हें एक पुत्री भी उत्पन्न हुई थी, परंतु माँ-बेटी दोनों का शीघ्र ही देहांत हो गया। इन के गुरु का नाम बिट्ठलदास द्राविड़ी था। इन का देहांत संवत् १७३९ अर्थात् १६८२ ई० मे १०८ वर्ष की अवस्था में हुआ था। इन के पंथ की गद्दियाँ नैपाल तथा काबुल तक मे बतलाई जाती हैं। इन के रचे हुए ग्रंथों में से 'रत्नखान' और 'ज्ञानबोध'

मुख्य समझे जाते हैं। 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण' (पहला भाग) में[1] इन की छः रचनाओं के नाम दिये गए हैं। बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ने इन के शब्दों व साखियों का एक ४१ पृष्ठों का संग्रह छापा है जिस में कुल मिला कर १६८ पद्य हैं। बाबा मलूकदास का परोपकार की ओर विशेष झुकाव था और इन्हें नैतिक बातों के वर्णन में रुचि थी। इन्हें विडंबना से घृणा थी और इन में कुछ दीवानापन भी था। इन्हों ने अन्योक्तियाँ भी कही हैं। इन के पद्यों के उदाहरण नीचे लिखे अनुसार हैं—

एक दया और दीनता ले रहिए भाई,
चरन गहो जाय साध के रीझै रघुराई।
दाया करै धरम मन राखै
घर में रहै उदासी।
अपना सा दुख सब का जानै
ताहि मिलै अविनासी॥

औरहिं चिंता करन दे, तू मति मारे आह।
जा के मोदी राम से, ताहि कहा परवाह॥
जेती देखे आतमा, तेते सालिगराम।
बोलन हारा पूजिये, पत्थर से क्या काम॥
प्रभुता को सब ही मरे, प्रभु को मरे न कोय।
जो कोई प्रभु को मरे, प्रभुता दासी होय॥
अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गए, कि सब के दाता राम॥

इस के अनंतर हमें दो भिन्न भिन्न प्रदेशों अर्थात् बिहार व मारवाड़ में रहने वाले परंतु दोनों दरिया नामधारी संतों की रचनाओं पर विचार करना है। बिहार वाले दरिया साहब का जन्म राजधानी डुमरांव से सात कोस पश्चिम धरकंधा नाम के गाँव में संवत् १७३१ अर्थात् १६७४ ई० में हुआ था। धरकंधा

---

[1] पृष्ठ ११७।

में उन का ननिहाल था और उन के बाप का नाम पीरनशाह था जो एक प्रतिष्ठित क्षत्रिय वंश के थे। नव वर्ष की अवस्था में उन का विवाह हुआ परंतु उन्हों ने स्त्री-प्रसंग कभी नहीं किया। पंद्रहवें वर्ष में उन्हें वैराग हुआ, बीसवें वर्ष में भक्ति का पूरा विकास हुआ और तीसवें वर्ष से सत्संग आरंभ किया। ये कबीर साहब के दूसरे अवतार माने जाते हैं और इन की कई गद्दियाँ भिन्न भिन्न स्थानों पर वर्तमान हैं। इन की रचनाओं की संख्या कम से कम २० है, जिन में से 'दरियासागर' और 'ज्ञानदीपक' मुख्य हैं। इन का 'दरियासागर' और चुने हुए पदों का एक संग्रह दोनों बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुए हैं। इन की मृत्यु सं० १८३७ की भादों बदी चौथ को अर्थात् सन् १७८० मे १०६ वर्ष की अवस्था में हुई थी। दरिया साहब (मारवाड़ वाले) का जन्म सं० १७३२ अर्थात् १६७५ ई० मे जैतारन गाँव (मारवाड़) के एक धुनियाँ के घर हुआ था। इन के गुरु प्रेमजी बीकानेरी थे और इन्हें अपने पिता के मरने के समय अर्थात् सात वर्ष की अवस्था से ही वैराग्य हो चला था। ये सं० १८४४ अर्थात् १७८७ ई० में मरे थे। उन के ग्रंथ बहुत नहीं कहे जाते। बेलवेडियर प्रेस से उन की बानियों व साखियों का एक छोटा सा संग्रह प्रकाशित हुआ है। दोनों दरिया साहबों के विचारों में कम मतभेद था। केवल अपनी अपनी गुरु परंपराओं का ही कदाचित प्रभाव मतभेद का कारण हो। बिहार वाले दरिया साहब को स्मार्त्त धर्मानुसार दी गई व्यवस्थायें कदाचित् संस्कारतः प्रिय थी। एक 'छय' लोक की कल्पना, कामक्रोधादि की निंदा, नारीनिंदा, वर्णाश्रम भेद और पौराणिक प्रसंग इन की विशेषताओं में हैं। इन दोनों संतों की रचनाओं के उदाहरण निम्न ढंग के हैं—

(बिहार वाले)—दरिया सागर ग्रंथ यह, मुक्ति भेद निजु सार।
जो जन शब्द विवेकिया, उतरहु भव जलपार॥
तीनि लोक के ऊपरे, अभय लोक विस्तार।
सत्तसुकृत परवाना पावै, पहुँचै जाय करार॥

(मारवाड़ वाले)—दरिया बगुला ऊजला, उज्वल ही है हंस।
वे सरवर मोती चुगैं, वाके मुख में मस॥

बाहर से उज्वल दसा, भीतर मैला अंग।
ता सेती कौवा भला, तन मन एकहि रंग॥

इसी उपरोक्त श्रेणी के ही अंतर्गत बाबा चरणदास तथा सहजोबाई और दयाबाई नाम की उन की दो शिष्याये आती हैं। चरनदास का जन्म राजपूताने के मेवात प्रांत के डेहरा नामी गाँव में दूसर कुल के मुरलीधर के घर कुंजो देवी के गर्भ से भादों सुदी ३ मंगलवार संवत् १७६० अर्थात् सन १७०३ ई० मे हुआ था और ७९ बरस की अवस्था पाने पर इन की मृत्यु संवत् १८३९ अर्थात् सन् १७८२ ई० में हुई। चरनदास का असल नाम रनजीत था और १९ वर्ष की अवस्था में जंगल में इनकी अपने गुरु से भेट हुई जिन्हो ने इन का नाम चरनदास रख दिया। परंपरानुसार यह गुरु स्वयं शुकदेव मुनि ही कहे जाते हैं। महात्मा चरनदास ने स्वयं कहा भी है[1]—

डहरे मेरो जनम नाम रणजीत बखानो।
मुरली को सुत जान जात दूसर पहचानो॥
बाल अवस्था माहिँ बहुरि दिल्ली में आयो।
रमत मिले सुखदेव नाम चर्णदास धरायो॥
जोग जुगति कर भक्ति कर ब्रह्मज्ञान दृढ़कर गह्यो।
आतम तत्त विचार के अजपा से सनमन रह्यो॥

चरनदास के ११ ग्रंथों की सूची 'हस्त-लिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त वर्णन,' (पहला भाग) में दी गई है[2], परंतु बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ने, जान पड़ता है, उन की भिन्न भिन्न रचनाओं में से चुन कर उन के लगभग ६०० पद्यों का ही एक संग्रह 'चरनदास जी की बानी' नाम से दो सौ छत्तीस पृष्ठों में दो भाग कर के प्रकाशित किया है। इन्हीं की समकालीन इन की दो शिष्याये भी थीं जिन में से सहजोबाई, दूसर कुलोत्पन्न हरिप्रसाद की पुत्री थीं और उस के

---

[1] 'महात्मा चरणदास का समय',—लेखक मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ (सरस्वती भा० १४, सं० ४, पृष्ठ ५८६-७)।

[2] पृष्ठ ४३।

बनाए ग्रंथो मे 'सहजप्रकाश' और 'सहजोबाई कृत शब्द' की चर्चा 'संक्षिप्त विवरण' भाग एक में भी की गई है।[1] बेलवेडियर प्रेस ने इस की पहिली पुस्तक को अपने यहाँ से प्रकाशित किया है। दयाबाई का 'दयाबोध' व 'विनयमालिका' भी यहाँ से निकली हैं। दयाबाई का भी जन्म चरणदास के ही कुल और गाँव मे इसी समय हुआ था और उस ने अपना पहला ग्रंथ सं० १८१८ अर्थात् सन् १७६१ ई० मे बनाया था। सहजो का 'सहजप्रकाश' सं० १८०० अर्थात् सन् १७४३ में बना था। इस मे कुल मिला कर ४५ पृष्ठ और ३८८ पद्य है और विषय विशेषकर वैराग्य है। 'दयाबोध' केवल १४ पृष्ठों का ग्रंथ है जिस में केवल १३८ पद्य हैं और विषय विशेषकर पौराणिक रीति की भक्ति है। 'विनयमालिका' भी 'दयाबोध' के ही बराबर है और उस मे विनय के पद है। हम चरनदास व उन की शिष्याओं की रचनाओं की बानगी नीचे देते हैं—

चरनदास—हरि सेवा कृत सौ बरस, गुरु सेवा पल चार।
तौ भी नहीं बराबरी, बेदन कियो बिचार॥
ऐसा सतगुरु कीजिए, जीवत डारै मारि।
जन्म जन्म की बासना, ताकूं देवै जारि॥
माला तिलक बनाय पूर्व अरु पच्छिल दौरा।
नाभि कँवल कस्तूरि हिरन जंगल मों बौरा॥
चाँद सूर्य थिर नहीं नहीं थिर पवन न पानी।
तिर देवा थिर नहीं नहीं थिर माया रानी॥
चरनदास लख दृष्टि भर एक शब्द भर पूर है।
निरखि परखि ले निकट ही कहन सुनन कों दूर है॥

सहजोबाई—चार बीस अवतार धरि, जनकी करी सहाय।
रामकृश्न पूरन भये, महिमा कही न जाय॥
भक्त हेत हरि आइया, पिरथी भार उतारि।
साधन की रच्छा करी, पापी डारे मारि॥

---

[1] पृ० १७८।

दयाबाई चरनदास की कृपा सूँ मो मन न्ठी उमग
दयाबोध बरनन करूँ, जहँ सुख की उठत तरंग ॥

पल्टू साहब के जीवन-समय की प्रामाणिक तिथियाँ अभी तक विदित नहीं किंतु इतना निश्चित है कि ये उन्नीसवीं सदी ईसवी के आदि में अवश्य विद्यमान थे। इन के सगे भाई पल्टूप्रसाद ने जो अपनी 'भजनावली' में इन का हाल लिखा है उस से केवल यही पता चलता है कि फ़ैजाबाद के ज़िले मे नगपुर-जलालपुर गाँव में यह उत्पन्न हुए थे और जाति के काँदू बनिया थे। अपने पुरोहित गोविंद के साथ उन्हों ने किसी बाबा जानकीदास से दीक्षा ली थी और फिर और कोई गुरु किया था। इन की अंतिम अवस्था के विषय मे यह दोहा प्रसिद्ध है—

अवध पुरी में जरि मुए, दुष्टन दिया जराइ।
जगन्नाथ की गोद में, पल्टू सूते जाइ ॥

पल्टू साहब की कुंडलियाँ उन के रेख़ते, भूलने आदि तथा उन के शब्द और साखियाँ बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा तीन भागों में प्रकाशित हुए हैं जिन में कुल मिला कर ३५२ पृष्ठ और प्रायः १००० के पद्य हैं। इन की कुंडलियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। पल्टू साहब ने कबीर के बहुत से पद्यों को ले कर उन के भावो को विस्तृत भर कर दिया है। उन मे पुनरुक्ति बहुत है। इन्हों ने चरणदास के ही समान वीर रस की भी कविता की है किंतु उतना ओज नहीं ला सके हैं और न चरणदास की टेक वाली विशेषता इन में कहीं लक्षित होती है। पल्टू साहब की रचनाओं में हमें कहीं कहीं शृंगार रस के कवियों तक का प्रभाव दिखलाई देता है। पौराणिक भक्ति तथा नीति कथन में ये चरणदास के ही समान हैं। इन की रचनाओं के कुछ उदाहरण ये हैं—

पिय को खोजन मैं चली, आपुइ गई हिराय ॥
आपुइ गई हिराय कवन अब कहै सँदेसा।
जेकर पिय में ध्यान भई वह पिय के भेसा ॥
आगि माँहि जो परै सोऊ अग्नी ह्वै जावै।
भृंगी कीट को भेंट आपु सम लेइ बनावै ॥

सरिता बहि के गई सिंधु में रही समाई।
सिव सक्ती के मिले नहीं फिर सक्ती आई॥
पलटू दीवाल कह कहा, मत कोउ झांकन जाय।
पिय को खोजन मैं चली, आपुइ गई हिराय॥

अपनी ओर निभाइये, हारि परै की जीति॥
हारि परै की जीति ताहि की लाज न कीजै।
कोटिन बहै बयारि कदम आगे को दीजै॥
तिल तिल लागै घाव खेत से टरना नाहीं।
गिरि गिरि उठै सँभारि सोइ है मरद सिपाही॥
लरि लीजै भरि पेट कानि कुल अपनि न लावै।
उन की उन के हाथ वचन से सब बनि आवै॥
पलटू सतगुरु नाम से, साची कीजै प्रीति।
अपनी ओर निभाइये, हारि परै की जीति॥

[४]

ऊपर के सिंहावलोकन से स्पष्ट है कि संतसाहित्य के रचयिताओं का जैसा निर्मल जीवन रहा है वैसी ही उन की रचनायें भी निर्मल रही हैं। वे जीवन के तत्त्व को भली भाँति अनुभव के तराज़ू पर तोल कर उस का मूल्य लगाया करते थे और तब अपने सिद्धांतों का प्रचार करते थे। संतों को हम ने भ्रमवश केवल संसार को असार कह कर उसे छोड़ने की व्यर्थ चेष्टा करने वाले निकम्मों का समाज समझ रक्खा है और इसी कारण उन की रचनाओं के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान नहीं देते। तथ्य यह है कि संसार की असारता संतों की रचनाओं का एक अंशमात्र है और वैराग्य उन की केवल मानसिक-स्थिति की प्रौढ़ता का परिचायक है। संतों का आदर्श जीवन्मुक्त की अवस्था है जिस में रह कर मनुष्य संसार के कार्यों को सँभालता हुआ भी आनंद में मग्न रह सकता है। स्वयं संतों ने ही इस बात को कर दिखाया है क्योंकि हमारे विचार से लगभग ७५ प्रतिशत सच्चे संत ऐसे रहे हैं जिन्होंने गृहस्थाश्रम में रह कर ही उपदेश किया स्वयं कबीर इस बात के सब से उत्कृष्ट उदाहरण कहे

जा सकते है। सत साहित्य का निर्माण अब भी हा रहा है और सभव है भविष्य मे भा हागा किंतु सब स ऊंचा आदर्श ना अब तक है व आग रहगा वह कबीर है। कबीर का अभी पूर्ण अध्ययन नहीं हुआ है और न संतसाहित्य को ही समझने की पूर्ण चेष्टा हुई है। अंत में हम दो पद्य उद्धृत कर के इस लेख को समाप्त करते हैं।

निकट निरंजन लागि अवे।
तब हम जीवन मुक्त भये॥
मरि कर मुक्ति जहाँ जग जाई।
तहाँ न मेरा मन पतिआई॥
आगे जनम लहहिं अवतारा।
तहाँ न मानइ मना हमारा॥
तन छूटइ गति जो पति होई।
मिरतक जीव मिलइ सब कोई॥
जीवत जनम सुफल करि जाना।
दादू राम मिले मन माना॥

(दादू)

मनमस्त हुआ तब क्यों बोलै।
हीरा पायो गाँठ गठियायो।
बार बार वाको क्यों खोलै॥
हलकी थी जब चढी तराजू।
पूरी भई तब क्यों तोलै॥
सुरत कलारी भइ मतवारी।
मदवा पी गइ बिन तोलै॥
हंसा पाये मानसरोवर।
ताल तलैया क्यों डोलै॥

तेरा साहिब है घट माँही।
बाहर नैना क्यों खोलै॥
कहै कबीर सुनो भइ साधो।
साहिब मिल गए तिल ओलै॥

(कबीर)

राजा भोज का एक नया दानपत्र

(वि० सं० १०७९)

[लेखक—श्रीयुत रामेश्वर गौरीशंकर ओझा, एम्० ए०]

विक्रम और भोज, इन दो राजाओं के नाम मालव देश मे ही नहीं किंतु सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध हैं। विक्रम के संबंध में ऐतिहासिकों में मतभेद हो सकता है, किंतु राजा भोज का वंश एवं समय निश्चित हो चुका है। यह लोक-प्रसिद्ध बात है कि राजा भोज स्वयं बड़ा विद्वान् था और विद्वानों का बहुत संमान किया करता था। जिस प्रकार विद्वानों, ब्राह्मणों आदि को दान देने मे वह बहुत बढ़ा-चढ़ा था, उसी तरह उस ने अपने राज्य-समय मे कई युद्ध भी किए; इसीलिये उस के संबंध में किसी संस्कृत कवि ने कहा है—

अस्य श्रीभोजराजस्य द्वयमेव सुदुर्लभम्।
शत्रूणां शृंखलैर्लोहं ताम्रं शासनपत्रकैः॥[1]

अर्थात् इस राजा भोज के यहाँ (अर्थात् राज्य मे) दो वस्तुएँ ही दुर्लभ हैं; शत्रुओं को बंदी करने के लिये उपयोग में आने वाली शृंखलाओं के कारण लोहा और शासन-पत्रों (दानपत्रों) के कारण ताँबा।

प्राचीन काल में दानपत्र कागज़ पर नहीं, किंतु ताम्रपत्रों पर खुदवा कर दिए जाते थे, ताकि दान-भोगी व्यक्ति के यहाँ वे शताब्दियों तक सुरक्षित रह सकें। उपर्युक्त श्लोक में राजा भोज के राज्य मे दानपत्रों के कारण ताँबा दुर्लभ होने से यही तात्पर्य है कि भोज राजा बहुत दान-पुण्य करता था, जिस के फल-स्वरूप अनेक दानपत्र दिए जाते थे। मालवे के परमार-वंशी नृपतियों में भोज-देव प्रथम (ई० स० १०१०-५५) के नाम की सारे भारत में बहुत अधिक

---

[1] सुभाषितरत्नभांडागारम् (छठा संस्करण), पृष्ठ १२१।

ख्याति हुई,[1] परंतु पाठकों को यह जान कर कुछ आश्चर्य होगा कि ऐसे विद्वान, दानी एवं प्रतापी राजा के राजत्व-काल के अब तक केवल इने-गिने दानपत्र प्रकाश में आए हैं, जिस के कुछ कारणों की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

ईसवी सन् की तेरहवीं शताब्दी में मालवे पर दिल्ली के मुसलमान सुलतानों की चढ़ाइयाँ आरंभ हुई और अनेक राजवंशों के परिवर्तन के साथ इस प्रदेश पर, जहाँ भोज का राज्य रहा था, पाँच शताब्दियों से अधिक समय तक मुसलमानी अमल कायम रहा। इसी अर्से में, पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में, मालवे में मांडू के सुलतानों का स्वतंत्र राज्य भी स्थापित हुआ, जिस का अस्तित्व करीब १३० वर्ष पर्यंत रहा[2]। सदियों के मुसलमानी अमल में उत्तर भारत से दक्षिण और दक्षिण भारत से उत्तर को जाने वाली सेनाएँ मालवे में हो कर गुज़रती थीं, जिस से तथा इस प्रदेश के समीपवर्ती राज्यों के शासकों के पारस्परिक वैमनस्य के कारण इस प्रदेश में प्रायः युद्ध हुआ करते थे, लूटमार की करुण कहानी सुन पड़ती थी और जनता में धन-जन सुरक्षित नहीं था। संभव है, इस दीर्घ काल में अनेक व्यक्तियों के पास के प्राचीन दानपत्र गुम हो गए हों, घर-बार छोड़ कर भागते समय वे भूमि में गड़े रह गए हों अथवा राज्य-परिवर्तन होने पर प्राचीन राजाओं के कुछ दानपत्र नवीन शासकों द्वारा छीन लिये गए हों। मुसलमानों के पश्चात् मरहटा-काल में भी इस प्रदेश में सुख-शांति की स्थापना न हो सकी। मरहटा राज्यों के आपसी लड़ाई-झगड़े तथा अंग्रेजों के साथ युद्ध होते रहते थे और अंग्रेज़ सरकार के साथ मरहटा राज्यों की संधि होने तक यहाँ पिंडारियों का दौरदौरा रहता था, जिस से लोगों के

---

[1]भोजदेव के राजत्व-काल के इतिहास के लिये देखो—

'धार स्टेट गैज़ेटियर' (लुअर्ड-संकलित); पृ० १४०-१५४।

[2]मांडू के सुलतानों के इतिहास के संबंध में देखो ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जिल्द ४, पृ० १६७-२७९। हेग; कैंब्रिज हिस्ट्री अव् इंडिया; जि० ३, पृ० ३४९-७१। गैज़ेटियर अव् दि बॉम्बे प्रेसिडेंसी (सन् १८९६ का संस्करण); जि० १, भाग १, पृ० ३५२-७१।

जान-माल की हानि तथा मकानों आदि का जलाया जाना एक साधारण-सी बात हो गई थी। गत २०० वर्षों के भारतीय इतिहास के पाठक पिंडारियों की रोमांचकारी लीलाओं से अपरिचित नहीं हैं, अतः उन्हें यहाँ दुहराना अनावश्यक है। इसलिये, भूत काल की ऐसी परिस्थिति को लक्ष्य में रखते हुए यह मत असंगत प्रतीत नहीं होता कि इस प्रदेश में प्राचीन ताम्रलेखों को सुरक्षित रखना असंभव नहीं तो एक अत्यंत कठिन समस्या अवश्य थी।

इस तरह, संभव है, मालवे के प्राचीन शासकों के अनेक दानपत्र लुप्त हो गए हों। इस के सिवा यह भी विचारणीय है कि यद्यपि भारतवर्ष में पुरातत्त्व-संबंधी खोज का आरंभ हुए पर्याप्त समय हो गया है, तो भी मालवे में पुरातत्त्वान्वेषण जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य अब तक अधूरा ही पड़ा है; अथवा यों कहना अधिक उपयुक्त होगा कि मध्य भारत का अधिकांश अब तक इस उपयोगी कार्य से सर्वथा वंचित है। पिछले कुछ वर्षों में कहीं कहीं इस महत्त्वपूर्ण कार्य का श्रीगणेश हुआ है। यदि वर्तमान मध्य भारत के प्रायः सभी राज्यों में पुरातत्त्व-संबंधी खोज आरंभ हो जाय, तो बहुत संभावना है कि भविष्य में इस पुरातन प्रदेश से अनेक महत्त्वपूर्ण रत्न प्राप्त हों, जिन से यहाँ के प्राचीन इतिहास का, जो इस समय बहुत-कुछ अंधकार में है, पर्याप्त संशोधन हो सके। इस से हम इस अनुमान पर पहुँचते है कि कुछ अंशों में मालवे में पुरातत्त्वानुसंधान की कमी भी भोज-जैसे लोकप्रसिद्ध राजा के इतने कम दानपत्रों की प्राप्ति का एक कारण है।

यह पहले बतलाया गया है कि अब तक राजा भोज के बहुत थोड़े ताम्रपत्र प्रकाश में आए हैं। बहुत अर्सा हुआ, भोजदेव के राजत्वकाल का वि० सं० १०७८ चैत्र सुदि १४ का पहला ताम्रलेख[१] उज्जैन से प्राप्त हुआ था। इस के पश्चात् वि० सं० १०७६ माघ सुदि ५ का दूसरा दानपत्र[२] बाँसवाड़े

---

[१] इंडियन ऐंटिक्वेरी; जि० ६, पृ० ५३।

[२] वही; जि० ४१, पृ० २०१।

एपिग्राफ़िया इंडिका; जि० ११, नंबर १८, पृ० १८१।

(बाँसवाड़ा राज्य, राजपूताना) से मिला था। लगभग ७ वर्ष पूर्व इंदौर राज्य के देपालपुर परगने में बेटमा गाँव के पास खेत मे हल चलाते हुए एक किसान को राजा भोज का वि० सं० १०७६ भाद्रपद सुदि १५ का दानपत्र[1] मिला था। यह भोजदेव का तीसरा ताम्रलेख[2] है और इस समय इंदौर म्यूज़ियम में सुरक्षित है।

२३ मार्च सन् १९३१ ई० को मैं दौरे पर देपालपुर पहुँचा। यह क़स्बा इंदौर नगर से २४ मील दूर उत्तर-पश्चिम में २२°५१′ उत्तर अक्षांश एवं ७५°३७′ पूर्व देशांतर पर स्थित है। यहाँ प्राचीन काल का एक सुविशाल सरोवर है, जिसे परमारवंशी राज देवपाल (ई० स० १२१६-४०) ने खुदवाया था। देपालपुर परमारों के राजत्वकाल का एक पुराना क़स्बा है, इसलिये मेरा अनुमान था कि वहाँ संभवतः उन के समय का कोई दानपत्र, शिलालेख आदि मिल जाय। इसी हेतु से मैं ने वहाँ पहुँच कर कुछ व्यक्तियों से इस बारे में पूछ-

---

[1]एपि० इंडि०; जि० १८, पृ० ३२०-२५।

[2]वि० सं० ११०३ के तिलकवाड़े के ताम्रपत्र भी भोजदेव के राज्य-काल के जान पड़ते हैं। इन में भोज की प्रशंसा पाई जाती है, तो भी यह उल्लेखनीय है कि इन का दाता स्वयं भोजदेव नहीं, किंतु सुरादित्य का पुत्र श्रीजसोराज है, जो संभवतः भोज का सामंत होना चाहिए। इन के संबंध में देखो 'प्रोसीडिंग्ज़ ऐंड ट्रांज़ेक्शंस अव् दि फ़र्स्ट ओरिएंटल कॉन्फ़रंस, पूना'; जि० २, पृ० ३१९-२६। कुछ वर्ष पूर्व कल्याण (नासिक ज़िला) से भोजदेव प्रथम के सामंत यशोवर्मन् का दानपत्र मिला था, जिस में भोज को कर्णाट, लाट, गुजरात, चेदि और कोंकण के राजाओं का विजेता बतलाया है। इस में संवत् नहीं दिया गया, किंतु सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता श्रीराखालदास बैनर्जी (स्वर्गीय) ने इस का समय ई० स० १०५६ से पहले माना है (ई० स० १९२१-२२ की ऐन्युअल रिपोर्ट अव् दि आर्कियॉलॉजिकल सर्वे अव् इंडिया; पृ० ११८-१९)। इन ताम्रपत्रों के अतिरिक्त वि० सं० १०९१ (ई० स० १०३४) का, भोज के राजत्व-काल का, एक लेख सरस्वती की एक प्रतिमा पर, जो इस समय लंदन के ब्रिटिश म्यूज़ियम में है खुदा हुआ है

ताछ की, तो पता चला कि किशोरसिंह कानूनगो के पास एक ताम्रपत्र है, जिस की लिखावट किसी से नहीं पढ़ी जाती; उस में क्या लिखा है, यह गाँव में कोई नहीं जानता और कुछ अफ़सरों ने पहले भी उसे देखा था, किंतु उस का सार उन्हें भी ज्ञात न हो सका। इस पर मैं ने सहज ही जान लिया कि वह अवश्यमेव कोई प्राचीन दानपत्र होना चाहिए, क्योंकि उस समय के अक्षरों में आज कल की लिपि से भिन्नता होने के कारण लिपि-शास्त्र से अपरिचित साधारण पाठकों के लिये उन को पढ़ना अत्यंत कठिन, और प्रायः असंभव, होता है। कुछ समय के पश्चात् वह ताम्रपत्र मेरे पास लाया गया, तो देखते ही जान पड़ा कि वह मालवमुकुट राजा भोज का ही दानपत्र था। अब तक भोजदेव के तीन ताम्रपत्र प्रकाश में आए थे, इसलिए उस दिन अनायास ही चौथे की प्राप्ति से मुझे अत्यंत हर्ष हुआ। साथ ही साथ यह जान कर प्रसन्नता हुई कि देपालपुर के संबंध में मेरा वह अनुमान बहुत ठीक निकला। निम्नलिखित पंक्तियों में हम 'हिंदुस्तानी' के पाठकों को इस नये दानपत्र का कुछ परिचय कराते हैं।

यह दानपत्र दो ताम्रपत्रों पर खुदा हुआ है। पहले के नीचे और दूसरे के ऊपर के भाग में दो-दो छेद कर ताँबे की दो मोटी कड़ियों से ये जोड़े गए हैं, जैसा प्राचीन ताम्रलेखों में प्रायः देख पड़ता है। इन ताम्रपत्रों की लंबाई १३" और चौड़ाई ९" है। दोनों का वज़न ३ सेर १० छटाँक है। प्रत्येक कड़ी का व्यास २$\frac{१}{४}$" और मुटाई $\frac{३}{८}$" है। अक्षरों की लंबाई $\frac{१}{१६}$" से $\frac{१}{२}$" तक देख पड़ती है। पहले ताम्रपत्र के अक्षर दूसरे की अपेक्षा कुछ कम खुदे तथा घिसे हुए हैं, तथापि उन का अधिकांश अब तक अच्छी हालत में है और अस्पष्ट अक्षर भी परिश्रमपूर्वक पढ़े जा सकते हैं। दूसरे ताम्रपत्र के सब अक्षर बिलकुल स्पष्ट हैं। इन में खुदे हुए भाग के बाईं ओर क़रीब १ इंच हाशिया छोड़ा गया है। दूसरे ताम्रपत्र के अंतिम भाग में बाईं ओर के कोने में ३" लंबे और ३" चौड़े स्थान में उड़ते हुए गरुड़ की आकृति खुदी हुई है, जो परमारों के दानपत्रों में प्रायः देख पड़ती है। दोनों ताम्रपत्रों की अंतिम पंक्ति में 'स्वहस्तोयं श्रीभोजदेवस्य' खुदा हुआ है, जो राजा भोज के हस्ताक्षर को सूचित करता है। इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि अब तक भोजदेव के जितने ताम्रलेख

प्रकाश मे आए हैं, उन में से किसी मे भी रचयिता अथवा लेखक का नामोल्लेख नही मिलता। इस के सिवा राजधानी धारा नगरी से जिस दूत के द्वारा भिन्न भिन्न स्थानों में ये शासन-पत्र भेजे गए, उस का भी नामोल्लेख नहीं है, जैसा कई एक अन्य ताम्रपत्रों में लिखा मिलता है।

इस दानपत्र की रचना संस्कृत गद्य और पद्य दोनों में हुई है। भाषा संस्कृत होने पर भी हमे कहीं कहीं प्रांतीय अपभ्रंश उच्चारण का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, जैसे 'यश' के स्थान में 'जस'[1] और 'शासन' के लिये 'शाशन'[2] का प्रयोग। इस संबंध मे '०जसोभिवृद्धये' (पंक्ति १७), '०जसस्कराणि' (पं० २२) एवं 'शाशनेनोदक०' (पं० १८) उल्लेखनीय हैं।

इस दानपत्र की लिपि मालवे में प्रचलित ११वी शताब्दी की देवनागरी है। इस प्रकार की लिपि का परिचय हमें तत्कालीन अनेक ताम्रलेखो से मिल सकता है। भोजदेव के दानपत्रों के विषय में यह विशेषतः उल्लेखनीय है कि परमारों के अन्य शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों की उत्कृष्ट लिपि से तुलना करने पर इन की लिखावट कहीं फीकी जान पड़ती है। बेटमा से मिले हुए वि० सं० १०७६ के दानपत्र की अपेक्षा प्रस्तुत ताम्रलेख की लिपि कुछ खराब और असावधानी से लिखी हुई है, यद्यपि दोनों दानपत्रों के समय में केवल तीन वर्ष का अंतर है। भिन्न भिन्न लेखकों के अक्षरों की भिन्नता ही इस का कारण होना चाहिए।

---

[1]आजकल भी 'यश' के स्थान में प्रायः 'जस' का प्रयोग होता है, जैसे जसवंतसिंह, जसवंतराव आदि नामों तथा जस, अपजस आदि शब्दों मे।

[2]राजस्थान में इस का उच्चारण 'शासन', 'शाशण' अथवा 'सासण' होता है। मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह प्रथम (वि० सं० १६८५-१७०९) की दानशीलता के संबंध में अब तक बहुत सी बातें प्रसिद्ध हैं, जिन में से नीचे उद्धृत किये हुए दोहे में 'सासण' शब्द प्रयुक्त हुआ है—

सिंधुर दीधा सातसै, हयवर पाँच हजार।
एकावन सासण दिया, जगपत जगदातार॥

प्राचीन पद्य

शुद्ध लेखन की दृष्टि से इस दानपत्र में निम्नांकित विषय विचारणीय हैं—

'ब' के स्थान में सर्वत्र 'व' लिखा गया है, जैसे 'वुध्वा' (पं० २०, २८), 'सलिलवुद्बुद०' (पं० २४), '०दलांवुविंदु०' (पं० २७) आदि। कही कहीं 'स' के स्थान मे 'श' और 'श' के लिये 'स' का अशुद्ध प्रयोग हुआ है; उदाहरणार्थ 'शाशनेनो०' (पं० १८) , 'सिरसा' (पं० १), '०मनिसं' (पं० २), 'परयसः' (पं० २४) आदि उल्लेखनीय हैं। इसी तरह कहीं 'य' के स्थान में 'ज' लिखा गया है, जैसे 'पुण्यजसो०' (पं० १७) एवं '०जसस्कराणि' (पं० २२)। संयुक्त व्यंजन मे 'र्' पूर्व वर्ण रहते हुए उत्तर वर्ण प्रायः द्वित्त देख पड़ता है, जैसे 'सर्ग्गाय' (पं० १), 'धर्म्म०' (पं० १०, २०, २२ और २६), 'आत्रेयार्च्चना०' (पं० १४), 'समभ्यर्च्च्य' (पं० ९), 'चंद्रार्क्कार्ण्णव०' (पं० १७), 'निर्म्माल्यवान्ति०' (पं० २२) आदि। किसी स्थान में अनुस्वार एवं विसर्ग का अनावश्यक प्रयोग हुआ है; इस संबंध में 'दृष्ट्वां' (पं० ९) एवं 'भूमेःश्च' (पं० १२-१३) विचारणीय है। अनुस्वार का प्रयोग लेखक को अधिक पसंद है। श्लोक अथवा वाक्य के अंत मे भी 'म्' के स्थान में अनुस्वार लिखा गया है, जो कुछ अखरता है; इस के लिये 'जगद्बीजांकुराकृतिं' (पं० १), 'समुपनेतव्यं' (पं० १९) एवं 'फलं' (पं० २१) उल्लेखनीय हैं।

निम्नलिखित पंक्तियों में लिपि-विज्ञान की दृष्टि से प्रस्तुत दानपत्र-संबंधी कुछ विवेचन किया जाता है—

'ऊ' की मात्रा अक्षर के नीचे खड़ी रेखा के साथ वर्तमान 'त' का गोलाई वाला भाग जोड़ कर बनाई गई है। बेटमा के दानपत्र में भी ठीक ऐसी ही मात्रा देख पड़ती है। इस के लिये देखो '०सामान्यभूमेः' (पं० १२) और '०गोचरयूति०' (पं० १३)। प्राचीन लेखन-शैली के अनुसार 'ए' की मात्रा प्रायः अक्षर के बाईं ओर एक खड़ी रेखा (पृष्ठमात्रा) से बतलाई गई है; इस संबंध मे देखो '०परमेश्वर०' (पं० ३, ४ और ५), 'काले काले' (पं० २६), 'धर्म्मसेतु०' (पं० २६) आदि। 'क्त' अक्षर में 'क' की बाईं ओर की आड़ी रेखा में वर्तमान 'न' की तरह गाँठ लगाई गई है; उदाहरणार्थ 'भुक्तिवर्ज्जमा०' (पं० १९) एवं 'मुक्ता' (पं० २१) विचारणीय हैं।

यद्यपि इस ताम्रलेख में 'क' का वर्तमान नागरी से बहुत मिलता-जुलता रूप देख पड़ता है, तथापि 'क्र' में 'क' की खड़ी रेखा में बाईं ओर से एक आड़ी रेखा मिलती है; इस में कुछ अंतर पर वर्तमान 'त' के गोलाई वाले भाग जैसी दूसरी लकीर बाईं तरफ़ से खड़ी रेखा में मिलती है, जिस से इस अक्षर का 'त्त' ऐसा रूप बन गया है। वास्तव में इस प्रकार लिखे हुए 'क्र' में 'क' की आकृति अधूरी ही रह जाती है, क्योंकि इस में 'क' का बाईं तथा दाहिनी ओर का कुछ अंश छूट जाता है। इस प्रकार के 'क्र' के लिये देखो 'जगदीजांकुराकृति' (पं० १) तथा '०फलमंगीकृत्य' (पं० १७)।

द्वित्त 'ग' में दूसरा 'ग' पहले के नीचे खड़ी रेखा में बाईं ओर से वर्तमान 'न' की आड़ी रेखा जैसी लकीर जोड़ कर बनाया गया है। कहीं दूसरे 'ग' की इस आड़ी लकीर में 'न' के समान गाँठ बन गई है और कहीं गाँठ नहीं देख पड़ती। प्राचीन लिपियों से अपरिचित व्यक्ति के लिये तो द्वित्त 'ग' का यह रूप 'ग्र' या 'ग्न' का ही सूचक है। कई एक इस को भ्रम से 'ग्र' पढ़ कर, इसे अशुद्ध समझते हुए, शिलालेख आदि का पाठ तैयार करने में केवल 'ग' पढ़ लेते हैं; किंतु इस संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि 'ग्र' में बाईं ओर की तिरछी या आड़ी रेखा तथा उस के नीचे की खड़ी लकीर का भाग मिल कर दूसरा 'ग' बनता है, जो अत्यंत प्राचीन लेखों की ब्राह्मी लिपि के 'ग' से बहुत मिलता-जुलता रूप है।[1] द्वित्त 'ग' के लिये देखो 'सग्गीय' (पं० १)।

'ण' प्रायः अस्पष्ट लिखा गया है। इस में बाईं तरफ़ की पहली खड़ी रेखा बहुत छोटी बनाई गई है और उस के पास की दूसरी खड़ी रेखा के स्थान में ज़रा-सा त्रिकोणाकृति चिह्न बना हुआ है, जिस से इस अक्षर की आकृति अस्पष्ट हो गई है।

व, ब और ध में कोई अंतर नहीं देख पड़ता, 'वुध्वा' (पं० २०, २८)

---

[1] इस के विशेष विवरण के लिये देखो 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (नवीन संस्करण); भाग १२, पृ० ९-१०, जहाँ इंदौर म्यूज़ियम के एक शिलालेख का संपादन करते हुए हम ने इस संबंध में विवेचन किया है

से इस का यथेष्ट परिचय मिल सकता है। संयुक्त व्यंजन में 'ट' परवर्ण है, वहाँ उसे पूर्ववर्ण की खड़ी रेखा के साथ वर्तमान 'त' की गोलाई वाली आड़ी रेखा जोड़ कर बनाया गया है; देखो '०भट्टारक०' (पं० ३, ४ और ५) एवं '०चतुष्टय०' (पं० १३)। संयुक्त वर्ण 'भ्र' में परवर्ण 'र' को 'भ' के नीचे पूरे अक्षर के रूप में लिखा गया है, न कि खड़ी लकीर में से बाईं ओर को एक तिरछी रेखा खींच कर, जैसा आज-कल लिखा जाता है। उदाहरण के लिए 'वाताभ्रविभ्रम०' (पं० ९) उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत दानपत्र की रचना में भोज के अन्य ताम्र-शासनों से विशेष भिन्नता नहीं देख पड़ती। इस के प्रारंभ में, भगवान् शंकर की स्तुति के दो श्लोक अन्य तीन दानपत्रों से हूबहू मिलते हैं। तदनंतर भोज के अन्य दानपत्रों की भाँति इस में भी सीयक से भोज तक के मालवे के परमार-वंशी राजाओं का राज्य-क्रम बतलाया गया है, जिस में अनुक्रम से सीयक, वाक्पतिराज (मुंज), सिंधुराज और भोज का नामोल्लेख हुआ है। इस से जान पड़ता है कि प्रत्येक दूसरा राजा अपने से पहले नाम वाले नृपति का उत्तराधिकारी था। राज्य-क्रम के पश्चात् जिस गाँव में भूमि-दान किया गया, वहाँ के निवासियों तथा पटेल आदि राजकर्मचारियों को सूचित किया गया है कि अमुक नदी में स्नान कर राजा भोज ने जल का संकल्प छोड़ अमुक ब्राह्मण को इतनी भूमि प्रदान की है; इसलिये (धारा नगरी से भेजे हुए) इस शासन-पत्र द्वारा उक्त भूमि दान से परिचित हो कर उस भूमि की सब उपज उस ब्राह्मण को दी जाया करे। तदनंतर यह आशा प्रकट की गई है कि उस (परमार) वंश के भावी राजा—भोजदेव के वंशज—तथा अन्य (वंश के) शासक भी, धर्मार्थ किए हुए इस दान को निर्माल्य-सदृश अग्राह्य मान कर, लक्ष्मी को चंचल (अस्थिर) जानते हुए, दूसरों की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने के हेतु इस धर्मसेतुरूपी दान का समय समय पर यथावत् पालन करते रहेंगे। अंत में संवत्, मास, पक्ष एवं तिथि के निर्देश के साथ दानपत्र समाप्त हुआ है।

उज्जैन, बाँसवाड़ा और बेटमा से प्राप्त भोजदेव के दानपत्रों में भूमि

दान के अवसर का निर्देश किया गया है[1], इस तरह इस दानपत्र में नहीं देख पड़ता। इस में संवत्, मास, पक्ष एवं तिथि का उल्लेख हुआ है, परंतु इस से यह पता नहीं चलता कि किसी पर्व, जन्म-दिवस आदि विशेष अवसर पर भोज ने यह भूमि-दान किया हो। इस में तो इतना ही ज्ञान पड़ता है कि 'पार-गामी (अर्थात् विद्वान) ब्राह्मणों के भरण-पोषण (अथवा भोजन) के निमित्त होने वाले प्राणिवध की प्रायश्चित्त-दक्षिणा(-रूपी नदी)' में स्नान कर, भवानी पति शंकर की भली भाँति पूजा कर के संसार की असारता को जान, और परलोक का मार्ग सुधारने में धर्म के महत्त्व एवं दान-पुण्य की महिमा से परि-चित हो कर, जगत् के नश्वर रूप का विचार करते हुए अमुक गोत्री अमुक ब्राह्मण को सूर्य, चंद्र, समुद्र, पृथ्वी आदि विद्यमान रहे तब तक के लिये, जल के संकल्प के साथ, आज्ञा(दान)-पत्र के द्वारा किरिकैका गाँव में कुछ भूमि प्रदान की गई।

इस संबंध में 'पारद्धि(र्धि)प्रभृतिकृतप्राणिवधप्रायश्चित्तदक्षिणायां' (प० ८) यह पद विचारणीय है। इस के अनंतर 'स्नात्वा' पद रहने से हमारा निर्भ्रांत मत है कि यह किसी नदी का सूचक है, जिस में स्नान करने के अनं-तर राजा भोज ने दान का संकल्प छोड़ा हो। वह कौन सी नदी थी, यह उप-र्युक्त संस्कृत पद का शब्दार्थ करने से भली भाँति जाना जा सकता है। हमारे मतानुसार यह चंबल नदी (संस्कृत चर्मण्वती) होनी चाहिए, क्योंकि इस पंक्ति का हमारा किया हुआ उपर्युक्त अर्थ चंबल की उत्पत्ति की कथा से बहुत मिलता-जुलता है। प्राचीन काल मे चंद्र वंश मे रंतिदेव नामक प्रतापी, अत्यंत धर्मात्मा एवं दानी राजा हुआ, जिस का वर्णन महाभारत तथा पुराणों मे मिलता है। महाभारत से जान पड़ता है कि उस के यहाँ दो लाख रसोइये थे

---

[1] 'रथावुदगयनपर्व्वणि'—उज्जैन का दानपत्र, पंक्ति ९।

'कोंकणविजयपर्व्वणि'—बाँसवाड़े का दानपत्र, पं० १०।

'कोंकणग्रहणविजयपर्व्वणि'—बेटमा (अब इंदौर म्यूज़ियम) का दानपत्र, प० १५।

और अगणित अतिथियों, ब्राह्मणों आदि को भोजन कराने के लिए प्रति दिन असंख्य पशुओं का वध होता था। उन असंख्य वध-प्राप्त प्राणियों के चमड़ो से बह कर जो रुधिर-धारा निकली, वह चर्मण्वती कहलाई[1] और उस का अपभ्रंश रूप 'चंबल' हुआ। जान पड़ता है कि जिस पंडित ने इस दानपत्र की रचना की, उस ने चंबल का स्पष्ट नामोल्लेख न करते हुए घूम-फिर कर इस नदी की उत्पत्ति की ओर संकेत-मात्र किया है। महाकवि कालिदास ने भी विरही यक्ष द्वारा मेघरूपी दूत को चंबल पर जाने को कहलाया है। उस ने भी इस नदी का नामोल्लेख न करते हुए इस के संबंध में कुछ अधिक स्पष्टता-पूर्वक इतना ही लिखा है कि 'गौओं (शब्दार्थ—सुरभि की पुत्रियों) के वध से उत्पन्न हुई रंतिदेव की जो कीर्ति स्रोत रूप मे भूमंडल में परिणत हुई है, उस का संमान करता हुआ तू (कुछ समय) वहाँ ठहरना[2]।' इसी प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि किरिकैका नामक जिस गाँव में भूमि-दान किया गया, वह इंदौर राज्य के देपालपुर परगने का चंबल-तटस्थ करकी गाँव है; अतः यह निश्चित जान पड़ता है कि दानपत्र मे द्राविड़ी प्राणायाम की पद्धति से राजा

---

[1]सांकृतिं रंतिदेवं च मृतं संजय शुश्रुम।
यस्य द्विशतसाहस्रा आसन्सूदा महात्मनः ॥ १ ॥
गृहानभ्यागतान्विप्रानतिथीन्परिवेषकाः ।
पक्वापक्वं दिवारात्रं वरान्नममृतोपमम् ॥ २ ॥
उपस्थिताश्च पशवः स्वयं यं शंसितव्रतम्।
बहवः स्वर्गमिच्छंतो विधिवत्सत्रयाजिनम् ॥ ४ ॥
नदी महानसाद्यस्य प्रवृत्ता चर्मराशितः।
तस्माच्चर्मण्वती पूर्वमग्निहोत्रेऽभवत्पुरा ॥ ५ ॥

द्रोणपर्व, ६७वाँ अध्याय।

[2]व्यालंबेथाः सुरभितनयालंभजां मानयिष्यन्।
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रंतिदेवस्य कीर्तिम् ॥

मेघदूत; पूर्वमेघ, श्लोक ४७।

भोज के [illegible] किया गया है वह चंबल नदी ही [illegible]ना चाहिए.

दानभोगी व्यक्ति आत्रेय, आर्चनानस एवं श्यावाश्व, इन तीन प्रवरों से युक्त आत्रेय गोत्र तथा बह्वृच शाखा के भट्ट सोश्वर का पुत्र वेदाध्ययन-संपन्न वच्छल नामक ब्राह्मण है, जो मान्यखेट से आ कर किरिकैका में बसा था।

उपर्युक्त ब्राह्मण को किरिकैका के साथ की भूमि में से चौतीस अंश[1] (अर्थात् भाग) समतल भूमि दी गई, जो चार हलों से जोती जाती थी। उस भूमि की सीमा में, जिस के साथ घास तथा पशुओं के लिये गोचर-भूमि भी शामिल थी, दानभोगी का अधिकार रहने का निर्देश है। उस भूमि की नकदी आमदनी, उपज का भाग, उस पर लगने वाले अन्य कर एवं अन्य किसी प्रकार से जो आय हो, उस के साथ यह भूमिदान किया गया (पं० १२-१४)। धारा नगरी से राजा भोज ने इस ताम्रशासन द्वारा किरिकैका में उपस्थित सब राजकर्मचारियों, गाँव के पटेल तथा नागरिकों को, जिन में ब्राह्मणों का मुख्य स्थान था, अपने भूमिदान की आज्ञा घोषित की है। साथ ही साथ उस गाँव के उपर्युक्त सब लोगों को सूचित किया गया है कि शासन-पत्र द्वारा उक्त भूमि-दान-संबंधी आज्ञा सुनने के पश्चात् उस का पालन करते हुए, देवता और ब्राह्मणों के निमित्त रखे हुए भाग के अतिरिक्त, भूमि की उपज, नकदी आमदनी आदि सब आय दानभोगी व्यक्ति को दी जाया करे।

जिन जिन स्थानों का इस दानपत्र में उल्लेख हुआ है उन पर भी यत्किंचित् विचार करना आवश्यक है। धारा राजा भोज की सुप्रसिद्ध राजधानी धारा नगरी है, जो आज-कल २२°३६′ उत्तर अक्षांश और ७५°१९′ पूर्व

---

[1]प्राचीन दानपत्रों में 'अंश' और 'वंटक' शब्द पाए जाते हैं, जो पर्यायवाची हैं ('अंशभागौ तु वंटके'—अमरकोष; द्वितीय कांड, श्लोक ८९)। 'वंटक' का ठीक अर्थ है बँटवारा, बाँट या हिस्सा। उक्त ग्राम के साथ की भूमि की उपज में से ३४ भाग दानभोगी को मिल सकें, इतनी भूमि दी गई। 'वंटक' के लिये देखो एपिग्राफ़िया इंडिका जि० ९, पृ० १०६

देशांतर पर का धार नगर है। यह मध्य भारत के धार राज्य की राजधानी है। किग्किका की स्थिति उज्जैन (प्रांत) के पश्चिमी जिले के अंतर्गत बतलाई गई है और भोजदेव ने चंबल नदी में स्नान कर वहाँ भूमिदान किया, जिस से जान पड़ता है कि यह गाँव चंबल के तट पर बसा था। निस्संदेह यह इंदौर राज्य के इंदौर जिले में देपालपुर परगने का चंबल पर बसा हुआ करकी गाँव है, जो देपालपुर क़स्बे से, जहाँ यह दानपत्र मिला, ५-६ मील पश्चिम में है। करकी उज्जैन से क़रीब ४० मील दक्षिण-पश्चिम मे है, अतएव यह अवश्यमेव उज्जैन के पश्चिमी जिले मे होना चाहिए। उज्जयिनी से ग्वालियर राज्य का शिप्रा-तटस्थ उज्जैन नगर अभिप्रेत है। यह प्राचीन काल में भारतवर्ष का एक सुप्रसिद्ध नगर था और इस की गणना भारत की सप्तपुरियों में होती थी। इस का दूसरा नाम अवंती अथवा अवंतिका है।

छठी पंक्ति का 'पथक' शब्द विचारणीय है। प्राचीन दानपत्रों में इस का प्रयोग प्रायः देख पड़ता है और जिन पुरातत्त्व-प्रेमियों को शिला एवं ताम्रलेखो का संशोधन करना पड़ता है, उन के लिये यह एक बहु-परिचित शब्द है। इस का प्रयोग प्रायः जिले (District) के अर्थ में होता है। जिस प्रकार 'पथक' जिले को उसी तरह 'प्रतिजागरणक' परगने को सूचित करता है; किंतु संस्कृत काव्यों आदि मे भूविभाग-सूचक इन शब्दों का अत्यंत विरल प्रयोग होता है, जिस से संस्कृत-साहित्य के सामान्य पाठकों को ये शब्द अपरिचित-से जान पड़ते हैं। 'उज्जय(यि)नीपश्चिमपथक०' का 'उज्जैन (प्रांत अथवा विषय) का पश्चिमी जिला' यह अर्थ युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यद्यपि विषय या प्रांत-सूचक कोई शब्द दानपत्र मे नहीं लिखा गया, तो भी 'उज्जयनी' के पश्चात् 'विषये' अथवा 'वैषयिक' शब्द का अध्याहार करना चाहिए। हर्षवर्धन के बंसखेड़ा के दानपत्र के 'अहिच्छत्त्राभुक्तावंगदीयवैषयिकपश्चिमपथकस[म्बद्ध]मर्कटसागरे'[1] इस वाक्य-खंड मे मर्कटसागर गाँव को अहिच्छत्त्रा भुक्ति के अंगदीय विषय के पश्चिम पथक के अंतर्गत बतलाया गया है। इसी प्रकार प्रस्तुत दानपत्र

---

[1]एपिग्राफ़िया इंडिका; जि० ४, पृ० २११, शिलालेख की पंक्ति ७-८।

से भी उज्जयिनी के पश्चात् विषय-सूचक शब्द का अध्याहार करने से युक्ति संगत अर्थ होता है। उज्जयिनी का बड़ा प्रांत होगा, जिस के अंतर्गत कई पृथक् ज़िले होंगे। उन में से पश्चिमी ज़िले में किरिकैका गाँव था। मान्यखेट हैदराबाद (दक्षिण) राज्य का मालखेड़ है, जिसे नवीं शताब्दी में दक्षिण के राष्ट्रकूट-वंशी राजा अमोघवर्ष ने अपनी राजधानी बनाया था।

यह दानपत्र (विक्रम) संवत् १०७९ चैत्र सुदि १४ का है। संवत् के अंकों में तीसरे, अर्थात् ७, को छोड़ कर शेष आसानी से पढ़े जाते हैं। ७ का अंक स्पष्ट तो है, किंतु इस की आकृति से पाठकों को सहज ही ३ का भ्रम हो सकता है। राजा भोज के 'कूर्मशतक' में ७ वर्तमान ३ से, जिस के नीचे गाँठ न हो, बहुत मिलता-जुलता[1] है; अतः लिपि-विज्ञान की दृष्टि से यह ३ नहीं, किंतु ७ ही पढ़ा जाना चाहिए; अन्यथा इस दानपत्र का संवत् १०३९ हो जायगा, जो सर्वथा असंभव है, क्योंकि इस समय से करीब २८ वर्ष पश्चात् भोजदेव राज्यारूढ़ हुआ था। राजा भोज के अन्य ताम्रलेखों की भाँति इस में भी तिथि के साथ वार का निर्देश नहीं हुआ है।

निम्नलिखित पंक्तियों में दानपत्र की पंक्ति-क्रम से प्रतिलिपि और उस का अनुवाद दिया जाता है—

दानपत्र की प्रतिलिपि[2]

पहला ताम्रपत्र

१—ओं[3] [।।] जयति व्योमकेशोसौ यः सर्गाय बिभर्त्ति[4] तां।
ऐंदवीं सिरसा[5] लेखां जगद्बीजांकुराकृतिं[6] ।। [१।।]

---

[1] महामहोपाध्याय रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा-रचित 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' (द्वितीय संस्करण); लिपिपत्र ७६वाँ।

[2] यह मूल ताम्रपत्रों से तैयार की गई है।

[3] यह विशेष चिह्न द्वारा व्यक्त किया गया है।

[4] 'बिभर्त्ति' पढ़ना चाहिए।

[5] 'शिरसा' होना चाहिए।

[6] 'जगद्बीजांकुराकृतिम्' पढ़ना चाहिए। श्लोक १-२ में अनुष्टुम् वृत्त है।

२ व स्मराराते [1] जटा

कल्पांतसमयोद्दामतडिद्वलयपिंगलाः ॥ [२॥]

३—परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीसीयकदेवपादानुध्यात-

परमभट्टारक—

४—महाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीवाक्[2]पतिराजदेवपादानुध्यातपरमभट्टारक-

महाराजाधिराज—

५—परमेश्वरश्रीसिंधुराजदेवपादानुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराज-

परमेश्वरश्रीभोजदे—

६—वः कुशली ॥ श्रीमदुज्ज[3]यनीपश्चिमपथकान्तःपातिकिरिकैकायां

समुपगतान्समस्तराजपु—

७—रुषान्ब्रा[4]ह्मणोत्तरान्प्रतिनिवासिपट्ट[5]किलजनपदादींश्च समादिशत्यस्तु वः

संविदितं ॥ यथा

८—श्रीमद्धारावस्थितैरस्माभिः[6] पारद्धिप्रभृतिकृतप्राणिवधप्रायश्चित्तदक्षिणायां

स्नात्वा चराचरगु—

---

[1] '०मनिशं' होना चाहिए।

[2] 'क' का बाईं ओर का भाग मूल अक्षर से अलग बतलाया गया है। इसी तरह लिखे हुए रूप के लिये देखो बेटमा के दानपत्र की पंक्ति ४।

[3] '०दुज्जयिनी' पढ़ना चाहिए।

[4] 'ब्राह्मणोत्तरा०' होना चाहिए।

[5] 'पट्टकिल' का अपभ्रंश रूप 'पटेल' हुआ है। प्राकृत व्याकरण के सूत्र 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (वररुचिकृत 'प्राकृतप्रकाश', द्वितीय परिच्छेद, सूत्र २) के अनुसार 'पट्ट किल' के स्थान में 'पट्ट इल' और तत्पश्चात् पाणिनि के 'आद्गुणः' (६।१।८७) से 'पट्टेल' और क्रमशः 'पटेल' बन गया।

[6] 'पारणविप्र०' होना चाहिए, क्योंकि इस का युक्तियुक्त अर्थ होता है।

९—रु भगवन्त भवानीपतिं समभ्यच्‍र्य स ... न्ष्ट्वा[1] वाताभ्र-
विभ्रममिद् वसुधाविपत्य—

१०—मापातमात्रमधुरो विषयोपभोगः [।] प्राणास्तृणाग्रजलविंदुसमा[2]
नराणां धर्म्मस्सखा परमहो

११—परलोकयाने[3] ।[।३।।] भ्रमत्संसारचक्राग्रधाराधारामिमां श्रियं[4] ।
प्राप्य ये न ददुस्तेषां पश्चात्तापः

१२—परं फलमि(म।।४।।इ)ति जगतो विनश्वरं स्वरूपमाकलय्योपरि-
लिखितग्रामात् ग्रामसामान्यभूमेः[5] —

१३—श्चतुस्त्रंशत्यंशप्र[स्थ]कं[6][7] हलचतुष्टयसंवर्त्ता[8] स्वसीमातृणगोचर-
यूतिपर्यन्तं सहिरण्यभागभो—

१४—गं सोपरिकरं सर्व्वादायसमेतं च । श्रीमान्यखेटविनिर्गताय । आत्रेयस-
गोत्राय । आत्रेयार्च्चना—

१५—स्वहस्तोयं श्रीभोजदेवस्य [।]

दूसरा ताम्रपत्र

१६—नसस्यावाश्वेतित्रिःप्रवराय[9][10] । वह्वृचशाखाय[11] ।

---

[1] 'दृष्ट्वा' चाहिए ।

[2] ०बिंदु० पढ़ना चाहिए ।

[3] वसंततिलका वृत्त ।

[4] अनुष्टुभ् वृत्त ।

[5] यहाँ विसर्ग अनावश्यक है, क्योंकि इस के अनंतर इस की संधि हुई है ।

[6] '०श्चतुस्त्रिंशत्यंश०' होना चाहिए ।

[7] 'प्रस्थ' एक नाप का सूचक है; हमने इसे 'समतल भूमि' के अर्थ में लिया है ।

[8] '०संवृत्त' चाहिए ।

[9] '०श्यावाश्वे०' पढ़ना चाहिए ।

[10] 'त्रिप्रवराय' चाहिए ।

[11] 'बह्वृच०' पढ़ना चाहिए ।

भट्टसोरवरसुतब्राह्मणवच्छलाय[1] । श्रुताध्यय—

१७—नसंपन्नाय ॥ (।) मातापित्रोरात्मनश्च पुण्यजसोभिवृद्धये[2]

अदृष्टफलमंगीकृत्य चद्रार्कार्ण्णवक्षिति[3]—

१८—समकालं यावत्परया भक्त्या शाशनेनोदकपूर्व्वं[4] प्रतिपादितमिति मत्वा यथा दीयमानभागभोगक—

१९—रहिरण्यादिकं देवब्राह्मण[5]भुक्तिवर्ज्जमाज्ञाश्रवणविधेयैर्भूत्वा सर्व्वमस्मै समुपनेतव्यं ॥ (।) सा—

२०—मान्यं चैतत्पुण्यफलं वुध्वा[6] अस्मद्वंशजैरन्यैरपि भावि-भोक्तृभिरस्मत्प्रदत्तधर्म्मादायोयमनुमन्तव्यः

२१—पालनीयश्च ॥ (।) उक्तं च ॥ (।) वहुभिर्व्वसुधा[7] भुक्ता राज-भिस्सगरादिभिर्य्ये(भिः । य)स्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा

२२—फलं[8] ॥ [५॥] यानीह दत्तानि पुरा नरेंद्रैर्दानानि धर्म्मार्थ-जसस्कराणि[9] । निर्म्माल्यवान्तिप्रतिमानि तानि

२३—को नाम साधुः पुनराददीत[10] ॥ [६॥] इत्यस्मत्कुलक्रम-मुदारमुदाहरद्भिरन्यैश्च दानमिदमभ्यनुमो-

---

[1] '०ब्राह्मण०' पढ़ना चाहिए।

[2] 'पुण्ययशो०' होना चाहिए।

[3] 'चंद्रार्का०' चाहिए।

[4] 'शासनेनो०' पढ़ा जाय।

[5] '०ब्राह्मण०' होना चाहिए।

[6] 'बुद्ध्वा' पढ़ना चाहिए।

[7] 'बहुभिर्व्वसुधा' चाहिए।

[8] अनुष्टुभ् वृत्त।

[9] '०यशस्कराणि' चाहिए।

[10] इन्द्रवज्रा वृत्त।

२४—दनीयं। लक्ष्म्यास्तडित्सलिलबुद्बुदचंचलायाः[१] दानं फलं परयसः[२]-
२५—[३]परिपालनश्च[४] ॥ [७ ॥] सर्व्वानितान्भाविनः पार्थिवेंद्रान्भूयो भूयो याचते
२६—रामभद्रस्सा(द्रः । सा)मान्योयं धर्म्मसेतुर्नृपाणां काले काले पाल-नीयो भ-
२७—वद्भिः[५] ॥ [८ ॥] इति कमलदलाम्बुबिंदुलोलां[६] श्रियमनुचिन्त्य मनुष्यजीवि—
२८—तं च । स[क]लमिदमुदाहृतं च बुध्वा[७] न हि पुरुषैः परकीर्त्तयो विलोप्या[८] [: ॥९॥]
२९—इति ॥(।) सम्वत् १०७९ चैत्र शुदि १४ स्वयमाज्ञा ॥(।) मंगलं महा-
३०—श्रीः ॥(।) स्वहस्तोयं श्रीभोजदेवस्य [॥]

अनुवाद

(पंक्ति १) ॐ। सृष्टि के हेतु चंद्र की कला को, जो मानो जगत् के बीजांकुर की आकृति है, अपने मस्तक पर धारण करने वाले भगवान् शंकर विजयी हैं।

(पं० २) कामदेव के शत्रु (अर्थात शिवजी) की जटाएँ, जो कल्पांत-काल की भयंकर बिजली की भाँति पिंगल वर्ण की हैं, तुम्हारा सदैव कल्याण करती रहें।

(पं० ३-७) परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीसीयकदेव के

---

[१] '०बुद्बुद०' चाहिए।

[२] 'परयशः०' पढ़ना चाहिए।

[३] वसंततिलका वृत्त।

[४] 'परिपालनं च' होना चाहिए।

[५] शालिनी वृत्त।

[६] ०दलांबुबिंदु०, पढ़ना चाहिए।

[७] 'बुद्ध्वा' चाहिए।

[८] पुष्पिताग्रा वृत्त

चरणों का ध्यान करने वाले[1] परम भट्टारक[2] महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीवाक्पतिराजदेव (मुंज) हुए। उन के चरणों का ध्यान करने वाले परम-भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीसिंधुराजदेव थे, जिन के चरणों का ध्यान करने वाले परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीभोजदेव हैं, जो धनजन-संपन्न उज्जयिनी (प्रांत) के पश्चिमी ज़िले के अंतर्गत किरिकैका (गाँव) में एकत्र हुए सब राजकर्मचारियों, वहाँ के पटेल तथा निवासियों को जिन में ब्राह्मण मुख्य हैं, स्वस्थतापूर्वक आज्ञा प्रदान करते हैं। तुम सब को विदित हो कि

(पं० ८-१९) धारा-निवासी (अथवा धारा में रहे हुए) हम ने पारगामी (विद्वान्) ब्राह्मणों के भरण-पोषणार्थ होनेवाले प्राणिवध की प्रायश्चित्त-दक्षिणा (—रूपी नदी, अर्थात् चंबल) में स्नान कर स्थावर-जंगम (सब) प्राणियों के पूज्य भगवान् भवानीपति (अर्थात् शंकर) का यथावत् पूजन कर के संसार को निस्सार देख और यह जानते हुए—पृथ्वी का प्रभुत्व वायु से चलित बादलों की भाँति अस्थिर है, भोग-विलास केवल क्षण-भर सुखदायी होते हैं और (मनुष्यों के) प्राण घास के अग्र भाग पर ठहरे हुए जल-कण के समान (क्षण-भंगुर) हैं, इसलिए परलोक जाते समय धर्म ही मनुष्य का वास्तविक मित्र होता है; घूमते हुए संसार-चक्र की धार के अग्र भाग पर रहने वाली (अर्थात् चंचल) लक्ष्मी को प्राप्त कर जिन्हों ने (कुछ) दान नहीं दिया, उन को (अंत में) पश्चात्ताप-रूपी फल ही मिलता है, जगत् का विनश्वर स्वरूप समझ कर दान-पुण्य के अदृष्ट (भावी) फल को अंगीकार करते हुए, माता-पिता के तथा अपने पुण्य एवं यश की वृद्धि करने के लिये, मान्यखेट से आये हुए आत्रेय, आर्चनानस और श्यावाश्व, इन तीन प्रवरों से युक्त आत्रेय गोत्र तथा बह्वृच

---

[1]यह 'पादानुध्यात' का शब्दार्थ है। संस्कृत शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों में 'पादानुध्यात' शब्द से पूर्व का नाम उक्त शब्द से पिछले नाम के राजा के पिता या पूर्वाधिकारी के नाम अथवा बिरुद का सूचक होता है।

[2]यह राजा का सूचक है ('राजा भट्टारको देवः'—अमरकोष; प्रथम कांड, श्लो० १२)।

शाखा के भट्ट सोश्वर के वेदाध्ययन-संपन्न पुत्र वच्छल नामक ब्राह्मण को उल्लिखित गाँव (किरिकैका) के साथ की जमीन् में से चौतीस अंश समतल भूमि—उस की सीमा में घास तथा पशुओं की गोचर-भूमि संमिलित है, उस की नक़द आमदनी तथा उपज का भाग, उस पर लगने वाले (अन्य) कर तथा और सब तरह की आय के साथ—सूर्य, चंद्र, समुद्र एवं पृथ्वी की स्थिति-पर्यंत परम भक्ति-पूर्वक जल-संकल्प के साथ (अर्थात् संकल्प छोड़ कर) आज्ञा-पत्र द्वारा प्रदान की है। यह जान कर (शासन-पत्र द्वारा हमारी) आज्ञा सुनने के पश्चात् उस का पालन करते हुए, देवताओं तथा ब्राह्मणों के निमित्त रखे हुए भाग के अतिरिक्त, इस भूमि की उपज, नकद आमदनी तथा सब आय इस (ब्राह्मण) को दी जानी चाहिए"।

(पं० १९-२८) सब के लिये इस पुण्य का समान फल जान कर हमारे वंशजों तथा अन्य (वंशी) भावी शासकों द्वारा हमारे दिये हुए इस धर्मादाय का अनुमोदन एवं पालन होना चाहिए, क्योंकि कहा है कि—

सगर आदि अनेक राजाओं ने पृथ्वी का भोग किया, जिस समय जिस के अधिकार में भूमि रहती है, उस समय उस को उस का (दान-पत्र के दान का, यदि वह उस का पालन करता रहे) फल मिलता है। पूर्व समय के राजाओं ने धर्म, अर्थ एवं यश के प्रतिपादक जो जो दान दिए हैं, वे निर्माल्य तथा वमन के समान (अग्राह्य) होते हैं; (इसलिए) कौन सज्जन उन्हें पुनः लेना पसंद करेगा ? (अतः) हमारे उदार कुल-क्रम का परिचय देने वालों (अर्थात् हमारे वंशजों) तथा अन्य (वंशी) राजाओं द्वारा भी इस दान का अनुमोदन होना चाहिए; बिजली तथा जल के बुद्बुदों की तरह चंचल (प्रकृति की) लक्ष्मी का फल (अर्थात् उपयोग) दान देने और दूसरे के यश का पालन करने में ही है। इन सब भावी नरेशों से रामभद्र (भगवान् रामचंद्र) पुनः पुनः अनुरोध करते हैं कि राजाओं के लिये यह (इस प्रकार का दान) एक सामान्य धर्म-सेतु है, जिस का आप को समय समय पर पालन करना चाहिए। लक्ष्मी तथा मनुष्य-जीवन को कमल-दल पर रहे हुए जल-बिंदु के समान चंचल (क्षण

भंगुर) जान कर, और जो यह सब कहा गया है उस का विचार करते हुए पुरुषों को चाहिए कि दूसरों की कीर्ति लुप्त न करें।

(पं० २८-२९) संवत् १०७९ चैत्र सुदि १४। (यह हमारी) निजी आज्ञा है। मंगल (एवं) महान अभ्युदय। श्रीभोजदेव के निजी हस्ताक्षर।

मारवाड़ के दोहे और सोरठे

[लेखक—श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी]

ऐतिहासिक दृष्टि से राजपूताने को हिंदू-जाति का तीर्थ कहना चाहिये। अकेले राजपूताने में जितने वीर पैदा हुए हैं, उतने भारत के किसी प्रांत में नहीं हुए हैं। मारवाड़ राजपूताने का एक अंश है; अतएव राजपूताने के उस महान् गौरव का एक अंश मारवाड़ को भी प्राप्त है। यह तो उस की ऐतिहासिक महत्ता हुई।

साहित्यिक मारवाड़ अभी हिंदी-जनता के सामने नहीं आया है। मारवाड़ में यकायक जाने पर एक विचार-शील मनुष्य के हृदय में सहज ही यह आशंका उत्पन्न हो सकती है कि यहाँ फूल नहीं, यहाँ के निवासियों ने मुसकुराना किस से सीखा होगा? यहाँ पक्षियों का कलरव नहीं, लोगों ने मधुर भाषण किस से सीखा होगा? यहाँ जल-धारा नहीं, मनुष्यों के हृदयों में जीवन की अस्थिरता की कल्पना कैसे हुई होगी? यहाँ सिंह नहीं, बलवानों ने शूरता किस से सीखी होगी? यहाँ वृक्ष और लतायें नहीं, स्त्री-पुरुषों ने प्रेम का अनुकरण किस से किया होगा? यहाँ हरियाली नहीं, लोगों के मानस में सरसता कहाँ से आई होगी? प्रकृति के इस गंजे सिर पर बसने वाले लोग अवश्य ही परम-हंसों की तरह जड़-मूक-वत् होंगे। पर ऐसा नहीं है। मारवाड़ चाहे ऊपर से कैसा ही नीरस हो, पर वहाँ के जीवन में इतनी सरसता है कि जिसकी तुलना भारत के किसी प्रांत से नहीं की जा सकती। वहाँ के राजपूत युद्ध-भूमि में सिंहों से भी अधिक निर्भय और वीर होते हैं; इसलिये सिंहों से उन्हे कुछ सीखने की आवश्यकता ही नहीं। वहाँ कबूतर बहुत हैं; इस से वहाँ के स्त्री-पुरुषों में कबूतर की तरह दाम्पत्य प्रेम है। बिहारी ने कहा था—

पड़ु पाँखें भखु काँकरें , सदा परेई संग ।
सुखी परेवा जगत में , एकै तुही विहंग ॥

सो ऐसे मारवाड़ी बहुत ही कम मिलेंगे जो 'सदा परेई संग' न रखते हों। मारवाड़ में ऊँट की महिमा बहुत है। मारवाड़ियों ने उस से कष्ट-सहिष्णुता सीखी है। मारवाड़ी लोग बड़े ही धुन के पक्के होते हैं। वे दूर-दूर देशों में व्यापार के लिये निकल जाते हैं, और अनंत धन-राशि संग्रह कर लाते हैं। वे बड़े ही परिश्रमी होते हैं। शायद सघन वृक्षावली के बीच में या सरिता की कल-कल धारा के निकट वे बसते, तो इतने परिश्रमी न होते। बल्कि ऊँची-ऊँची उड़ान लेने में निपुण, बातूनी, सुख-लोलुप, आलसी और भाग्य को कोसने वाले होते।

मारवाड़ी स्त्रियों को रंग-बिरंगे वस्त्र पहनने का शौक है। शायद रंगो के प्रति उन का यह प्रेम मोर की संगति से हुआ होगा। मारवाड़ में मोर इतने अधिक हैं, जितने युक्तप्रांत में शायद कौवे न होंगे।

मारवाड़ के मतीरों (तरबूजों) की मधुरता क्या भूलने की चीज़ है ? मारवाड़ियों के जीवन पर मतीरों का भी प्रभाव पड़ा है। वे मतीरों की तरह बाहर से चीकने, पर अंतर में बड़े ही सरस होते हैं।

मारवाड़ी स्त्री-पुरुषों के जीवन का सच्चा और मनोहर चित्र मारवाड़ के प्रचलित गीतों में और दोहों और सोरठों में मिलता है। वह इतना सुंदर और इतना स्पष्ट है कि काव्य का पूरा रस उस मे प्राप्त होता है। मारवाड़ में वीरों से अधिक संख्या कवियों की होगी। क्योंकि प्रत्येक वीर के साथ उस के शौर्य का बखान करने के लिये दो-चार चारण तो रहते ही थे। चारणों ने मारवाड़ मे वीररस की बाढ़ ला दी है। वीररस की जैसी कविता मारवाड़ मे मिलती है, वैसी हिंदी में है ही नहीं। कितने ही प्रसंग तो ऐसे हैं, जिन की कल्पना भी ब्रज और अवध में न हुई होगी। जैसे मारवाड़ की स्त्री कहती है :—

परणंता म्हें परखियो , मूँछाँ तणी अणीं ।
म्हें तो लाँबी पहरस्याँ , पण जद पेण्हें धणीं ॥

'हे सखी ! मेरा विवाह हो रहा था, तब मैं ने देखा कि मेरे पति की मूँछों की नोकें ऊपर को तनी हुई हैं। उसी समय मैं ने तो यह जान लिया था कि मैं

विधवा होऊँगी। पर कब? जब बहुत सी हो लेंगी, तब। अर्थात् तनी हुई मूँछों वाला यह वीर पुरुष कभी न कभी युद्ध में काम आएगा। पर यह ऐसा वीर है कि बहुतों को मार कर तब मरेगा।'

तन तलवारां तिलछियो, तिल तिल ऊपर सीव।
आलाँ घावाँ ऊठसी, छिन इक ठहर नकीब॥

'मेरे पति का शरीर तलवार के घावों से टुकड़े-टुकड़े हो गया है और तिल-तिल पर सिया हुआ है। हे चारण! तुम थोड़ी देर अपनी कविता बंद रक्खो; नहीं तो यह गीले घावों से उठ कर अभी फिर रण में चला जायगा।'

कंथा रिण मैं जायनैं, कीजै किण रो साथ।
साथी थारै तीनि हैं, हियो, कटारी, हाथ॥

'हे स्वामी! रण मे जा कर किन-किन का साथ करोगे? सच्चे साथी तो तुम्हारे तीन ही हैं—हृदय, तलवार और हाथ।'

इस प्रकार के हजारों दोहे, सोरठे और गीत मारवाड़ के गाँव-गाँव मे प्रचलित हैं। ब्रज या अवध मे ऐसे दोहे बनने के कभी प्रसंग ही नहीं आए, तो वे बनें कैसे? मारवाड़ की वीरपत्नियो ने अपने पतियों को युद्ध में भेजा था, इसी से उन के कंठ से ऐसे वचन निकल सके थे।

मारवाड़ी में प्रेम और वीरता ही की कविता अधिक है। यों समझना अधिक अच्छा होगा कि प्रेम और शौर्य मारवाड़ी जीवन के ताना और बाना है।

मैं मारवाड़ से बीस बरसों से परिचित हूँ। अब भी परिचय बढ़ता ही जा रहा है। मारवाड़ की यात्रा भी मै करता ही रहता हूँ। इस से वहाँ के जीवन से मैं अभिज्ञ-सा हो गया हूँ। गत पाँच-छः वर्षों से मुझे ग्राम-गीतों का चसका लगा, तब से मै ने मारवाड़ के कंठस्थ साहित्य के संग्रह की ओर विशेष ध्यान दिया। मैं ने रेल पर, पैदल, ऊँट पर और बहली या रथ पर भ्रमण कर के और मेलों-ठेलो में जा कर जो-जो दोहे, सोरठे, गीत और कहावतें लोगों को गाते या कहते हुए सुन कर जमा की हैं, उन की संख्या बड़ी है। उन में से कुछ दोहे और सोरठे मैं यहाँ दे रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि ये दोहे और सोरठे स्वयं अपनी विशेषता कह लेंगे और मुझे यह कहने की आवश्यकता न पड़ेगी

कि 'हिंदी के बाज़ार में मारवाड़ के इन रत्नों का मूल्य किसी से कम नहीं बल्कि कई रत्न तो अमूल्य ही हैं।'

सोरठे के बारे में मुझे हिंदी वालों से एक बात कहनी है। वह यह है कि सोरठ-या सोरठा सौराष्ट्र शब्द का अपभ्रंश है। सौराष्ट्र (गुजरात) में सोरठे का बड़ा प्रचार है। मारवाड़ का एक दोहा है :—

सोरठिया दोहो भलो, भलि मरवण री बात।
जोबन छाई धण भली, तारा छाई रात॥

'सोरठिया (सौराष्ट्र का) दोहा अच्छा होता है; ढोला-मारू की कथा अच्छी होती है; जवानी से उमड़ी हुई स्त्री अच्छी होती है और तारों-भरी रात अच्छी होती है।'

अतएव जिसे हिंदी वाले सोरठा कहते हैं, वह वास्तव में 'सोरठिया दोहा' है। अब कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

सीप उडीकै स्वात जल, चकइ उडीकै सूर।
नराँ उडीकै रण निडर, सूर उडीकै हूर॥ १ ॥

सीप स्वाती के जल की प्रतीक्षा करती है, चकई सूर्य की। निडर पुरुष युद्ध की प्रतीक्षा करते हैं और अप्सरा ऐसी सुंदरी स्त्री शूर-वीर पुरुष की। अर्थात् सुंदरी स्त्री की यह कामना रहती है कि उसे शूर-वीर पति मिले ॥१॥

फौज घटा खग दामणी, बूँद बरच्छी देह।
आली इकली देखनै, मारण आयो मेह॥ २ ॥

हे सखी! मुझे अकेली देख कर घटा रूपी फौज, बिजली रूपी तलवार और बूँद रूपी बरछी ले कर पावस मारने आया है ॥२॥

साजन बात सनेह की, पर मुख कही न जाय।
गूँगे को सोना मिल्या, समझ समझ पिसताय॥ ३ ॥

हे प्रियतम! प्रेम की बात दूसरे के मुँह से नहीं कही जा सकती। जैसे गूँगे को सोना मिल जाय तो वह समझ-समझ कर पछताता है कि हाय! वह अंतर का आनंद प्रकट नहीं कर सकता ॥३॥

नैण लगैं तो लगन दे, तू मत लगियो चित्त।
वै छूटैंगे रोय कै, (तू) बँध्यो रहैगो नित्त॥ ४ ॥

हे चित्त ! नेत्र किसी से उलझे, तो उन्हे उलझने देना; पर तुम किसी से न फँसना । क्योंकि नेत्र तो रो-धोकर छूट जायँगे, पर तुम तो सदा के लिये बँध जाओगे ॥४॥

रात पलट्टे दीहवै, दीह पलट्टे रैण ।
भल मिनखाँरा बोलणा, नाहिँ पलट्टै बैण ॥ ५ ॥

रात पलटने पर दिन होता है और दिन पलटने पर रात । पर सत्पुरुषों का बचन नहीं पलटता ॥५॥

सर सूखो बेलू हिली, पाणी गयौ पताल ।
ए गरवाला हंसला, हजू न छोड़ी पाल ॥ ६ ॥

तालाब सूख गया, उस की चौहद्दी की जड़ भी हिल गई, पानी पाताल को चला गया; पर अभिमानी हंस ने अभी तक उस का साथ नहीं छोड़ा ॥६॥

नौज किणी सूँ लाग जो, नैणां हंदो नेह ।
धुकै न धूँवाँ नीसरै, जले सुरंगी देह ॥ ७ ॥

नेत्रों-द्वारा प्रेम किसी से न लगे, तभी अच्छा । क्योंकि प्रेम की आग से सुंदर रंग वाली देह जलती तो रहती है, पर भीतर ही भीतर सुलगती रहती है, धुँवाँ नही निकलता ॥७॥

कंथ लखीजै उभय कुल, नहीं घिरंती छाँह ।
मुड़ियाँ मिलसी गींदवो, मले न धण री बाँह ॥ ८ ॥

हे स्वामी ! मेरे और अपने दोनों कुलों की मर्यादा पर ध्यान देना । उस पर कलंक न लगने पावे । यदि तुम युद्ध से भाग आओगे, तो सिर के नीचे तकिया ही पा सकोगे, स्त्री की भुजा नहीं पा सकोगे । अर्थात् मै तुम को स्पर्श नहीं करूँगी ॥८॥

सोरठ काजल सारियो, गइ गाँधी री हाट ।
बिणज गमायो बाणिये, बलद गमाया जाट ॥ ९ ॥

सौराष्ट्र देश की स्त्री आँखों में काजल दे कर इत्र वाले की दूकान पर गई । उसे देखते देखते बनिये ने अपना व्यापार खो दिया और जाट का बैल कोई चोर ले गया ९

पणघट जातां पण घटै, पणघट वांकौ नाम ।
कहिये पण कैसे रहे, पणहारण के धाम ॥ १० ॥

पनघट पर जाने से प्रण घटता है । पनघट तो उस का नाम ही है । भला, प्रण हारने वालों के घर में प्रण कैसे निभ सकता है ॥१०॥

जोबन गयो सो भल हुई, सिर की टली बलाइ ।
जण जण को रूसणो, यो दुख सह्यो न जाय ॥ ११ ॥

जवानी गई, अच्छा ही हुआ । सिर से एक बला टल गई । जिसे देखो, वही रूठा रहता था, यह दुःख मुझ से नहीं सहा जाता था ॥११॥

जोबन जोगी हो गया, फेरी दे गया द्वार ।
मैं पापण ताकत रही, फिरया न दूजी बार ॥ १२ ॥

हा ! यौवन योगी हो गया । वह एक बार द्वार पर फेरी लगा गया । मैं पापिनी ताकती ही रह गई, पर वह फिर नहीं लौटा ॥१२॥

मैं परणंती परखियो, मूछाँ भिड़ियो मोड़ ।
जासी सुर्ग न एकलो, जासी दल संजोड़ ॥ १३ ॥

मैं ने विवाह के अवसर पर देखा था कि मेरे पति के मूँछों की नोक मुड़ी हुई थी । उसी समय मैं ने समझ लिया था कि यह अकेला ही स्वर्ग नहीं जायगा ; बल्कि बहुत सा दल इकट्ठा कर के जायगा ॥१३॥

सखी हमीणाँ कंथ री, पाई यह परतीत ।
हार्‌यो घराँ न आवसी, आसी ओ रण जीत ॥१४॥

हे सखी ! मुझे अपने प्रियतम का पूरा विश्वास है । वह हारा हुआ तो कभी घर आए ही गा नहीं; आएगा तो युद्ध जीत ही कर आएगा ॥१४॥

सखी हमीणाँ कंथ री, पूरी या परतीत ।
कै जासी सुर दुर्गड़े, कै आसी रण जीत ॥ १५ ॥

हे सखी ! अपने प्रियतम पर मुझे पूरा यक़ीन है कि वह या तो देवताओं के दुर्ग में प्रवेश करेगा या युद्ध जीत कर आएगा ॥१५॥

सुख माने तो सुक्ख है, दुख मानै तो दुक्ख ।
साँचा सुखिया सोइ है, दुख मानै ना सुक्ख ॥ १६ ॥

किसी बात में सुख मानो तो सुख है, दुःख मानो तो दुःख। पर सच्चा सुखी वही है, जो न दुःख मानता है, न सुख ॥१६॥

नर जाणै दिन जात है, दिन जाणै नर जाय।
आँख्याँ तणे फरूकड़े, घड़ी घड़ावल छाय ॥ १७ ॥

मनुष्य जानता है कि दिन जा रहा है। दिन जानता है कि मनुष्य चुक रहा है। आँखों की एक-एक फड़क से घड़ियाँ बीतती चली जा रही हैं ॥१७॥

सम्मन अपणे चोर कूँ, सब कोइ डारै मार।
मो मन चोर मिलावई, सरबस देऊँ वार ॥ १८ ॥

सम्मन कहता है—अपने चोर को पा कर सब कोई उसे मार डालते हैं, पर मुझे यदि कोई मेरे चित-चोर से मिला दे, तो मैं उस पर सर्वस्व निछावर कर दूँ ॥१८॥

कृपण जतन धनरो करै, कायर जीव जतन्न।
सूर जतन उणरो करै, जिणरो खाधो अन्न ॥ १९ ॥

कंजूस धन जमा करने का उपाय करता है, कायर जी बचाने की तरकीब सोचता है, पर वीर पुरुष उन की रक्षा का यत्न करता है जिन का वह अन्न खाता है ॥१९॥

पाछा फिर मत झाँकजो, पग मत दीजो टार।
कट मत जाजो खेत में, पर मत आजो हार ॥ २० ॥

देखना, पीछे मत झाँकना, पैर पीछे न टालना, रण-भूमि में कट कर मर जाना, पर हार कर नहीं लौटना ॥२०॥

साजन थे मत जाणजो, बिछड्याँ प्रीत घटाय।
व्यौपारी के व्याज जूँ, बधत बधत बध जाय ॥ २१ ॥

हे प्रियतम ! तुम यह मत समझना कि बिछुड़ने से प्रीति घट जाती है। वा तो व्यापारी के व्याज की तरह बढ़ते-बढ़ते बढ़ ही जाती है ॥२१॥

कहो लुएँ कित जावस्यो, पावस धर पडियाँह।
हिये नवोढ़ा नार नै, बालम बीछड़ियाँह ॥ २२ ॥

हे लू ! पावस की पड़ने पर तुम कहाँ जाओगी ? लू कहती है जिस नवोढ़ा स्त्री का पति बिछुड़ गया होगा, उस के हृदय में जाऊँगी २२

ताल सूख पटपर भयो, हंसा कहूँ न जाय।
प्रीत पुराणी कारणे, चुग चुग काँकर खाय ॥ २३ ॥

सरोवर सूख कर पटपर हो गया। पर हंस कहीं न गया। पुरानी प्रीति के कारण वह वहीं रह कर कंकड़ चुन-चुनकर खाता है ॥२३॥

काली भोत कुरूप, किसतूरी काँटा तुलै।
सक्कर घणी सुरूप, नरड़ाँ तूलै नाथिया ॥ २४ ॥

नाथिया कहता है—कस्तूरी काली है, बड़ी ही कुरूप है, पर वह काँटे से तौली जाती है। चीनी बड़ी सुंदर है, पर वह तराज़ू पर तौली जाती है अर्थात् गुण की कीमत है, रूप की नहीं ॥२४॥

हम ठिल्लें हत्थी भुजन, घल्लें अद्रि न बत्थ।
खंडें इक धन खग्गबल, मंडें रण बिच मत्थ ॥ २५ ॥

वीर पुरुष का वचन है—हम अपनी भुजाओं से हाथी को ठेल सकते हैं, पहाड़ को मसल सकते हैं, तलवार से शत्रुओं को खंड-खंड कर सकते हैं और रण को अपने मस्तक से सुशोभित कर सकते हैं ॥२५॥

अनमिलिया मिलिबो चहै, मिलियाँ होत उदास।
तातें अनमिलबो भलो, फेर मिलण री आस ॥ २६ ॥

न मिलने पर मिलने की आशा लगी रहती है; मिलने पर वियोग की उदासी घेर लेती है। इस से न मिलना ही अच्छा है; क्योंकि मिलने की आशा तो रहती है ॥२६॥

मिलनो भलो न बिछुड़नो, जरो बरो यह संग।
मीन मुवा जल बिछुड़ते, मिलते मुवा पतंग ॥ २७ ॥

न मिलना अच्छा है, न बिछुड़ना; संग करना ही अच्छा नहीं। मछली जल से बिछुड़ने पर मर जाती है, और पतंग दीपक से मिलने पर मर जाता है ॥२७॥

सठ सनेह जीरन बसन, जतन करत फटि जाय।
मौजी जन की प्रीति सो, कहो कौन व्यवसाय ॥ २८ ॥

दुष्ट की प्रीति और पुराना कपड़ा ये यत्न करने पर भी फट जाते हैं। मौजी आदमियों की प्रीति पर अपना ज़ोर ही क्या है? ॥२८॥

बादी गँडक गुलाम, बुचकाराँ उंदा पड़ै।
कूटा आवै काम, नरमी भली न नाथिया॥ २९॥

नाथिया कहता है—शत्रु, कुत्ता और गुलाम ये पुचकारने से ऊपर चढ़ आते हैं। ये तो पीटने ही से ठीक काम देते हैं। इन के साथ नरमी अच्छी नहीं॥२९॥

साजन तेरे हेत, अँखियाँ तो नदियाँ भई।
मन भयो बारू रेत, गिर गिर पड़त किराड़ ज्यूँ॥ ३०॥

हे प्रियतम! तुम्हारे प्रेम में आँखें नदियाँ हो गईं। मन बालू का कगार हो गया, वह गिर-गिर पड़ता है॥३०॥

आग लगी बन खंड में, दाज्या चंदन बंस।
हम तो दाजे पंख बिन, तू क्यों दाजे हंस॥ ३१॥

बन में आग लगी। चंदन का परिवार जल गया। उस ने पूछा—हे हंस! हम तो इस कारण जले कि हमारे पंख नहीं थे। तुम क्यों जले?॥३१॥[1]

खर भोजन अर अजा धन, घर कलहारी नार।
चौथे मैले कापड़े, नरक निसानी चार॥ ३२॥

नरक के चार चिन्ह हैं—रूखा-सूखा भोजन, बकरी की जीविका, घर में कलह करने वाली स्त्री, और मैले कपड़े॥३२॥

काछ दृढ़ा कर बरसणा, तन चंगा मुख मिट्ठ।
रिण सूरा, जग बल्लभा, सो मैं बिरला दिट्ठ॥ ३३॥

संसार में ऐसा पुरुष कोई बिरला ही दिखाई पड़ता है, जो काछ का दृढ़ हो, हाथ का बरसने वाला अर्थात् दानी हो शरीर से नीरोग और मधुर वचन बोलने वाला हो, तथा रण में वीर और संसार का प्यारा हो॥३३॥

---

[1]उत्तर—फल खाये बीटाँ करी, बैठे तुम्हरी डाल।
(तुम) जल जाओ हम उड़ चलें, जीवेंगे कै काल॥

हंस ने कहा—तुम्हारी डाल पर बैठ कर हम ने फल खाए, बीट की और सुख से बैठे। अब यह कोई बड़प्पन है कि तुम जल जाओ और हम उड़ जायँ? संसार में जीना ही कितने दिन का है?

समुझण हार सुजाण, नर मौसर चूकै नहीं।
अवसर रो अहसाण, रहै घणा दिन राजिया ॥ ३४ ॥

राजिया कहता है—समझदार चतुर आदमी समय पा कर नहीं चूकता। क्यों के अवसर पड़ किया हुआ उपकार बहुत दिन तक रहता है ॥३४॥

ढोल सुणंताँ मंगली, मूँछाँ भौंह चढ़ंत।
चँवरी ही पहचाणियो, कँवरी मरणो कंत ॥ ३५ ॥

स्त्री कहती है—विवाह के अवसर पर मंगल-सूचक ढोल बजे, उसे सुन कर पति की मूँछें और भौं तन गईं। कन्या ने भाँवर (सप्तपदी) के अवसर ही पर जान लिया था कि उस का पति कहीं युद्ध में काम आएगा ॥३५॥

हीमत कीमत होय, हीमत बिन कीमत नहीं।
करै न आदर कोय, रद कागद ज्यूँ राजिया ॥ ३६ ॥

हिम्मत ही से क़ीमत होती है। हिम्मत बिना कुछ क़ीमत नहीं होती। हिम्मत-हीन आदमी का कोई आदर नहीं करता; जैसे रद्दी काग़ज़ का ॥३६॥

ऊजड़ खेड़ा फिर बसै, निरधनियाँ धन होय।
बीता दिन नहिं बाहुड़ै, मुवा न जीवै कोय ॥ ३७ ॥

उजड़ा हुआ गाँव फिर बस जाता है। निर्धन के धन भी हो जाता है। पर गये हुए दिन नहीं लौटते, और न मरा हुआ जीता है ॥३७॥

कहँ गोरख कहँ भरथरी, कहँ गोपीचँद गौड़।
सिद्ध गयाँ ही पूजिए, सिद्ध रह्याँ की ठौड़ ॥ ३८ ॥

गोरखनाथ कहाँ हैं? भर्तृहरि कहाँ हैं? गोपीचंद गौड़ कहाँ हैं? सिद्ध के चले जाने ही पर उस के स्थान की पूजा होती है ॥३८॥

साईं तोसों बीनती, ये दुइ भेला रक्ख।
जीव रखै तो लाज रख, लज बिन जीव न रक्ख ॥ ३९ ॥

हे ईश्वर! तुम से विनय है कि जीव के साथ लज्जा और लज्जा के साथ जीव इन दोनों को साथ ही रखना ॥३९॥

हंसा सर नहि छाँडिये, जो जल थोड़ा होय।
छीलर छीलर भटकताँ, भला न कहसी कोय ॥ ४० ॥

हे हंस ! पानी थोड़ा हो, तब भी सरोवर को मत छोड़ना । ताल-तलैयों मे
फिरने से कोई तुम को भला न कहेगा ॥४०॥

कंथा रिण में जाय नै, किणरो ढूँढ़े साथ ।
साथी थारौ तीन हैं, हियो कटारी हाथ ॥ ४१ ॥

हे स्वामी ! रण में जा कर किन को साथी खोजोगे ? तुम्हारे तो तीन ही पक्के
हैं—हृदय, तलवार और हाथ ॥४१॥

सज्जन ऐसा कीजिए, ढाल सरीखा होय ।
सुख में तो पाछे रहे, दुख में आगे होय ॥ ४२ ॥

ऐसे सज्जन को मित्र बनाना चाहिए, जो ढाल के समान हो । जो सुख में त
रहे, पर दुःख में आगे हो जाय ॥४२॥

गुण बिन ठाकर ठीकरो, गुण बिण मीत गँवार ।
गुण बिन चंदन लाकड़ी, गुण बिण नार कुनार ॥ ४३ ॥

बिना गुण के ठाकुर पत्थर हैं, बिना गुण के मित्र गँवार है, बिना गुण च
लकड़ी है और बिना गुण की स्त्री कुनारी है ॥४३॥

गरज दिवाणी गूजरी, अब आई घर कूद ।
सावण छाछ न घालती, जेठ परूसे दूध ॥ ४४ ॥

गरज़ बावली होती है, वह अहीरिन की तरह घर में कूद कर आई है । उ
न में मट्ठा भी नहीं देती थी, वह जेठ में दूध परोस रही है ॥४४॥

काच कटोरो नैन जल, इक मोती इक मन्न ।
टूटाँ पाछै ना जुड़ै, पैली राख जतन्न ॥ ४५ ॥

शीशे का कटोरा, नेत्रों का जल, मोती और मन, ये टूटने के बाद नहीं जुड़ते
ही से इन को यत्न-पूर्वक रखना चाहिए ॥४५॥

नाम रहंता ठाकराँ, नाणाँ नहीं रहंत ।
कीरत केरा कोटड़ा, पाड्या नहीं पड़ंत ॥ ४६ ॥

हे ठाकुर साहब ! नाम रहता है, धन नहीं रहता । कीर्ति का कोट ढहाने
नहीं ढहता ॥४६॥

पड़ियो चींथर पंथ मे, निकमो मती निहार।
इण ही किण ही बगत में, रखी लाज नर नार ॥ ४७ ॥

रास्ते में चीथड़ा पड़ा हुआ है, इसे निकम्मा मत समझो। इस ने किसी समय स्त्री-पुरुषों की लज्जा रक्खी थी ॥४७॥

मो संपत सपना जिसी, भोगाँ जित के भाग।
पीव चहे खागाँ खिराँ, हूँ चहूँ बैठण आग ॥ ४८ ॥

मेरी सम्पत्ति सपने-जैसी थी; जितना भाग्य में था, उतना भोग लिया। अब तो पति युद्ध में तलवार से कट कर मर जाना चाहता है और मैं सती होना चाहती हूँ ॥४८॥

चंदन की चुटकी भली, गाड़ो भलो न काठ।
चातुर तो एकहि भलो, मूरख भलो न साठ ॥ ४९ ॥

चंदन की एक चुटकी अच्छी है, पर गाड़ा भर लकड़ी अच्छी नहीं। इसी प्रकार साठ मूर्खों से एक चतुर अच्छा है ॥४९॥

उपजावे अनुराग, कोयल मन हरखत करै।
कड़वो लागै काग, रसनारा गुण राजिया ॥ ५० ॥

राजिया कहता है—कोयल अपनी वाणी से सुनने वालों के हृदय में अनुराग उत्पन्न करती है और मन को हर्षित करती है; इस से वह प्यारी लगती है। पर कौआ कड़ुवा लगता है। जीभ का यह गुण है ॥५०॥

ऊँचे गिरवर आग, जलती सह देखे जगत।
पर जलती निज पाग, रती न दीसै राजिया ॥ ५१ ॥

राजिया कहता है—ऊँचे पहाड़ पर जलती हुई आग को सारा संसार देखता है, पर अपनी जलती हुई पगड़ी किसी को नहीं दिखाई पड़ती ॥५१॥

मोती फाट्यो बेधतो, मन फाट्यो इक बोल।
मोती फेर मँगाय लो, मन नहिं आवे मोल ॥ ५२ ॥

छेद करते समय मोती फट गया और एक शब्द से मन फट गया। मोती तो दूसरा ख़रीद सकते हो, पर मन तो दाम देने पर नहीं आएगा ॥५२॥

दाँत खुल्या खुर जोजरा, सींगाँ छोड़ी संधि।
ले साईं अब चंदलो, दूजाँए गल बंधि ॥ ५३ ॥

दाँत टूट गए, खुर जर्जर हो गए, सींग भी हिल गए। हे स्वामी ! लो, अब यह घंटी (जीव) दूसरे के गले में बाँधो ॥५३॥

तन तलवाराँ तिलछियो, तिल तिल ऊपर सीव।
आला घावाँ ऊठसी, छिन एक ठहर नकीब ॥ ५४ ॥

हे चारण ! मेरे पति का शरीर तलवार से टुकड़े-टुकड़े हो गया है और एक-एक तिल पर टाँके लगे हुए हैं। तुम्हारे वचन सुन,कर यह रण में जाने के लिये अभी गीले घावों ही से उठ खड़ा होगा। तुम क्षण भर अपनी कविता बंद रक्खो ॥५४॥

स्याम उबारण साँकड़े, रजपूताँ आरीत।
जब लग पाणी आबटे, तब लग दूध निचीत ॥ ५५ ॥

संकट के समय स्वामी का उद्धार करना राजपूतों की रीति है। जैसे जब तक पानी जल नहीं लेता, तब तक दूध निश्चिंत रहता है ॥५५॥

सखी अमीणां कंथ ऐ, औ इक बड़ो सुभाव।
गलियाँरा ढीलो फिरै, हाकाँ बाकाँ राव ॥ ५६ ॥

हे सखी ! मेरे स्वामी का यह एक अद्भुत स्वभाव है कि वह गलियों में तो ढीला-ढाला फिरता है, पर जब युद्ध में चलने के लिये हाँक दी जाती है, तब वह बाँका बहादुर हो जाता है ॥५६॥

हाड़ा गाहड़ बंकड़ा, कीरत बंका गौड़।
है हट बंका देवड़ा, रण बंका राठौड़ ॥ ५७ ॥

हाड़ा क्षत्रिय मिजाजी होते हैं; गौड क्षत्रिय यश-लोलुप होते हैं; देवड़ा क्षत्रिय बाज़ार के चोर होते हैं और राठोड़ क्षत्रिय रण के वीर होते हैं ॥५७॥

पग पग नेजा पाडिया, पग पग पाड़ी ढाल।
बीबी पूछे खान ने, जग केता जगमाल ॥ ५८ ॥

क़दम-कदम पर भाले पड़े हैं, कदम-कदम पर ढालें पड़ी हैं। बीबी खाँ से पूछती है कि संसार में जगमल कितने हैं ? अर्थात् क्या अकेला जगमल इतने शत्रुअं को मार सकता है ? ॥५८॥

सूर न पूछे टीपणो, सगुन न देखै सूर।
मरणा नू मंगल गिणे, समर चढ़े मुख नूर ५९

शूरमा सायत नहीं पूछता; न शकुन देखता है। वह मृत्यु ही को मंगल गिनता युद्ध-भूमि में उस के मुख पर ज्योति छा जाती है ॥५९॥

गीध कलेजो, चील उर, काकाँ अंत विलाइ।
तौबी सोधक कंतरी, मूछा भौंह मिलाइ ॥ ६० ॥

गीध कलेजा ले गए; चील हृदय निकाल ले गई; कौवे अँतड़ी ले गए; फिर सखी! तनी हुई मूँछें और चढ़ी हुई भौंवों से स्वामी की पहचान हुई ॥६०॥

हेली की अचरज कहूँ, कंत पड़ा बलिहार।
घर में देखौं एक कर, रण में होत हजार ॥ ६१ ॥

हे सखी! अचरज की बात क्या कहूँ? स्वामी तो बड़े कौतुकी हैं। घर में तो र का एक ही हाथ देखती हूँ, पर रण में उन के हज़ार हाथ हो जाते हैं ॥६१॥

नह पड़ोस कायर नराँ, हेली वास सुहाइ।
बलिहारी जिस देसड़ै, माथा मोल बिकाइ ॥ ६२ ॥

हे सखी! कायर पुरुषों के पड़ोस में बसना मुझे अच्छा नहीं लगता। उस देश धन्य है, जहाँ मस्तक मोल बिकता है ॥६२॥

धर धरती पग पागड़े, अरियाँ तणो गरट्ठ।
हजू न छोड़े साहिबा, मूछाँ तणो मरट्ठ ॥ ६३ ॥

धड़ पृथ्वी पर है; पैर रकाब में हैं; शत्रु चारोंओर से घेरे हुए हैं; ऐसी दशा भी मेरा पति मूँछों का मरोड़ना नहीं छोड़ता है ॥६३॥

आसक, नट, साधक, सती, सूराँ सहेवो सेल।
अराफरी की बात नहि, खराखरी को खेल ॥ ६४ ॥

प्रेमी, नट, योगी और सती होना तथा वीरों का भाला सहना, यह खराख का खेल है; इस में चालबाज़ी नहीं चल सकती ॥६४॥

बरसाँ बीस पचीस में, जाग सकै तौ जाग।
जोबन दूध उफाण ज्यूँ, जासि ठिकाने लाग ॥ ६५ ॥

बीस-पचीस वर्ष की आयु में तुम्हें जागना हो, तो जागो। नहीं तो यह जव दूध के उफान की तरह ठिकाने लग जायगी ॥६५॥

जौ मैं होती बादली, आभै जाय अडंत।
पंथ बहंता साजनाँ, ऊपर छाँह करंत॥ ६६॥

यदि मैं बदली होती, तो आकाश में जा कर ठहरती और मार्ग में जाते हुए पति के ऊपर छाँह किए चलती॥६६॥

घोड़ा हींसे बारणे, वीर अखाड़े पोल।
कंकण बाँधो रण चढ़ो, वै बाग्या रण ढोल॥ ६७॥

घोड़ा दरवाज़े पर हिनहिना रहा है; वीर लोग ड्योढ़ी में हैं; हे प्रियतम! अब रण-कंकण पहन लो, रण पर जाओ; वह सुनो, युद्ध का ढोल भी बज उठा॥६७॥

कंथ लखीजे उभय कुल, नही फिरंती छाँह।
मुड़िया मिलसी गींदवो, मले न धण री बाँह॥ ६८॥

हे पति! देखना, युद्ध मे दोनों कुलों की मर्यादा का ध्यान रखना। जैसे गई हुई छाया नहीं लौटती, वसे ही मर्यादा भी एक बार जा कर फिर नहीं लौटती। यदि तुम युद्ध से भाग आओगे तो सिर के नीचे तकिया ही रख कर सोना पड़ेगा, स्त्री की भुजा न मिलेगी॥६८॥

सिघाँ देस बिदेस सम, सिघाँ किसा वतन्न।
सिघ जका बन संचरै, ते सिंघा रा वन्न॥ ६९॥

सिंहों के लिये देश-विदेश बराबर है। उन का घर कैसा? सिंह जिस बन मे जायगा, वही उस का घर है॥६९॥

हूँ जाणू धोलो मुवो, खाली हुयगो बग्ग।
बाड़ै उणाहिज बाछड़ो, ओझँ ताडण लग्ग॥ ७०॥

मैं तो समझता था कि वह वीर बैल मर गया और झुंड का सरदार जाता रहा पर देखता हूँ तो उस का बछड़ा बाड़े में फिर हँकड़ने लगा है॥७०॥

ये सब दोहे-सोरठे मारवाड़ की साधारण जनता के मुख से, बातचीत के समय, आप से आप निकल आया करते हैं, और उन की बातचीत के विषय को अधिक प्रभावशाली बना देते हैं। इन की संख्या हज़ारों है। सब में अलग अलग स्वाद है। स्थानाभाव से यहाँ इतने ही दिए जा सके।

मुग़ल शाही दरबार और उस का समकालीन सभ्यता पर प्रभाव

[लेखक—डाक्टर बनारसी प्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (लंदन)]

मुग़ल साम्राज्य का संस्थापक बाबर था। उस का दरबार और उस के दरबारी सादगी का नमूना थे। उस के साथी सुडौल हृष्ट पुष्ट जवान थे, जो मरने मारने के लिये सदैव उद्यत रहते थे; परंतु इस में भी संदेह नहीं कि बाबरी दरबार में कवियों और विद्वानों की कमी न थी। बाबर स्वयं एक उच्च श्रेणी का कवि और विद्वान् था। तुर्की और फ़ारसी दोनों भाषाओं का उस को अच्छा अभ्यास था, और उस की कविता में रस और नयापन दोनों ही गुण हैं। ऐतिहासिक ग्रंथों से पूरा पता नहीं चलता है कि बाबरी दरबार की दैनिक चर्या क्या थी, परंतु उस की जीवनी से अनुमान किया जा सकता है कि दरबार को नियमानुसार सगठित करने का उसे अवसर ही न मिला, और न उस का ध्यान ही उस ओर आकर्षित हुआ। वह तो वास्तव में सिपाही था और उस को हर समय राज्य-सीमा के विस्तार का ही खयाल रहता था। संभव है कि उस का दरबार अकसर घोड़े की पीठ पर ही हो जाता रहा हो।

हुमायूँ के सिंहासन पर बैठते ही मुग़ल साम्राज्य के नए पौधे पर मानो ओले पड़ने लगे। भाइयों के विद्रोह और शेरशाह की चालों ने उसे हिंदुस्तान से दम न लेने दिया। भाग कर उस ने फ़ारस में शरण ली। फ़ारसी दरबार की शान-शौकत का हुमायूँ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उस ने मन में ठान लिया कि फिर सिंहासन पाने पर वह अपने दरबार को नाना प्रकार से सजावेगा। यद्यपि इस बदनसीब बादशाह को अपनी सब अभिलाषाओं को पूरा करने की सुगमता प्राप्त न हुई, तो भी उस ने अपने दरबार का एक निराले ढंग पर संगठन किया। उस ने अपने दरबारियों को तीन समूहों में विभाजित किया—(१) अहले

दौलत, अथवा वह लोग जो या तो शाही खानदान के थे, या अमीर, या सरदार, या शाही अफसर थे, (२) अहले सआदत, अथवा धार्मिक संस्थाओं के प्रधान, सैयद, उलमा, क़ाज़ी, विद्वान् इत्यादि। (३) अहले मुराद, अथवा संगीत व नाट्य-संबंधी लोग। प्रत्येक समूह में तीन पद होते थे, उत्तम, मध्यम और अंतिम। उत्तम पद का चिह्न सुनहला तीर था, मध्यम का रुपहला और अंतिम का मामूली तीर।

अकबर के ज़माने में मुग़ल दरबार और भी विशाल हो गया। अबुल-फज्ल के ग्रंथों से अकबरी दरबार की शान का पता चलता है। इस महान् सम्राट् के राज्यकाल में सभी व्यवस्थाओं के लिये नियम बनाए गए और शाही दरबार भी नियमों के पंजे से न बचा। दरबार का समय, अवसर और मर्यादा, ये स्थिर कर दिए गए। यहाँ तक कि यदि बादशाह दौरे पर भी होता था तो भी नियमों में बाल बराबर फ़र्क़ नहीं पड़ने पाता था। आगरा और फ़तहपूर सीकरी में दरबार के लिये ख़ास इमारतें बनाई गईं जो समय समय पर ख़ूब ही सजाई जाती थीं। दरबार दो प्रकार के होते थे—एक तो साधारण और दूसरे जशनी। साधारण दरबार तो प्रत्येक दिवस हुआ करता था जिस में बादशाह राजनीतिक और शासन-संबंधी विषयों पर विचार करता था, और किसी नियुक्त दिवस पर ग़रीबों की फ़रियाद भी सुनता था। परंतु जशनी दरबार त्योहारों के ही अवसर पर हुआ करते थे, अथवा बादशाह की सौर और चंद्र सालगिरहों के मौक़े पर होते। ईद, शबे-बरात, दिवाली, दशहरा, नौरोज जशनी दरबार के ख़ास अवसर थे। ऐसे समय पर दरबार में ख़ूब सजावट की जाती थी, और नाच-रंग रहा करता था। सालगिरह के दिन बादशाह सोने, चाँदी, हीरा, जवाहरात का तुलादान करता था, और दरबारी भड़कीली पोशाकें पहन कर सैकड़ों रुपये उस पर निछावर कर के लुटा देते थे। इसी समय दरबारी नज़रें पेश करते थे और सम्राट् उन को इनाम देता था—किसी को हाथी, किसी को घोड़ा, किसी को ख़िताब, किसी को ख़िलअत, किसी को नक़द रुपये।

जहाँगीर ने स्वयं तो दरबार के नियमों में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं किया, मगर नूरजहाँ ने जहाँ तक हो सका दरबार की शोभा को बढाया

नूरजहाँ आखिर स्त्री ही थी। स्वभावतः उस को बनाव-चुनाव का अधिक शौक था। यदि वह जहाँगीर की आँख की पुतली थी, तो वह मुग़ल दरबार की शोभा भी थी। इतिहासकारों का कथन है कि वह दरबार में चिलमन के पीछे बैठा करती थी। ऐसे सिक्के भी मिले हैं जिन मे उस का नाम अंकित है। जहाँगीर ने तो अपने आत्म-चरित में यह भी कई बार वर्णन किया है कि नूरजहाँ शिकार भी खेलती थी। यहाँ तक कि एक बार उस ने शेर का भी शिकार किया, जिस की प्रशंसा करते हुए एक कवि ने लिखा है—

नूरजहाँ गर चे बज़ाहर ज़न अस्त।
दर सफ़े मरदाँ ज़ने शेर अफ़गन अस्त॥

अथवा 'यद्यपि नूरजहाँ देखने में तो नारि है, परंतु शूरवीरों के दल में सिंहदलन करने वाली है।' नूरजहाँ का मुग़ल शासन पर कितना प्रभाव पड़ा इस का वृत्तांत तो डाक्टर वेणीप्रसाद ने अपनी पुस्तक 'जहाँगीर' में खूब लिखा है, परंतु दरबारी सभ्यता को उस ने कैसे अभिभूत किया, इस की कहानी भी मनोरंजक होगी। यहाँ तो केवल इतना लिखना ही काफ़ी है कि नूरजहाँ ही उच्च श्रेणी की जनता के लिये फ़ैशन का नमूना थी। उस की माँ ने गुलाब का इत्र ईजाद किया और दरबार से ही इस का व्यवहार अमीरों में फैला।

इस मे संदेह नहीं कि जनता की सभ्यता पर असर डालने की दृष्टि से जो प्रभाव जहाँगीर के दरबार का रहा उस की तुलना करना कठिन है। इस समय में चित्रकला की खूब ही उन्नति हुई; और कवियों इत्यादि की भी कमी न थी। परंतु मुग़ल दरबार की शोभा और विभूति शाहजहाँ के ही ज़माने मे पूर्ति पर पहुँची। उस का दरबार शोभा का भंडार था। उस की दौलत की ख्याति सुन कर दूर दूर देशों से यात्री आए, और शाह और उस की शान को देख कर चकित रह गए। बर्नियर, टैवर्नियर और मन्चूची ने शाहजहाँनी दरबार का मनोरंजक हाल लिखा है। यद्यपि वह संपूर्णतः विश्वसनीय नहीं है तथापि उन के कथन से दरबार का बहुत कुछ हाल मालूम हो जाता है। जहाँ कहीं कमी रह जाती है उस को तत्कालीन फ़ारसी इतिहासकार पूरा कर देते हैं

—— लोगों का ख़याल है कि मुग़ल सम्राट की दैनिक चर्या

नाच रंग के अतिरिक्त किसी दूसरी बात की गुंजायश न होगी। परंतु सत्य तो यह है कि उस को दिन रात काम में ही लगा रहना पड़ता था। शाहजहाँ सूर्य उदय होने से दो घड़ी पहले उठ बैठता था और नित्य कर्म से छुट्टी पा कर वह मसजिद में बैठ कर नमाज़ के समय की प्रतीक्षा करने लगता था। फ़ज्र की नमाज़ पढ़ कर दिन निकले तक वह तसबीह फेरता रहता था। जब दौरे पर होता तो फ़ज्र की नमाज़ अपने ख़ेमे में ही पढ़ लिया करता था।

मसजिद से उठ कर वह झरोखे में दर्शन के लिये बैठ कर अपनी प्रजा को अपनी सूरत देखने का अवसर देता था। इस विज्ञ पद्धति का चलाने वाला अकबर था, उस के उत्तराधिकारियों ने उस को जारी रक्खा। इस नियम का आधार केवल मिथ्या गर्व ही न था किंतु वास्तव में सम्राट् की हार्दिक इच्छा थी कि वह अपनी प्रजा से परिचित होवे। दूसरे, ऐसे काल में जब कि साम्राज्य का निर्भर केवल सम्राट् के जीवन पर ही था, इस बात की अधिक आवश्यकता थी कि वह नित्य प्रातः काल अपने दर्शन दे कर अपनी प्रजा को विश्वास दिलावे कि वह जीवित और स्वस्थ है, अथवा इस समय प्रजा की सम्राट् तक विना किसी बाधा के रसाई हो सकती है। इसी अवसर पर जनता को मौका मिलता था कि अपनी शिकायतें बादशाह के संमुख पेश करे। सम्राट् बड़े से बड़े सरकारी अफसर के खिलाफ भी जनता की फरियाद सुनने को तैयार रहता था।

यह संदिग्ध है कि साधारण व्यक्तियों को इतना साहस होता कि वह सम्राट् के निकट जा सकें। शाही शान ही उन के होश उड़ाने को क्या कम थी, तिस पर प्रबल कर्मचारी से दुश्मनी मोल लेने में उन को अवश्य संकोच होता रहा होगा। मगर अकबर तो बड़ा दयालु बादशाह था और कुछ लोगों का कथन है कि वह भेष बदल कर अपने कर्मचारियों के काम और ईमानदारी की जाँच किया करता था। जहाँगीर ने तो एक चाँदी की ज़ंजीर ही लगवा दी थी, जिस को हिलाने से बादशाह को पता लग जाता था कि कोई फ़रियादी आया है। शाहजहाँ के बारे में तो यह प्रसिद्ध है कि वह बड़े छोटे सब को ही एक दृष्टि से देखता था, और न्याय करते समय अफ़सर और रियाया में नाम मात्र को

भी भेद न करता था। इस से यह सिद्ध होता है कि मुग़ल बादशाहों ने प्रजा के हाथ में एक ऐसा उपाय दे दिया था कि जिस की सहायता से उन को न्याय प्राप्त हो सकता था, यदि वह उस का प्रयोग न कर सके तो बादशाहों का क्या कुसूर था।

फ़रियाद सुनने और प्रजा की सलामी लेने के सिवा सम्राट् के लिये झरोखा-दर्शन के समय और भी बहुत से काम रहते थे। यहीं पर नये पकड़े हुए हाथी पेश किए जाते थे। यहीं से बादशाह अफ़सरों की सलामी लेता था और हाथियों की लड़ाई देखा करता था। कभी कभी तो हाथियों के ५ जोड़ तक लड़ाए जाते थे। मनसबदारों के रिसालों की परीक्षा भी इसी समय की जाती थी।

झरोखे मे एक घंटा बिता कर बादशाह 'दीवान आम' में जाता था। मंडप के बाहर व भीतर अफ़सर व दरबारी व सिपाही इत्यादि बड़े क़ायदे से अपनी दृष्टि को खिड़की की ओर जमाए हुए बादशाह के आगमन की प्रतीक्षा किया करते थे। मंडप के किनारे रुपहला कटहरा था जिस के अंदर केवल दो सौ घोड़ों के सरदार या उन से उच्च पद के ही अफ़सर घुस सकते थे। यह लोग पदानुसार अपनी अपनी जगह पर सिंहासन की ओर मुँह किये हुए खड़े रहते थे। कुछ विशेषाधिकारी मनसबदारों को ही मंडप के स्तंभों के निकट स्थान दिया जाता था। खिड़की के बाएँ, कोरची लोग शाही झंडे व निशान लिए खड़े रहते थे, और खिड़की के नीचे दोनों ओर सरकारी अफ़सर और कर्मचारी अपने अपने कागज़-पत्र हाथों में लिए हुए पेशी के लिये तैयार खड़े रहते थे। रुपहले कटहरे के बाहर एक लकड़ी का कटहरा था जो लाल लाख से रंग दिया गया था। इस के अंदर दो सौ घोड़ों से कम वाले सरदार, अहदी, धानुष्क, बंदूकची, अथवा बड़े मनसबदारों के नौकर खड़े रहते थे। इन कटहरों के भीतर जाने के लिये तीन दरवाज़े थे, जिन पर खूब पहरा रहता था। पहरेदार किसी अपरिचित व्यक्ति को किसी तरह भी घुसने न देते थे।

'दीवान आम' की कारवाई सम्राट् के आगमन के साथ ही आरंभ हो जाती थी। सब से पहले प्रधान बख़्शी मनसबदारों के प्रार्थना-पत्र बादशाह के संमुख रखता था। तत्पश्चात् वह ऐसों को पेश करता था जो तरक्क़ी के योग्य

होते थे। जिन मनसबदारों को दरबार से बाहर किसी कार्य पर नियुक्त किया जाता था उन को इनामी पोशाकें दी जाती थीं। इस के बाद सद्र दरिद्रों व कंगालों के हाल बादशाह से बयान करता था, और विद्वानों और संतों को पेश भी करता था। फिर मीर सामान और दीवान बूतात अपने अपने काग़ज़ात बादशाह के संमुख रखते थे। तत्पश्चात् अहदियों के बख्शी, मीर आतिश और तोपख़ाने के मुशर्रिफ़ नए रँगरूटों को पेश करते थे। फिर प्रतिष्ठित मनसबदार सूबेदारों, बख़्शियों या दीवानों के निवेदन-पत्र पेश करते थे। अकसर सम्राट् स्वयं ही इन पत्रों को पढ़ता था और अपनी आज्ञा उन पर लिख देता था। आख़िर में अर्ज़ मुकर्रर बादशाह के सामने मनसब, जागीर और नक़दी की याद-दाश्त पेश करता था। इस प्रकार के आवश्यक कार्य समाप्त होने पर बादशाह के सामने नियत ख़ुराक वाले हाथी और घोड़े पेश किए जाते थे।

'दीवान आम' से बादशाह 'दीवान ख़ास' को जाता था। यहाँ उस को ऐसे कार्यों में दो घंटे बिताने पड़ते थे जो नीति या शासन संबंधी कारणों से 'दीवान आम' के खुले दरबार में नहीं किए जा सकते थे। उच्च श्रेणी के पदाधि-कारी बादशाह के सामने अपने प्रार्थना-पत्र पेश करते थे जिन पर या तो वह अपनी आज्ञा सूचित कर देता था अथवा कभी कभी स्वयं अपने हाथ से भी लिख देता था। यहाँ पर सद्र भी विशेष आवश्यक मामले पेश करता था। चित्र इत्यादि कलाओं के काम भी बादशाह यहीं देखा करता था। यहाँ पर 'दारोग़ा इमारत' भी सरकारी इमारतों के नक़्शों पर बादशाह की अनुमति लेने के लिये उपस्थित रहता था। शाहजहाँ के समय में तो इन नक़्शों पर ख़ूब वादविवाद हुआ करता था, तत्पश्चात् अनुमति दी जाती थी।

'दीवान ख़ास' से उठ कर बादशाह 'शाहबुर्ज' अथवा शाही मीनार को जाता था। यहाँ एक गुप्त अंतरंग सभा जुड़ती थी जिस में शहज़ादों और दो या तीन और कर्मचारियों के अतिरिक्त किसी और को उपस्थित रहने की आज्ञा न थी। कोई अफ़सर भी अपने कार्य की समाप्ति के बाद इजलास में न रुक सकता था। शाहबुर्ज में गुप्त हुक्म लिखे जाते थे और सूबे के कर्मचारियों के पास सीधे भेज दिए जाते थे। ख़ालसा व तलब का जो काम 'दीवान ख़ास'

मे बाक़ी रह जाता था वह भी यहीं समाप्त किया जाता था। लगभग 'शाह-बुर्ज' में दो घंटे व्यतीत हो जाते थे।

यह सब काम करते करते दोपहर हो जाती थी। अब बादशाह हरम मे चला जाता था और यहाँ खाना खा कर कुछ देर आराम करता था। जब सो कर उठता था तो पटरानी ग़रीबों के ख़ास ख़ास मामले पेश करती थी। ग़रीब व कंगाल लड़कियों के लिये जहेज़ का प्रबंध कर दिया जाता था, और कभी कभी उन के विवाह भी ठीक कर दिए जाते थे। शायद ही कभी ऐसा अवसर होता हो कि कोई प्रार्थी निराश हो कर महलों से लौटे। इस प्रकार के धर्म-संबंधी कामों में काफ़ी धन व्यय किया जाता था।

तीसरे पहर तीन बजे के समय बादशाह महलों से निकलता था। कभी कभी वह 'दीवान आम' में पहरेदारों का मुआइना करने चला जाता था, परंतु विशेष कर तो वह तीसरे पहर की नमाज़ पढ़ने जाया करता था। शाम का समय वह 'दीवान ख़ास' में व्यतीत किया करता था। शासन-संबंधी कार्य समाप्त होने के बाद नाच गाने का प्रबंध होता था। बड़े बड़े झाड़ जलाए जाते थे जिन की रोशनी में ज़री के परदे और मसनद कैसे चमकते होंगे इस की केवल हम एक धुँधली सी कल्पना कर सकते हैं। आगरे और दिल्ली मे शाहजहाँ के ही बनवाये हुए 'दीवान ख़ास' हैं। दिल्ली के शून्य 'दीवान ख़ास' को देख कर अब भी अमीर ख़ुसरो का यह पद याद आ जाता है—

अगर फ़िरदौस बर रूए ज़मीं अस्त,

हमीं अस्तो, हमीं अस्तो, हमीं अस्त।

अथवा 'यदि स्वर्ग पृथिवीतल पर हो सकता है, तो वह यहीं है, यहीं है, यहीं है।'

आठ बजे के लगभग शाहबुर्ज में एक और अंतरंग सभा कर के बादशाह महलों में चला जाता था, जहाँ खाना खा कर रमणियों के गाने सुनता था। दस बजे बिस्तर पर लेट जाता था। इस कमरे में परदे की दूसरी ओर विद्वान् अनेकानेक विषयों पर किताबें पढ़ते थे। जिन को सुनते सुनते बादशाह को नींद आ जाती थी। दस से चार तक सोने का समय था।

सप्ताह मे यह नित्य-क्रम केवल शुक्रवार को बदलता था। इस दिन बादशाह स्वयं अदालत में बैठ कर न्याय किया करता था, और ग़रीबों के मुक़दमों की सुनवाई करता था। इस दिन दरबार न होता था बल्कि छुट्टी रहती थी।

परंतु दरबार के संबंध मे इस लंबे चौड़े कथन से हम को यह अनुमान कर लेना उचित नहीं कि वह केवल शाही शान को प्रगट करने की एक संस्था थी। यह तो वास्तव मे उस के प्रकाश की एक किरण थी। असली उद्देश्य तो था जनता मे सभ्यता का फैलाना। जिस के पूर्ण करने के लिए बादशाह स्वयं कुछ उठा न रखता था। कला-कौशल और विद्या-प्रचार मे सम्राट् को बड़ा अनुराग था। कवि, कलावंत, दार्शनिक, विद्वान इत्यादि दूर दूर से मुग़ल दरबार की ओर आकर्षित होते थे। बादशाह उन का आदर-सत्कार भी खूब किया करता था।

बाबर व हुमायूँ के बारे मे तो कुछ ऊपर लिखा ही जा चुका है। रही अकबर की बात, सो वह स्वयं तो पढ़ा लिखा न था परंतु वह विद्वानों की खूब क़द्र किया करता था। उस के समय मे साहित्य व कला की खूब उन्नति हुई। उस के दरबार मे ग़िज़ाली व फ़ैज़ी ऐसे कवि, अबुलफ़ज़्ल ऐसा गद्यकार, अब्दुस्समद, दशवंत, बसावन जैसे चित्रकार, कलावंत, व तानसेन जैसे गवैये हो गए हैं। सीकरी के धुँधले चित्रों और उस की विशाल इमारतों से साफ़ मालूम पड़ता है कि अकबर को कला की उन्नति का बड़ा ध्यान था। उस के समय में हिंदू-मुस्लिम संगठन के लिये अनेक प्रयत्न किए गए। इस कार्य्य में उस को कितनी सफलता प्राप्त हुई यह उस के समय का इतिहास पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। जनता को इस सम्राट् से इतना प्रेम हो गया था कि आगरे में तो एक ऐसे लोगों की संस्था क़ायम हो गई थी, जो सबेरे अकबर के बिना दर्शन किए हुए जलपान नहीं करते थे। इसी बादशाह के उत्साह और साहित्य-प्रेम का नतीजा था कि संस्कृत के अनेक ग्रंथों के फ़ारसी में अनुवाद हुए। फ़ैज़ी का गीता तो इतना प्रसिद्ध हो गया कि ऐसे हिंदू जो संस्कृत नहीं पढ़े थे और जिन को गीता से प्रेम था वह फ़ारसी गीता का पाठ किया करते थे यह

रिवाज तो इस सदी के आरंभ तक क़ायम रहा। फ़ारसी सरकारी ज़बान हो जाने के कारण आम तौर पर पढ़ी जाने लगी, और चूंकि इस को पढ़ने में नौकरी मिल जाती थी इसलिये इस का महत्त्व और भी बढ़ गया था।

जहाँगीर के दरबार में तो चित्र-कला की बहुत चर्चा रहा करती थी। इस कला में स्वयं सम्राट् को इतनी कुशलता प्राप्त थी कि यदि कोई चित्र कई कारीगरों ने मिल कर बनाया हो, तो वह यह ठीक ठीक बता सकता था कि आँख किस ने बनाई है, नाक किस ने और कमर किस ने। उस के दरबार में बड़े बड़े निपुण चित्रकार थे। फर्रुख़ बेग मुग़ल ढंग की चित्रकारी का प्रधान प्रचारक था। मुहम्मद नादिर और मुहम्मद मुराद भी अच्छे कारीगर थे, परंतु इन दोनों को सियाह क़लम का ही केवल अभ्यास था। जहाँगीर तो नादिरुज़्ज़माँ अबुल हसन का काम बहुत पसंद करता था। नादिरुल् असर उस्ताद मंसूर जानवरों के चित्र खींचने में निपुण था। विशुनदास और दौलत भी इसी समय के प्रसिद्ध चित्रकारों में से थे। जहाँगीर के राज्य-काल में चित्र-कला उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच गई। नतीजा यह हुआ कि जनता में भी यह शौक़ फैल गया, ख़ास कर दरबारी तो सम्राट् का अनुगमन करने ही लगे।

यदि अकबर ने हिंदू-मुस्लिम संगठन के लिये परिश्रम किया, और जहाँगीर ने चित्र-कला को उन्नति दी, तो शाहजहाँ के राज्य-काल में कई दिशाओं में उद्योग हुआ। इस में संदेह नहीं कि उस का ध्यान शिल्प-कला की ओर विशेषतः आकर्षित था। परंतु साहित्य से भी उस को अच्छा ख़ासा प्रेम था, इसलिये उस के समय की साहित्यिक संस्थाओं का थोड़ा सा हाल लिखना आवश्यक मालूम पड़ता है।

उस के दरबार में ही बहुत से विद्यानुरागी और विद्वान् थे। अलीमरदान ख़ाँ, सादुल्ला ख़ाँ, सईद ख़ाँ, जफ़र ख़ाँ, ख़ानाज़ाद ख़ाँ, मीरजुमा, अफ़ज़ल ख़ाँ, राजा जैसिंह शास्त्रों में ऐसे ही निपुण थे जैसे कि शस्त्रों में। साम्राज्य के सूबों में तो यह लोग दरबारी सभ्यता के दूत थे, और जनता के लिये तो यह आदर्श थे। बड़े खेद की बात है कि इन लोगों के सभ्यता-प्रचार-संबंधी उद्योग

का यथापद्धति हाल नहीं मिलता, तो भी तत्कालीन साहित्य से इन के परिश्रम का थोड़ा बहुत पता लगता ही है।

यह दरबार का ही प्रभाव था कि लाहौर, अंबाला, थानेश्वर, अहमदाबाद, बुरहानपुर और जौनपुर विद्वानों और साहित्य-प्रेमियों के निवास-स्थान हो गए थे। इसी प्रकार काश्मीर भी विद्या-प्रचार का एक केंद्र हो गया था। शाहजहाँ के राज्य काल में यहाँ बहुत से कवि और गद्यकार इकट्ठा हो गए थे। मुल्ला हसन फ़रोग़ी व मुल्ला मुहसिन फ़ानी काश्मीर-निवासी ही थे, ख्वाजा खुदावंद महमूद ने इस सूबे को अपना निवास-स्थान ही बना लिया था। मुल्ला-शाह यहाँ अक्सर आया करते थे। कलीम और कुदसी यहाँ रहने ही लगे।

इस सामान्य विद्या प्रचार का बड़ा ही महत्त्व पूर्ण प्रभाव पड़ा। साहित्य की उन्नति के लिये चारों ओर कोशिशें होने लगीं। चूंकि फ़ारसी दरबारी भाषा थी इसलिये उस को अधिक प्रोत्साहन मिला, और इस भाषा में बहुत सी किताबें लिखी गईं। सिकंदर लोदी के समय से फ़ारसी भाषा की दो शाखाएँ हो चली थीं, एक तो असली फ़ारसी और दूसरी देशी अथवा हिंदुस्तानी फ़ारसी। परंतु कई कारण से अकबर के राज्य काल के पूर्व देशी फ़ारसी की उन्नति न हो पाई। सब से मुख्य कारण यह है कि इस को सम्राट् से प्रोत्साहन प्राप्त न हुआ। सिकंदर का उत्तराधिकारी इब्राहीम हुआ। इस बेचारे को अमीरों के विद्रोह से ही अवकाश न मिला कि देशी फ़ारसी के लिये कुछ कर सकता। बाबर तो सर्वतः प्रवासी ही था, उस के साथी कुछ फ़ारसी और कुछ तुर्की थे। हुमायूँ जब फ़ारस से लौटा तो उस के साथ दल के दल फ़ारसियों के थे। ऐसी अवस्था में देशी फ़ारसी की उन्नति की क्या आशा की जा सकती थी। अकबर के राज्य काल के प्रथम भाग में असली फ़ारसी का ही ज़ोर रहा क्योंकि उस का समर्थक बैराम खाँ फ़ारसी सभ्यता, फ़ारसी आदर्श और फ़ारस-वासियों का प्रेमी था। उस की फ़ारसियों के साथ सहानुभूति ही के कारण दरबार में बड़ा उपद्रव हुआ जिस के कारण बैराम खाँ को अपना पद छोड़ना पड़ा। जब अकबर ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ली और राज्य में शांति स्थापित हो गई तब देशी फ़ारसी का महत्त्व बढ़ने लगा भाग्यवश इस समय देशी

फ़ारसी का ऐक ऐसा अधिष्ठाता पैदा हुआ जिस ने अपनी योग्यता से बादशाह को चकित कर दिया। अकबर अबुलफ़ज़्ल पर इतना मुग्ध था कि जिस का कुछ ठिकाना नहीं। और अबुलफ़ज़्ल सम्राट् का विश्वस्त साथी था इस कारण उस की भाषा सरकारी व दरबारी कामों के लिये आदर्श बन गई। अकबर ने उस को सरकारी इतिहासकार की पदवी पर नियुक्त किया। अबुलफ़ज़्ल ने भी अपने मालिक का ऐसा हक़ निबाहा कि 'अकबरनामा' और 'आईन अकबरी' को रच कर अकबर को सदा के लिये अमर कर दिया। उस के अलंकारों और शब्द-विन्यास से पश्चिमी विद्वान् तो इतना चिढ़ते हैं कि वह उस की भाषा को फ़ारसी भाषा में गिनती ही नहीं करते हैं। जो असल फ़ारस के रहने वाले हैं उन का तो कहना ही क्या। वह भला हिंदुस्तानी फ़ारसी को कब अपनी भाषा में जगह देने लगे? मगर बात तो यह है कि अबुलफ़ज़्ल की भाषा हिंदुस्तानी फ़ारसी थी न कि फ़ारस की फ़ारसी।

इस देशी फ़ारसी की उन्नति का सिलसिला जहाँगीर के राज्य-काल में रुक गया। इस का कारण यह है कि इस समय हिंदुस्तानियों का ज़ोर घट गया था, और बड़े बड़े पदों पर फ़ारसी ही विराजमान थे। आसफ़ ख़ाँ, उस के बाप, उस की माँ और उस की बहन को देशी फ़ारसी की उन्नति का भला क्योंकर ख़याल होता? यह लोग तो फ़ारस के असली बाशिंदे थे। इन को अपनी मातृ भाषा पसंद आती या हिंदुस्तान की नव उत्पन्न भाषा? परंतु शाहजहाँ के राज्याभिषेक होते ही लहर दूसरी ओर चल पड़ी। उस के आदर्श अत्यंत विशाल थे और वह हर बात में अपने बाबा की नकल करना चाहता था। उस ने यह प्रतिज्ञा की कि उस के राज्य-काल का इतिहास 'अकबर नामा' के ही टक्कर का होना चाहिए। इसलिये उस ने ऐसे व्यक्ति की खोज की जिस ने लेखन-पद्धति का ख़ूब मनन किया हो और जो उसी प्रकार की भाषा लिख सके। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये उस ने पहले अमीनाई क़ज़वीनी को इतिहासकार के पद पर नियुक्त किया। फिर जलालुद्दीन तबातबाई को। मगर यह दोनों फ़ारस निवासी थे इस कारण सम्राट् के उद्देश की पूर्ति न कर सके। अंत में बड़ी तलाश के बाद उस को एक योग्य व्यक्ति मिल गया। और उस ने अब्दुल हमीद

लाहौरी को इस पद पर नियुक्त किया। और इस के काम से बहुत खुश रहा।

शाहजहाँ का देशी फ़ारसी के विद्वानों का खोजना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वह देशी भाषा का अनुयायी था। उस के प्रोत्साहन के कारण इस समय मे देशी भाषा की खूब उन्नति हुई। शेख़ इनायतुल्ला, मुल्ला मुहम्मद जौनपुरी, मुहम्मद सालेह इत्यादि तो मुसलमानों मे देशी फ़ारसी के निपुण लेखक हो गए हैं। हिंदुओं में भी अकबर के समय से ही फ़ारसी भाषा की चर्चा फैली और शाहजहाँ के राज्यकाल में राजा जैसिंह और चंद्रभानु प्रसिद्ध लेखक हो गए हैं। चंद्रभानु पहला हिंदू था जिस ने अबुलफ़ज़्ल की लेखपद्धति की खूब नक़ल कर ली थी। वह कुछ समय शाहजहाँ का साहित्य-सचिव भी रहा। उस की 'चार चमन' नामी पुस्तक की विद्वान् बड़ी प्रशंसा करते हैं।

देशी फ़ारसी ने गद्य मे तो खूब उन्नति कर ली परंतु पद्य मे देशी कवियों को अधिक सफलता प्राप्त न हुई। बाबर और हुमायूं के दरबार मे तो देशी कवियों का वर्णन नहीं मिलता, अकबर के दरबार मे भी ऐसे कवियों की अधिक संख्या न थी। उस के दरबार का पहला राजकवि ग़िज़ाली मेशहदी था जिस का कि निवास-स्थान ख़ास फ़ारस था। फ़ैज़ी देशी कवि का एक मात्र उदाहरण है जिस ने मुग़ल राजकवि के पद को सुशोभित किया हो। यह इस बात का स्फुट प्रमाण है कि देशी फ़ारसी में कोई उत्तम श्रेणी के कवि नहीं हुए। स्वयं इस मे संदेह है कि फ़ैज़ी उच्च कोटि का कवि था भी या नहीं। जहाँगीर के दरबार का राजकवि तालिब आमुली था जिस की मृत्यु सन् १६२६ में हुई। दूसरा प्रसिद्ध कवि नज़ीरी नैशापुरी था। इस के एक क़सीदे मे ख़ुश हो कर जहाँगीर ने इस को तीन हज़ार बीघा ज़मीन पुरस्कार मे दे दी थी। इस की मृत्यु सन् १६१४ में अहमदनगर शहर में हुई। तीसरा प्रशंसनीय कवि जहाँगीर के समय मे उरफ़ी हुआ है। इस के क़सीदे बड़े ही मनोरंजक है। कहते हैं कि यह स्वयं बादशाह पर आशिक़ था। शाहजहाँ के समय में चार प्रसिद्ध कवि हुए और यह चारों ही फ़ारस के रहनेवाले थे। कलीम राजकवि था; हाजी मुहम्मद जान ने 'बादशाहनामा' की पद्य में रचना की साएब अपने रंग का विचित्र कवि था उस की धाक तो फ़ारस में भी उतनी

ही थी जितनी हिंदुस्तान में; मुहम्मद कुली सलीम ने तो हिंदुस्तान में ही डेरे डाल दिए और अंत में काश्मीर में दम छोड़ा, और वहीं दफ़न किया गया। औरंगजेब के दरबार के भी चार प्रसिद्ध कवियों में से तीन फ़ारस के वाशिंदे थे। साएब अथवा मिर्ज़ा ज़ाफ़र तबातबाई की जन्मभूमि स्फ़ाहाँ थी; मुहम्मद सालेह अशरफ़ भी स्फ़ाहाँ का रहने वाला था, कुछ दिनों यह शाहज़ादी ज़ेबुन्निसा का अध्यापक भी रहा; आक़िल ख़ाँ राज़ी ख़ुरासान का रहनेवाला था, औरंगज़ेब इस का बहुत सम्मान करता था। मिरज़ा अब्दुल क़ादिर बेदिल अवश्य देशी था।

मुग़ल काल में फ़ारस से इतने कवियों के आगमन का मुख्य कारण तो यह था कि वहाँ उन की पूछ कम थी। फ़ारस के बादशाह शिया थे और वह अपने मत के विषयों पर ही कविता कराना चाहते थे। वह स्वयं अपनी प्रशंसा नहीं कराना चाहते थे। ऐसी दशा में कवियों को अपना कौशल दिखाने का अच्छा अवसर न मिलता था और उन को यथायोग्य इनाम भी न मिल सकता था। इस के विरुद्ध हिंदुस्तान के मुग़ल सम्राट् सुन्नी मत के थे, और उन को कवियों से अपनी प्रशंसा कराना बहुत ही भाता था। दूसरे यह कि फ़ारस के बादशाहों के मुक़ाबले में इन के पास धन भी अधिक था और वह पुरस्कार भी भरपूर देते थे। फिर भला हिंद की दौलत लूटने फ़ारसी कवि क्यों न आते? यहीं उन की आशाओं की पूर्ति हो सकती थी।

इतने कवि फ़ारस से आए और उन का मुग़ल दरबार में आदर सत्कार भी हुआ, परंतु वास्तव में उत्तम कवियों की संख्या कम थी। अकबर के दरबार में तो अवश्य दो चार कवि अच्छे थे, परंतु सत्रहवीं सदी में तो साएब को छोड़ कर एक कवि भी ऐसा नहीं हुआ जिस की गिनती उत्तम श्रेणी के कवियों में की जा सके। इन कवियों की कविता में भावों का अभाव था और शब्दाडंबर के अतिरिक्त कुछ भी नयापन नहीं प्रतीत होता। ग़ज़लों में सूफ़ी भाव भरे पड़े हैं, और विषय वही पुरानी चालवाले। रूपक, उपमाएँ, अलंकार सब 'गुल व बुलबुल', 'शीरीं व फ़रहाद', 'लैला व मजनूँ' के क़िस्सों से लिए गए हैं फ़ारस के कवियों ने तो सृष्टि की प्रतिभा की भी कहीं कहीं व्याख्या

की है, परंतु हिंद के कवियों ने या तो उन की नक़ल कर ली है, या इस विषय पर ध्यान ही नहीं दिया। उन की कविता पढ़ कर ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो सृष्टि उन के हृदय के तारों में लहरें पैदा कर ही न सकती थी। देशी कवि यदि प्रशंसा करते हैं तो फ़ारसी बहार की, नाम लेते हैं तो फ़ारसी फूलों के। मगर मुग़ल काल में कवियों का ध्यान ग़ज़ल की ओर इतना आकर्षित न था जितना कि कसीदे की तरफ़। अच्छे कसीदे के सिले में उन को पुरस्कार भी अच्छा मिल जाता था। सच तो यह है कि मुग़ल काल में कुछ अच्छे क़सीदे लिखे गए हैं।

गद्य के संबंध में ऊपर थोड़ा बहुत वर्णन किया जा चुका है, अब केवल यहाँ पर एक सामान्य अवलोकन किया जावेगा। मुग़ल दरबार में गद्य से कई प्रकार के ग्रंथ रचे गए, परंतु सब से अधिक संख्या इतिहासों की थी। बाबर ने स्वयं अपना 'आत्मचरित्र' लिखा जिस की गिनती प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तकों में की जाती है। हुमायूँ के दरबार में कोई इतिहास लिखा ही नहीं गया, परंतु उस के उत्तराधिकारी अकबर के समय में तो इतिहास-संबंधी साहित्य की भर-मार रही। गुलबदन बेगम ने सरल भाषा में 'हुमायूँनामा' लिखा, बायज़ीद ने अपनी टूटी फूटी भाषा में अपनी 'आत्मकहानी' लिखी। इन सब के और सरकारी कागज़ों के आधार पर अबुलफ़ज़्ल ने अपने दो सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'अक-बरनामा' व 'आईन अकबरी' रचे। इसी समय दो और नामी इतिहासकार हो गए हैं जिन का ज़िक्र आवश्यक मालूम पड़ता है। निज़ामुद्दीन ने 'तबकात अकबरी' रची, और अब्दुलकादिर बदायूनी ने 'मुनतखबुत्तवारीख़'। उन के अतिरिक्त छोटे मोटे इतिहासकार तो बहुत से हुए जिन का हाल लिखना इस समय मुनासिब नहीं है। अपने परदादा को आदर्श समझ कर जहाँगीर ने स्वयं अपनी 'आत्मकथा' लिखी। यह पुस्तक इतनी मनोरंजक है कि इस को पढ़ने से मनुष्य कभी थकता ही नहीं, उस पर अमूल्य बात यह है कि बादशाह ने अपना कोरा कोरा हाल लिख दिया है। उस ने केवल दो बातें छिपा डाली हैं, एक तो शेर अफ़गन की हत्या से अपना संबंध, दूसरे नूरजहाँ के साथ अपने विवाह का वृत्तांत उस के समय में दरबारी इतिहासकार मोतमद ख़ाँ था यद्यपि

इस बात का कहीं हवाला नहीं है कि वह कभी इस पद पर नियुक्त किया गया, परंतु वह बादशाह के स्नेहपात्रों में से था और उस ने 'आत्मकथा' का अंतिम भाग लिखा है, इस कारण उस को इस खिताब से याद करना अनुचित न होगा। मोतमिद खाँ की गिनती योग्य व्यक्तियों में थी परंतु उस के 'इक़बालनामे' से तो कोई योग्यता टपकती नहीं है। उस के ग्रंथ से तो बढ़ कर कामगार हुसैनी की 'मुआसिर जहाँगीरी' है। शाहजहाँ के ज़माने का इतिहास तो लगातार कई लेखकों ने रचा है। इन में से अमीनाई क़ज़बीनी, जलालुद्दीन तबातबाई, अब्दुल-हमीद लाहौरी, इनायत खाँ, मुहम्मद सालेह कम्बू, मुहम्मद वारिस का संबंध दरबार से ही था। औरंगज़ेब के दरबार में तो केवल एक ही इतिहासकार हुआ है अर्थात् मिरज़ा मुहम्मद काज़िम जिस ने 'आलमगीरनामा' लिखा, जिस में इस सम्राट् के राज्य के दस वर्षों का हाल दर्ज है। इस के बाद तो औरंगज़ेब ने इतिहास लिखने की मनादी कर दी थी।

इतिहास के अतिरिक्त और बहुत से ग्रंथ भी गद्य मे लिखे गए, इन में से सब से श्रेष्ठ स्थान अनुवादित ग्रंथों का है। अकबर ने तो रामायण, महाभारत, अथर्ववेद, लीलावती और पंचतंत्र के फ़ारसी में अनुवाद कराए। जहाँगीर के ज़माने मे इस प्रकार का काम बंद रहा। मगर चूंकि शाहजहाँ के बेटे दारा को हिंदू धर्म्म का ज्ञान प्राप्त करने का अधिक शौक था उस ने बहुत सी पुस्तकों के अनुवाद कराए। उपनिषदों के फ़ारसी मे अनुवाद हुए और इस ग्रंथ का नाम रक्खा गया 'सिर्रुलअसरार'। इसी प्रकार 'योगवासिष्ठ' और 'भगवद्-गीता के भी अनुवाद किए गए। दारा ने स्वयं पंडितों की सहायता से हिंदू धर्म के कई कई शब्दों के अनुवाद फ़ारसी में किए और उन के मेल सूफ़ी शब्दों से मिलाए। इस संग्रह का नाम 'मजमाउल बहरैन' रक्खा गया।

बाबर व हुमायूं के बाद मुग़ल दरबार में हिंदुओं की काफ़ी पैठ हो गई। हिंदुओं को उच्च पद पर नियुक्त करना अकबर की शासन-पद्धति का एक बड़ा भारी अंग था। इस का प्रभाव यह पड़ा कि मुग़ल सम्राट् को देशी भाषा में दिलचस्पी हो गई। अकबर हिंदी भाषा समझता था, और उसी के समय में कविराय की पदवी क़ायम की गई। कवि गंग दरबार का कवि था और इसने

वीर और शृंगार रस के बहुत ही रमणीय कवित्त कहे हैं। इस के अतिरिक्त अकबरी दरबार में हिंदी के और भी कवि थे। राजा टोडरमल और राजा बीरबल की कविताओं का कोई संग्रह प्राप्त नहीं हुआ है, परंतु इन की गिनती अच्छे कवियों मे होती थी। अकबरी दरबार का सब से प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना हुआ है। तुलसी के वचनों के समान इन के वचन भी हिंदी भाषी भूभाग में सर्वसाधारण के मुँह पर रहते हैं। भाषा पर तुलसी का सा ही इन का भी अधिकार कहा जाता है।

हिंदू प्रभाव के अतिरिक्त दूसरा कारण मुग़ल बादशाहों की हिंदी मे दिलचस्पी का था उन का गान-विद्या में अनुराग। हिंदुस्तान में जितना इस विद्या का प्रचार और आदर था उतना शायद मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया में न था। अकबर को तो देशी गाना इतना प्रिय था कि उस के दरबार मे तानसेन हमेशा हाजिर रहता था। उस के बेटे दानियाल को भी हिंदी गाने का बड़ा शौक था। जहाँगीर ने अपनी 'आत्मकथा' मे लिखा है कि उस का भाई अक्सर हिंदी गाने, भाषा पर पूर्ण अधिकार के साथ, रचता था।

जहाँगीरी दरबार में कविराय की पदवी पर कौन नियुक्त था इस का पता नहीं चलता, परंतु अनेक प्रमाणों से मालूम यही पड़ता है कि सम्राट् हिंदी भाषा से खूब परिचित था। अपनी 'आत्मकथा' मे उस ने कई जगह यादरूप सन्यासी से वार्तालाप का उल्लेख किया है। एक जगह पर शिवरात्रि का हाल लिखते हुए उस ने लिखा है कि रात को बहुत से योगी उस के पास आए जिन से उस ने बातें कीं। यह ठीक है कि दरबारी फारसी जानते थे, परंतु यह असंभव है कि यह भ्रमण करने वाले योगी भी फ़ारसी भाषा से परिचित होवे। कँवल के फूल का हाल लिखते हुए वह कहता है कि "इस को हिंदी मे कुमुदनी कहते हैं। यह तीन रंग का होता है सफ़ेद, नीला और लाल।......कँवल का फूल कुमुदनी से बड़ा होता है......इस मे संदेह नहीं कि कँवल दिन में खुलता है और रात में बंद हो जाता है, परंतु कुमुदनी रात को खिलती है और दिन को बंद हो जाती है। काली मक्खी जिस को हिंदुस्तानी लोग भँवरा कहते हैं हमेशा इस पर बैठता है, और इन का रस पान करने के लिये इन के अंदर

बंद हो जाती है। अकसर कँवल बंद हो जाता है और भँवरे को रात उसी के अंदर व्यतीत करनी पड़ती है। इसी प्रकार वह कुमुदनी में भी वास करता है। जब फूल खिला तब वह उड़ जाता है। चूंकि भँवरा हमेशा इन्हीं फूलों पर रहता है, देशी कवि उस को बुलबुल के समान कँवल का प्रेमी समझ कर सरस कविता रचते हैं।" इस कथन से स्पष्ट है कि जहाँगीर को न केवल हिंदी भाषा से परिचय था बल्कि हिंदी कविता और उस के भावों का भी ज्ञान था। उस के दरबार के एक सुप्रसिद्ध अमीर तरबियत ख़ाँ को हिंदी गाने का बड़ा शौक था।

शाहजहाँ के बारे में तो ज़रा भी शक नहीं कि वह हिंदी जानता था। यही नहीं, वह हिंदी बोल भी ख़ूब लेता था। उस के समय में कविराय की पदवी पर सुंदरराय नियुक्त था। इस की कविता में उस समय की फ़ारसी भाषा का रंग नज़र पड़ता है, क्योंकि फ़ारसी लेखकों के समान शब्द-चमत्कार की ओर इस की प्रवृत्ति थी। चिंतामणि और कविंदाचार्य भी शाहजहाँ की तारीफ़ में कविताएँ रचा करते थे और यथायोग्य पुरस्कार पाते थे। औरंगज़ेब के समय मे कविराय का पद तो जारी रहा परंतु इस को हिंदी भाषा से इतना प्रेम न था जितना कि उस के पूर्वजों को।

आश्चर्य-जनक बात तो यह है कि मुसलमान होते हुए भी मुग़ल बादशाहों ने हिंदी काव्य और हिंदी गान को इतना प्रोत्साहन दिया, परंतु उर्दू (जिस का फ़ारसी व अर्बी से इतना घनिष्ट संबंध है) के लिये कुछ भी नहीं किया। लोगों का यह कथन कि उर्दू की शाहजहाँ के समय मे बड़ी उन्नति हुई मूल्य नहीं रखता अमीर ख़ुसरो के बाद उत्तरी हिंद में किसी भी प्रसिद्ध उर्दू कवि का पता नहीं चलता, गद्य की तो अभी उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। संभव है कि उर्दू का अंकुर उत्तरी भारत अथवा पूर्वी पंजाब व पश्चिमी संयुक्त देश में उगा हो। परंतु उस की बाढ़ और उन्नति दक्षिण में हुई। सत्रहवीं सदी के अंत तक उर्दू दक्षिण में ही रही। कारण इस का यह था कि हिंदी को तो देशी भाषा होने की वजह से मुग़ल सम्राट् सीखते थे, परंतु फ़ारसी के मुक़ाबले में उर्दू सीखने के लिये उनके पास क्या बहाना था? दूसरे यह कि सत्रहवीं सदी के अंत तक फ़ारस से कवियों

की आमद जारी रही जिस के कारण दरबार में फ़ारसी का ज़ोर रहा। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के समय मे यह सिलसिला बंद हो गया, जिस का नतीजा यह हुआ कि उर्दू को उन्नति करने का अवसर मिल गया।

ऊपर की व्याख्या से यह न समझना चाहिए कि मुग़ल बादशाहों को केवल साहित्य ही के प्रचार और उन्नति मे दिलचस्पी थी, बल्कि उन का ध्यान शिल्प-कला की ओर भी उतना ही आकर्षित था। बाबर व हुमायूँ के समय की इमारते ऐसी हालत मे नही हैं कि ज़िन को देख कर उन के शिल्प-कला संबंधी विचारों का निर्णय किया जा सके। बाबर की बनवाई हुई एक मसजिद पानीपत में है और एक संभल में। कहते हे कि इस सम्राट् ने कुस्तुनतुनयाँ से कारीगर बुलवाए थे। हुमायूं के समय की भी दो मसजिदें हैं। एक तो टूटी-फूटी आगरे के पास और दूसरी फ़तहाबाद मे, जहाँ कि फ़ारसी ढंग पर रंगीन पत्थरो का फ़र्श है।

अकबर ने हिंदू व मुसलमान दोनों की शिल्प-कला-पद्धति को मिश्रित करने की कोशिश की, मगर चूँकि उस का झुकाव हिंदुओ की ओर अधिक था, उस की इमारतों मे भी हिंदूपन अधिक झलकता है। केवल हुमायूं का मक़बरा मुसलमानी ढंग पर बना हुआ है। कारण यह कि इस मे अकबर का अधिक हाथ न था। दूसरे संभव है कि हुमायूं के साथ आई हुई फ़ारस की फ़ौज मे कारीगर रहे हों और उन्हों ने इस मक़बरे की बनावट में अपनी राष्ट्रीय कुशलता का उपयोग किया हो। इस इमारत में सब से पहले संगमरमर का इस्तेमाल किया गया है। आगरे के क़िले में अकबर का बनवाया हुआ जहाँगीरी महल, और फ़तहपुर सीकरी के महल साफ़ हिंदू ढंग के हैं इन मे महराबों का कहीं नाम निशान नहीं है, और इन की छतें भी सपाट हैं। फ़तहपुर सीकरी में सब से विशाल इमारत बलंद दरवाज़ा है, और उस के भीतर जो मसजिद बनी है उस का कहना ही क्या।

जहाँगीर का ध्यान शिल्प-कला की उन्नति की ओर इतना आकर्षित न था जितना चित्रकला की ओर। नूरमहल की सराय में उस ने एक सुंदर फाटक , श्रीनगर में बाग़ लाहौर में अनारकली की क़ब्र,

किले की पूर्व दिशा में ख़्वाबगाह और उस के अंदर एक सुंदर मसजिद बनवाई जो मोती मसजिद के नाम से प्रसिद्ध है। परंतु जहाँगीरी काल की सब से नफ़ीस और सादा इमारत है आगरे में एतमादुद्दौला का मक़बरा। यह पीले पत्थर का बना है, और अपने ढंग का बिलकुल निराला है।

शाहजहाँ के सिंहासन पर बैठते मानों शिल्प-कला का भाग्य उदय हुआ उस को स्वयं इस कला का अच्छा ज्ञान था, फिर उस को आसफ़ ख़ाँ ऐसे प्रवीण सलाहकार मिले। इस के अतिरिक्त इस समय तक हिंदू-मुस्लिम आदर्शों का मिश्रण हो कर एक नया ढंग निकल चुका था जिस की पूर्ण उन्नति शाहजहाँ के प्रोत्साह के कारण हो सकी। इस नए ढग मे फ़ारसी बनाव-चुनाव की मात्रा तो थी मगर देशी कारीगरों ने इस पर अपना रंग चढ़ा कर इस में एक अजीब बात पैदा कर दी थी इसलिये शाहजहाँ के समय मे जितनी भी इमारतें बनी वे अपने ढंग की एक हैं। इन इमारतों मे दो विशेष बातें हैं, प्रथम तो संगमरमर का व्यवहार, दूसरे पिच्चीकारी की कारीगरी। इन दो विशेषताओं के कारण जो सुंदरता पैदा हो गई है वह अद्भुत है।

शाहजहाँ ने आगरे में कई इमारतें बनवाई। क़िले में जो विशाल महल है उन के संमुख जहाँगीर व अकबर के महलों की शान फीकी पड़ जाती है। यहाँ का 'दीवान आम' २०८ फ़ीट लंबा और ७६ फ़ीट चौड़ा है। 'दीवान ख़ास' बिलकुल संगमरमर का ही बना है, मगर इस के अंदर नक़्क़ाशी का काम और जड़े हुए फूल अत्यंत सुंदर हैं। क़िले के अंदर सब से सादी मगर सब से विशाल इमारत 'मोती मसजिद' है। ऊपर से तो यह ज़रा भी शानदार नहीं जान पड़ती परंतु अंदर घुसते ही आँखें चकाचौंध हो जाती हैं। मगर आगरे की नाक है ताजमहल। यह पृथिवी के सात अजायबों में से एक है। इस को देखने के लिये दूर दूर देशों से यात्री आते हैं। इस इमारत में शृंगार और सादगी का ऐसा मिश्रण है कि इसे देख कर सभी चकित हो जाते हैं। इस में पिच्चीकारी का काम साफ़ मगर सुंदर है, इस की जाली का काम कारीगरी का नमूना तो है मगर पेचीदगी का इस में नाम नहीं। सच तो यह है कि इस इमारत को देख कर यक़ीन नहीं आता कि इस को मनुष्यों ने बनाया हो।

शाहजहाँ ने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया, और अपने रहने के लिए एक विशाल क़िला तैयार कराया। इस क़िले को देख कर प्रतीत होता है कि मुग़ल बादशाहों के महलों का क्या नक़्शा था। किले के 'दीवान आम' व 'दीवान ख़ास' में कारीगरी तो अवश्य अधिक है, परंतु इस कारीगरी में, जनानेपन की अधिक मात्रा है, फिर शृंगार में भी सादगी नहीं है बल्कि बड़ा अलंकार मालूम पड़ता है। तो भी दिल्ली का किला प्रशंसनीय है।

औरंगज़ेब को न शिल्प और न चित्र-कला में ही दिलचस्पी थी, इस कारण उस के राज्यकाल में न तो कोई अच्छे चित्र ही खींचे गए और न कोई अच्छी इमारतें ही बनीं। उस के सिंहासन पद ग्रहण करते ही सब कलाओं का ह्रास आरंभ हो गया।

कर्ममार्ग का इतिहास

[लेखक—डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फ़िल्० (ऑक्सन)]

हिंदुस्तान के इतिहास की प्राचीन अवस्था उस समय का नाम है जो वैदिक काल से आरंभ होती है और आठवीं सदी ईस्वी में समाप्त हो जाती है। इस अवस्था को चार युगों में बाँट सकते हैं। यह चार युग हिंदू सभ्यता के इतिहास के चार भाग हैं। पुराणों की भाषा में इन्हें सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग कह सकते हैं। इन चार युगों के धर्म और इन के आधार श्रुति, स्मृति, पुराण और तंत्र हैं।

कर्म का मार्ग सतयुग में श्रुति से शुरू होता है। धीरे धीरे उस के सिद्धांतों और उपासनाओं में अंतर होने लगता है। नए विचारों और नई सामाजिक शक्तियों के संचार से उस का रूप बदलता जाता है। सरलता के स्थान पर कट्टरता, जटिलता और संकीर्णता आ जाती है। इन दोषों को दूर और मार्ग में भावुकता उत्पन्न करने के लिए जो उपाय किये जाते हैं वह वैदिक काल की यज्ञ की रीतियों और देवताओं और उन की पूजा में बड़ा परिवर्त्तन कर देते हैं। उस का प्रतिबिंब पुराणों और इतिहासों में दिखाई देता है। चौथे युग में इस कर्म-प्रधान धर्म का नया ही रूप बनता है, जिस के साधन और सिद्धांत गूढ़ दृष्टि रखने वाले विवेकी व्यक्तियों के लिये भले ही हितकारी हों लेकिन साधारण मनुष्यों के लिये अवश्य ही नुक़सान पहुँचाने वाले हैं। तांत्रिक धर्म का फैलाव हिंदू इतिहास की वह संध्या है जिस में प्राचीन सभ्यता का सूर्य डूब जाता है। इस लेख का उद्देश कर्म-धर्म के इतिहास का वैदिक समय से आठवीं सदी तक वर्णन करना है और यह दिखाना है कि यह धर्म युग युग में कैसे कैसे रूप धारण करता है और इस में क्या क्या परिवर्तन होते हैं। इस इतिहास

के देखने से यह मालूम हो जायगा कि कर्ममार्ग किसी एक सिद्धांत-विशेष का नाम नहीं है किंतु इस की अनेक शाखाएँ हैं जो एक दूसरे से निराली हैं।

वेदों में कर्ममार्ग

वेद हिंदुस्तान के सब धर्मों का सोता है। वेद से तीनों मार्गों का प्रारंभ होता है। लेकिन वेद में कर्म पर औरों की अपेक्षा अधिक जोर दिया गया है। ज्ञान और भक्ति का वर्णन है, लेकिन कर्म ही की सब से अधिक चर्चा है। वैदिक युग के आर्य निर्भय, साहसी और शूरवीर थे। उन्हें हिंदुस्तान तक पहुँचने के लिए अनेक संकटों का सामना करना पड़ा था। उमड़ती नदियों, बर्फ से ढके पहाड़ों और गहरी सविस्तर झीलों को पार कर वह यहाँ आए थे। प्राकृतिक कठिनाइयों के अतिरिक्त जिस जिस देश में से गुजरे, उन्हों ने वहाँ तलवार के जोर से अपना रास्ता निकाला। हिंदुस्तान की आदिम जातियों को परास्त कर उन्हों ने अपने पराक्रम का परिचय दिया। और आर्य-सभ्यता का झंडा हिंदुस्तान के भूमितल पर गाड़ दिया। साहस, पराक्रम, युद्ध, विजय यही उन के जीवन के मुख्य विशेषण थे और इन्हीं का प्रतिबिंब उन की धार्मिक पुस्तकों में मिलता है। वेद में कर्म की प्रधानता का यही कारण जान पड़ता है। ऋग्वेद से कर्ममार्ग का इतिहास आरंभ होता है। साम, यजुः और अथर्व इस की पुष्टि करते हैं। ब्राह्मणों में कर्म की व्याख्या है। सूत्रों और स्मृतियों में इस का सार दिया है। मीमांसा में दार्शनिक दृष्टि से विचार है। महाभारत और पुराणों में साधारण मनुष्यों के लिए कथा-रूप से वर्णन और तंत्रों और आगमों में साधन, विधि और क्रिया का उल्लेख है।

कर्ममार्ग के सिद्धांत

१—सत्ता

कर्म का मार्ग जिन सिद्धांतों पर आश्रित है वह यह हैं—

वास्तव में यह ब्रह्मांड जो चर और अचर से भरा है, यह दो-रूपा जगत जो परोक्ष और प्रत्यक्ष—आँखों से ओझल और आँखों के सामने—है, एक दैवी तत्व है—एक सत्ता है जो   है भीतरी और बाहरी जगत में

समाई है; किंतु इस का छोर नहीं, पारावार नहीं, यह सब से अतीत, परे है। मनुष्य की शक्ति और बुद्धि इस तत्व में इसे सत् और असत्, व्यक्त और अव्यक्त, परा और अपरा की सूचना देती हैं। यह सत्य और निश्चित भी है और इसी के लिये नेति नेति के वाक्य उपयोग किए गए हैं। यह चल और अचल है, इस को वेद में एक, तद्, गुह्य आदि कहा है।

'एक सत् को विद्वान् लोग बहुत रूपों से कहते हैं।'[1]

'उस समय न असत् था न सत् ही था।'[2]

'उस समय न मृत्यु थी न अमरत्व था, रात्रि और दिन की पहचान नहीं थी, (उस समय) उस एक ने अपनी शक्ति से वायु के बिना श्वास ली, उस के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।'[3]

'पूर्व में अंधकार अंधकार से ढका हुआ था, यह सब अज्ञात जल-रूप सर्वत्र था; जो (जगत् रूप से प्रकाश) होने वाला एक तुच्छता (माया) में ढका था वह अपने तप (तपस्या अथवा ताप) की महिमा से (प्रकाशित) हुआ।'[4]

'वाणी से परिमित (वाणी के आकार से) चार पद (होते हैं) उन (सब) को विद्वान् ब्राह्मण जानते हैं; (उन में से) तीन गुहा में स्थित हैं (गुप्त हैं) (उन्हें) (साधारण मनुष्य) नहीं प्रकाशित करते; मनुष्य लोग (वाणी के) चतुर्थ (भेद) को बोलते हैं।'[5]

---

१ एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति। ऋग्वेद, १-१६४-४६

२ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्। ऋग्वेद, १०-१२९-१

३ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास॥ ऋग्वेद, १०-१२९-२

४ तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥ ऋग्वेद, १०-१२९-३

५ चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहात्रीणि निहिता नेंगयंति तुरीयं वाचो मनुष्या वदंति॥ ऋग्वेद, १-१६४-४५

'सब भूत (प्राणी) इस (पुरुष) के एक पाद (चौथाई मात्र) हैं, इस के तीन पाद (तीन चौथाई भाग) अमर (है और) स्वर्ग में (हैं) ।'[१]

यह तत्व न केवल दैवी और एक है, इस में पुरुषत्व (personality) है।

'यह सब अतीत तथा भविष्य पुरुष ही है ।'[२]

पुरुष होने के कारण इस में इच्छा है, जो मन की आदि शक्ति है, और सारे जीवजंतुओं के विकास का आधार है।

'उस (अव्यक्त) के उपरांत प्रथम काम हुआ, जिस से मन की (रेतः) उत्पादिनी शक्ति हुई ।'[३]

पुरुष होने के कारण ही उसे प्रजापति कहा है। वह सब का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और विनाशकर्ता है। वह देवों का अधिदेव है। वह आदि पुरुष विराट् है। चंद्रमा इस का मन, सूर्य इस की आँख, अग्नि इस का मुँह, वायु साँस, अंतरिक्ष नाभि, आकाश सिर, पृथ्वी पैर और दिशाएँ कान हैं। वह अध्यक्ष सब के कामों को देखता है। वह भुवनों का विधाता और हमारा माता-पिता है।

२—नियम

इस तत्व का एक और विशेषण है। यह तत्व नियम से प्रेरित है। वेद में नियम के नाम हैं ऋत, व्रत, धामन्, धर्मन्। ब्रह्मांड के मंदिर की नींव, भीत, छत और अटारी के अस्तित्व और रक्षा का आधार ऋत, व्रत, धामन् और धर्मन् ही हैं। इसी नियम का प्रसार प्रकृति के सब कामों में दिखाई देता है— दिन और रात के क्रम मे, ऋतुओं के परिवर्तन में, नदियों के चढ़ाव-उतार में, समुद्र के ज्वार-भाटे में, तारों की चाल में। भौतिक जगत ही नहीं, नैतिक संसार भी इसी के बंधनों से जकड़ा है। देवता नियमों के पालन पर बाधित हैं। इसी

---

[१] पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। ऋग्वेद, १०-९०-३

[२] पुरुष एव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्। ऋग्वेद, १०-९०-२

[३] कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्। ऋग्वेद १०-१२९ ४

लिये वेद में अग्नि को ऋतस्य गोपा, बृहस्पति को ऋतप्रजात, सरस्वती को ऋतावरी, इंद्र को ऋतवाम, अश्विन् को सुव्रत, रुद्र को धृतव्रत, कः को सत्यधर्मन्, वरुण को ऋतपेश कहा है। लिखा है कि नियम और धर्म से ही देवताओं को बल प्राप्त होता है—

'हे मित्र और वरुण ऋत को बढ़ाने वाले तथा ऋत को स्पर्श करने वाले (मानने वाले) (तुम दोनों ने) ऋत के द्वारा बृहत् क्रतु (प्रज्ञा) को पाया।'[1]

ऋत द्वारा वैरियों पर विजय, और संसार में सुख मिलता है। ऋत यज्ञ का आधार, सत्य का आश्रय और प्रार्थना का फल-हेतु है। ऋत दीन और दुनिया का सहारा है। ऋत नियम और धर्म परम तत्व से अभिन्न है।

३—सृष्टि

यह तत्व जो एक 'दिव्य' पुरुष के समान और नियम से बँधा हुआ है, देश और काल से परे होते हुए भी अपने आप को प्रकट करता है—उस जगत में भी जिसे चेतन सहज रूप से पहिचानता है और उस जगत में भी जो इंद्रियों द्वारा जाना जाता है। जगत की उत्पत्ति में काल का लगाव नहीं है। वेद में कहा है—

'उस से विराट् उत्पन्न हुआ, विराट् के उपरांत पुरुष।'[2]

इस से जान पड़ता है कि सृष्टि कोई ऐतिहासिक क्रिया नहीं। न्याय-संगत क्रिया है। किंतु जब वाक्यों के द्वारा इस का वर्णन किया जाता है तो भाषा की कमजोरी के कारण समय की संगत का धोखा होता है। इस क्रिया का वेदों में कई प्रकार से वर्णन है। कहीं तो लिखा है कि इसे विश्वकर्मा या त्वष्टा ने गढ़ा है जैसे बढ़ई काठ से गढ़ कर चीजें बनाता है। कहीं इस की नींव, खंभों इत्यादि का जिक्र है, कहीं जुलाहे के समान ताना-बाना फैलाने और कपड़ा बिनने से इस की समानता दिखाई गई है। कहीं सृष्टि को पुरुष के

---

[1] ऋतेन मित्रा वरुणावृता वृधावृतस्पृशा क्रतुं बृहंतमाशाथे। ऋग्वेद, १-२-८

[2] तस्माद्विराळजायत विराजो अधिपूरुषः। ऋग्वेद, १०-९०-५

बलिदान का नतीजा बताया है और कहा है कि जगत के अंग पुरुष के अंगों से बने हैं। कहीं इस क्रिया को असत् और अव्यक्त से सत् और व्यक्त की ओर विकास के रूप में दर्शाया है। और कहीं लिखा है कि आदि में परम तत्व से पानी पैदा हुआ, जिस के ऊपर ब्रह्मांड का सुनहला बीज तैरता था, जिस से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा ने देवताओं, लोकों, पृथ्वी, सूर्य, चंद्र और आदमी को बनाया।

सृष्टि में देवताओं का पहिला स्थान है। वेद में माना है कि देवता अनादि नहीं हैं। वह सब साथ नहीं पैदा होते। पहले वह मनुष्य की तरह मृत्यु के वश में थे, लेकिन यज्ञ करने और सोम पीने की वजह से अमर हो गए। देवताओं के वर्णन में, उन के हाथ-पाँव और शरीर के अंगों की चर्चा है, उन के रहने के स्थान, स्वर्ग का ज़िक्र है। देवताओं के बल, पराक्रम और महत्त्व की प्रशंसा है। उन्हें प्रकृति के कामों का नियंता, मनुष्य के भविष्य का शासक और सर्वज्ञ बताया है। उन्हीं पर संसार की नीति, धर्म और अभ्युदय का आधार है।

देवताओं के कई विभाग किए जा सकते हैं। आकाश के देवता हैं द्यौः, वरुण, मित्र, सूर्य, उषा, अश्विन; अंतरिक्ष के इंद्र, त्रित, अपमनपत, मातरिश्वन, रुद्र, मरुत्, वायु, पर्जन्य; पृथ्वी के अग्नि, पृथ्वी, सोम, नदी, पहाड़ इत्यादि। देवताओं में जोड़े भी हैं। जैसे मित्रवरुण; देवियाँ हैं, जैसे सरस्वती, वाच्; देव समूह हैं, जैसे, विश्वेदेवाः, वसु; छोटे दर्जे के देव हैं, जैसे ऋभु, अप्सरा, गंधर्व; इष्टदेवता है जैसे वास्तोस्पति, क्षेत्रस्यपति, सीता, उर्वरा। विशेषण और गुण भी देवताओं में शामिल हैं, जैसे दक्ष, अंश, पुरंधि, अरमति, अंसुमति, मृत्यु, मन्यु; ऋषि-मुनि और पितृ देवताओं मे हैं, जैसे मनु, अथर्वन्, दध्यंचि, अत्रि, कण्व, कुत्स, काव्य उपानः, अंगिरस, भृगु, सप्त ऋषि; जानवरों और बेजान वस्तुओं के भी नाम देवताओं में हैं, जैसे घोड़ा, गाय, बकरी, चिड़िया, पहाड़, पौधे, वृक्ष, नदी, यज्ञ का सामान, रथ, हल, अस्त्र, और शस्त्र इत्यादि देवताओं की संख्या निश्चित नहीं कहीं तैंतीस कहे हैं कभी तीन हजार तीन सौ तैंतीस ध्यान पूर्वक देखा जाय तो मालूम होगा

कि नाम तो अनेक हैं परंतु असल एक है। एक शक्ति है जो अनगिनित रूप धारण करती है। कभी भौतिक शक्ति जैसे सूर्य, रुद्र, मरुत, पर्जन्य, अग्नि, कभी भौतिक पदार्थ और कभी मानुषी शक्ति। कोई देवता वास्तव में दूसरे से अलग नहीं। अग्नि को कहा है इंद्र, विष्णु, ब्रह्मा, वरुण, रुद्र, सविता; इंद्र को सूर्य और उषा; सोम को पतिर्दिवः, 'पतिर्विश्वस्य भुवनस्य', पिता और जनिता। यहीं तक नहीं, यह भी कह दिया है—

'जो हमारे पिता, हमारे जन्मदाता और जो हमारे (भाग्य) विधाता हैं और जो सब लोकों और प्राणियों को जानते है, जो अकेले (ही) सब देवों के नाम रखने वाले हैं, उन से पूछने (ज्ञान प्राप्ति) के लिये अन्य प्राणी जाते हैं।'[1]

'उन को लोग इन्द्र, मित्र, वरुण कहते हैं, और वही सुपर्ण (अच्छे परों वाले) दिव्य गरुड़ हैं। विद्वान् लोग एक सत् को नाना रूप से कहते है (और) अग्नि, यम, मातरिश्वा (वायु) (कह कर) पुकारते हैं।'[2]

४—मनुष्य

मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि आकाश उस का पिता, पृथ्वी माँ और अग्नि जन्मदाता है। मनु पहिला मनुष्य था और वह विवस्वत् का पुत्र था। मनु की संतान इस रिश्ते से देवताओं की संतान है।

मनुष्य की देह और आत्मा में भेद है। देह नाश होने वाली है। आत्मा मौत के बाद देह से अलग हो जाती है और नष्ट नहीं होती। वह अपने व्यक्तित्व को कायम रखती है। अग्नि उसे पितृलोक को ले जाता है। यम के स्थान में वह अपने कर्मों के फलों को भोग कर जमीन पर लौट आती है। अज्ञानी, मूढ़ और पापी आत्माएँ नरक में जाती हैं। जब तक पितृलोक मे नही पहुँ-

---

[1]यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवनायंत्यन्या॥ ऋग्वेद, १०-८२-३

[2]इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदंत्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋग्वेद १-१६४-४६

चती वह प्रेत की दशा में रहती हैं। जिस आत्मा ने परम ज्ञान पा लिया वह ब्रह्मलोक को चली जाती है।

'हे पवमान (सोम) जिस लोक में अक्षय ज्योति है, जिस में स्वः (सूर्य) स्थापित है, उस मरण हीन, अक्षय लोक में मुझको रखिए।'[1]

मनुष्य का जीवन दिव्य है। देवताओं की तरह काम में लगे रहना उस का धर्म है। देवता अपने कर्तव्यों के पालन में सदा लगे रहते हैं इसी कारण जगत के सारे धंधे चलते हैं। प्रकृति के सब काम देवताओं के नियमों पर चलने पर निर्भर हैं। देवता ऐसा न करे तो सूर्य पूर्व में न उगे; पृथ्वी की गति रुक जाय; मौसमों मे उलट-फेर हो जाय। चाँद और तारे आकाश में भ्रांत घूमे और विश्व अस्तव्यस्त हो जाय। जैसे प्रकृति-क्रम को बनाए रखने के लिये देवताओ को काम करना पड़ता है वैसे ही मानवी नैतिक क्रम को क़ायम रखने के लिये मनुष्य का कर्म मे लिप्त रहना आवश्यक है। जीवन कर्म का समय है।

मनुष्य देवताओं की संतान है। इसका अर्थ यह है कि वह देवताओं के समान चेतन शक्ति रखने वाला है। उस की आत्मा में ज्ञान का बीज है। वह आत्मा की आंतरिक दृष्टि से उस वास्तविकता का अनुभव करता है, जिस का ऊपर उल्लेख हुआ है। यह अनुभव उसे एक पुण्यतत्व की सूचना देता है जिस की पवित्रता को अपने जीवन में घटाने की चाह उस में पैदा होती है। पर दिव्य होते हुए भी मनुष्य अपूर्ण है। देह-संबंधी कामों में भी दूसरो की सहायता बिना उस का काम नहीं चलता अपनी जाति को कायम रखने के लिये पुरुष को स्त्री की आवश्यकता होती है। पेट पालने और जीवित रहने के लिये अन्य आदमियों की जरूरत है। सब से बढ़ कर उन शक्तियों के अनुग्रह की आवश्यकता है जिन के बिना न संतान हो सकती है, न जान बच सकती

---

[1]यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके॥ ऋग्वेद, ९-११३-७

है, जिन के बिना उस की इच्छा अपने जीवन को सफल और पुण्यमय बनाने में सिद्धि नहीं पा सकती। अपूर्णता ही इस लोक और परलोक की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये उसे विवश करती है।

पुण्यतत्व के ज्ञान की झलक उस में आश्चर्य, दैन्य, अधीनता, प्रेम के भाव उकसाती है। उस तत्व में उसे अलौकिक तेज, वैभव, पौरुष, प्रभाव, ऐश्वर्य जान पड़ते हैं। परंतु उसी के साथ वह उस में, अद्भुत माधुर्य, आकर्षण, और हृदयग्राही सौंदर्य भी पाता है। उस का मन भय और आनंद से भर जाता है। वह उस तत्व में मानुषी उपाधियों का आरोपण करता है; उसे सखा और मित्र, पिता और बंधु कहता है। उस में दिव्य विशेषण देखता है और उसे ईश्वर, परमात्मा, भगवान् के नाम से पुकारता है। उस में ब्रह्मांड के चलाने की क्षमता का अनुभव करता है। उसे आदि शक्ति, विश्वात्मा, आदि पुरुष कहता है। सारांश यह कि अपने अनुभव के अनुसार उसे आदर्श रूप प्रदान करता है।

मनुष्य अपूर्ण है। इस लोक में उसे वंश, धन और बल की आवश्यकता होती है। अपूर्ण होना ही उस का पाप है और उसे दुख का भागी बनाता है। इसी कारण उस के तन और मन में दोष हैं। इस अपूर्णता को दूर करना उस की चिरंजीवी आकांक्षा है। अपूर्णता के भाव का दूर होना परम सुख और मोक्ष है।

इस लोक में अपूर्णता के पूरा करने के उपायों मे समाज का संगठन है। समाज में क्या गुण होने चाहिएं, उन के विस्तृत वर्णन की यहाँ जरूरत नहीं। वेद में समाज का आदर्श ऐसे बतलाया है—

'एक साथ चलो, एक साथ बोलो, तुम्हारे मन एक साथ हो जाएँ, जैसे पूर्व के देवता लोग एक मत हो कर अपने अपने (यज्ञ) भाग को ग्रहण करते हैं (थे)। इन सब का मंत्र समान हो, समिति एक हो जाय, इन (सब) लोगों का मन समान हो और चित्त एक साथ हो। तुम लोगों के लिये एक मंत्र का उच्चारण करता हूँ और समान हवि से तुम लोंगों के लिये होम करता हूँ। तुम्हारा अभिप्राय समान हो, तुम्हारे हृदय समान हों, तुम्हारा मन समान हो

जिस से तुम्हारा साथ अच्छी तरह रहे।'[1]

५—यज्ञ

सुख और मोक्ष दोनों के लाभ का उपाय कर्म है।

कर्म उन क्रियाओं के संपादन को कहते हैं जिन के द्वारा देवताओं की कृपा प्राप्त होती है और उन का कोप दूर होता है। कर्म का नाम यज्ञ है। यज्ञ ही सुख और मोक्ष का साधन है। आवाहन, प्रार्थना, स्तुति, उपासना, तप, जप, दान इत्यादि इस के अंग हैं। वैदिक धर्म में यज्ञ प्रधान है।

'यह यज्ञ जगत की नाभि है।'[2]

यज्ञ देवताओं को बल देता है। इसी से देवताओं को यज्ञावृध कहा है। प्रकृति के सब व्यापार यज्ञ के अधीन हैं। यज्ञ से ही सृष्टि का प्रारंभ होता है। यज्ञ ही प्रजापति की इच्छापूर्ति का साधन है। यज्ञ द्वारा देवता जगत के क्रम की रक्षा करते हैं। मनुष्य को ईश्वर ने उपजाया है। वह ईश्वर और देवताओं के अधीन है। उस का कर्तव्य है कि ईश्वर की इच्छा को समझने की कोशिश करे और अपने कामों में देवताओं का अनुकरण करे। यज्ञ से ही मनुष्य को अभ्युदय प्राप्त होता है और यज्ञ से ही निश्रेय की सिद्धि होती है।

यज्ञ एक सर्वव्यापी प्रयोग है। कार्य कारण, फल और मूल की कड़ियों की ज़ंजीर है। कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। यज्ञ एक शक्ति है जिस के द्वारा इच्छानुसार फलों की प्राप्ति हो सकती है। क्यों? सारा ब्रह्मांड नियम से

---

[1]संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्त मेषाम्।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ऋग्वेद, १०-१९१-२,३,४

[2]अयं यज्ञः भुवनस्य नाभिः। ऋग्वेद, १-१६४-३५

बँधा है, नियम इस पर शासन करता है। नियम, ऋत और यज्ञ तीनों शब्दों के एक ही अर्थ हैं। तीनों लोकों में यज्ञ का राज्य है। यज्ञ सदा से चला आता है। यह अनादि है, अनंत है। इस की शक्ति सोती रहती है। काम लेने के लिये इसे जगाने की जरूरत होती है। जब यह जाग जाती है तब यज्ञ की अग्नि और बैकुंठ के बीच पुल बाँध देती है जो यजमान और देवताओं के समागम का रास्ता बन जाता है। इसे जगाने के लिये पुरोहित चाहिए जो यज्ञ के साधनों को जमा करें और इन्हें मिला कर इस का रूप खड़ा करे। जब तक सारे अंग ठीक ठीक न मिल जायँ रूप नहीं बन सकता और जब तक रूप न ठीक हो इस का फल नहीं मिलता। त्रुटियों को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता है। यज्ञ के साधनों में सामग्री, स्थान, मंत्रादि शामिल हैं।

यज्ञ वांछित फलों का देने वाला है। मंत्र की आंतरिक शक्ति वाच् है। वाच् की प्रेरणा से यजमान की आत्मा जाग उठती है। अपने विषयों के आदर्श स्वरूप से भेंट करती है, और उन्हें यथार्थ बनाने में सफल होती है। फल कई प्रकार के हैं। स्वास्थ्य, बल, दीर्घायु, बहुत से लड़के, धन-दौलत, गाय, बैल, घोड़े, अमन-चैन, वैरियों पर विजय, संसार के सुख, पापों के दंड से छुटकारा, झूठ बेईमानी, आज्ञालंघन, मित्रों बंधुओं माता-पिता और अन्य जनों के दुराचारों से और नैतिक क्रम के विरुद्ध अपराधों से क्षमा; अंत में आत्मा के मलों का धुलना और अमृत-लोक की प्राप्ति।

इन फलों के पाने के लिये कई प्रकार के यज्ञ हैं। कुछ तो यज्ञ ऐसे हैं जिन का संबंध मनुष्य के जीवन से है। जीवन-यात्रा की हर एक मंज़िल के लिये यज्ञ है। पैदा होने से मरने तक के लिये ४० संस्कार हैं। इन में जातकर्म, उपनयन, विवाह और देहांत उल्लेख के योग्य हैं। गृहस्थी से संबंध रखने वाले कई कर्म हैं जिन में अग्निहोत्र, अग्न्याधेय, पाँच महायज्ञ, श्राद्ध इत्यादि हैं। नियत समयों के कर्मों में पाकयज्ञ हैं—जैसे अष्टक, पर्वन्, श्रावणी, अग्रहायणी, चैत्री, अश्वयुजी; हविर्यज्ञ हैं, जैसे दर्शपूर्णमासौ, अग्रयणा, चतुर्मास्य। अनियत कर्मों में सोमयज्ञों की गिनती है जैसे अग्निष्टोम, षोड़शी,

वाजपेय, अतिरात्र अप्तोर्याम और इन में राज्याभिषेक, राजसूय और अश्वमेध भी संमिलित हैं।

यज्ञों के भेद और भी हैं। तीन भागो में इन्हें बाँटा है। नित्यकर्म जिन का करना आवश्यक है; नैमित्तिक, जिनका संबंध विशेष समयों से है और काम्य जो किसी विशेष इच्छा की पूर्ति के लिये किए जायँ।

कुछ यज्ञ ऐसे हैं जिन में केवल एक अग्नि (गार्हपत्य) की जरूरत होती है। कुछ में तीन अग्नियों की—गार्हपत्य, आह्वनीय, और दक्षिण। कुछ के करने में थोड़ा समय लगता है, जैसे नित्य के अग्निहोत्र इत्यादि, कुछ कई दिनों मे समाप्त होते हैं और कुछ ऐसे होते है जिन्हे सत्र कहते हैं और जो महीनों और वर्षों में पूरे होते हैं। कुछ यज्ञ गृहस्थ स्वयं ही कर लेता है। कुछ में पुरोहित की आवश्यकता होती है। किसी यज्ञ में चार पुरोहित चाहिए, किसी मे सोलह या इस से भी अधिक। सब यज्ञ यजमान के अपने हित के लिये होते हैं चाहे छोटे हों चाहे बड़े। वैदिक यज्ञ और पूजन सार्वजनिक नहीं हैं। व्यक्ति संबंधी हैं समाज संबंधी नहीं।

यज्ञ के लिये किसी विशेष स्थान की शर्त नहीं है। जहाँ चाहें वेदी बन सकती है, घर के भीतर या बाहर। लेकिन दो यज्ञ एक स्थान में नहीं हो सकते। एक यज्ञ के मंत्रों को दूसरे यज्ञ वालों को नही सुनना चाहिए। यज्ञ मे आहुति दूध, घी, अनाज, सोम, तिल, फल इत्यादि की होती है और पुराने जमाने मे जानवरों की भी होती थी। बड़े यज्ञों के साथ भोज भी होता था, खेल-कूद के तमाशे और दान पुण्य होते थे। ब्राह्मणों को यज्ञ कराने के लिये दक्षिणा देनी आवश्यक थी। इस की प्रशंसा में लिखा है—

'दक्षिणा (देने) वाले स्वर्ग मे ऊँचे रहे (रहते हैं) जो अश्व के देने वाले (थे) वे सूर्य के साथ रहे (रहते हैं)। सोना देने वाले अमरत्व पाते है, सोम वस्त्र के देने वाले (अपनी) आयु बढ़ाते हैं। जिस ने प्रथम दक्षिणा से पूजा की उस को लोग ऋषि कहते हैं, उसे ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्गाता और होता कहते हैं; वह (प्रकाशमय) तेज के तीन रूपों को जानता है। दक्षिणा अश्व देती है, गाय देती है, चाँदी और सोना देती है, दक्षिणा अन्न प्राप्त कराती है जो

भारी आत्मा है, विद्वान् दक्षिणा को अपना वर्म (बख्तर) बनाता है। दाता लोग मरते नहीं, न नीचे गिरते हैं, न हानि पाते हैं और न व्यथा को प्राप्त होते हैं; यह सब जो लोक है और स्वर्ग है, इस को दक्षिणा इन को (दाताओं को) देती है।'[1]

वैदिक कर्ममार्ग उस धर्म का नाम है जिस का यहाँ तक वर्णन हुआ। इस धर्म के अनुसार मनुष्य (पुरुष और स्त्री) का कर्तव्य था कि अपना जीवन श्रद्धा के साथ यज्ञों के करने में बिताए। इन से इस संसार का सुख और पर-लोक का आनंद प्राप्त करे। यज्ञ धार्मिक जीवन का केंद्र था। इसी के चारों ओर मनुष्य के सारे कार्यों का चक्र था। धर्म इसी मार्ग के अनुसरण से पूरा होता था।

अथर्ववेद में कर्ममार्ग

कर्ममार्ग का बयान यहीं शेष नहीं हो जाता। इस वैदिक मार्ग में से कई और रास्ते निकलते हैं जिन में कर्म का महत्त्व है।

इन में सब से पहिले अथर्ववेद के कर्मों की चर्चा आवश्यक है। ऋग्वेद में यज्ञ के क्या सिद्धांत थे यह हम ऊपर कह आए हैं। संक्षेप में यज्ञ उस शक्ति का नाम है जो जगत की नियंता, ब्रह्मांड के क्रम की रक्षक और धर्म का पालन

---

[1] उच्चा दिवि दक्षिणावंतो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजंते वासोदाः सोम प्रतिरंत आयुः॥
तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध॥
दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चंद्रमुत यद्धिरण्यम्।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्॥
न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यंति न व्यथंते ह भोजाः।
इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति॥
ऋग्वेद, १०-१०७-२,६,७,८

करने वाली है। इस शक्ति के यथोचित व्यवहार से सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। यह शक्ति देवताओं को बाधित करती है, और प्रयोग करने वाले को अमानुषी बल देती है। प्रकृति अपने कामों में चूक करे तो यज्ञ उन्हें ठीक कर सकता है, पानी समय से न बरसे तो यज्ञ द्वारा इंद्र को मजबूर कर सकते हैं। अग्नि बलि को अपनी ज्वाला की शिखा पर चढ़ा कर आसमान में ले जाती है और देवताओं के यज्ञ तक पहुँचा देती है। मंत्र वाक्-शक्ति द्वारा देवशक्ति के अंतःकरण पर प्रभाव डालते हैं। यज्ञ वह कुंजी है जिस से तीनों लोको की गुप्त शक्तियों पर अधिकार मिल जाता है। मंत्र और कर्म से सभी बातों का इलाज हो जाता है, सभी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। इन में सब प्रकार के भय से बचाने और वैरियों को कष्ट पहुँचाने की सामर्थ्य है।

'न (शुभ) तिथि की, न नक्षत्र की, न ग्रह की और न चंद्रमा की आवश्यकता है; अथर्व मंत्र के प्रयोग से सब सिद्धि हो जाती है।[1]

अथर्ववेद में बीमारियों के लिये मंत्र दिए हुए हैं। जिन्हें भैषज्यानि कहते हैं, तक्मन अर्थात् बुखार के कई मंत्र हैं, खाँसी, कब्ज, दर्द, दिल गुर्दे के रोग, कोढ़, पुराना बुखार इत्यादि सब के लिये मंत्र हैं। और कई के लिये जड़ी-बूटी और मंत्र दोनों का व्यवहार लिखा हुआ है। आयु बढ़ाने के लिये और तंदुरुस्ती क़ायम रखने के लिये आयुषाणि मंत्र हैं और मोती और सोने के तावीज़ों का जिक्र है। भूत, प्रेत, दैत्य और जादूगरों से बचने के लिये अभिचारिकानि और कृत्याप्रत्याहरणानि मंत्र हैं। स्त्रियों के लिये स्त्रीकर्माणि मंत्र हैं जिन का अभिप्राय यह है कि वह अपने पति को वश में रक्खें, पुत्रवती हों और मंत्रों के ज़ोर से मर्द स्त्री को अपनी ओर खींच सकें। राजकर्माणि मंत्रों के द्वारा राज्य के वैभव और बल में उन्नति हो सकती है, वैरियों पर युद्ध में विजय मिल सकती है और खोया हुआ राज्य मिल सकता है। सांमनस्यानि मंत्र झगड़ा फिसाद दूर करने और अमन स्थापित करने के लिये है। घर में, खेती में, कार-

---

[1] न तिथिर्न च नक्षत्रं न ग्रहो न च चंद्रमाः ।
[illegible] (अथर्व परिशिष्ट)

बार में, जुए में और अन्य व्यवहारों में सफलता पाने के लिये दधिक्रमारिण मंत्र हैं। पापों और कलंकों को धोने के लिये प्रायश्चित्त हैं और ब्राह्मणों के लाभ के लिये शाप और प्रार्थनाएँ हैं।

अथर्ववेद का कर्ममार्ग जादू-टोने, मंत्र और यंत्र का मार्ग है। यह वह मार्ग है जिस पर मनुष्य के आदि काल से आज तक मूढ़ अज्ञानी और अंध-विश्वास रखने वाले चलते आए हैं। प्रकृति की शक्तियों का भय और अज्ञान इस तरह के पाखंडों के जन्मदाता है।

जप

कर्ममार्ग की एक और शाखा है—जप। यजुर्वेद में देवताओं पर प्रभाव डालने के लिये उन के सब नामों और उपाधियों को गिनवाने और इन में से हर एक के द्वारा इन की पूजा करने का तरीका दिया है। स्वाहा, स्वधा, वषट्, वेट्, वाट् ओम् आदि शब्दों के दुहराने से फलों की सिद्धि का होना माना है। इस प्रकार के जपों में वाजसनेयी और तैत्तिरेयो संहिता मे शतरुद्रीय और महाभारत और पुराणों में विष्णुसहस्रनाम और शिवसहस्रनाम हैं।

निष्काम कर्म

कर्ममार्ग का बयान समाप्त कर ने से पहिले निष्काम कर्म का जिक्र करना उचित है। कर्म का मूल सिद्धांत यह है कि हर काम का नतीजा होना अवश्य है। कारण और कार्य का क्रम अनंत है। इस कारण मरना और जीना आत्मा के साथ लगा हुआ है। और इस चक्र से किसी तरह छुटकारा नहीं मालूम होता। बुरे कामों का बुरा फल, अच्छों का अच्छा भोगना ही पड़ेगा। जब तक आत्मा और देह का साथ है काम करना आवश्यक है। आत्मा और देह का साथ नहीं छूट सकता जब तक कर्म और उस का फल बाकी है। फलों के भोगने के लिये आवागमन का फेर है, यही सब से बड़ा दुख है। इस से आज़ादी या मोक्ष सब से बड़ा सुख है। इस काम और फल के आवागमन के चक्कर से कैसे छुट्टी मिले? फल की इच्छा से काम करे तो छुटकारा नहीं। काम न करना मनुष्य के लिए असंभव है। तब एक ही सूरत

है। कर्म में संसार से बाँधने वाली एक ही चीज़ है, इच्छा। इसे छोड़ दें तो आत्मा के बंधन टूट जायँ। संक्षेप मे यही निष्काम कर्म का मार्ग है। मोह और संग का त्याग कर, ज्ञान रखते हुए, जो नित्य कामों को करता है और काम्य कामों को छोड़ देता है वह मोक्ष प्राप्त करता है।

नए प्रभाव

वैदिक कर्ममार्ग की व्याख्या के बाद कर्ममार्ग के इतिहास पर निगाह डालने की आवश्यकता है। हमें यह मालूम करना है कि सातवीं और आठवीं सदी मे जब इस्लाम का हिन्दुस्तान से नाता बँधा, तो हमारे देश मे कर्ममार्ग के सिद्धांतों और इन के समर्थकों की क्या दशा थी।

वैदिक कर्ममार्ग जिस में यज्ञ साधन और स्वर्ग उद्देश था, बहुत दिनों तक असली रूप में क़ायम न रहा। नए सिद्धांतों, नए मतों, नए देवी-देवताओं और नए साधनों के आविष्कार की वजह से और पुरानी पद्धतियों मे कठोरता, पुरोहितों की वृत्ति में कट्टरपन और सच्ची आत्मनिष्ठा मे कमी आ जाने के कारण कर्ममार्ग में परिवर्तन होने लगे।

१—आवागमन

सिद्धांतों में कर्म और संसार, पुनर्जीवन और मोक्ष और वर्ण और आश्रम बड़े महत्त्व के हैं। ऋग्वेद में आवागमन की चर्चा नहीं है, मनुष्य एक बार उत्पन्न होता है, एक बार मरता है। मौत जीवन-यात्रा की अंतिम मंज़िल नहीं है। आत्मा मरने के बाद उस लोक मे चली जाती है जिस के योग्य उस ने कर्म किए थे।

'(अपने) बनाए लोक मे पुरुष उत्पन्न होता है।'[1]

वहाँ वह फलों का भोग करती है। कहीं कहीं ऋग्वेद में तीन जन्मों का ज़िक्र है। एक जब बालक माँ के पेट से पैदा होता है, दूसरा जब गुरु की

---

[1]'कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते (शतपथ ब्राह्मण ६-२, २, २७)

शिक्षा प्राप्त करता है, और तीसरा जब मरने के बाद देव या पितृलोक मे प्रवेश करता है। लेकिन बार बार न कोई जन्म लेता है न मरता है।

पुनर्जन्म के सिद्धांत की ओर ब्राह्मणों में संकेत है।

'फिर से इस लोक मे हो जाता है।'[1]

ऐतरेय ब्राह्मण में जीने और मरने के अनंत चक्र का उल्लेख है। उपनिषदों में यह सिद्धांत पक्का हो जाता है। देवलोक में अमर रहने की जगह आत्मा का ध्येय ब्रह्म में लीन हो जाना है, और जब तक आत्मा इस गति को प्राप्त नहीं होती वह जन्म और मरण के चक्कर मे रहती है। इसी का नाम संसार है। इस संसार से मुक्ति उसी समय होती है जब आत्मा के सब मल धुल जाते हैं। संसार ही आत्मा के विनयन का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में कर्मों के अनुसार योनि मिलती है। जिन के कर्म पिछले जन्म मे अच्छे थे वे अगले मे मनुष्य योनि प्राप्त करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के कुल में जन्म लेते हैं, जिन के कर्म बुरे होते है वह मनुष्यों में चांडाल के यहाँ पैदा होते हैं और मनुष्य से नीच जानवरों की योनि पाते हैं। कर्म और फल के संबंध का निवारण नहीं। कर्म अच्छे हैं तो अच्छे फल, बुरे हैं तो बुरे फलों का भोगना आवश्यक है। फल भोगने के लिए इस दुनियाँ में आना-जाना आवश्यक है। यही सब से बड़ा दुख है। इस से छुटकारा उस समय मिलता है जब आत्मा सब दुख-सुखों, अमृत लोक के आनंदों की इच्छा को त्याग कर, कर्म के बीज को भस्म कर अनुभव के संसार से निवृत्त हो ब्रह्म मे लीन हो जाती है।

२—वर्णाश्रम

कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष के सिद्धांतों ने वैदिक कर्मकांड की जड़ों को हिला दिया। वर्णाश्रम के सिद्धांत ने इस मार्ग को दूसरी तरह से धक्का लगाया। ऋग्वेद मे इस सिद्धांत का बीज मात्र है। पुरुषसूक्त में चार वर्णों की चर्चा है। परंतु यज्ञों के विस्तार से और ऐतिहासिक कारणों से जाति के भेदो मे

---

[1] पुनर्हवाऽस्मिँल्लोके भवति (शतपथ ब्राह्मण, १-५, ३, १४)

कट्टरपन आया। ऋग्वेद में जिस तरह के धर्म का वर्णन है उस में श्रद्धा, सचाई, सीधापन, ऊँचे भाव, ईश्वर की दयालुता, मनुष्य का देवताओं पर आश्रय, आत्मा का तेज इत्यादि की झलक है। ब्राह्मणों में कर्मकांड के फैलाव में भाव दब कर मुर्दा हो जाते हैं। यज्ञ मे हृदय की धार्मिक अभिलाषाओं और आत्मा की गूढ़ आकांक्षाओं का इतना विचार नहीं रहता जितना विधान की शुद्धि का। जो कुछ हो, किंतु किसी प्रकार की त्रुटि न होने पावे नहीं तो यज्ञ निष्फल हो जायगा। और विधान का आडंबर इतना बढ़ जाता है कि इस बात की आवश्यकता होती है कि आर्य जाति का एक ख़ास अंग इस की बारीकियों को समझने और याद रखने के लिये अलग हो जाता है। यही पुरोहितो का समूह ब्राह्मण कहलाता है। श्रेष्ठ धार्मिक काम के लगाव के कारण ब्राह्मण जाति भी श्रेष्ठता प्राप्त करती है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का दर्जा इन से घट कर माना जाता है। आरंभ में जो आर्य पुरोहित का काम करता था वह ब्राह्मण था। पुरोहितों का वर्ग था, जिस का काम यज्ञ कराना था। धीरे धीरे वर्ग बदल कर जाति का रूप धारण कर लेता है। कर्म पर नहीं जन्म पर वर्गों का बटवारा होता है। हर एक जाति के कर्तव्य अलग अलग बन जाते है। अपनी जाति के कर्तव्यों का पालन ही बड़ा धर्म समझा जाता है। स्त्रियों, शूद्रों और इन से छोटे लोगों को यज्ञ का अधिकार नही रहता। स्पष्ट है कि यह सिद्धांत कर्ममार्ग की सर्व व्यापकता के विरोधी है और इस की ओर से लोगो के दिलों को हटाने वाले हैं।

चार आश्रमों का सिद्धांत भी इस मार्ग का समर्थन करने वाला नही है। क्योंकि इस सिद्धांत में दो आश्रम वानप्रस्थ और संन्यास ऐसे हैं जो कर्म मे तत्परता नहीं, उस की ओर उपेक्षा और उदासीनता सिखलाते हैं। वैदिक मार्ग तो चाहता है कि मनुष्य १०० वर्ष की आयु पाएँ, लड़कों-बालों से फले-फूलें और मरते दम तक यज्ञादि कर्मों मे तत्पर रहे। किंतु आश्रम-धर्म चाहता है कि मनुष्य की आधी उम्र कर्मकांड के धंधों से बिल्कुल अलग रहे।

कर्म का सिद्धांत वैदिक घेरे में पैदा होने वाले धर्मों का आवश्यक अंग है। स्मृति, पुराण, इतिहास, दर्शन, धर्म की कोई पुस्तक और हिंदू धर्म का कोई

मत, वैदिक काल से आठवीं सदी तक ऐसा नहीं हुआ जो इस के ज़बरदस्त प्रभाव से बचा हो। दर्शनों में शास्त्रीय ढंग से इस की व्याख्या है, महाभारत में कर्मों के भेदों (प्रारब्ध, संचित, आगामी), कर्मों के लोहे के समान दृढ़ बंधनों और विधि की निर्दयी शृंखला की कड़ियों को तोड़ने और मुक्ति प्राप्त करने की चर्चा है। पुराणों में चौरासी लाख योनियों के दुखों और इन से छुटकारा दिलाने वाले उपायों का बयान है।

३—यज्ञ

वैदिक घेरे से बाहर, बौद्ध, जैन, चार्वाक इत्यादि मतों में यही सिद्धांत व्यापक है। इस का अर्थ यह है कि यज्ञधर्म जिस का दूसरा नाम कर्ममार्ग है इस नये सिद्धांत के सर्वप्रिय होने की वजह से अपने प्राचीन महत्त्व से दूर हो जाता है। इस के महत्त्व का घटना हिंदू धर्म के अनेक परिवर्तनों का सूचक है। इन में यज्ञ और कर्मकांड के रूप का परिवर्तन है। वैदिक यज्ञों में जानवरों का बलिदान होता था। बौद्ध-समय के बाद मांस की ओर ऐसी घृणा बढ़ी कि जानवरों की आहुति क़रीब क़रीब बंद हो गई। इसी कारण बड़े बड़े यज्ञ जिन के पूरा करने में महीनों और वर्ष लगते थे बंद हो गए। राजनीतिक क्रांतियों ने अश्वमेध इत्यादि को दुर्लभ कर दिया। बड़े यज्ञों का आडंबर इतना बढ़ गया और इन्हें बिना ग़लती किए पूरा करना इतना कठिन हो गया कि लोगों की रुचि इन से हट गई। दुनिया के सुखों, फ़सल की बहुतायत, वर्षा का समय पर होना, गाय-बैल, धन-दौलत, लड़के-बालों की वृद्धि—पहिले तो इन की ओर से नये मत उदासीनता सिखा रहे थे, दूसरे श्रद्धा में कमी आ रही थी। यज्ञ की क्षमता को मानने वाले भी समझने लगे थे कि इस के ठीक स्वरूप का क़ायम करना कठिन है और इसलिये निरर्थक। कर्मकांड के नये तरीक़े निकल रहे थे—तीर्थ-यात्रा, माला फेरना, मूर्ति-पूजन, व्रत रखना इत्यादि।

देवता

१—ऋग्वेद

इस के अतिरिक्त देव-संबंधी विचारों में बड़े अंतर हो गए थे। इन

परिवर्तनों का झुकाव तीन ओर दिखाई देता है। ऋग्वेद में, जैसा हम ऊपर कह आए हैं, बहुत से देवताओं की चर्चा है। कहीं इन की संख्या ३३, कहीं इस से अधिक बतलाई है। लेकिन इन देवताओं के नामों मे भेद होते हुए विशेषणों मे भेद नहीं हैं। सभी प्रकृति की शक्तियों और विभूतियों के रूप हैं। एक ही तेज की भिन्न भिन्न किरणें हैं। इस एक परम तत्व में तेज, शक्ति, ऋत और इच्छा पाए जाते हैं। इन गुणों के साथ साथ इस दैवी शक्ति में और भी विशेषताएँ हैं। जैसे, दयालुता, वात्सल्य, सत्य, न्याय, प्रेम इत्यादि। देवताओं मे वरुण और प्रजापति सृष्टि के बनाने, चलाने और नाश करने वाले इन गुणों से ऐसे सुसज्जित हैं कि एक सगुण ईश्वर की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। लेकिन हिंदू विचार की धारा एकेश्वरवाद पर रुक नहीं जाती। उपनिषदों मे दार्शनिक तर्कों के जोर से सगुण के विशेषण दूर कर दिए जाते हैं और निर्गुण, निराकार, अमानुषी ब्रह्म का स्वरूप अद्वैतवाद का सिद्धांत खड़ा कर देता है। हिंदू-विचार का झुकाव अद्वैतवाद की ओर बड़े वेग से बढ़ता है और बरसात के बादलों की तरह धर्म के आकाश को चारों तरफ़ से छा लेता है। इस का एक गूढ़ कारण है। वेदों में मनुष्य की आत्मा बाहरी शक्ति से प्रभावित है। उस का संकल्प इस शक्ति की मूर्तियाँ देवताओं के स्वरूप में निर्माण करता है और मनुष्य इन मूर्तियों को स्वभाववश मानुषी आकार और गुणों से आभूषित करता है। किंतु जब उस की दृष्टि अंतर्मुखी होती है और आत्मा अपने आप को कुछ स्पष्ट रूप से देखती है तो वहाँ आकार और गुणों को नहीं पाती। बुद्धि इस अनुभव की नींव पर देव संबंधी नए विचार रचती है और आत्मा और ब्रह्म में कोई असली भेद न पा कर अद्वैतमत का प्रतिपादन करती है। विचार और मतों के सारे परिवर्तनों में हिंदू-बुद्धि इस अंदर देखने वाली रुचि को कभी नहीं छोड़ती। और इसलिये अद्वैतवाद धर्म के इतिहास में सदा ऊँचा स्थान पाता है।

२—अथर्ववेद

आश्चर्य की बात है कि हिंदू-बुद्धि का झुकाव दूसरी ओर इस वृत्ति के ठीक विपरीत दिखाई देता है अद्वैतवाद तर्क शक्ति की पराकाष्ठा की सूचन

देता है और बुद्धि की सूक्ष्म दृष्टि का प्रमाण है। लेकिन दूसरी तरफ यही बुद्धि घोर पाखंडों को अपनाने में तत्पर मालूम होती है। अथर्ववेद के जादू-टोनों का ज़िक्र पहिले हो चुका है। इस का फैलाव आगे चल कर खूब बढ़ जाता है। जंगली, असभ्य जातियों के मतों, पूजा-पाठों और देवी-देवताओं को हिंदू धर्म के उदार और विशाल कलेवर में जगह मिलती है। पत्थरों, पहाड़ों, नदियों, नागों, वृक्षों इत्यादि के अतिरिक्त रोगों की देवियाँ, लूट मार, डाका चोरी और हत्याकांड में भाग लेने वाली पैशाची शक्तियाँ और भोग-विलास से संबंध रखने वाले अधम संस्कार सभी हिंदुओं के सत्कार का भाजन बन जाते हैं।

ऋग्वेद से मालूम होता है कि मनुष्य और देवता का संबंध सहानुभूति और मैत्री का था। आदमी यज्ञ द्वारा देवता की आराधना करता है, बलि द्वारा भेंट चढ़ाता है और आशा करता है कि देवता इसे स्वीकार कर अपने प्रसाद से इस का बदला देंगे। यज्ञ इस लेन-देन का साधन है। किंतु अथर्व से मालूम देता है कि मनुष्य अपने आप को याचक और अधीन नहीं समझता, यज्ञ एक ऐसा प्रभावशाली शस्त्र है जो देवताओं को मजबूर कर सकता है। देवता कृपा ही नहीं क्रोध रखने वाले हैं। और यह विचार कि देवताओं के क्रोध से बचने के लिये पूजन होना चाहिए बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि ऐसे संस्कार और विधान फैल जाते हैं जिन का उल्लेख अभी हुआ। यह धर्म का विषम रूप है।

इन दोनों के बीच में एक तीसरी राह भी है जिधर परिवर्तनों का झुकाव होता है। ऋग्वेद में अग्नि, सोम और इंद्र के लिये जितनी ऋचाएँ हैं और किसी देवता के लिये नहीं। वरुण की पदवी ऊँची है। प्रजापति तो ब्रह्मांड के राजा हैं किंतु विष्णु, शिव और शक्ति की बहुत चर्चा नहीं है। जब हम ऋग्वेद की उज्ज्वल, ज्योतिर्मयी, आनंदपूर्ण दुनिया से अथर्व की डरावनी, धुँधली, क्रूर दुनिया में आते हैं, जहाँ दैत्य, दानव, राक्षस, पिशाच क्रीड़ा करते हैं तो हम और ही देवताओं की उपासना का केंद्र पाते हैं, और यह उपासना दूसरे ही ढंग की है।

देवताओं में हमारी निगाह काल, काम, स्कंभ पर पड़ती है। प्राण जो सब जीवों का मूल और धरती जो सब का सहारा है पूजनीय हैं। परंतु

प्रजापति जो स्कंभ पुरुष और ब्रह्मा से अभिन्न नहीं सब से ऊँचे पद पर है, इन को ईश्वर माना है। अथर्ववेद में कहा है—

'उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है जो भूत और भविष्य सब से अधिष्ठित है और जिस के लिये केवल स्वर्ग लोक है। यह स्वर्ग और भूमि खंभे के सहारे स्थित हैं। यह सब आत्मामय, प्राणमय और निमेषमय खंभा है। .... । यह नव द्वारों वाला पुण्डरीक तीन-गुणों से ढका हुआ है, उस में जो आत्मवत् यक्ष (रहस्य) है उस को ब्रह्म जानने वाले ही जानते हैं। वह आत्मा कामना-हीन, धीर (ज्ञानी), मरण-हीन, स्वयम्भू (अपने आप उत्पन्न), अपने रस से तृप्त हैं और कहीं उस में कमी नहीं है। उस ज्ञानी, अक्षय, युवा (सर्वदा ताज़ी) आत्मा को जानने वाले मृत्यु से नहीं डरते।'[1]

३—स्मृति

अथर्ववेद की बाद की धार्मिक स्थिति का हाल धर्मशास्त्र और स्मृति के पढ़ने से मालूम होता है। इन में कर्मकांड वैदिक है और देवता भी वैदिक हैं। किंतु कुबेर और धर्म देवताओं की गिनती में बढ़ जाते हैं। इतिहासों में इंद्र, यम, वरुण, कुबेर, अग्नि, सूर्य, वायु और सोम आठ दिशाओं के पति हैं। रामायण में दैवी जानवरों जैसे शेषनाग, हनुमान, जामवंत, गरुड़, जटायु, नंदी का आदर है। लेकिन वैदिक देवताओं का महत्त्व घटा हुआ है और उन का सत्कार कम है।

---

[1]यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति। स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। स्कंभेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः। स्कंभ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्च यत्। ......पुंडरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। तस्मिन् यद् यक्ष-मात्मन्वत् तद्वै ब्रह्म विदो विदुः॥ अकामो धीरोऽमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्च-नोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योर् आत्मानं धीरमजरं युवानम्॥

अथर्ववेद १०-८ १,२,४३,४४,

(४) इतिहास

(क) विष्णु

परंतु दिलचस्पी की विशेष बात यह है कि विष्णु और शिव और ब्रह्मा का दर्जा पहिले से बढ़ा हुआ है। ऋग्वेद मे विष्णु बहुत कम ऋचाओं का देवता है। अधिकतर विष्णु की चर्चा और देवताओं के साथ है। विष्णु के विशेषणों में यह है—गोप (पृथ्वी का मालिक) उरुगाय (बड़ी स्तुति पाने वाला) उरु क्रम (ब्रह्मांड को तीन पदों से लांघने वाला) निषिक्तपा (गर्भ का पालनेवाला) विश्व का धाता, मनुष्य जाति के लिये भुवनों का बनाने वाला इत्यादि। ऋग्वेद से बाद के धार्मिक साहित्य मे विष्णु का महत्त्व धीरे धीरे बढ़ता जाता है। ब्राह्मणों में विष्णु बारह आदित्यों मे गिना जाता है। (महाभारत और पुराणों में भी ऐसा ही लिखा है) शतपथ मे पहिली बार विष्णु को वामन कहा है।

'विष्णु वामन हुए।'[1]

और पृथिवी को असुरों से लेकर देवताओं को देने वाला बताया है। शतपथ मे यह भी लिखा है कि कुरुक्षेत्र में देवताओं ने सत्र रचा और विष्णु को श्रम, तप, श्रद्धा, यज्ञ इत्यादि में सब से श्रेष्ठ पाया, इसी से विष्णु देवताओं मे सब से ऊँचे माने गए। ऐतरेय में लिखा है—

'अग्नि सब देवताओं में सब से नीचे हैं, विष्णु सब से ऊपर हैं। और देवता लोग इन के बीच मे हैं।'[2]

अग्नि सब से नीचे, विष्णु सब से ऊँचे और सब देवता इन के बीच मे हैं।

इतिहासों में विष्णु असंदिग्ध रूप से परमपद पर आरूढ़ हो जाते हैं

---

[1]वामनो ह विष्णुरास (शतपथ १—२,५,५,)

[2]अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदंतरेण सर्वाः अन्याः देवताः (ऐतरेय ब्राह्मण १,१)

और एक अद्वितीय परमेश्वर, जगत्पिता, ब्रह्मांड के पालक और मनुष्य के त्राता माने जाते हैं।

विष्णुमत की विशेषताएँ यह हैं—सदाचार पर ज़ोर दिया जाता है और सद्गुणों में तप, दान, आर्जव और सत्य के अतिरिक्त अहिंसा का स्थान है। वैदिक कर्मकांड के विवरण में यज्ञों के ऊपरी अर्थ नहीं गूढ़ और रहस्यपूर्ण अर्थ लगाए जाते हैं। और दस अवतारों का सिद्धांत माना जाता है।

इन अवतारों मे कृष्ण का महत्त्व अधिक है। कृष्ण को विष्णु का अवतार कब से माना गया? ऋग्वेद में कृष्ण ऋषि का और ब्रह्मणों में अंगिरस् का नाम आता है। छान्दोग्य में कृष्ण घोर अंगिरस् का शिष्य है। महाभारत में कृष्ण का बहुत स्थलों पर वीर पुरुष और मनुष्य की भाँति वर्णन है। पाणिनि के सूत्रों मे वासुदेव और अर्जुन को देवता-विशेष माना है। बौद्ध ग्रंथ 'निद्देस' में वासुदेव की पूजा का उल्लेख है। यूनानी दूत मेगेस्थनीज़ ने सूरसेनों मे हेराक्लीज़ अर्थात् कृष्ण की आराधना का वर्णन किया है। भेलसा (ग्वालियर) के निकट बेसनगर ग्राम मे एक गरुड़ध्वजा पर वासुदेव देवदेव खुदा हुआ मिला है। यह ध्वजा एक यूनानी होलियोडोरस ने बनवायी थी। वह तक्षशिला का रहने वाला और महाराजा अन्टीयल कीडस (Antial Kidas) का दूत था जो काशीपूत भागभद्र के दरबार मे भेजा गया था। इस की तारीख़ १७० ईस्वी मसीह से पहिले के लगभग थी। हीलियोडोरस अपने आप को भागवतधर्म का अनुयायी बतलाता है। वसुएडी ग्राम (उदयपूर) मे एक शिलालेख निकला है जो ब्राह्मी लिपि में खुदा है। इस पर संकर्षण और वासुदेव भगवान् के नाम खुदे है। मथुरा के अजायब घर मे महाक्षत्रप शोडाष के समय का एक शिलालेख है जिस में भगवान् वासुदेव के महास्थान का उल्लेख है। यह महास्थान अवश्य ही मथुरा मे यात्रियों का केंद्र रहा होगा। नानाघाट की कंदरा मे जो लेख मिला है उस मे भी संकर्षण और वासुदेव के नाम हैं। पातंजलि के महाभाष्य से पता चलता है कि उस के समय में बलिबंध और कंसबध के नाटक हुआ करते थे। इस समय के पीछे जो पुस्तके लिखी गई जैसे पुराण इत्यादि उन में कृष्ण वासुदेव की पदवी देवताओं में सब से ऊँची है।

इन घटनाओं के वर्णन से यह नतीजा निकलता है कि वृष्णियों (सात्वतों) में वासुदेव के घर में देवकी के गर्भ से कृष्ण उत्पन्न हुए। बलराम अर्थात् संकर्पण उन के भाई, प्रद्युम्न लड़के और अनिरुद्ध इन के पोते थे। बौद्ध काल से पहिले जब वैदिक धर्म में हलचल सी मची हुई थी, घोर आंगिरस् ऋषि ने कृष्ण को भागवत धर्म की शिक्षा दी। कृष्ण ने इस धर्म का प्रचार किया। सात्वतों ने धर्म के नेता को देव की पदवी दी। धीरे धीरे वासुदेव, कृष्ण, संकर्षण सभी देवता माने जाने लगे। जब वैष्णव मत में अवतारों का सिद्धांत फैला तो कृष्ण और विष्णु का एक रूप हो गया। बाद में कृष्ण और नारायण एक समझे जाने लगे। व्यूह का सिद्धांत तो पहिले से ही भागवतधर्म में संमिलित था। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को परमात्मा, जीव, मन और अहंकार माना जाता था। अवैदिक व्यूहमत और वैदिक अवतारमत मिल गए। अंत में अभीर जाति के गोपाल को कृष्ण से मिला दिया गया और बाललीला और बालक कृष्ण की चर्चा भागवत धर्म का अंग बन गई। इस एकांतिक भागवत धर्म की पुस्तकों में महाभारत का नारायणीय खंड, भगवद्गीता, अनुगीता और शांति पर्व है। इस की दार्शनिक व्याख्या पंचरात्र संहिताओं में और साधारण लोगो के लिये कथाओं, पुराणों और हरिवंश में हैं।

विष्णु के अवतारों में राम का दूसरा दर्जा है किंतु राम की आराधना का इतिहास न तो इतना पुराना है न विस्तृत। विष्णु की चौबीस मूर्तियो मे राम की मूर्ति शामिल नहीं है। वाल्मीकीय रामायण मे जहाँ राम को अवतार माना है वह भाग पुराने नही हैं। अवदानशतक में जो पहिली सदी ईस्वी का बौद्ध ग्रंथ है राम देवता का वर्णन है। बृहत्संहिता में वाराहमिहिर राम की मूर्ति की नाप देता है। वायुपुराण में राम को विष्णु का अवतार माना है। इस के बाद से साधारण रूप से श्री राम की पूजा फैल जाती है।

(ख) शिव

रुद्र शिव का इतिहास और भी अधिक रोचक है। ऋग्वेद में रुद्र के विशेषणों मे केशधारी, घुँघराले बालों वाला, उग्र, आग की लपट के समान

लाल रंग वाला (बभ्रु), त्र्यंबक, त्रिशूलधारी, विष का पीने वाला, पशुओं का पालक, धृम्र, ओषधों का उत्पन्न करने वाला इत्यादि हैं। यह विशेषण एक ओर देवता की उग्र प्रकृति और दूसरी ओर उस के सौम्य स्वभाव का जताते हैं। इतिहास में महादेव के यह दोनों रूप साथ साथ मिलते हैं। शतरुद्रीय में इन विशेषणों के अतिरिक्त और भी बढ़ जाते हैं। जैसे गिरीश, नीलकंठ, हज़ारो आँखों वाला, सुनहरी भुजा वाला, उष्णीशि, सफ़ेद कंठ वाला, पशुपति, क्षेत्र, अन्न और वन का पति, चोरों, डाकुओं, हत्यारों का पति इत्यादि।

अथर्ववेद मे रुद्र, भव, शर्व, यम का साथ है। इन से ऋषि प्रार्थना करते है कि दुश्मनो को अपने वज्र से नाश करें और उन की तीर कमान से रक्षा करे। अथर्व मे रुद्र महादेव को दिशाओं का ईश्वर और अंतर्देश का अनुष्ठाता कहा है। ब्राह्मणों में महादेव को अग्नि देवता बतलाया है।

'अग्नि ही वह देवता है, उस के यह नाम हैं—शर्व, भव, पशुपति, रुद्र और अग्नि।'[1]

शतपथ में रुद्र की उत्पत्ति की कथा यों दी है। सम्वत्सर सब भूतों के पति और उन की पत्नी उषा से एक कुमार पैदा हुआ। उस ने रोना शुरू किया। प्रजापति ने पूछा तू क्यों रोता है। उस ने कहा मेरा कोई नाम नहीं, इस से मेरे पाप नहीं दूर हुए। मेरा नाम रक्खो। प्रजापति ने कहा तू रुद्र है। फिर उस के और नाम पड़े जैसे शर्व, पशुपति, उग्र, ईशान, विद्युत्, भव, पर्जन्य, महादेव। एक दूसरी कथा के अनुसार जब प्रजापति बूढ़े हो गए तो सब देवताओ ने उन का साथ छोड़ दिया। केवल मन्यु उन के साथ रह गए। प्रजापति को इस पर रंज हुआ और उन के आँसू निकल आए। यह आँसू मन्यु पर गिरे और वह रुद्र में बदल गए। उन के सौ सिर हजार आँखे और सौ तरकश बन गए। इस भीष्म रूप को देख कर देवता डरे। प्रजापति ने उन से कहा कि इन की तृप्ति करो। देवताओं ने शतरुद्रीय द्वारा रुद्र को शांत किया।

---

[1]अग्निर्वै स देवः तस्य एतानि नामानि शर्वः......भवः, पशूनां पतिः, रुद्रोऽग्निरिति।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र को सब लोकों का ईश्वर, सृष्टि और उत्पत्ति मे अकेला, एक और अद्वितीय, भुवनों का रक्षक, सब ओर देखने वाला, सब ओर मुख रखने वाला, सब ओर हाथ पाँव फैलाने वाला, अंत काल में लय करने वाला लिखा है। जो रुद्र को ऐसा मानता है उसे शुभ बुद्धि प्राप्त होती है। अथर्व शिरस् उपनिषद् में रुद्र को विरोधी विशेषणों से सजाया है। उसे कहा है एक, प्रथम, भूत वर्तमान और भविष्यत् में रहने वाला, सब से अलग, नित्य, अनित्य, व्यक्त, अव्यक्त, पुरुष, स्त्री, क्षर, अक्षर इत्यादि। रुद्र को भागवत पुराण ने सब में प्रविष्ट बतलाया है। कैवल्य उपनिषद् में शिव का ध्यान करने से पवित्रता और अमरत्व पाना लिखा है।

रामायण में लिखा है कि महादेव और उमा कुवेर के दरबार में कैलाश पर्वत पर गए। वहाँ विभीषण से मिले और उसे सलाह दी कि श्री राम की शरण ले क्योंकि श्री राम सब के प्रभु, सब भूतों के आधार हैं। महाभारत मे महादेव और दक्ष, सती के पिता का झगड़ा वर्णित है। दक्ष महादेव को शाप देते हैं। भृगु महादेव के अनुयायियों को और नंदीश्वर महादेव के विरोधियों को शाप देते हैं। इस से यह जान पड़ता है कि महादेव और और देवताओं के मानने वालों में आपस में विवाद था। किंतु महाभारत से यह भी जान पड़ता है कि कृष्ण ने महादेव का पूजन किया, अर्जुन ने महादेव से पाशुपत यंत्र प्राप्त किया और दोनों ने मिल कर महादेव की वंदना की। यही नहीं, ब्रह्मा और विष्णु दोनों मिल कर शिव की स्तुति करते हैं। कृष्ण महादेव और उमा से आठ आठ वर माँगते हैं जो उन्हें मिल जाते हैं और वह इस प्रकार उन के गुणों का गान करते हैं—

'हे राजा, महादेव से बढ़ कर कोई प्राणी नहीं है, इन तीनों लोकों में सब प्राणियों में वह मुख्य है।'[1]

इत्यादि।

---

[1] नास्ति किंचित् परं भूतं महादेवाद् विशांपते।
इह त्रिष्वपि लोकेषु भूतानां प्रभवो हि सः॥

मार्कंडेय पुराण में लिखा है कि कृष्ण और शिव के बीच घोर युद्ध हुआ और अंत में शिव और विष्णु ने ब्रह्मा के इशारे से यह समझा कि वे दोनों असल में एक ही हैं।

'विष्णु रूपी शिव और शिव रूपी विष्णु को नमस्कार है।'[1]

शिवपुराण और अन्य पुस्तकों में शिव को देव देव परमात्मा परमेश्वर माना है।

ऋग्वेद से लगा कर पुराणों तक के बयान ऊपर दिए गए है। इन से यह मालूम होता है कि प्राचीन समय में रुद्र का स्वरूप निश्चित नहीं था। उस के विशेषण साधारण हैं, उन में व्यक्तित्व की कमी है। अच्छे और बुरे दोनों का महादेव से संबंध है; किंतु विनाश, संहार और घोरता उन के गुण विशेष हैं। आगे चल कर रुद्र और अग्नि को एक माना है। किंतु वैदिक ग्रंथों में इस से अधिक कोई बात नहीं है। जब हम ऐतिहासिक पुस्तकों और पुराणों को देखते हैं तो महादेव का नया ही स्वरूप पाते हैं। महादेव का महत्त्व कहीं बढ़ा हुआ है। गुणों में विशेषता है, जीवन का इतिहास सामने फैला हुआ है जो उस के व्यक्तित्व का सिक्का दिलों पर जमा देता है।

महादेव के रूप अनेक हैं। एक रूप में वह रुद्र अथवा महाकाल कहलाते हैं। इस रूप में वह विनाशकारी, प्रलयकारी, मृत्यु के देवता हैं और काल का चक्र इन की आज्ञा से घूमता है। दूसरे रूप में वह शिव, सदाशिव, शंकर, वरदायी, कल्याण करने वाले हैं। महादेव ईश्वर हैं, सृष्टि इन की विभूति और पंचतत्व सूर्य, चंद्रमा और ब्राह्मण इस विभूति के आकार हैं। तीसरे रूप मे वह महायोगी, तपस्वी, नग्न, दिगंबर जटिल जटा वाले, भस्म रमाए, स्थाणु हैं जो इंद्रियों का निग्रह, इच्छाओं का दमन, दैवी ध्यान, समाधि में आत्मा और ब्रह्म के योग की शिक्षा देते हैं। इन के और भी रूप हैं। यह भैरव, भूतेश्वर, स्मशानों मे रमने वाले, साँपों का हार और मुंडों की माला पहनने वाले हैं। डमरू और खट्वांग लिए किन्नरों खर्वों और गंधर्वों के गणों से घिरे हँसी-ठठोल खेल कूद में मस्त शराब में मतवाले, रंगरलियाँ मचाते, तांडव नाच मे

---

[1] शिवाय [illegible] विष्णवे शिवरूपिणे

मग्न, विलास आनंद करने वाले भी हैं। महादेव का स्थूल चिह्न लिंग है। जिस की पूजा का चारों ओर प्रचार है। इस पूजा का भूत, प्रेत, स्मशान से अधिक संबंध है। जान पड़ता है कि हिंदुस्तान की जंगली जातियों के अंधमतों, पाखंडी रीतियों और मुर्दों के पूजन से रुद्र शिव की आराधना के क्रम पर बहुत असर पड़ा। यह भी मालूम होता है कि शायद दक्षिण में इन विधानों का विकास हुआ। इस का प्रमाण यों मिलता है कि श्रीशैल, तिरुवोत्तीयूर, मालकोट, शोलेपुरम्, मेलपड़ी इत्यादि स्थानों पर मंदिरों में नरमेध, सुरापान उद्धत उत्सवों इत्यादि का वर्णन मिलता है और कहीं कहीं स्मशान भूमि पर मंदिरों का स्थापित होना पाया जाता है।

लिंग पूजा के विषय में लेखकों की दो राय हैं। कोई तो इसे जंगली असभ्य जातियों की गुप्त क्रियाओं का विकसित रूप बताते हैं। कोई कहते हैं कि द्रविड़ों में प्राचीन रिवाज था कि वीर पुरुषों की क़ब्रों पर वीरकल खड़े किए जाते थे। वह पत्थर के खंभे से होते थे। उन की पूजा ही लिंग की पहिली सूरत है। बौद्धों में स्तूपों की पूजा होती थी। यह भी संभव है कि वीरकल और स्तूप दोनों से ही लिंग पूजा आरंभ हुई हो। खोज से पता यह लगता है कि सब से प्रथम, मसीह से पूर्व की पहिली सदी मे भीट और गुड़ीमल्लम मे लिंग स्थापित हुए।

(ग) ब्रह्मा

ब्रह्मा को ऋग्वेद में प्रजापति, पितामह, हिरण्यगर्भ, बृहस्पति ब्रह्मणस्पति, पुरुष माना है। अथर्व में स्कंभ और ब्रह्मा को एक ही समझा है। इस से विदित है कि ब्रह्मा विश्व का जननकर्ता और आधार है। भूत, भविष्य, सर्वस्व इस में स्थित है। आत्मा रखने वाले जितने प्राणी हैं, सब चलने वाले, उड़ने वाले, विश्वरूपा, पृथ्वी पर रहने वाले इसी एक के रूप हैं। अनंत और अंतवत् देवता और मनुष्य, उसी के चक्र के आरे हैं। यही नौ दरवाज़ों वाला कमल है जो तीन गुणों से ढका है जो इसे अकाम, धीर, अमृत, स्वयंभू, रसों से तृप्त, अजर, युवा आत्मा मानता है, वह मृत्यु के भय से छूट जाता है।

शतपथ में ब्रह्मा को स्वयंभू और तप द्वारा इस ब्रह्मांड को उपजाने वाला कहा है। पहिले केवल ब्रह्मा ही था, उस ने देवों को पैदा किया, उन्हें लोकों में स्थापित किया, फिर उस के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि वह किसी तरह इन लोकों मे फैल जाय। तब नामरूप द्वारा वह सब मे फैल गया। तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है कि ब्रह्मा ने क्षत्रिय का निर्माण किया, ब्रह्मा ही ब्राह्मण की आत्मा है, ब्रह्मा ही में सारा जगत है और सारे देवता। मनु ने ब्रह्मा स्वयंभू से जल, जल से हिरण्यगर्भ और हिरण्यगर्भ से ब्रह्मा की उत्पत्ति बताई है।

वैदिक ग्रंथों में ब्रह्मा का इतना ऊँचा स्थान होने पर भी ब्रह्मा की पूजा-बंदना शिव और विष्णु की बराबरी में बहुत कम है। महाभारत में उपमन्यु की कथा है। जिस में यह वर्णन किया है कि जब महादेव ने उपमन्यु को दर्शन दिए तो ब्रह्मा उन के दाईं ओर और विष्णु बाँईं ओर खड़े थे। ब्रह्मा अपने हंस युक्त दिव्य विमान में बैठे थे। और विष्णुनारायण गरुड़ पर विराजमान थे। दोनों ने विविध स्तोत्रों से महादेव की स्तुति की। भीष्म पर्व में कथा है, कि ब्रह्मा ने कृष्ण की बंदना की और उन से प्रार्थना की कि धर्म की रक्षा, दैत्यों के विनाश और जगत के पालन के लिए उन्हे यदुवंश में पैदा होने की आज्ञा दें। लिंग पुराण में ब्रह्मा और विष्णु के झगड़े की चर्चा है जिस का निर्णय महादेव करते हैं।

इन उल्लेखों से यह मालूम होता है कि ब्रह्मा का बहुत आदर नहीं हुआ। ब्रह्मा के नाम से बहुत से स्थान भी नही मिलते। केवल पुष्कर और खेड ब्रह्मा (मही कंठ) ब्रह्मा के नाम से संबंध रखते हैं। दक्षिण में अलबत्ता ब्रह्मा के कितने ही मंदिर हैं। विष्णु और शिव के अनुयायियों के संप्रदाय विख्यात हैं परंतु ब्रह्मा के अनुयायियों का कोई संप्रदाय नहीं।

(घ) त्रिमूर्त्ति

निरुक्त में तीन देवताओं को मुख्य माना है—सविता, इंद्र और अग्नि। सविता स्वर्लोक के, अग्नि पृथ्वी के और इंद्र बीच के लोक के। यही वैदिक धर्म की 'त्रिमूर्ति' हैं। पौराणिक मत में भी तीन मुख्य देवता हैं—ब्रह्मा, विष्णु

और महेश। ब्रह्मा जगत के बनाने वाले, विष्णु पालनकर्ता और महेश संहार करने वाले हैं। और यह तीनों पौराणिक त्रिमूर्ति के अंग हैं। वैदिक त्रिमूर्ति और पौराणिक त्रिमूर्ति में जो भेद है वह धर्म के परिवर्तन को भली भाँति दर्शाता है। जैसे वेद में इन तीन देवताओं के अतिरिक्त और बहुत से देवताओं की आराधना है, उसी तरह पुराणों और इतिहासों में त्रिमूर्ति के अतिरिक्त कई देवी-देवताओं की पूजा का वर्णन है।

(ङ) और देवता

इन में सूर्य, गणेश, कार्तिकेय और कुबेर जनता को अधिक प्रिय थे। मुलतान मे सूर्य का प्रसिद्ध मंदिर था। गणेश तो विघ्नेश होने की वजह से सब देवताओं की पूजा में पहिले ही आदर पाते थे। ऋग्वेद की ऋचाओं मे उषा, सरस्वती, ईला, भारती, मही, पृथ्वी, अदिति, सिंधु, गंगा, यमुना, देवताओं की स्त्रियाँ आग्नेयी, वरुणानी, अश्विनी, रोदसी, श्रद्धा, लक्ष्मी, श्री इत्यादि का वर्णन है। इन के अतिरिक्त स्वाहा, शचि, संज्ञा इत्यादि के नाम भी आते हैं। शक्तिसूक्त में देवी की वंदना है और इस के परिशिष्ट में दुर्गास्तव है जिस में दुर्गा की प्रशंसा है और उस से प्रार्थना है कि वह घोर संग्राम में और विषम संकटों में, चोर और दुष्ट ग्रहों की आपत्ति पड़ने में रक्षा करे। लेकिन वैदिक मत में देवियों का अधिक महत्त्व नहीं जान पड़ता। देवियों के रूप छाया समान हैं।

(च) देवियाँ

सरस्वती और वाच् को शतपथ में एक कहा है। और उन के लिये अतिरात्र और वाजपेय यज्ञों में विशेष बलि की आज्ञा दी है। अश्वमेध मे भेड़ी और अन्य यज्ञों मे भेड़ा इन्हीं के निमित्त रक्खे गए हैं और यह इसलिये कि इंद्र ने मतवालापन के अच्छा करने के बदले में इन्हें वर दिया था। श्री के लिये शतपथ में लिखा है कि वह प्रजापति से पैदा हुईं। उन के विशेषणों को अन्य देवताओं ने हर लिया। तब उन्हों ने यज्ञादि द्वारा उन्हें वापस लिया। श्री समृद्धि और सौंदर्य की देवी हैं। लक्ष्मी को अथर्व वेद में पापिणी भी

और पुण्या भी कहा है। वाजसनेयी संहिता में श्री और लक्ष्मी को आदित्य की पत्नी कहा है। लेकिन यह पता नहीं लगता कि पहिले पहल कब सरस्वती ब्रह्मा की और लक्ष्मी विष्णु की पत्नी कहलाईं।

मनुस्मृति मे श्री की पूजा का उल्लेख है। महाभारत मे देवता समुद्र को मथ कर लक्ष्मी को निकालते हैं। पुराणों मे लक्ष्मी को विष्णु की शक्ति माना है। लक्ष्मीतंत्र में लक्ष्मी को सृष्टि का परम कारण बताया है। इस से यह परिणाम निकलता है कि वैदिक समय के बाद गुणों के आरोपण के साथ विष्णु की पत्नी लक्ष्मी के स्वरूप की रचना होती है और दिनों-दिन देवी का सत्कार बढ़ता जाता है।

कृष्ण के प्रेम का पात्री राधा का इतिहास नवीन है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री और राधा, विष्णु की शक्ति, प्रकृति के नाम हैं। भागवत में राधा कृष्ण की गोपियों में प्रधान हैं। गोपालतापनीय उपनिषद्, जयदेव के गीतगोविंद और निर्वाणतंत्र में राधा कृष्ण की पत्नी हैं और वंदना और स्तुति की पात्री हैं। सीता का वाल्मीकीय रामायण में जो वर्णन है उस से वह मानुषी जान पड़ती हैं। बाद में जब राम विष्णु के अवतार माने जाते हैं तब इन की गिनती देवियों में होने लगती है। अगस्त्यसंहिता और अध्यात्म-रामायण में सीता को लक्ष्मी और प्रकृति का रूप बताया है।

देवियों में सब से अधिक चर्चा शिव की सहवासिनी की है। इन के अनेक नाम और रूप हैं। निरुक्त में रुद्र की पत्नी का नाम रोदसी दिया है। वाजसनेयी संहिता में अंबिका को रुद्र की बहन बताया है। बाद मे अंबिका पत्नी कहलाती है। केन उपनिषद् में उमा हैमवती का नाम आया है। और तैत्तिरीय आरण्यक में उमा को रुद्र की स्त्री लिखा है। हैमवती और पार्वती का एक ही अर्थ है। इसी आरण्यक में कात्यायनी, कन्याकुमारी, दुर्गा, वरदा के नाम भी मिलते है। मुंडक उपनिषद् मे यह मंत्र है—

'यह सात लेलाय मान देवियाँ—काली (काले रँग की), कराली (भयंकर) मनोजवा (मन से अधिक वेग वाली), सुलोहिता (खूबलाल), सुधूम्रवर्ण

(धुएँ के रँग की), स्फुलिंगिनी (चिनगारियों वाली), विश्वरूपा (सब तरफ़ वाली), (अग्नि) की सात जिह्वाएँ हैं।'[1]

इस में अग्नि की सात ज़बानों के नाम दिए हैं जिन के द्वारा वह आहुतियों को चाट लेती है। आगे चल कर यह नाम दुर्गा के हो जाते हैं।

रामायण, हरिवंश, विष्णु और अन्य पुराणों में उमा की उत्पत्ति की कथाएँ दी हैं। महाभारत के भीष्म पर्व में अर्जुन दुर्गा की स्तुति करता है। इस मे बहुत से नामों और विशेषणों का बयान है, जैसे सिद्धसेनानी, कापाली, कपिला, कृष्णा, पिगला, मंदरा, भद्रकाली, महाकाली, चंडी, तारिणी, विजया, कौशिका, हिरण्याची, मोहिनी, माया, पुष्टी, दीप्ती, धृति। विराट् पर्व में इन्हें विध्यवासिनी, यशोधा-पुत्री, महिषमर्दनी कहा है। मार्कंडेय पुराण के देवी-माहात्म्य में दुर्गा की प्रशंसा हद को पहुँच जाती है—

'वह जगद्रूपिणी देवी नित्य हैं, उन के द्वारा यह सब विस्तार को प्राप्त है, तथापि उन की कैसे उत्पत्ति हुई यह मुझ से सुनो। देवताओं के कार्य को सिद्ध करने के लिये जब वह प्रकट होती हैं; तब संसार में वह नित्य होने पर भी उत्पन्न हुई कहलाती हैं।'[2]

उसे सब वस्तुओं की आत्मा, सब की शक्ति, जगत के स्रष्टा, पाता और भक्षक को सुलाने वाली और ब्रह्मा, विष्णु और ईशान को शरीर प्रदान करने वाली कह कर पुकारा है।

हरिवंश में शबरों, बर्बरों और पुलिंदों की देवी और बराह पुराण में

---

[1]काली कराली च मनोजवा च, सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा:।
स्फुलिंगिनी विश्वरूपा च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वा:॥

[2]नित्यैव सा जगन्मूर्तिः तया सर्वमिदं ततम्।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम॥
देवानां कार्यसिद्धयर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा

किराटिनी कहा है। हेमचंद्र ने अपने अभिधान चिंतामणि (परिशिष्ट) में शावरोत्सव का बयान किया है, व्यभिचार जिस का हिस्सा है—

नवमी के दिन शवरों के उत्सव के साथ (देवी का) विसर्जन करे, धूल और कीचड़ फेंक कर और खेल, कूद मंगल कर के। भग और लिंग का नाम लेकर और इन का गाना गाकर तथा इन की क्रिया कर के अलज्ज हो कर क्रीड़ा करे।[1]

तंत्रों में वाममार्ग के अंतर्गत शावर अंग है।

रुद्र की भाँति रुद्रपत्नी के भी कई रूप हैं। एक रूप में वह शाकंभरी है। जो जगत को प्राणियों के जीव निर्वाह के हेतु अन्न और वनस्पतियों से भर देती है और जिस का उत्सव आज भी शरद् ऋतु में मनाया जाता है। इसी में नवपत्रिका यानी नौ तरह के पत्तों का पूजन संमिलित है। शाकम्भरी का रूपांतर अन्नदा अथवा अन्नपूर्णा है। दूसरे रूप में वह काली है, संग्राम की देवी है, दुर्गा है। जो शेर पर सवार, दस हाथों में दस अस्त्र लिए हुए, मुंडों की माला पहिने, महिषासुर की हत्या में संलग्न है। वह काल-रूपिणी संहारकारिणी है; बूढ़ा जवान और बच्चा कोई उस के आंतक शासन से बाहर नहीं है। उस का एक और रूप है जिस में वह तारा या तारिणी कहलाती है और घोर आपत्तियों से रक्षा करनेवाली है। वह आद्याशक्ति है, मूल प्रकृति है, प्रधान और पुरुष है और इस रूप में शाक्त मत की आराध्य परम देवी है।

तंत्रों में कर्ममार्ग

शाक्त संप्रदायों मे देवी की पूजा मुख्य है। इन में से बहुतों में यह देवी महादेव की अर्द्धांगिनी है, लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जिन में विष्णु की पत्नी लक्ष्मी या राधा की पूजा होती है।

---

[1]विसर्जनं नवम्यान्तु कुर्याद्वै शावरोत्सवैः।
धूलि कर्दम विक्षेपैः क्रीणा कौतुक मंगलै ॥
भगलिंगाभिधानैश्च भगलिंग प्रगीतकैः।
[illegible] ः।

तांत्रिक कर्मकांड कर्ममार्ग के विकास की अंतिम अवस्था है। इस का संबंध केवल शाक्तमत के साथ ही नहीं है। शैव और वैष्णव मतों में भी इस का प्रयोग है। तांत्रिक पूजा और क्रिया की विधि असल में वैदिक है। समय के साथ इस में परिवर्तन हो गए हैं। पुराने यज्ञों को साधारण मनुष्यों के लिए मुश्किल जान कर सीधी और आसान रीतियों को प्रचलित किया है। इस कर्म-कांड का बयान तंत्र आगम और संहिता नाम के धर्मग्रंथों में हुआ है। यह ग्रंथ वेद को अपना आधार मानते हैं। जिस प्रकार पुराण अपने युग के लिये धर्म-शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, शास्त्र और दर्शन इतिहास और साहित्य के खज़ाने हैं उसी प्रकार तंत्र भी वह विश्वकोष है जिन में सब विद्यायें जमा कर दी गई है। इन्हें हिंदू सभ्यता के चौथे युग के धर्म का शास्त्र समझना चाहिए। तंत्रशास्त्र के दार्शनिक सिद्धांतों का जो वैदिक, पौराणिक, और बौद्धमतों और उन के अंतर्गत दर्शनों से संबंध है इस पर यहाँ अधिक कहने की ज़रूरत नहीं। और न तांत्रिक शास्त्र के मंतव्यों के विस्तार से वर्णन की आवश्यकता है। केवल इन की ओर इतना संकेत कर देना पर्याप्त होगा जिस से कर्मकांड के समझने में सुगमता हो जाय।

(१) सिद्धांत

तांत्रिक शास्त्र की नींव अद्वैतवाद पर रक्खी गई है। किंतु यह वह अद्वैतवाद नहीं है जिस में जगत को मिथ्या, प्रकृति को असत् माना हो। इस मे माया को शक्ति, जगत की माता, तीन गुणों से व्यवस्थित, मनुष्य और संसार को बनाने और बिगाड़ने वाली माना है। मनुष्य और जगत में घना संबंध है। जगत ब्रह्मांड है तो मनुष्य पिंडांड। जो जगत में बड़े रूप में है मनुष्य में छोटे रूप में है।

'जो यहाँ है वह और जगह है जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है।'[1]

मनुष्य का शरीर ब्रह्म की नगरी है। इस के पाँच कोष हैं—अन्नमय,

---

[1] 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्'।

प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय, और आनंदमय—जिस में आत्मा विराजती है। प्रत्येक स्त्री और पुरुष वास्तव में शक्ति का स्वरूप है लेकिन स्त्री और पुरुष तमोगुण के परदे के कारण अपने स्वरूप को नहीं पहिचानते। इस पर्दे को भेदने, शक्ति को जगाने और आत्मा का साक्षात्कार करने के लिये क्रिया और साधन की आवश्यकता है। सिद्धि का अंत मोक्ष है।

तंत्रशास्त्र की विशेषता यह है कि इस में क्रिया को धर्म का ज़रूरी अग माना है। क्रिया को फल-सिद्धि का यंत्र माना है। क्रिया के कई दर्जे हैं जो बाहरी पूजा-पाठ से आरंभ हो कर जप, ध्यान, ब्रह्मसाधन में समाप्त होते हैं। तंत्रशास्त्र सब जातियों, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और दोनों वर्गों—मर्दों और औरतों—को मोक्ष के क़ाबिल समझता है।

'सब वर्गों के अधिकार और नारियों के अधिकार।'[1]

स्त्री को देवविग्रहशक्ति का प्रतिनिधि मानता है। 'स्त्रियो देवाः स्त्रियः प्राणाः'। स्त्री को गुरु की पदवी लेने का अधिकार देता है। तंत्रशास्त्र के संस्कार वैदिक, आश्रम, आचार, स्मृति के अनुकूल, व्रत पौराणिक हैं लेकिन दीक्षा उपासना और योग साधन ख़ास अपने हैं।

(२) साधना

इस उपासना मे दो तरह के कर्म हैं। एक निकृष्ट जिन मे अभिचार और षट्कर्म अर्थात् मंत्र, तंत्र, कवच, जादू टोने इत्यादि संमिलित हैं, दूसरे पंचतत्व और समाधि। पहिली प्रकार की क्रियाओं के विषय में इतना ही कहना है कि यद्यपि तंत्र इन के प्रयोग में "आत्मवत् सर्वं भूतेभ्यो हितं कुर्यात्" की सलाह देता है तौ भी इन के मानने वालों में अविवेक, अन्याय और पशुधर्म का फैलना आवश्यक सा है।

पंचतत्व तंत्र का विशेष साधन है। इस के इतिहास का क्रम वैदिक काल से मिल जाता है। लेकिन इस का पूरा विकास आख़िरी युग में होता है।

---

[1]सर्ववर्णाधिकाराश्च नारीणां योग्यमेव च (गौतमीय तंत्र)।

पंचतत्व वह पूजा की विधि है जिस मे 'म' अक्षर से आरंभ होने वाले पाँच तत्व काम में आते हैं। उन के नाम हैं—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन। इन्हीं को पंच मकार कहते हैं। तांत्रिकों के मतानुसार मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो मार्ग हैं। प्रवृत्ति मार्ग पर चल कर मनुष्य आत्मा और जगत (जो शक्ति की विभूति है) की एकता को पहचानता है। इंद्रियों को जो मोक्ष के रास्ते मे बाधा डालने वाली हैं, विषयों की ओर से अतितृप्ति के सिद्धांत के अनुसार तटस्थ कर देता है। पाँच तत्व आत्मा और जगत की शक्ति के चिह्न हैं, विषयों की मूर्ति हैं। इन के सिद्ध करने से वह वैराग्य उत्पन्न होता है जो निवृत्ति मार्ग की पहिली सीढ़ी है, जिस की सब से ऊँची सीढ़ी पर चढ़ कर आत्मा अपने सच्चिदानंद-स्वरूप का अनुभव करती है। मद्य शक्ति का, मांस और मत्स्य समस्त जंतुजगत का, मुद्रा वनस्पति का और मैथुन परम प्रकृति की इच्छा, क्रिया और ज्ञान के चिह्न हैं। मैथुन आत्माराम परमानंद का सूचक है। पंचतत्व पूजा का उद्देश ब्रह्मसायुज्य है। यह बिना गुरु की सहायता और नियंत्रणा के सिद्ध नहीं हो सकता। गुरु ही इंद्रियों की वृत्तियों और भाव के विकारों पर शासन करने का ढंग बता सकता है और बाहरी जगत के अनेक-रूप आडंबर से आत्मा को एकाग्रता और स्व-निष्ठा के रास्ते पर चला सकता है।

पंचतत्व की पूजा वाममार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। इस का साधन पूजा चक्र है जिस में स्त्री पुरुष साथ साथ और बीच में गुरु बैठते हैं। इस के बुरे प्रयोग के जो घोर परिणाम होते हैं उन पर अधिक कहना व्यर्थ है।

संपादकीय

इस अंक के साथ 'हिंदुस्तानी' का पहिला साल समाप्त होता है। साहित्य-सेवा के उच्चतम भावों से प्रेरित हो कर हमारी पत्रिका ने जन्म लिया था। परंतु इस सेवा का मार्ग, सब सेवा-मार्गों की भाँति कठिन है और हम यह नहीं कह सकते कि अपने उद्देशों में हम उतनी भी सफलता प्राप्त कर सके हैं जितना कि एक वर्ष के थोड़े समय में प्राप्त करने की आशा कर सकते थे। इस बात का विश्वास हम पाठकों को अवश्य दिलावेंगे कि हम ने सजग रहने का प्रयत्न किया है। जो सामग्री हमें उपलब्ध हो सकी, उस में से, लेखों के चुनाव में, और उन्हें उचित रूप में प्रकाशित करने में, अपने उद्देशों के अनुसार हम यत्नशील रहे हैं। हमें कहाँ तक सफलता मिली है इस का निर्णय दूसरों पर है।

यह बात नहीं कि हम अपनी त्रुटियों का अनुभव न करते हों। हम अपनी त्रुटियों के जानने के लिये और भी उत्सुक हैं; क्योंकि इन्हीं की जानकारी के आधार पर हम भविष्य में इस प्रत्रिका को अधिकाधिक उपयोगी बना सकेंगे। नए वर्ष के लिये हमारे पास नए विचार हैं और हमें विश्वास है कि इस वर्ष के अनुभव व्यर्थ न जायँगे और पत्रिका का अगला वर्ष अधिक उज्वल होगा।

यहाँ पर अपने सहयोगियों के प्रति हम कृतज्ञता प्रकाश करना अपना कर्तव्य समझते हैं। हमें इस बात से बहुत संतोष होता है कि सहयोगियों ने पत्रिका का आदर किया है। हमें आशा है कि उन की सहानुभूति से हम भविष्य में भी लाभ उठाते रहेंगे।

अपने सहयोगियों की सहानुभूति और सहायता की हमें एक विषय में सब से अधिक आवश्यकता है। हिंदुस्तानी एकेडेमी की भाषा-संबंधी नीति के विषय में जनता में अकसर गलत धारणाएँ फैल रही हैं। हिंदी और उर्दू दोनों ही भाषा वालों को यह समझाने की कोशिश हो रही है कि हिंदुस्तानी एकेडेमी

एक नई भाषा की गढंत कर के हिंदी और उर्दू दोनों ही भाषाओं को ग़ारत कर रही है। यह विचार सत्य से बहुत दूर है। यदि उस के प्रतिवाद की आवश्यकता हो, तो हम एकेडेमी की नियम-पुस्तक (मेमोरैंडम) देख सकते है। उस मे हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश स्पष्ट रूप से हिंदी और उर्दू भाषा और साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना लिखा है। हमारी प्रकाशित हिंदी और उर्दू दोनों ही भाषाओं की पुस्तकें प्रचलित धारणा की पुष्टि न करेंगी। भाषा के संबंध में अन्य साहित्यक पुस्तकों से मिलान करने पर एकेडेमी की प्रकाशित पुस्तकों में कोई विचित्रता न मिलेगी।

काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की पिछली अर्थात सं० १९८७ की वार्षिक रिपोर्ट हमारे सामने है। सभा हमारे प्रांत की एक बहुत पुरानी संस्था है। अड़तीस साल से वह हिंदी साहित्य की अमूल्य सेवा कर रही है। हिंदी साहित्य की रक्षा के लिये उस का उत्साह सराहनीय है। इसे एक उत्तरदायित्वपूर्ण संस्था समझना चाहिए। परंतु खेद है कि उस की प्रस्तुत रिपोर्ट के ३३-३४ पृष्ठों में हिंदुस्तानी एकेडेमी की जो टीका-टिप्पणी की गई है उस में सत्य की मर्यादा का उल्लंघन हुआ है। कोई चाहे तो, इन पृष्ठों में हिंदुस्तानी एकेडेमी के विषय मे फैलाई गई भ्रांतियाँ इकट्ठी मिल जायँगी। इस अवसर पर हम केवल हिंदुस्तानी एकेडेमी की भाषा-संबंधी नीति पर प्रकाशित किए गए विचारों पर ध्यान देंगे।

पिछले अप्रैल महीने में हिंदुस्तानी एकेडेमी की दूसरी वार्षिक कांफ्रेंस हुई थी। सर्वसंमत से यह कांफ्रेंस बहुत सफल कही गई है। परंतु उस की आलोचना करते हुए रिपोर्ट में लिखा है कि—

'वह अधिवेशन विशेष सफल नहीं कहा जा सकता, क्यों कि उस में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ। जिस एक विषय की मुख्यत: चर्चा हुई, वह विषय भी बहुत ही विवादग्रस्त और विचारणीय है। हमारा तात्पर्य सरकार की उस नीति से है जिस के अनुसार वह हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को मिला कर "हिंदुस्तानी" नाम की एक नई साहित्यिक भाषा की सृष्टि करना चाहती है।'

कांफ्रेंस की के संबध में सभा वाले अपनी राय रख सकते हैं।

कांफ्रेंस में केवल एक ही विषय पर विचार नहीं हुआ था। यह सच है कि भाषा-संबंधी प्रश्न कांफ्रेंस का सब से महत्वपूर्ण प्रश्न बन गया था। प्रश्नों का "विवादग्रस्त" होना इस युग में हमारे लिए आश्चर्य की बात न होनी चाहिए। और न "विचारणीय" प्रश्नों का प्रस्तुत किया जाना ही कोई लांछन का बात है। रही सरकार की नई भाषा की सृष्टि करने की नीति की चर्चा। इस की सर्व-प्रथम सूचना हमें तो सभा की रिपोर्ट से ही मिल रही है। उपरोक्त उद्धरण के दूसरे और तीसरे वाक्य का संबंध भी ठीक प्रकार से हमारी समझ में नहीं आया। क्या यह आशय है कि कांफ्रेंस में सरकार की नीति पर विचार किया गया था? जो कुछ भी हो, हम यह कह सकते हैं कि इस उद्धरण का अंतिम वाक्य न केवल मिथ्या है, अत्यंत अनर्थ उत्पन्न करने वाला है। यह रिपोर्ट सभा की प्रबंध-समिति की आज्ञा से उस के प्रधान मंत्री ने उपस्थित की है। सभा की प्रबंध-समिति के सभापति हैं राय साहब बाबू श्यामसुंदर दास। आप इस कांफ्रेंस में संमिलित और उस के प्रमुख भाग लेने वालों में थे। आप एकेडेमी की कौंसिल के मान्य सदस्य भी हैं। आप की जानकारी में सभा की वार्षिक रिपोर्ट में इस प्रकार का अनुचित उल्लेख निकलना अवश्य चिंतनीय है। सरकार अपने ऊपर किए गए आक्षेप का उत्तर देने में समर्थ है। हम केवल यही कहेंगे कि सरकार की नीति जो कुछ है वह एकेडेमी के मेमोरैंडम से बाहर या उस के विरुद्ध नहीं हो सकती। उस के प्रति लोगों में इस प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न करना किसी के लिए भी हितकर नहीं हो सकता। नागरी-प्रचारिणी सभा तो सरकार से सहायता भी पाती है। उस का यह और भी अधिक धर्म हो जाता है कि सरकार पर दोषारोपण करने के पहिले अपने वक्तव्यों की खूब जाँच कर ले।

रिपोर्ट का एक दूसरा उद्धरण इस प्रकार है—

'सुनते हैं कि एकेडेमी ने इस विषय पर पूरा पूरा विचार करने के लिये एक समिति संघटित की है जो यह बतलावेगी कि इस प्रकार की नई और संमिलित भाषा का प्रस्तुत और प्रचलित होना कहाँ तक वाञ्छनीय और सम्भव

है, और यदि वांछनीय और संभव हो तो उस के लिए किन किन उपायों और साधनो की आवश्यकता होगी।'

'सुनते हैं' लिखने की आवश्यकता न थी। यह बात अख़बारों में प्रकाश पा चुकी है कि एकेडेमी की कौंसिल ने भाषा के संबंध में विचार करने के लिये एक कमेटी बनाई है। इस कमेटी के सदस्यों के नाम हम पिछले अंक में दे भी चुके है। इस मे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की प्रबंध-समिति के सभापति और हमारी कौंसिल के मान्य सदस्य राय साहब बाबू श्यामसुंदर दास भी हैं। इस कमेटी के बस की बात यह नहीं हो सकती कि हिंदी-उर्दू भाषाओं के अस्तित्व का लोप कर के एक तीसरी भाषा की सृष्टि करे। हिंदी और उर्दू भाषाओं में बहुत सी संपर्क की और मिलती-जुलती बातें हैं। ऐसी बातें भी हैं जो एक-दूसरे को भिन्न दिशाओं में खींचती हैं। इन भाषाओं के संबंध मे एकेडेमी की दो नीति हो सकती हैं। एक तो यह कि यह भाषाएँ एक-दूसरे के लिये कम से कम परदेशी जँचें। दूसरी यह कि इन की भिन्न-मुखी प्रवृत्तियो मे बाधा न डाली जाय। हिंदुस्तानी एकेडेमी का दोनों भाषाओं से संबंध है। अभी तक एकेडेमी की इस विषय मे कोई निर्धारित नीति नहीं रही है। इस के यहाँ हिंदी भाषा प्रचलित हिंदी भाषा और उर्दू भाषा प्रचलित उर्दू भाषा की रीति पर व्यवहृत होती आई है। कुछ एकेडेमी के कार्य-कर्ताओं की निजी राय में ऐसी नीति पर अमल होना चाहिए जिस में दोनों भाषाओं के बीच के परस्पर विरोध कम हों। इस मत के औचित्य पर विचार करना असंगत होगा। यह कहना पर्याप्त होगा कि इस प्रकार का मत केवल निजी मत है। एकेडेमी एक संस्था है, उस में संस्था के गुण हैं। निजी मत, वह चाहे जिस का हो सर्व मत के सामने, निर्बल है। जो कमेटी इस प्रश्न पर विचार करने के लिये बैठी है और अपनी सलाह कौंसिल के सामने पेश करेगी उस में दोनों पक्षों के लोग हैं। यह कमेटी इस बात पर विचार करेगी कि दोनों भाषाओं में मेल कैसे बढ़ सकता है। यह भाषाएँ एक ही संस्था के दो अंग हैं। बिना अपना अपना अलग अस्तित्व खोए हुए हम अपनी अपनी भाषाओं को एक-दूसरे के लिये कितना सुलभ बना सकते हैं, यह प्रश्न है। इस की आवश्यकता भी है या नहीं,

आवश्यकता है तो इस के लिए हम क्या उद्योग कर सकते हैं, इन विषयों पर कमेटी विचार करेगी। अभी उस का निश्चय नहीं हुआ है। निश्चय क्या रूप धारण करेगा, कैसे कहा जा सकता है ? निश्चय कैसा होना चाहिए इस विषय मे जनता अपना मत अवश्य प्रकट कर सकती है। यह देखते हुए कि एकेडेमी एक सार्वजनिक संस्था है, यह उचित भी है कि जनता इस विषय मे सचेत और सतर्क रहे और अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न करे परंतु निश्चय हुए बिना ही मिथ्या शंकाएँ उत्पन्न करना हानिकारक है और सभा के कार्य-कर्ताओं का किसी पर, विशेष कर सरकार की नीयत पर, व्यर्थ संदेह करना उन्हें शोभा नहीं देता।

सरकार कितनी संदिग्ध बनाई गई है इसका परिचय यह उद्धरण भी देगा—

'अभी यह नहीं कहा जा सकता है कि उक्त समिति इस संबंध में अपना क्या निर्णय सर्वसाधारण के संमुख उपस्थित करेगी। परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह विचार एक सरकारी नीति के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुआ है और इसी लिए लोग सशंकित हैं।'

क्या सभा वाले यह बता सकते हैं कि उन के इस अंतिम वक्तव्य का आधार क्या है ? हमारा तो सभा से यही अनुरोध है कि सभा इन वाक्यों को वापस ले ले। हमें विश्वास है कि एकेडेमी सहानुभूतिपूर्ण और सहायक आलोचना का हार्दिक स्वागत करेगी। अपने सहयोगियों से भी हमारा निवेदन है कि एकेडेमी के संबंध में सत्य विचारों के प्रचार में सहायता दें।

इस प्रसंग मे सभा ने एकेडेमी के 'प्रयत्न' के विषय मे उसे 'सचेत' करना उचित समझा है। इस 'प्रयत्न' का तात्पर्य हम भाषाओं को निकटतर लाने के प्रयत्न मान कर सभा की दलीलों की जाँच करेंगे। तीन बातें बताई गई हैं यह हमारे लिए नई नहीं हैं। राय साहब बाबू श्यामसुंदर दास ने इन्हीं से कांफ्रेंस के अवसर पर भी काम लिया था।

रिपोर्ट कहती है कि 'सब से पहिली बात तो यह है कि भाषा कभी गढ़ी नहीं जा सकती, वह सदा विकसित होती है' इस वक्तव्य का एकांगीपन स्पष्ट

है। भाषा के विकास की मनुष्यों के उद्योग से पृथक् कल्पना करने मे हम असमर्थ हैं। भाषा का विकास इस गढंत के अतिरिक्त किसी दूसरी क्रिया से संबंध ही नहीं रख सकता। यदि भाषा के विकास का संबंध मनुष्य के उद्योग से है तो यह उद्योग भाषा के विकास का एक अंग क्यों न समझा जाय ? हम यहाँ पर केवल सिद्धांतिक रूप से विचार कर रहे हैं। हमारा तात्पर्य, विवाद में, यहाँ पर कोई पक्ष ग्रहण करने का नहीं है। हमारा उद्देश केवल एक दूसरा पक्ष प्रस्तुत करना है और यह बताना है कि सभा के वक्तव्य मे सिद्धांतिक रूप से केवल आंशिक सत्य मात्र है।

दूसरा वक्तव्य यह है—'हिंदी और उर्दू के मेल से तैयार होने वाली खिचड़ी भाषा कभी उच्च-कोटि के साहित्य में व्यवहृत होने के योग्य नहीं हो सकती।' इस के भीतर कौन सा सिद्धांत है, यह हम जान न पाए। वर्तमान जगत की समस्त भाषाएँ अन्य भाषाओं के संघर्ष और मेल से ही बनती, प्रतिभावित होती रहती और हुई हैं। लेकिन इस से उन की उच्च-कोटि के विचारों को प्रगट करने की क्षमता का ह्रास नहीं होता देखा गया है। भाषाएँ इस प्रकार से और भी शब्दों की पूँजीवाली ही बनती जाती हैं।

तीसरी पुकार 'समस्त भारतवर्ष की आवश्यकताओं और सुभीते' की पुकार है। इस संबंध में इस रिपोर्ट में केवल चलती चर्चा कर दी गई है। बल्कि कांफ्रेंस में इस पक्ष में कुछ बातें कही गई थीं। उन मे यह भी कहा गया था कि संस्कृत-मिश्रित भाषा, अन्य प्रांत वालों की समझ में अधिक सुगमता से आ सकती है क्योंकि अन्य भाषाओं मे संस्कृत और तत्सम शब्दों की अधिकता है। इस वक्तव्य के पूर्ण-रूप से समर्थन की आवश्यकता है। पहिले तो हमे देखना है कि बँगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी इत्यादि भाषाओं में फ़ारसी और अरबी अंश कितना प्रचलित है। दूसरे हम उर्दू के अखिल-भारतीय रूप को भूल रहे हैं और सर्वत्र, विशेष कर दक्षिण में, उस के प्रभाव का उचित अनुमान नहीं कर रहे हैं।

अंत में हम फिर यह कहेंगे कि इस स्थान पर विवाद में पक्ष लेने के उद्देश से हम कुछ नहीं कह रहे हैं। यह सब ऐसे प्रश्न हैं जिन पर इस विषय

के लिये नियुक्त कमेटी विचार करेगी। हम केवल यही कहना चाहते हैं कि इन प्रश्नों के दूसरे पक्ष भी हैं जिन्हें हमें भूलना न चाहिए।

सभा की इस सारी व्याख्या में एक ही वाक्य है जिस से कुछ संतोष हो सकता था, जो अंधकार में उजली लकीर की भाँति है। अर्थात्—

'इन बातों का यह अभिप्राय नहीं है कि सभा सरल भाषा की विरोधिनी है।'

लेकिन यह उजली रेखा बहुत क्षणिक प्रकाश डालती है क्योंकि बाद ही मे लिखा है—

'जहाँ भाषा के प्रयोग का संबंध सर्वसाधारण से है वहाँ अवश्य सरल भाषा का प्रयोग होना चाहिए जैसा कि सभा ने कचहरी हिंदी-कोष में किया है। परंतु उच्च-कोटि के साहित्य मे इस प्रकार की बनावटी भाषा से काम नहीं चल सकता।'

यह वक्तव्य भी भ्रांति-पूर्ण है। हमें सभा की उस आत्म-प्रशंसा पर आपत्ति नहीं जिस के वश होकर वह अपने कचहरी-कोष की चर्चा करती है। हम स्वयं इस ग्रंथ के मूल्य को स्वीकार करते हैं। परंतु हम केवल एक बात स्पष्ट रूप से बताना चाहते हैं। सभा अपने आदर्शों की कल्पना किसी अतीत युग में करती है। उसे इस वातावरण से अलग आने की जरूरत है। इस युग में उच्च-कोटि के साहित्य को सर्वसाधारण के उपयोग से बाहर की चीज समझना हम पाप समझते हैं।

ताराचंद

प्रधान, संपादक मंडल

समालोचना

अपभ्रंश

जसहरचरिउ—पुष्पदंत रचित—कारंजा-जैन-ग्रंथमाला, जिल्द १। भूमिका, शब्द-कोष तथा टिप्पणियों समेत। संपादक डाक्टर परशुराम लक्ष्मण वैद्य, एम्० ए०, डी० लिट्०, प्रकाशक, कारंजा-जैन-प्रकाशक-समिति, कारंजा (बरार), पृ० ३२+१८८, साइज ९$\frac{1}{2}$×६$\frac{1}{2}$ इंच; मूल्य डाकव्यय समेत ३॥)

जैन मतावलंबी सेठ साहूकार अपनी उदारता और त्याग-वृत्ति के लिये प्रसिद्ध हैं। भारत में प्रायः सभी स्थानों पर इन के मंदिर और धर्मशालाएँ परोपकार के निमित्त उपस्थित हैं। हर्ष की बात है कि अब सेठों की मनोवृत्ति पुस्तक प्रकाशन कर के जनता का उपकार करने की ओर भी हो चली है। कारंजा में जैन-धर्म की हस्तलिखित पोथियों का भंडार है। वहाँ के सेठ गोपाल साहु जी चवरे ने अपने पिता सेठ अंबादास साहु जी चवरे की पुण्य स्मृति में एक 'जैन धर्मोन्नति फंड' खोल कर प्रस्तुत ग्रंथमाला का प्रकाशन आरंभ कराया है। इस सदुद्योग की ओर सेठ जी को प्रेरित करने में किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती के संस्कृत प्रोफ़ेसर पं० हीरालाल जी जैन, एम्० ए०, एल-एल्० बी०, का बहुत कुछ हाथ है इसलिये आप विद्वत्समाज के धन्यवाद के पात्र हैं। आप ही इस ग्रंथमाला के संपादक भी हैं।

पुष्पदंत जाति के ब्राह्मण थे। पहले यह शैव थे, परंतु बाद को दिगंबर जैन हो गए। इन्हों ने कई ग्रंथ लिखे। इन की प्रतिभा अच्छी थी। कविता से लगन थी। डाक्टर परांजपे के मत के अनुसार इन का काल ईसवी दसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। जसहरचरिउ (यशोधर चरित) इन के ग्रंथों में एक प्रधान तथा लोक-प्रिय ग्रंथ है। इस में राजा यशोधर का वर्णन है; यह अपनी स्त्री के

पापाचार से खिन्न हो कर जैन भिक्षु होने जा रहे थे तभी इन की स्त्री ने इन को विष दे दिया। फिर यह जन्म-जन्मांतरों मे भ्रमण करते हुए अंत मे ईशान लोक में देवता हो गए। कथानक बड़ा रोचक है और कवि ने उसे अच्छा निभाया है। ग्रंथ अपभ्रंश भाषा में है।

प्रस्तुत संस्करण मे, आरंभ मे, पं० हीरालाल जैन का प्राथमिक वक्तव्य हिंदी में तथा कुछ हेर-फेर कर अंग्रेजी में है। उस के बाद डाक्टर परांजपे की २० पृष्ठ की भूमिका अंग्रेजी मे है। इस मे संपादक महोदय ने उस सामग्री का वर्णन कर के जिस का उन्हों ने इस संस्करण के तैयार करने में उपयोग किया है, कवि की जीवनी और काल पर संक्षिप्त किंतु पूर्ण प्रकाश डाला है। तदनंतर ग्रंथ का कथानक संक्षेप में दे दिया है। जसहर चरिउ मूल ग्रंथ सौ पृष्ठों में आया है। संपादन उत्तम रीति से हुआ है। मूल का पाठ तैयार करने के लिये संपादक ने चार हस्तलिखित प्रतियों का पूर्णरूप से तथा दो एक प्रतियों का और एक हिंदी अनुवाद का कभी कभी आश्रय लिया है। वे वैज्ञानिक दृष्टि से संपादन करने में सिद्धहस्त हैं। हेमचंद्र का प्राकृत व्याकरण आप का संपादित किया हुआ बहुत अच्छा है। इसलिये पाठ की असंदिग्धता निश्चित है। टिप्पणी स्वरूप आप ने नीचे भिन्नपाठ भी आवश्यकतानुसार दे दिए हैं। मूल के अनंतर ७४ पृष्ठ का शब्द-कोष है। इस मे ग्रंथ में आए हुए शब्द दे कर उन का संस्कृत रूप देने का प्रयत्न किया गया है। यत्र तत्र देखने से मालूम होता है कि संपादक ने भाषा-विज्ञान की दृष्टि से संमत व्युत्पत्तियाँ अथवा संस्कृत रूप देने का पूरा प्रयत्न नहीं किया। उदाहरण के लिये—

अच्छ्—यह धातु संपादक ने *आस्* से निकाली है। पर बहुत वाद-विवाद के अनंतर प्रो० टर्नर का मत कि यह *आ+क्षे* से संबद्ध है, समुचित जान पड़ता है। (देखिए टर्नर की नेपाली डिक्शनरी मे 'छनु')

अमुणंत के सामने संपादक ने *अजानत्* लिखा है; *ज्ञा* धातु से *अमुणंत* का संबद्ध होना असंभव है, *मुण्* धातु संस्कृत में भी मिलती है।

इत्तिय—इत्तर, इस व्युत्पत्ति में र के लोप का कोई कारण नहीं दिय

गया; र इस प्रकार कहीं लुप्त होती दिखाई नहीं पड़ती। फिर हिंदी के *इतराना* में जो इत्तर की नामधातु से असंबद्ध है र उपस्थित भी है।

काउल—*काक*; यहाँ *काक कुल* रखना अधिक उपयुक्त था।

कोढि—*कोटि*, यह व्युत्पत्ति संदिग्ध है।

घर—*गृह*, यह भी अनुचित व्युत्पत्ति है, *गृह* का प्राकृत रूप *गह* अथवा *गिह* हो सकता है; फिर घर में र कहाँ से आया; इसीलिये प्रो० टर्नर ने घृ्वो रो से इस को निकाला है (देखिए नेपाली डिक्शनरी में 'घर')।

ऐसी व्युत्पत्तियों को देख कर जान पड़ता है कि संपादक महोदय ने संस्कृत *अर्थ* देने पर ध्यान रक्खा है, *व्युत्पत्ति* देने पर नहीं। सचमुच ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं; बहुत कर के तो संस्कृत-रूप प्रकट ही है। फिर इन थोड़े शब्दों में भी वैज्ञानिक रूप दे कर शब्द-कोष और अधिक उपादेय बनाया जा सकता था।

पुस्तक के अंत में नौ पृष्ठ में अंग्रेजी में टिप्पणियाँ हैं और उस के अनंतर एक पन्ना शुद्धि-पत्र का।

यह पुस्तक अत्यंत उपादेय है। जैन लोग अपने धर्म ग्रंथ की दृष्टि से इस का आदर करेंगे; साधारण जनता में रोचक कथानक और कवि की प्रतिभा की परख के लिये इस की माँग होगी। पर इन के अतिरिक्त एक और श्रेणी के विद्यार्थी हैं जो इस का इन दोनों से अधिक स्वागत करेंगे। यह है भारतीय भाषा-विज्ञान के अध्ययन करने वाले।

ग्रंथ अपभ्रंश में है। अपभ्रंश के अभी दो ही तीन ग्रंथ भारत में प्रकाशित हुए हैं—एक तो गायकवाड़ सीरीज़ में प्रकाशित *भविसयत्त कहा* और *अपभ्रंशकाव्यत्रयी* और दूसरे विद्यापति ठक्कुर की *कीर्तिलता* (नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिंदी; तथा हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित बंगाली संस्करण) यही ग्रंथ अभी तक देखने को मिले हैं। परंतु और अपभ्रंश ग्रंथ पड़े हैं—कोई एक दर्जन तो कारंजा-भंडार में ही हैं। यह ग्रंथ निकल जाएँ और इन का अध्ययन हो जाए तो भारतीय आर्य भाषाओं के इतिहास पर पूर्ण

प्रकाश पड़ सकता है। मोटे तौर से अपभ्रंश का काल ५००-१००० ई० तक माना जाता है, इस के पूर्व प्राकृतों का काल और उपरांत आधुनिक भाषाओं का। अपभ्रंश क्या है उस के ठीक ठीक लक्षण क्या हैं इसी पर अभी विद्वान लोग एकमत नहीं हैं। ग्रियर्सन का मत है कि प्रत्येक प्राकृत का एक एक अपभ्रंश उत्तराधिकारी हुआ और उस की उत्तराधिकारिणी हुई उस प्राकृत से संबद्ध आधुनिक भाषा। दंडी (काव्यादर्श) के मत से अपभ्रंश केवल आभीरादि की भाषा थी; इस से जान पड़ता है कि यह कोई जाति भाषा थी। डा० ज्यूल् ब्लाक के मत से प्राकृत और आधुनिक भाषाओं के बीच की कोई भाषा मानना अनावश्यक ही नहीं अप्रमाणित भी है। विद्यापति ने अपनी कीर्तिलता के आरंभ में अवहट्टा (अपभ्रष्ट) मे ग्रंथ रचने का उल्लेख कर के उसी को फिर *'देसिल बयना'* (देशी बोली) कहा है। इन सब बातों से समस्या बड़ी जटिल हो जाती है। इस को हल करने का केवल एक उपाय है और वह यह कि अपभ्रंश के जितने ग्रंथ मिलें उन का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाए और आधुनिक भाषाओं के प्राचीन ग्रंथों की भाषाओं से तुलना की जाए। प्रस्तुत ग्रंथ प्रकाशित कर के प्रकाशक तथा संपादकों ने इस उपाय में पूर्ण रूप से सहायता की है और एक क्षति को पूरा करने का प्रयत्न किया है। डा० परांजपे ने ग्रंथ की भाषा पर अपना वक्तव्य ग्रंथकार के अन्य ग्रंथों के प्रकाशित होने तक रोक रक्खा है। परंतु हमारी संमति में यदि प्रत्येक ग्रंथ के साथ ग्रंथ का संक्षिप्त व्याकरण दे दिया जाए तो विद्यार्थी वर्ग को अधिक सहायता मिले। आशा है पं० हीरालाल जी इस पर भविष्य में निकलने वाले ग्रंथों के विषय मे ध्यान देंगे।

ग्रंथ की छपाई सफ़ाई सुंदर, शुद्ध तथा चित्ताकर्षक है। इस मे तीन चित्र भी हैं—सेठ चवरे पिता-पुत्र के तथा उन के गुरु श्री० १०८ भट्टारक वीरसेन जी स्वामी का। आप कारंजा पुस्तक-भंडार के निरीक्षक हैं तथा जैनतत्व के प्रगाढ़ पंडित हैं।

ऐसी सर्वांगपूर्ण, सुंदर, उपादेय और जन-हितकारी पुस्तक निकालने के लिये　　　　और संपादक धन्यवाद के पात्र हैं　ऐसी पुस्तकें अपने देश में

निकलती देख कर प्रत्येक भारतीय को गर्व और उत्साह होना चाहिए। ग्रंथ-माला के अन्य पुष्पों की सुगंधि के लिये जनता उत्सुकता से लालायित रहेगी।

बा० श० स०

ध्वनिविज्ञान

हिंदुस्तानी ध्वनिविज्ञान[1], (अंग्रेजी)—डा० श्रीयुत एस० जी० मोहीउद्दीन कादिरी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रकाशक मकतबह-ए-इब्राहिमिअह, स्टेशन रोड, हैदराबाद (दक्खिन) (मूल्य पुस्तक में नहीं दिया), पृष्ठ संख्या ११६ साइज़ ७$\frac{1}{2}$ × ४$\frac{3}{4}$ इंच।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में से तीन ही चार भाषाओं की ध्वनियों का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन हुआ है, हिंदुस्तानी का तो अभी तक हुआ ही नहीं था। प्रस्तुत पुस्तक इस विचार से प्रथम है। परंतु लेखक ने जिस हिंदुस्तानी का वर्णन अपनी पुस्तक में किया है वह हैदराबाद दक्खिन की है, उत्तर भारत की नहीं। लेखक ने इस बात को पुस्तक के नाम के नीचे—

'हैदराबाद (दक्खिन) के एक शिक्षित व्यक्ति की बोली हुई हिंदुस्तानी भाषा का ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन'

यह नोट दे कर स्पष्ट भी कर दिया है।

प्रस्तुत पुस्तक ध्वनिविज्ञान के लिये बड़े महत्त्व की है; लेखक का अध्यवसाय प्रशंसनीय है। प्रारंभ में प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक डा० ज्यूल् ब्लाक् (पेरिस) का एक छोटा सा प्राक्कथन है जिस में उन्हों ने इस प्रकार की पुस्तकों की आवश्यकता प्रदर्शित करते हुए लेखक के परिश्रम के लिये उन को साधुवाद दिया है। पुस्तक में चार अध्याय हैं—(१) प्रवेशक, (२) ध्वनियाँ (स्वर), (३) ध्वनियाँ (व्यंजन), (४) ध्वनियों के गुण।

प्रथम अध्याय में हिंदुस्तानी भाषा के उद्गम के विषय में प्रचलित वादों को उठा कर लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि हिंदुस्तानी (उर्दू) की नींव उस समय पड़ी जब मुसल्मानों ने भारत पर आक्रमण किया। आप ने

---

[1] Hindustani Phonetics

मुसल्मानों के अन्य पूर्व आक्रमणों को छोड़ कर पंजाब और दिल्ली प्रांत के आक्रमणों को महत्त्व दिया है। मुसल्मान लेखकों ने अभी तक उर्दू को ब्रज-भाषा और फ़ारसी के मेल से निकली हुई भाषा स्थापित किया है; इधर हाफ़िज़ महमूद शीरानी साहब ने अपनी 'पंजाब में उर्दू' नाम की पुस्तक में उत्तरी उर्दू और दक्खिनी उर्दू का मिलान कर के यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि उर्दू पंजाबी और फारसी के मेल से उत्पन्न हुई न कि व्रजभाषा और फारसी के मेल से। डा० क़ादिरी का वक्तव्य है कि उर्दू न तो ब्रज और न पंजाबी पर निर्भर है; यदि किसी पर निर्भर है तो इन दोनों के किसी समय के एक रूप पर। इस प्रश्न के अध्ययन के लिये प्रस्तुत सामग्री का अध्ययन करने से डा० क़ादिरी का मत ही समुचित जान पड़ता है। इसी संबंध में लेखक ने प्रो० ज्यूल् ब्लाक् के इस मत का कि 'हिंदुस्तानी का संबंध पूर्वी पंजाब (अंबाला आदि) की भाषा से जोड़ना चाहिए' का भी उल्लेख कर दिया है। इस के अनंतर लेखक ने उत्तरी भारत की हिंदुस्तानी और दक्खिनी भारत की हिंदुस्तानी का भेद दिखाते हुए दक्खिनी हिंदुस्तानी का एक छोटा सा व्याकरण भी दे दिया है।

दूसरे और तीसरे अध्याय में एक एक ध्वनि को ले कर लेखक ने उस का वर्णन कर के उदाहरण दिए हैं। कृत्रिमतालु की सहायता से किए हुए प्रयोगों के फोटो न दे कर हाथ से खींचे हुए चित्र दिए गए हैं जो उतने उपयोगी नहीं होते जितने कि फ़ोटो। मिश्रित स्वरों (Diphthongs) में कई संदिग्ध जान पड़ते हैं जैसे आ-ए, इ-उ; इन को केवल स्वर समूह के नाम से व्यक्त करना कदाचित् अधिक उपयुक्त होता। व्यंजनों का विवरण सभी पूर्ण और विशद है, आवश्यकता के अनुसार ट्रेसिंगे भी दी गई हैं। अरबी क़ का उच्चारण दक्खिनी उर्दू में अधिकतर ख़ होता है यथा *क़ीमत=ख़ीमत*। बोलचाल की हिंदी में अधिकतर क़ के स्थान में क बोला जाता है किंतु एकाध शब्दों में ख् यथा *वक़्त=वख़्त*। ऐसा जान पड़ता है कि भारत में आए हुए कुछ विदेशी क़ को ख़ बोलते रहे होंगे। र और ड़ के विवरण को देख कर ऐसा मालूम होता है कि उत्तरी भारत की उर्दू की इन ध्वनियों से दक्खिनी उर्दू की ध्वनियों में

भेद है। उत्तरी र के उच्चारण में जिह्वा को ज़रा सा लपेट कर उच्चारण होता है, इस में उत्क्षेप (flap) नहीं होता किंतु दक्खिनी र में लेखक के मतानुसार एक दो अथवा तीन उत्क्षेप होते हैं (पृ० ९१)। उत्तरी ड़ में एक दो उत्क्षेप होते हैं दक्खिनी में एक भी नहीं (पृ० ९३)। इसी प्रकार ह के उच्चारण में भेद मालूम होता है; अवधी में शब्द के आदि का ह अघोष होता है, मध्य का घोषवत् तथा अंत्य का घोष से प्रारंभ हो कर अघोष में अंत होता है; क़ादिरी साहब के मत के अनुसार दक्खिनी ह सभी स्थलों पर घोषवत् होता है। यदि इस की ट्रेसिंग दे दी जाती तो निर्णय हो सकता।

साहित्यिक हिंदी मे संधि (assimilation) का कोई स्थान नहीं है, साहित्यिक उर्दू में कभी कभी पद्य में इस का पता चलता है अन्यथा छंदोभंग दिखाई पड़ता है। पर बोलचाल की सभी भाषाओं मे संधि मौजूद है—स्टैंडर्ड हिंदी बोलते समय भी हम लोग अनजान ही संधियाँ करते चलते हैं। डा० क़ादिरी ने तीसरे अध्याय के अंत में कुछ संधि-नियम दिए हैं, यह अपूर्ण जान पड़ते हैं। कुछ स्थलों पर हिंदी (अवधी) के नियमों से विभिन्न भी हैं. यथा कुछ दिन—अवधी कुद्दिन परंतु दक्खिनी—कुज्दिन।

चौथे अध्याय में लेखक ने ध्वनियों के गुणों में से स्वराघात और सुर का विशद उल्लेख किया है। स्वराघात मे उत्तरी उर्दू और दक्खिनी मे भेद नहीं जान पड़ता। सुर के विषय में लेखक का विवरण उपादेय है परंतु वह केवल श्रोत्रेंद्रिय की सहायता पर निर्भर है; यदि प्रयोग की सहायता ली जाती तो कदाचित् विवाद की गुंजाइश न रहती। पर यह कष्टसाध्य अवश्य था।

डा० क़ादिरी ने अंतर्जातीय ध्वनिविज्ञान परिषद् (International Phonetic Association) की वर्ण लिपि का प्रयोग किया है पर यत्र तत्र उस से भेद भी रक्खा है, यथा अग्र विवृत स्वर का चिह्न आप ने पश्च विवृत स्वर के लिये रक्खा है तथा अनुनासिकत्व का चिह्न ~ न रख कर ^ रक्खा है, यदि यह भेद कहीं भूमिका आदि में बता दिया जाता तो सुगमता रहती।

पुस्तक फ्रांस में छपी है इसलिये उस की छपाई सफ़ाई के विषय में

कुछ लिखना बेकार है। तब भी छापे की दो चार अशुद्धियाँ रह गई हैं, इस से यही सिद्ध होता है कि

गच्छतः स्खलनं वापि भवत्येव प्रमादतः

यदि भारतीय प्रेसों की छपाई में कोई अशुद्धियाँ रह जाया करें तो यूरोप वाले विद्वानों को उचित है कि उतनी निर्दयता से कटाक्ष न किया करें जितनी कि उन की प्रथा है।

प्रस्तुत पुस्तक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा सभी प्रकार से उपादेय है; डा० क़ादिरी से ध्वनिविज्ञान के विद्यार्थियों को बड़ी बड़ी आशाएँ है। आशा है उन की और कृतियाँ देखने का सुअवसर प्राप्त होगा।

बा० रा० स०

कोष

नेपाली-भाषा-कोष—तुलनात्मक तथा व्युत्पत्यात्मक। लेखक प्रो० राल्फ लिली टर्नर (लदन विश्वविद्यालय); प्रकाशक कीगन पाल, ट्रेंच, ट्रूबनर अड को०, लिमिटेड, लदन[1], १९३१, पृष्ठ २४+९३६, साइज़ १२½×९½ इंच।

प्रो० टर्नर कैंब्रिज विश्वविद्यालय से एम्० ए० पास कर के भारत मे आइ० ई० एस्० में शामिल हुए। प्रथम आप क्विस् कालेज् बनारस में कुछ वर्ष तक रहे; वहाँ यह मुख्यतः संस्कृत तथा प्राकृत पढ़ाते थे। महासमर छिड़ने पर यह लड़ाई पर भेज दिए गए। वहाँ यह एक गुर्खा कंपनी के कैप्टेन रहे। इस कंपनी ने समर-कौशल के लिये कीर्ति प्राप्त की। आप को भी एम्० सी० का ख़िताब मिला। लड़ाई से लौट कर १९२० में आप काशी-विश्वविद्यालय में भारतीय भाषा-विज्ञान के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए। यहाँ यह दो वर्ष भी न रह पाए थे कि आप लंदन विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रधान प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्त हुए और अगस्त १९२२ में यहाँ से विलायत लौट गए। तब से आप

---

[1] A Comparative and Etymological Dictionary of the Nepali Language by Ralph Lilley Turner, M.C., M.A., London. Kegan Paul, Trench, Trubner & Co., Ltd., Broadway House. 68—74 Carter Lane, E.C.

वहीं उसी स्थान को सुशोभित करते हैं। वैसे तो आप संस्कृत के सभी विषय पढ़ाते हैं पर भाषा-विज्ञान आप का मुख्य ध्येय है।

प्रस्तुत कोष आप के सोलह वर्ष के सतत परिश्रम और अध्यवसाय का परिणाम है। अभी तक भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन में यूरोपीय विद्वानों का ही बहुत कुछ हाथ रहा है। इन्हों ने प्रशस्त कार्य किया। बीम्ज़, ट्रंप, हार्नली यह नाम पिछली शताब्दी के विद्वानों के हैं। ग्रियर्सन ने जो काम किया है वह तो अब संसार प्रसिद्ध है। इधर दो सज्जन ऐसे हैं जिन के नाम भारतीय भाषा-विज्ञान का ध्यान आते ही सर्व प्रथम जिह्वा पर आते हैं—एक तो डा० ज्यूल् ब्लाक् का और दूसरे प्रो० टर्नर का।

बंगाली, हिंदी आदि भाषाओं के ऐसे कोषों की जिन में भारतीय भाषा के शब्दों का अर्थ अँगरेजी में दिया हो अथवा अँगरेजी शब्दों का अर्थ भारतीय भाषा में दिया हो, कमी नहीं है। पर अभी तक विभिन्न भारतीय भाषाओं से तुलना कर के व्युत्पत्ति देने वाला कोई भी कोष नहीं था। डा० ज्यूल् ब्लाक् ने अपनी मराठी भाषा का विकास (फार्मेसिऑं द लैंज मराथे) नामक पुस्तक के द्वितीय संस्करण (१९२०) के अंत में ऐसे मराठी शब्दों की सूची दी थी जो उन की पुस्तक में आए थे और उपलब्ध शब्दों से उन की तुलना कर के अर्थ भी दिया था। इस के अतिरिक्त कोई तुलनात्मक कोष नहीं था। लिंग्विस्टिक् सर्वे की प्रथम जिल्द में भारतीय आर्य भाषाओं के एक तुलनात्मक कोष के निकलने की घोषणा हो चुकी है; यह काम भी प्रो० टर्नर को ही सुपुर्द किया गया है। जब तक वह निकले प्रस्तुत पुस्तक ही एक मात्र ग्रंथ इस विषय का है।

इस नेपाली कोष में आरंभ में प्रवेशक द्वारा लेखक ने नेपाली भाषा की स्थिति पर संक्षेप से विवेचन किया है। फिर देवनागरी लिपि के संयुक्ताक्षरों को लिखने के ढंग पर अपने विचार प्रकट किए हैं। आप का मत है कि संयुक्ताक्षर ऊपर नीचे (यथा ट्ट) नहीं लिखे जाने चाहिए प्रत्युत बराबर बराबर आगे पीछे (यथा ट् ट)। इस प्रकार प्रत्येक वर्ण के दो रूप होंगे स्वरों में (१) आदि में अथवा किसी स्वर के उपरांत यथा इ, (२) व्यंजन के उपरांत यथा ि (कि),

व्यंजनों मे (१) स्वर के पूर्व यथा क, ट, (२) व्यंजन के पूर्व यथा क्, ट् ड । केवल र के तीन रूप होंगे, र (अरे), ् (क्र), ᳵ (अर्क) । इस प्रकार आप की संमति में ८७ चिह्नों से देवनागरी लिपि में काम चल सकता है । आप का यह भी मत है कि अंत में यदि स्वर न हो तो हल चिह्न लगा कर स्वर की अनुपस्थिति अवश्य सूचित करनी चाहिए । आज कल देवनागरी लिपि को सर्वांग पूर्ण बनाने के प्रस्ताव किए जा रहे हैं; प्रोफ़ेसर टर्नर के परिपक्व विचारों पर भी ध्यान देना लाभदायक होगा ।

आप का कोष भाग ६५४ पृष्ठ का है । शब्द प्रथम देवनागरी लिपि मे दिया गया है फिर रोमन लिपि मे, उस के बाद अँगरेजी में अर्थ है और जहाँ जरूरत है वहाँ मुहावरे, कहावत आदि उद्धृत कर के उस शब्द का प्रयोग भी दिखाया गया है । फिर कोष्ठक में अन्य भारतीय भाषाओं में प्राप्त उस शब्द के रूप दे कर उस की व्युत्पत्ति दिखाई गई है । उदाहरण के लिये *औंलि* [सं० *अंगुलिः*, पाली प्राकृत, *अंगुलि*, रोमानी *उंग्लि*, दर्दी *अंगुर्* आदि, शिणा *अंगुइ*, काश्मीरी *ओंगुजु*, आसामी *आन्गुलि*, बंगाली *आंगुल्*, ओड़िया *अंगुली*, हिंदी *उंगली*, पंजाबी *उंगल्*, लंधा *अंगील्*, सिंधी *आङुरि*, गुजराती *आंगली*, मराठी *अँगुली*, सिंघाली *अंगिल्ल*, काफिरी *अङ्गुड्*) । इस प्रकार कोष सर्वांग पूर्ण है ।

नेपाली भाषा का साहित्य दिन प्रति दिन उन्नति कर रहा है, साथ ही साथ उस का शब्द समूह भी बढ़ता जाता है । संस्कृत और हिंदी से सैकड़ों शब्द लिए जा रहे हैं, गुरखों के भारतीय सेना में होने के कारण कुछ अँगरेज़ी शब्द भी पहुँच रहे हैं । प्रो० टर्नर के कोष में यह सभी शब्द नहीं मिलेंगे। परंतु नेपाली भाषा में अधिकतर प्रचलित सभी शब्द इस में हैं । नेपाली के सभी शब्दों का समावेश करना और उन का उसी ढंग से विशद वर्णन करना किसी एक मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है ।

इस कोष में भी प्रो० टर्नर ने अपनी विदुषी पत्नी श्रीमती डोरोथी रिवर्ज़ टर्नर, एम्० ए० से यथेष्ट सहायता ली है । आप ने कोष के शेष २७८ पृष्ठों में

दी हुई अनुक्रमणिकाएँ तैयार की है, यह भाषाओं के अनुसार हैं। प्रत्येक भाषा के जितने शब्दों का उल्लेख कोश में आया है वे सभी उस भाषा के नीचे अकारादि क्रम से दिए गए हैं। उदाहरण के लिये यदि हिंदी के किसी शब्द की व्युत्पत्ति जाननी हो अथवा यह जानना हो कि इस का अन्य भारतीय भाषाओं में क्या रूप है तो हिंदी की अनुक्रमणिका में देखिए, यदि मिल जाए तो उस के बराबर के नेपाली शब्द को देख कर आप का काम चल जाएगा। अतएव यह कोष केवल नेपाली भाषा के विद्यार्थियों के काम का नहीं है; किसी भी भारतीय भाषा के अध्ययन करने वाले के लिये परम आवश्यक है।

इस प्रकार के ग्रंथरत्न को प्रकाशित करना बड़ा दुःसाध्य है; न तो यह कोई उपन्यास, नाटक है जिसे जनता अपनी रुचि के कारण हाथों हाथ मोल ले लेती और न कोई टेक्स्टबुक जिसे मोल लेने को विद्यार्थी बाध्य होते। इस के प्रकाशित करने के लिये कुछ धन की सहायता स्वर्गीय महाराज सर चंद्र शमशेर जंग बहादुर राना ने की थी, कुछ ब्रिटेन की एशियाटिक सोसाइटी ने धन दिया और शेष प्रकाशक ने स्वयं व्यय किया। तब यह ग्रंथ देखने को मिला है। इसीलिए इस का मूल्य पाँच पाउंड (६७॥) रुपया) है। ग्रंथ के महत्त्व और उपकार को देखते हुए यह बहुत नहीं है। आशा है सामर्थ्यवान संपन्न सज्जन तथा पुस्तकालय इस की प्रतियाँ अवश्य खरीदेंगे।

प्रो० टर्नर ऐसे ग्रंथ को उपस्थित करने के लिये सभी विद्वानों के धन्यवाद के पात्र हैं। एक विदेशी सज्जन हम लोगों की भाषाओं पर इतना महत्त्वपूर्ण काम करे और तब भी हम लोगों का ध्यान स्वयं अपनी भाषाओं के ऐसे कोष तैयार करने की ओर न आकर्षित हो यह कितनी लज्जा की बात है। हिंदी भाषा के लिये ऐसे कोष की पग पग पर आवश्यकता पड़ती है। अर्थों के विचार से हिंदी शब्द-सागर अच्छा प्रयत्न है; पर व्युत्पत्ति के हिसाब से वह बहुत अंशों में अप्रामाणिक है और तुलना का तो वहाँ नाम भी नहीं। यदि और नहीं तो शब्दसागर में ही इकट्ठा किए हुए शब्दों की तुलनात्मक दृष्टि से वैज्ञानिक व्युत्पत्तियों का एक कोष तैयार हो जाए तो काम चल सके। पर यह काम किसी एक या दो सज्जन के बूते का नहीं है, कोई संस्था ही इसे

उठा सकती है। प्रोफ़ेसर टर्नर का नेपाली कोष ऐसे कार्य के लिये बहुत दिनों तक पथप्रदर्शक रहेगा।

बा० रा० स०

राजनीति

हिंदी राष्ट्र या सूबा हिंदुस्तान—लेखक, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा। प्रकाशक, लीडर प्रेस, प्रयाग।

इस समय जब कि भारतवर्ष की भावी शासन-पद्धति के संबंध में विचार हो रहा है और प्रत्येक भारतवासी के सामने भविष्य के स्वतंत्र भारत-संघ (Federal India) के संगठन का प्रश्न है, इस पुस्तक को प्रकाशित कर के वर्मा जी ने हिंदी जाननेवाली जनता का बहुत उपकार किया है। संघ का निर्माण किस प्रकार हो, उस मे देशी राज्य भी संमिलित हों या केवल बृटिश भारत के प्रांत ही; आधुनिक प्रांत ठीक तरह से बने हैं या उन में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है, प्रांतों का संगठन, भाषा की एकता, और जातीयता आदि भावों पर निर्भर हो अथवा वे केवल शासन की सुविधा की दृष्टि से ही बनाए जायँ; आदि प्रश्न इस समय हर तरफ़ उठ रहे हैं। मांटेगू चेम्सफोर्ड सुधारों के बाद ही प्रांतों के वर्तमान आकार का विरोध होने लगा था। भावी स्वतंत्रता के स्वप्न ने प्रांतीय भाव को जाग्रत कर दिया और उड़ीसा, आंध्र तथा दिल्ली आदि प्रदेशों मे इस संबंध में आंदोलन आरंभ हुए। उड़ीसा की भाषा, ऐतिहासिक सहानुभूति तथा आर्थिक हानि-लाभ, सभी बिहार से भिन्न हैं; यहाँ तक कि पटना से कटक पहुँचने के लिये कलकत्ता हो कर आना पड़ता है। अतः उड़ीसा निवासियो ने अपना पृथक् प्रांत बनाने का प्रस्ताव किया। उसी प्रकार वर्तमान मद्रास प्रान्त के उत्तरी भाग आंध्र देश में भी इसी प्रकार का आंदोलन हुआ और अभी हो रहा है। दिल्ली में भी यह प्रश्न उठा कि वह प्रांत बढ़ाया जाय और उस में पंजाब तथा संयुक्त प्रांत के कुछ भाग मिला दिए जायँ। इन के अतिरिक्त हिंदुस्तानी मध्य प्रांत की समस्या भी कुछ सरल नहीं है। ये सब प्रश्न बड़े महत्त्व के हैं क्योंकि यदि यह मान लिया जाय कि भविष्य में भारतवर्ष केवल संघ के रूप मे ही रह सकता है तो यह निश्चय कर लेना आवश्यक है कि उस संघ के आधार-

प्रांतों (Federal units) का क्या स्वरूप होगा। यदि प्रांतीयता के भाव और भाषा की एकता के आधार पर कुछ नए प्रांत बनाए जायँ, तो अन्य प्रांतों के संबंध में भी वह नियम क्यों न लागू हों। इन प्रश्नों पर विचार करना बहुत आवश्यक है। वर्मा जी ने इस पुस्तक में हिंदुस्तानी बोलने वाले प्रदेशों के संबंध में इन्हीं बातों पर बहस की है।

वर्मा जी का मंतव्य यह है और वस्तुतः उचित भी है, कि प्रांतों का निर्माण भाषा की एकता, आर्थिक हानि-लाभ की समानता, और 'राष्ट्रीयता' (प्रांतीय भाव) के अनुसार होना चाहिए। वह भाषा की एकता को बहुत महत्त्व देते हैं और चाहते हैं कि इसी आधार पर भारतवर्ष के प्रांतों का संगठन हो। इस प्रकार "हिंदी-भाषा-भाषी लोगों का शासन के लिये एक स्वाभाविक विभाग शीघ्र ही बनना चाहिए" इस नियम के अनुसार उत्तरी भारत में एक बड़ा सूबा बनेगा, जिस में "वर्तमान निम्न लिखित प्रांत संमिलित होंगे—संयुक्त प्रांत, हिंदुस्तानी मध्य प्रांत, उड़ीसा को छोड़ कर शेष बिहार, दिल्ली, पंजाब में अंबाले तक का सरहिंद का भाग जिस की भाषा हिंदुस्तानी है, अजमेर, मध्य भारत के देशी राज्य तथा राजपूताना।" इस सूबे की जन संख्या प्रायः १० करोड़ होगी, परंतु क्षेत्रफल में यह भीमकाय होगा। आगे चल कर वर्मा जी ने इस माँग को छोड़ दिया है क्योंकि वह समझते है कि इतने विशाल प्रांत का शासन सुगम न होगा। दूसरे बिहार तथा राजपूताना मे स्वयं ही प्रांतीय भाव दृढ़ हो गया है और उन की भाषा भी अलग समझी जाने लगी है। अतः यदि ये दोनों प्रांत अलग रहना चाहें तो उन्हें आपत्ति न होगी। इन के अतिरिक्त शेष प्रदेश का वह एक प्रांत बनाना चाहते हैं। इस प्रांत का नाम 'हिंदुस्तान' होगा। यहाँ की भाषा और निवासी 'हिंदुस्तानी' कहलाएंगे। इस पुस्तक के द्वारा वह इस विचार को फैलाना चाहते हैं और चाहते हैं कि इस भूमि-भाग के लोगों में राष्ट्रीय (प्रांतीय) भाव का प्रचार हो और यहाँ की भाषा तथा धर्म भी, यदि संभव हो सके, तो एक हों।

आरंभ में वर्मा जी ने राजनीति शास्त्र के अनुसार राष्ट्र के लक्षणों का विवेचन किया है और फिर उन सिद्धान्तों को उन्हों ने भारतवर्ष की आधुनिक

अवस्था पर घटित करने का प्रयत्न किया है। इस से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "भारत एक राष्ट्र नहीं है, बल्कि योरप तथा अन्य भूमिभागों के समान एक विशाल उपद्वीप, खंड अथवा वर्ष है, जहाँ भिन्न भिन्न भाषा, राज्य, हानि-लाभ तथा देश इत्यादि रखने वाले बहुत से राष्ट्रों के लोग बसते हैं।" "भारत में किसी प्रकार के भी हानि-लाभ का सुदृढ़ ऐक्य नहीं है—न व्यक्तिगत, न सामाजिक और न प्रादेशिक"। वर्मा जी के इस अन्वीकरण (analysis) को मानते हुए भी यह मानना कठिन होगा कि इस समय भारत में राष्ट्रीयता का भाव सुदृढ़ रूप से नहीं उठ खड़ा हुआ है। मैं यह मानने को तैयार नही हूँ कि "भारत की वर्तमान राष्ट्रीय लहर की नींव गहरी नहीं है।" असहयोग आंदोलन से यह बात स्पष्ट है कि देश की अधिकांश जनता इस भाव से परि-पूर्ण है और राष्ट्रीयता के लिये अपने व्यक्तिगत हानि-लाभ को निछावर करने को तैयार है। यह भाव यदि एक बार पैदा हो जाता है तो इस का मरना कठिन है; इसलिये पूर्ण आशा है कि प्रांतीयता के साथ साथ राष्ट्रीय भाव सदा ही जाग्रत् रहेगा। मुझे निश्चय है कि वर्मा जी अपनी इस दलील से संघ की आवश्यकता ही सिद्ध करना चाहते हैं और वह इस देश को पुनः छोटे छोटे स्वतंत्र राष्ट्रों मे बाँटने के पक्ष मे नहीं हैं।

संघ के लिये आवश्यक है कि आधार-प्रांत सुदृढ़ रूप से संगठित हो। प्रत्येक प्रांत आंतरिक मामलों में स्वतंत्र रहेगा, इसलिये आवश्यक है कि प्रांत वासियों में भाषा तथा आर्थिक हानि लाभ की एकता हो, जिस से शासन सुगम रहे। यदि किसी एक प्रांत में दो अथवा अधिक भाषा-भाषी जातियों का संमि-श्रण होगा तो संभवतः शासन में कठिनाई पड़ेगी। इसी प्रकार यदि एक भाषा भाषी जाति दो अथवा दो से अधिक प्रांतों में बँटी रहेगी तो शासन का खर्च व्यर्थ ही बढ़ जायगा। हिंदी भाषा-भाषी जनता में एक प्रकार का ऐक्य मौजूद है और यदि वह पुनः एक शासन के अंतर्गत कर दी जाय तो प्रांतीयता या 'राष्ट्रीयता' का भाव बहुत शीघ्र ही उत्पन्न हो सकेगा। जैसा कि वर्मा जी ने लिखा है हम लोगों का कोई अच्छा सहज नाम, जैसे बंगाली, पंजाबी आदि, न होना इस के लिये बहुत बड़ा बाधक है। यदि 'संयुक्त प्रांत' के स्थान पर हम

लोग 'हिंदुस्तान' नाम अपना लें तो यह कमी बहुत कुछ दूर हो जायगी मैं आशा करता हूँ कि प्रांतीय नेतागण इस नाम परिवर्तन के लिये प्रयत्न करेंगे

'हिंदुस्तान' प्रांत के बन जाने से कम से कम दिल्ली तथा हिंदुस्तानी मध्य प्रांत की समस्या सरल हो जायगी। दिल्ली का इतना छोटा प्रांत रखना कठिन है; वहाँ के लोग पंजाब से मिलना नहीं चाहते हैं, और यह ठीक भी है क्यों कि पंजाब और दिल्ली में कोई एकता नहीं है। यदि संयुक्त प्रांत और पंजाब से कुछ जिले ले कर दिल्ली प्रांत को बढ़ाया जाय, तो भी यह उचित न होगा क्योंकि इस मे बंग-भंग आंदोलन के समान विरोध का भय है। दिल्ली तथा अंबाला तक का पूर्वी पंजाब प्रांत भाषा, सभ्यता, तथा ऐतिहासिक सहानुभूति आदि कारणों से वतमान संयुक्तप्रांत से संबद्ध है। इसलिये यदि उस भाग को भी इसी में मिला दिया जाय तो कोई हानि न होगी, वरन् लाभ की संभावना है। दिल्ली नगर को अलग किया जा सकता है और उस को भारतसंघ का प्रधान नगर मान कर वाशिंगटन या लंदन के समान शासित किया जा सकता है। हिंदुस्तानी मध्यप्रांत के संबंध में कुछ अड़चन पड़ेगी। भाषा आदि की एकता होते हुए भी, वे लोग अभी हाल में कुछ वर्षों से अपना पृथक् प्रांत बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यदि उस में खर्च आदि की आपत्ति हो तो यह अधिक अच्छा होगा कि उन को भी संयुक्तप्रांत से मिला दिया जाय, और मराठी मध्य प्रांत को बम्बई से मिला कर एक मराठा प्रांत बनाया जाय। यह प्रस्ताव व्यवहार में लाया जा सकता है, क्योंकि इन जिलों के मिल जाने पर भी यह प्रांत बहुत बड़ा नहीं हो जायगा, और फिर संघ में बड़ा या छोटा होना कोई विशेष आपत्ति की बात नहीं है, क्योंकि सब प्रांतों के अधिकार समान होते हैं। यदि यह सिद्धांत मान लिया जाय कि प्रांतों का संगठन भाषा की एकता तथा प्रांतीयता के भाव के अनुसार होगा तो यह आवश्यक है कि वर्मा जी के प्रस्ताव के अनुसार ही 'हिंदुस्तान' प्रांत की रचना हो, नहीं तो हिंदुस्तानी जनता को भावी संघ में बहुत आपत्ति होगी और उन के अधिकारों पर हस्तक्षेप होगा।

वर्मा जी ने इस पुस्तक को लिख कर हिंदुस्तानी जनता का ध्यान इस बड़े महत्त्व पूर्ण प्रश्न की ओर आकर्षित किया है और विशेष कर ऐसे समय

में जब कि संयुक्त प्रांत के विच्छेद के लिये हर तरफ़ से प्रयत्न हो रहा है। कांग्रेस ने तो पहले से ही इस को कई भागों में बाँट दिया है, और अब अन्य दिशाओं से भी अवध, पूर्वी जिलों, बुंदेलखंड अथवा मेरठ तथा रुहेलखंड कमिश्नरियों को अलग करने का प्रयत्न हो रहा है। यदि हिंदुस्तानी जनता इस समय उत्साह पूर्वक इस को रोकने की कोशिश न करेगी, तो उस की एकता टूट जायगी। आशा है वर्मा जी की पुस्तक से लोगों में जागृति होगी और नेता-गण इस प्रांत को कल्पित अत्याचार से बचाएंगे।

वि० प्र०